रीति
कवियों
की

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

रीति कवियों की मौलिक देन

डॉ० किशोरीलाल
एम० ए०, डी० फिल्०

साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

रीति कवियों की मौलिक देन

डॉ० किशोरीलाल
एम० ए०, डी० फिल्०

साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड
इलाहाबाद

संस्करण	प्रथम, १९७१ ई०
प्रकाशक	साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद–३
मुद्रक	श्री विष्णु आर्ट प्रेस, जीरो रोड, इलाहाबाद–३
मूल्य	बत्तीस रुपया

संस्करण	प्रथम, १९७१ ई०
प्रकाशक	साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद–३
मुद्रक	श्री विष्णु आर्ट प्रेस, जीरो रोड, इलाहाबाद–३
मूल्य	बत्तीस रुपया

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

रीति साहित्य

के

नदीष्ण विद्वान्

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र

के

करकमलों

में

सादर समर्पित

दो शब्द

यह शोध-प्रबन्ध दिसम्बर १९६९ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था, जिस पर विश्वविद्यालय ने मुझे 'डाक्टरेट' की उपाधि प्रदान की थी। वही आज—यत्किंचित परिवर्तन के साथ प्रकाशित हो रहा है।

रीति साहित्य के विश्रुत विद्वान आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका लिखने की कृपा की है। आचार्य मिश्र ने अनुसंधित्सुओं और साहित्यिकों की एक वृहत् मण्डली में—घिरे रहने पर भी मेरे प्रणयानुरोध को टाला नहीं, यह मेरे प्रति उनकी सहज कृपा ही कही जा सकती है और क्या कहा जाय ? उनकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका ने निश्चय ही 'सिग्रनि सुहावनि टाट पटोरे' की भांति ग्रन्थ की गरिमा बढ़ाई है। सुतराम् मैं आचार्य प्रवर की इस कृपा के लिए उन्हें हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

ग्रन्थ कैसा है इस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं। हां, यदि सहृदय पाठकों और हिन्दी के विद्वानों ने इसे अपनाकर अपने सत्परामर्शों से मुझे थोड़ा भी लाभान्वित किया तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूंगा।

इसे प्रकाशित करने में साहित्य-भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद के अधिकारियों ने जैसी लगन और तत्परता प्रदर्शित की है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—*किशोरीलाल*

मार्च, १९७१
नैनी बाजार, इलाहाबाद

हिन्दी के रीतिकवि

साधारणतया यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि हिन्दी-साहित्य के मध्य [illegible]
में जो रीतिकवि कहलाते हैं वे न तो रीति अर्थात् काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ही यह [illegible]
थे न कवि के रूप में ही विशिष्ट। कहा यह जाता है कि वे आचार्य पद के [illegible]
अधिकारी थे ही नहीं कविपद के भी अधिकारी नहीं थे। कवि के रूप में [illegible]
शास्त्रस्थिति के संपादक मात्र थे। उनमें नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा ही नहीं थी [illegible]
नव्यसृष्टि करने में समर्थ होती है। इस प्रकार उनकी मौलिक देन की बात [illegible]
आते ही यह कहा जाता है कि आचार्य के रूप में तो वे संस्कृत काव्यशास्त्र [illegible]
अनुधावन मात्र करते थे और कवि के रूप में भी जोड़-तोड़ में ही लगे रहते थे। [illegible]
उनके आचार्य रूप में किए गए प्रयत्न को ही लीजिए।

संस्कृत में अभिनवगुप्तपादाचार्य नाट्यशास्त्र के व्याख्याता मात्र हैं। [illegible]
यह कहा जाए कि उन्होंने 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' [illegible]
व्याख्या करते हुए नवीनता इस रूप में उपस्थित की कि साधारणीकरण की [illegible]
उन्होंने व्यंजना के विभावन व्यापार की मानी। पर ध्वन्यालोक में तो उन्होंने [illegible]
भी कोई नूतन बात नहीं कही; व्याख्या ही करते रहे। मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश [illegible]
ऐसी भी व्याख्या नहीं की; विषय को समझाते ही रहे। फिर भी वे साहित्य [illegible]
रचयिता से उत्कृष्ट आचार्य माने गए। यद्यपि 'दर्पण' में ध्वनि के साथ दृश्य [illegible]
का भी बढ़िया विवेचन है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य कहलाने के लिए
उद्भावक होने की सर्वत्र अपेक्षा नहीं है। व्यवस्था होनी चाहिए। व्यवस्थापक भी
आचार्य माने जाते हैं। यदि व्यवस्था में भी मौलिकता की बात मानते हैं तो फिर [illegible]
के आचार्य भी आचार्य थे, यह कहा जा सकता है। हिन्दी में रीति-ग्रन्थों के निर्माण
की अपेक्षा इसलिए थी कि एक तो प्राकृत और तदनन्तर अपभ्रंश भाषाओं का [illegible]
संस्कृत ग्रन्थों से ही चल आता था। पर हिन्दी के स्तर पर संस्कृत दूर पड़ गई था।
इसलिए देशी भाषाओं में रीति ग्रन्थों की आवश्यकता थी। प्रश्न यह था कि सं[illegible]
में जो कुछ है वह हिन्दी में लाया जाए या उसमें से चयित सामग्री ही ली जा[illegible]
संस्कृत में जितने मत प्रचलित थे उनकी संख्या छह है—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति,
रस, ध्वनि और औचित्य। वक्रोक्ति का प्रचार संस्कृत में ही नहीं हुआ। औचित्य
भी उसी खाते में चला जाता है। अलंकार का ग्रहण कर लेने से गुण के रूप [illegible]
रीति भी आ जाती है [illegible] ध्वनि के समस्त प्रपंच [illegible]

जाते हैं। अलंकार ध्वनि और वस्तु ध्वनि में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। विशेष रूप की वस्तुध्वनि ही अलंकार ध्वनि है। किसी अलंकार की शैली के रूप में तथ्य ध्वनित हो तो उसे वस्तुध्वनि न कहकर अलंकार ध्वनि कहते थे। सूक्ष्म भेद की ही दृष्टि से उसका महत्त्व है। इस प्रकार हिन्दी को अलंकार और रस मतों की ही अपेक्षा थी। हिन्दी के आचार्यों को इन्हीं से विशेष प्रयोजन था। कोई ध्वनि का विस्तृत विवेचन करना चाहे तो रोक थोड़े ही थी। कुछ आचार्यों ने उसका ग्रहण किया भी है।

हिन्दी के रसिकों और कवियों के लिए क्या प्रयोजनीय है इसका संकेत आचार्य केशव ने बहुत पहले ही कर दिया था। उनके तीन ग्रन्थ हैं—रसिकप्रिया, कविप्रिया और छंदमाला। रसिकप्रिया रस की दृष्टि से है और साथ ही इस दृष्टि से भी है कि यदि हिन्दी का सहृदय रस का आस्वाद लेना चाहे तो वह क्या-क्या हृदयंगम करे। पर आचार्य केशव ने इस ग्रन्थ में कैसी परिष्कृत दृष्टि रखी है इसका भी संकेत है। एक तो स्वकीया, परकीया और सामान्या में से दो ही का ग्रहण श्रेयस्कर है इसका संकेत कर दिया। रस में आलम्बन राधाकृष्ण या गोपीकृष्ण ही माने गए। भक्ति संप्रदायों ने रीति के लिए मार्ग परिष्कृत कर रखा था। दिव्य या दिव्यादिव्य का ही ग्रहण हो, अदिव्य का नहीं। दिव्यादिव्य या अवतार को लेने से दिव्य के साथ अदिव्य या मानव जीवन आपसे आप स्पृष्ट मिल जाता था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में सामान्या का बहुत संक्षिप्त विवेचन करने की वृत्ति हो गई। उसका विस्तार नहीं हुआ। केशव ने शृंगार तिलक का आधार लिया था, उसमें सामान्या का विस्तार पर्याप्त है। पर जब मार्गोपदेशक आचार्य ने उसका परित्याग ही कर दिया तब हिन्दी के अन्य आचार्य उसका विस्तार करते भी तो कैसे?

शृंगारतिलक में प्रकाश-प्रच्छन्न भेद भी लिए गए हैं। जिसे सब जानें वह प्रकाश और जिसे परिमित अंतःपरिसर के लोग जानें वह प्रच्छन्न है। इस प्रच्छन्न में आचार्य केशव ने भक्ति प्रवाह के सखीभावोपासक भक्तों को लेकर नई बात कही है। सखी स्वामी और स्वामिनी की रति का आस्वाद लेती है। यह भला कैसे संभव है? अभिनवगुप्तपादाचार्य की व्यंजना का विभावन व्यापार इसी विसंगति को दूर करने को सामने लाया गया। भट्टनायक का भावना और भोग उन्हें असंगत लगा। दूसरे के भाव से भावित होकर उसके भाव का भोग होगा कैसे। सो उन्होंने भावन का विभावन किया अर्थात् यह कहा कि नट जिन अनुकार्यों की भूमिका लेता है उनका बारंबार चिंतन होने से तादात्म्य की स्थिति होती है भृंगी कीट की भाँति। तब उसके भाव या अनुभूति का भोग होने लगता है, यह ठीक नहीं। दूसरे के भाव का भोग असंगत है। संगत यह है कि नाट्य व्यापार के द्वारा दर्शक की ही वृत्ति सुप्त से जागरित हो जाती है वह अपनी ही वृत्ति का भोग करता है नाट्य से सह्

वृत्ति व्यंजित होती है । यही विभावन व्यापार है, प्रेरक या उद्बोधक स्थिति का होना । सो यहाँ भी यह मानने में बाधा नहीं है कि सखी स्वामी-स्वामिनी की वृत्ति का आस्वाद नहीं लेती, अपनी ही वृत्ति का आस्वाद लेती है । स्वामी या स्वामिनी की वृत्ति तो उद्बोधक या विभावन मात्र है । हेतु है । इस प्रकार केशवदास ने नाट्यप्रवाह के विभावन व्यापार को श्रव्य में ही नहीं प्रत्यक्ष जीवन में भी चरितार्थ कर दिया है । प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति में केशवदास भी रसात्मक बोध की एक स्थिति का संकेत दे गए हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही आधुनिक समय में प्रत्यक्ष बोध की रसात्मकता का उल्लेख नहीं किया है ।

अब यह देखना है कि केशवदास ने शृंगार के भीतर ही सब रस दिखाए हैं तो क्या भोज के शृंगार प्रकाश की भाँति ये भी शृंगार को ही 'एक रस' मानते हैं । यह धारणा तो भक्ति संप्रदाय के मूल में ही निहित है । जहां राग, अनुराग प्रीतिभाव, महाभाव तक जाने की स्थिति है । साहित्य में शृंगार आदि रस माना ही जाता है । जब आदि या मूल में यह है तब साहित्य और भक्ति दोनों का योग इनकी इस धारणा में होना असंभव नहीं । रही भोजराज की दूसरी धारणा---रस से भाव को पहुँचना । रस चैतन्य की सहज या निर्विकार स्थिति है । भाव विक्रिया है । भक्त उस निर्विकार स्थिति में---शाश्वत रूप की स्थिति में भगवान् को---'केशवै' को ही मानता है । भक्त की भक्ति तो विभक्ति होती है । उपास्य-उपासक को लेकर चलती है । इससे चरम रस उपास्य में ही होता है । उसी रस की परिणति भक्त में होती है, वह भावात्मक होती है । आनंदांश का प्रतिबिंबन या प्रतिफलन मदंश में होना है । रस की सत्तात्मक स्थिति का ही नाम भाव है । यह तो केवल रसिक प्रिया की ही चर्चा हुई । कवि-प्रिया और छंदमाला में भी बहुत सी ऐसी ही बातें हैं । जो स्थिति केशवदास की थी वैसी ही स्थिति हिन्दी के उत्तरवर्ती बहुत से प्रमुख आचार्यों की है । पर हिन्दी के इन आचार्यों का अनुशीलन करने की ओर कोई बढ़ता ही नहीं । पद-पदार्थ लगे तब तो बढ़े कोई ।

रही सर्जनात्मक स्थिति का या कवि रूप का विचार । यह तो विरोधी भी मानते हैं कि वे कवि थे और कविता के लिए काव्यशास्त्र का विवेचन आधार बनाकर चले थे । इन्होंने उदाहरणों का अनुगमन या अनुवदन नहीं किया है । रीतियुग या शृंगार युग में तीन प्रकार के कवि दिखते हैं जिन्हें मैंने रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध कहा है । कुछ लोग यह आपत्ति करते हैं कि रीतियुग को शृंगार युग कहने पर भी जब रीति के बिना काम नहीं चलता तब रीतियुग के रीति शब्द की सार्थकता अपने आप स्पष्ट हो जाती है । पर बात ऐसी नहीं है । मैंने रीति शब्द का ग्रहण दो प्रयोजनों से किया है । एक तो आचार्य शुक्ल के प्रति श्रद्धा रखने के कारण उनके शब्द का अन्यत्र नियोजन कर दिया । दूसरे हिन्दी वालों के लिए

रीति शब्द अधिक सहज प्रतीत हुआ, अन्यथा रीति शब्द का अर्थ यहां शास्त्र अर्थात् साहित्य शास्त्र से है। इसलिए उपर्युक्त नामों को अन्य प्रकार से भी कह सकते हैं कि शास्त्र कवि, काव्य कवि और शास्त्रकाव्योभय कवि। जो शास्त्र को लेकर चलते थे वे शास्त्रकवि, जो उसे परित्यक्त करके चलते थे वे काव्यकवि थे और जो दोनों शैलियों के ग्राहक थे वे शास्त्रकाव्योभय कवि थे। अस्तु।

देखना यह है कि इन कवियों ने काव्य निर्माण में कौशल का प्रदर्शन किया है अथवा इनकी रचना में कवित्व के दर्शन होते हैं या नहीं। दर्शन और प्रदर्शन में अंतर है। कोई कुछ दिखाना चाहता है और कोई दिखाने का प्रयत्न नहीं करता, आप से आप कोई दृश्य पदार्थ उसमें आ जाता है। काव्य निर्माण में प्रतिभा की दो स्थितियां होती हैं—एक को सहजा नाम दिया जाता है, दूसरी को उत्पाद्या। व्युत्पत्ति और अभ्यास ही उत्पाद्या प्रतिभा है। यह तो सभी मानते हैं कि सभी कवियों में सहजा प्रतिभा उतनी नहीं होती तब उसे उत्पाद्या के बल पर ठीक करने का प्रयास होता है। व्युत्पत्ति निपुणता और अभ्यास से अल्प परिमाण की सहजा यथार्थ रूप धारण करती है। और जहां प्रभूत परिमाण में वह रहती है, वह उसमें प्रखर हो जाती है। क्या रीतियुग में प्रातिभ कम थे। ऐसी स्थिति नहीं है। यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास को तटस्थ भाव से देखें तो यह स्वीकार करना होगा कि उस युग में प्रथम श्रेणी के कवियों की संख्या जितनी है उतनी अन्य किसी युग में नहीं। यह अवश्य कह सकते हैं कि सूर और तुलसीदास की समकक्षता करने वाला कोई भी कवि भले ही इस युग में न हो।

भक्तियुग के इन दो कवियों के वैशिष्ट्य का कारण उनकी भक्ति साधना है। भक्ति का साधक अपनी साधना के कारण जिस ऊंची भूमिका पर स्थित हो जाता है वह आलोक सामान्य है। पर क्या भक्तियुग में ही सूर और तुलसीदास की समकक्षता करने वाले अन्य कवि दिखाई देते हैं? इसलिए उन कवियों की कसौटी पर रीतियुगीन कवियों को कसना ठीक नहीं प्रतीत होता। रीतियुग के कवियों के लिए काव्य ही साध्य था। सूर और तुलसीदास के लिए तो काव्य साधन मात्र था। उनकी साध्य भक्ति थी। भक्ति की साधना और साहित्य की साधना में अंतर है। भक्ति की साधना में भाव ही प्रधान होता है। उसमें शैली का इतना महत्त्व नहीं होता। पर सूर और तुलसीदास ने शैली का भी लगभग समतुल्य विनियोग किया है। रीतियुगीन प्रथम श्रेणी के कवियों ने भी भाव और शैली की समतुल्य स्थिति रखी है। जिनका साध्य भक्ति और भगवान् होते उनके लिए शैली की ओर विशेष ध्यान देने की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए सभी भक्त कवि भाव और शैली की समतुल्यता का नियोजन या विनियोग करने वाले नहीं हैं। कबीर और मीरा की यह स्थिति [illegible] जैसी स्थिति मीरा [illegible] कबीर [illegible]

कबीर बहुत आगे हैं पर मीरा की वैसी स्थिति नहीं है। इस प्रकार शैली के वैशिष्ट्य की कमी के कारण काव्य की दृष्टि से इनकी वह विशेषता नहीं हो सकती जो रीतियुग के प्रथम श्रेणी के कवियों की थी। काव्य में शैली या सौंदर्य विधायक तत्व का नियोजन आवश्यक है। इसे ही चारुत्व कहते हैं। इसे ही अलंकार कहते हैं। रीति कवि अलंकार और रस दोनों का विचार कर चलते थे। साधारण रचनाकार सर्वत्र होते हैं। वे भक्तियुग में भी थे और आधुनिक युग के विविध प्रवाहों में भी थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अलंकार और रस दो मतों की ओर विशेष दृष्टि का प्रयोजन सिद्धांत और व्यवहार दोनों के कारण था। अब रही यह बात कि कवियों ने उदाहरण के रूप में कविता ही की है, लक्षण के लक्ष्य नहीं दिए हैं। यह मत भी ठीक नहीं है। लक्षण के लिए लक्ष्य कहां मिलते हिंदी वालों को। संस्कृत वालों को भी जब संस्कृत में लक्ष्य नहीं मिलते थे तब वे प्राकृत का सहारा लेते थे। किसी भी साहित्य में जो रचनाएँ होती हैं उनके अवलम्बन से ही लक्षण बनते हैं। पर जब लक्षण बन जाते हैं तब लक्ष्य का संधान करने के लिए ध्यान में रखना होता है कि लक्षण के अनुकूल लक्ष्य मिले। ऐसे लक्ष्य या उदाहरण किसे चुने ही मिल सकते थे। सूर और तुलसीदास के ही काव्य तो विशेष प्रचलित थे। पर क्या सभी के उदाहरण खोज लेना सरल था। सूरदास के सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने गीतों या पदों में रचना की है। कारण चाहे जो हो पर रीति के कवि गीत पसंद नहीं करते थे। किसी ने गीत लिखे ही नहीं। विद्यापति के गीतों में लक्षणानुयायी, विशेष रूप से नायिका भेद के अनुरूप पर्याप्त रचना है। प्रत्युत यह भी कहा जा सकता है कि रस मंजरी का पूरा अनुधावन है। पर एक तो उनके गीत इधर के कवियों तक प्रभूत परिमाण में पहुँच ही नहीं सके दूसरे गीत में उन्हें रुचि ही नहीं थी। जब भावुकों से घिरे केशवदास ने ही गीत नहीं लिखे तब भला अन्य उधर क्यों जाते। केशवदास ने ऐसा लगता है कि रीति के कवियों के लिए काव्यांश ही स्थिर कर दिया। कवित्त, सवैया, दोहा थे ही उनके लिए छंद हो गए।

यहां इन सबके लिए दृष्टांत देकर कलेवर मैं नहीं बढ़ाना चाहता। डा० किशोरीलाल के प्रबन्ध में पर्याप्त उदाहरण मिल जाएँगे। इन्होंने जिस परिश्रम से यह कार्य किया है हिंदी के शोध प्रबंध उतने परिश्रम से नहीं लिखे जाते। जब तक शोध के लिए गृहीत क्षेत्र में किसी अनुसंधित्सु का पूरा संचार या अनुप्रवेश न हो तब तक वह उसकी बारीकियां कहां से जान सकेगा। इसी से अधिकतर अनुसंधायक हिंदी का आधुनिक युग ही चयित करते हैं। पर जहां से यह शोध की प्रवृत्ति आई है वहां शोध के लिए आधुनिक युग वर्जित है। आधुनिक और उसमें भी सांप्रतिक या समसामयिक यग मा ग ो ा क लिए ा । ा ाशि या । ा ा नगा ा य ा े और न कोई

व्याख्या उपलब्ध तथ्यों के आधार पर करनी है । कोरी और वह भी थोथी हलकी फुलकी आलोचना ही शोध के नाम पर आ रही है । होड़ लगी है विश्वविद्यालयों में शोध के अनुसंधायकों का उत्पादन करने की, मशीन बैठा दी गई है आलोचना की, सर्वेक्षण की और दनादन माल तैयार किया जा रहा है । हिंदी के अतीत की ओर झाँकने का प्रयास-श्रायास कोई करता नहीं । सबको हड़बड़ी है आगे निकल जाने की । ऐसी स्थिति में 'रीति कवियों की मौलिक देन' को शोध का विषय बनाकर श्रीकिशोरी लाल ने मानो निर्देशकों और अनुसंधित्सुओं को ललकारा है । चुनौती दी है कि यह है अनुसंधान । डा० किशोरीलाल हिंदी के रीतिकवियों और भक्त कवियों की रचनाओं का अध्ययन पूरे अभिनिवेश के साथ जाने कब से कर रहे हैं । उन्होंने अनेक शब्दों की अर्थ सम्बन्धी गुत्थियाँ सुलझाई हैं और अब भी अनवरत सुलझाते रहते हैं । मैं उनके कार्य से बहुत ही प्रभावित हूँ और मेरा दृढ़ विश्वास है कि उनका शोध प्रबन्ध आदर्श के रूप में गृहीत किया जाए तो हिन्दी में शोध के क्षेत्र में इकट्ठा हो रहा कूड़ा-करकट धीरे-धीरे छँट जाए । इनकी अनुसंधायिनी वृत्ति से हिंदी साहित्य को बहुत सी आशाएँ हैं । भगवती भारती उसे चरितार्थ करें ।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
प्रो० 'नवीन' शोधपीठ, अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर हिंदी अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ।

पौषी पूर्णिमा
वैक्रम संवत् २०२७
३–विश्वविद्यालय आवास
कोठी रोड, उज्जैन

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हमारे दीर्घकालीन रीति काव्यानुशीलन का परिणाम है। आज से कई वर्ष पूर्व हमने 'रीतिकवियों की मौलिक देन' पर अनुसंधान करने का संकल्प किया था, पर परिस्थितियों की अनुकूलता के अभाव में हमारे मार्ग के नाना प्रकार के अन्तराय और अवरोध हमें विवेच्य विषय पर कार्य करने से सदैव विरत एवं पराङ्मुख करते रहे। किन्तु बचपन के भोले मानस पर रीतिकाव्य की सुकुमार एवं रससिक्त कल्पनाओं का मोहक प्रभाव इतना अधिक पड़ चुका था कि उसके कारण अनुसंधान की एक उत्कट ललक सरुज शरीर और मानसिक ऊहापोह के मध्य भी अक्षुण्ण रही। मुझे आज से करीब बीस वर्ष पूर्व छात्र जीवन की उस धृष्टता का भी स्मरण हो रहा है, जिससे प्रेरित होकर 'साहित्य रत्न' उपाधि की तैयारी करते समय मैंने देव, बिहारी, पद्माकर और घनानन्द की गूढ़ एवं दुर्बोध पंक्तियों का अर्थ जानने के लिए स्व० राय बहादुर डा० शुकदेव बिहारी मिश्र (मिश्र बन्धुओं में अंतिम) तथा स्व० पं० कृष्णबिहारी मिश्र जैसे रीतिकाव्य के निष्णात विद्वानों को भी परेशान करने की अनधिकार चेष्टा की थी। उन मनीषियों ने रीतिकाव्य के प्रसिद्ध कवि देव, बिहारी और भूषण आदि की गम्भीर और शीघ्र न स्पष्ट होने वाली पंक्तियों की जैसी विशद एवं मार्मिक व्याख्या की थी उससे मुझे उसी समय ऐसा लगा था कि वस्तुतः रीतिकाव्य की जैसी उपेक्षा तथा उसके अभिव्यंजन कौशल का जैसा अवमूल्यन किया जाता है, वह सर्वथा औचित्यपूर्ण नहीं है। यों यह सत्य है कि सम्प्रति आधुनिक काव्य के सुधी समीक्षक रीतिकाव्य को सामन्तीय युग के भग्नावशेष और ऐन्द्रिय चेतना के पर्याय से अधिक महत्व नहीं देना चाहते, किन्तु उनकी समीक्षा की ऐसी दृष्टियाँ रीतिकाव्य की व्यापक कलात्मक एवं सौन्दर्यपरक चेतना को परखने में पूर्णतया अक्षम और अधूरी प्रमाणित हुई हैं। इन्हीं कारणों से अद्यावधि रीति-काव्य की नवोपलब्धियों एवं उसकी मौलिक देन के सम्बन्ध में प्रकृत और वास्तविक विवेचन नहीं किया जा सका। दूसरे शब्दों में रीतिकाव्य के सौन्दर्य-बोध एवं उसकी सूक्ष्म कलात्मक अभिव्यक्ति विषयक परीक्षण के लिए जिस प्रकार का निकष प्रस्तुत किया जाता है, वह बहुत कुछ द्विवेदी युगीन नैतिक मान्यताओं की कुण्ठा से ग्रस्त है। उसके लिए जिस प्रकार की कसौटी अपेक्षित है, उस दृष्टि से हिन्दी का यह काव्य अभी बहुत पीछे है और पर्याप्त अवमानित।

जहाँ तक ज्ञात है अभी तक रीतिकाव्य के शास्त्र एवं काव्य पक्ष की मौलिकता

का विवेचन समग्ररूपेण नहीं किया गया। हां, रीतिकाव्य के [illegible] पक्ष के निरूपण की दृष्टि से कतिपय महत्वपूर्ण अनुसंधानात्मक ग्रन्थ अवश्य प्रस्तुत हुए हैं। सर्वप्रथम रीति साहित्य के अनुसंधान की शृंखला में जिस ग्रन्थ को जोड़ा जाता है, वह है डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास' (इवोल्यूशन आफ हिन्दी पोयटिक्स) यह शोध प्रबन्ध सन् १९३० में स्वीकृत हुआ था। नाम से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें हिन्दी काव्य शास्त्र के विकास पर पूर्ण विचार हुआ होगा, पर वास्तविकता यह है कि इसमें काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में [illegible] विचार हुआ है और शोध प्रबन्ध का अधिकांश कलेवर अलंकारों की सूक्ष्म विवेचना से अधिक सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ में अलंकारों के विवेचन-निरूपण के सन्दर्भ में मौलिकता का संधान बिल्कुल नहीं हुआ।

रीतिकाव्य से सम्बन्धित दूसरा प्रबन्ध डा० [illegible] राकेश का 'रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' (साइकोलाजिकल स्टडीज इन रस) है और डी० लिट् के लिए प्रस्तुत उन्हीं का अन्य शोध प्रबन्ध 'नायिका भेद का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' है। इन दोनों शोध प्रबन्धों में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से भिन्न [illegible] मनोवैज्ञानिक परि-प्रेक्ष्य में क्रमशः रस और नायिका भेद का विश्लेषण किया गया है। अतः मौलिक तत्वों की दृष्टि से डा० राकेश का प्रयास प्रायः नगण्य है। इसी प्रकार डा० जानकी नाथ सिंह मनोज का 'छन्दशास्त्र विषयक हिन्दी कवियों की देन' (दि कन्ट्रीब्यूशन आफ हिन्दी पोयट्स टू प्रासडी) प्रबन्ध मात्र छन्दशास्त्र के निरूपण विवेचन से सम्बद्ध है। इसमें रीतिकाव्य के एक अंग का जो सामान्यतया काव्यांग निरूपण में अन्तर्भूत नहीं होता—विश्लेषण किया गया है। इसमें भी मौलिक तत्वों के संधान की दृष्टि प्रायः गौण है।

रीतिकाव्य के अनुसंधान की दिशा में अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' है। इस ग्रन्थ में हिन्दी काव्यशास्त्र से सम्बन्धित अनेकशः अनुपलब्ध ग्रन्थों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक सामग्री के आकलन-संकलन में डा० मिश्र ने बड़ा स्तुत्य कार्य किया है, पर समस्त कार्य की [illegible] और [illegible] ऐतिहासिक सीमा से आगे नहीं जा सकी। अतः इसमें भी रीतिकाव्य के शास्त्रीय विवेचन के सन्दर्भ में मौलिक तत्वों का उद्घाटन प्रायः नहीं किया जा सका।

डा० मिश्र के पश्चात् अलंकार निरूपण को लेकर दो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हुए हैं—प्रथम ग्रन्थ डा० ओमप्रकाश का 'हिन्दी अलंकार साहित्य' है और द्वितीय रीति-कालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन है, जिसके लेखक डा० ओमप्रकाश शर्मा हैं। दोनों ग्रन्थों में अलंकार शास्त्र का क्रमशः आलोचन और विवेचन प्रस्तुत हुआ है पर इन ग्रन्थों में अलंकार निरूपण की मौलिक [illegible]

तक ही सीमित है और उसमें काव्य पक्षीय दृष्टि से बिल्कुल विचार नहीं किया गया जो हमारे शोध प्रबन्ध से निश्चय ही सर्वथा भिन्न प्रयास है।

इसके अतिरिक्त डा० नगेन्द्र कृत 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' का उल्लेख होता है। इसमें सन्देह नहीं कि डा० नगेन्द्र ने इस ग्रन्थ में जितनी गहराई और जितने विवेक के साथ रीतिकाव्य का शास्त्रीय एवं काव्यपक्षीय तत्वों की मौलिक विवेचना की है, वह अद्यावधि प्रस्तुत अनेकशः शोधप्रबन्धों की तुलना में निश्चय ही अधिक श्लाघ्य है। प्रारम्भ में डा० नगेन्द्र ने रीतिकाव्य के शास्त्रीय निरूपण की एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, तदनन्तर महाकवि देव के सन्दर्भ में रीतिकाव्य के उत्कर्ष एवं सौष्ठव का मौलिक विश्लेषण किया है। फिर भी, समस्त शोध प्रबन्ध में देव के काव्य को ही मुख्य मानकर रीतिकाव्य के सहज स्वारस्य का प्रतिपादन हुआ है और बहुत से रीतिकाल के स्वनामधन्य कवियों का महत्व पीछे रह गया। यों मौलिकता की दृष्टि से इसमें देव के काव्यगत सौन्दर्य का संकेत अवश्य किया गया है, पर समस्त मुख्य रीतिकवियों के काव्य का मौलिक विमर्श इसमें भी नहीं किया जा सका।

रीतिकाव्य के शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से डा० सत्यदेव चौधरी कृत 'रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें रीतिकाल के पांच कवियों की शास्त्रीय विवेचना हुई है। यों लेखक ने अपने गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन द्वारा यत्र-तत्र हिन्दी के पांच आचार्यों की मौलिक देन पर भी विचार किया है, पर शोध का विषय इन आचार्यों के शास्त्रीय विवेचन तक सीमित होने के कारण उनके कवित्व और काव्यगत मौलिक तत्वों का सम्यक् निरूपण प्रायः नहीं हो सका। पुनः देव और श्रीपति जैसे आचार्यों को उक्त शोध प्रबन्ध में स्थान न देने के कारण रीति परम्परा के प्रमुख आचार्यों की शास्त्रीय विवेचना अधूरी सी लगती है।

रीतिकाल के किसी विशिष्ट आचार्य को लेकर भी अनुसंधान कार्य हुआ है, इन विशिष्ट आचार्यों में आचार्य केशवदास, मतिराम और आचार्य भिखारीदास आदि प्रमुख हैं। आचार्य केशवदास पर डा० हीरालाल दीक्षित का शोध प्रबन्ध अधिक उत्तम है। इधर डा० किरणचन्द्र शर्मा कृत 'आचार्य केशवदास : जीवनी, कला और कृतित्व' भी प्रकाशित हुआ है। डा० विजयपाल सिंह ने आचार्य केशवदास पर दो शोधप्रबन्ध किये प्रस्तुत हैं—प्रथम पी० एच० डी० के लिए और द्वितीय डी० लिट् के हेतु। पी० एच० डी० के लिए उन्होंने 'केशवदास और उनका साहित्य' नामक प्रबन्ध प्रस्तुत किया है और डी० लिट् के लिए 'केशवदास का आचार्यत्व'।

केशव के अतिरिक्त मतिराम पर दो शोध प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं—प्रथम डा० महेन्द्र कुमार द्वारा लिखित 'मतिराम कवि और आचार्य' और द्वितीय डा० त्रिभुवन सिंह रचित 'महाकवि मतिराम' है। इन दोनों शोधप्रबन्धों में कवि के आचार्यत्व के साथ यथाप्रसंग उसकी [illegible] और रमणीयता का भी

विश्लेषण हुआ है। पर इन ग्रन्थों में भी लेखक का अधिकांश मौलिक तथ्यों का विवेचन न होकर साधारणतया रीति के लक्षणों का परिचय देना है।

मतिराम की ही भांति आचार्य भिखारीदास पर भी एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ है, इस शोध प्रबन्ध के लेखक डा० नारायणदास खन्ना हैं। इसमें सन्देह नहीं कि डा० खन्ना ने आचार्य दास की समस्त उपलब्ध कृतियों के आधार पर उनके आचार्यत्व और कवित्व दोनों पक्षों पर पूर्ण विचार किया है और यथास्थान आचार्य दास की शास्त्रगत कतिपय विशिष्ट मौलिक देन का भी संकेत किया है, किन्तु रीतिशास्त्र की दृष्टि से मौलिक संधान की प्रायः उपेक्षा की गयी है।

इस दिशा में कुछ ऐसे शोध ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जिनमें आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व पक्ष की आलोचना, पर्यालोचना की प्रधानता है। इन ग्रन्थों में डा० बच्चन सिंह द्वारा लिखित 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना', डा० मनोहरलाल गौड़ का 'घनानन्द और स्वच्छंद काव्य धारा', डा० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कृत 'द्विजदेव और उनका काव्य', 'डा० ब्रजनारायण सिंह का 'कविवर पद्माकर और उनका युग', डा० रामसागर त्रिपाठी कृत 'मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी' आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं।

अलंकार निरूपण की भांति काव्य के अन्य अंगों के विवेचन से सम्बद्ध शोध ग्रन्थ भी रचे गये, इनमें डा० अरविन्द पाण्डेय रचित 'रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग', डा० सच्चिदानन्द चौधरी का 'हिन्दी काव्यशास्त्र शास्त्र में रससिद्धान्त', डा० गणपतिचन्द्र गुप्त का 'हिन्दी काव्य में शृंगारिक परम्परा और महाकवि बिहारी' डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी कृत रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस तथा डा० आनन्द प्रसाद दीक्षित प्रणीत 'रससिद्धान्त: स्वरूप विश्लेषण' आदि ग्रन्थ मुख्य हैं।

उपर्युक्त शोध प्रबन्धों की तुलना में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की अपनी कुछ विशिष्टताएं और नवीनताएं हैं। इस शोध प्रबन्ध का विवेच्य विषय आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के उस संकेत का उपबृंहण एवं विस्तार है, जिसमें उन्होंने इस बात को स्पष्टरूपेण बताया था कि उदाहरणों की सरसता और रमणीयता की दृष्टि से यदि संस्कृत के समस्त लक्षण ग्रन्थों में उदाहृत छन्दों को आकलित किया जाय तो भी रीति कवियों की समकक्षता में वे न पहुंच सकेंगे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ रीति काव्य के अधिकांश समर्थ विद्वान् आलोचकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र को आधार बनाकर हिन्दी काव्यशास्त्र की मौलिकता के समक्ष एक प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, वहाँ हमने उसके उपेक्षित मौलिक तत्वों पर पुनर्विचार किया है और अन्ततः उसमें उपलब्ध मौलिक तथ्यों की संस्कृत से तुलना करते हुए यत्र-तत्र नवीनता का संधान किया है तथा कुछ तो रीतिकवियों द्वारा विवेचित एवं पर्यालोचित उन सिद्धान्तों और स्थापनाओं पर समुचित विमर्श किया गया है, जिससे निश्चय ही उनकी मौलिक देन के सम्बन्ध में सम्यक प्रकाश पड़ सकता है

यों विवेच्य विषय के अन्तर्गत रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध कवियों का ही प्रतिपादन अभीष्ट है, परन्तु रीतिमुक्त कवियों को हमने रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों से सर्वथा पृथक् मानने के आग्रह को स्वीकार नहीं किया है। कारण यह है कि रीतिबद्ध काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों में शृंगार और अलंकरण दो ऐसे तत्व हैं, जिनकी व्याप्ति रीतिमुक्त कवियों में भी है। अतः मौलिक विवेचना के सन्दर्भ में मैं रीतिमुक्त कवियों को भी शोध प्रबन्ध में समाविष्ट किये जाने का लोभ इसलिए संवरण नहीं कर सका, क्योंकि रीतिबद्ध काव्य की अपेक्षा रीतिमुक्त कवियों में मौलिकता एवं नव उपलब्धियों का अंश अपेक्षाकृत अधिक है। पुनः रीतिबद्ध काव्य की रूढ़ियों, खंजन, मीन, मृग, चकोर, चन्द्र, कमल आदि का प्रयोग रीतिमुक्त कवियों ने भी किया है, पर उन्हें सर्वथा नवीन सन्दर्भ एवं नव्य परिवेश में। इसी से पुराने उपमानों में सौन्दर्य दीप्ति और आत्म-स्पन्दन का स्वर अधिक मुखरित है। और इसके अलावा रीतिमुक्त कवियों में आलम जैसे कुछ ऐसे भी कवि हैं, जिनमें खण्डिता आदि के वे ही पुराने प्रकरण मिलते हैं और विपरीत तथा सुरतान्त आदि से सम्बद्ध वे ही चित्र प्राप्त हैं, जिन्हें रीति परम्परा में बिहारी आदि कवियों ने विशेष महत्व प्रदान किया है।

यद्यपि रीतिकाल नामकरण की अभिधा के सम्बन्ध में मैंने शुक्ल जी के नामकरण से अपनी असहमति प्रकट की है और आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सुझाये गये नामकरण के औचित्य को पूर्ण स्वीकार किया है, परन्तु विशेष प्रचलित होने के कारण 'रीतिकाल' नामकरण के प्रति मेरा मोह सहज ही हो गया है। वैसे किसी दुराग्रहवश इस नामकरण को स्वीकार करने की धृष्टता मैंने कथमपि नहीं की है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध चार अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय अन्य अध्यायों की पृष्ठभूमि रूप में प्रस्तुत है, जिनके विवेच्य एवं आलोच्य विषय का पूर्वाभास इसमें आसानी से मिल जाता है। यह कहने में संकोच नहीं कि हमने अद्यावधि प्रस्तुत शोध प्रबन्धों में उल्लिखित कतिपय बातों का अपनी दृष्टि से विचार किया है। यथा, नामकरण की समस्या के सम्बन्ध में हिन्दी एवं अंग्रेजी के जितने भी सुलभ एवं दुर्लभ इतिहास ग्रन्थ हैं, इसमें सभी का उपयोग विनियोग किया गया है। यही नहीं, नामकरण के सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन जैसे अंग्रेजी इतिहासकारों ने जिन तथ्यों का संकेत बहुत पहले कर दिया था उनका इस अध्याय में अधिक विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। इसके अलावा रीति परम्परा के प्रवर्तन में केशव के महत्व के सम्बन्ध में इतने विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है जो कि इसके पूर्व अन्य शोध कर्ताओं द्वारा नहीं हुआ।

द्वितीय अध्याय में कृपाराम से लेकर गुलाब कवि तक विवेचित काव्यशास्त्र का वैभवपूर्ण निरूपण किया गया है और यह कहने में तनिक संकोच नहीं है कि अभी

न्क रीतिशास्त्र की नवोपलब्धि विषयक इतनी विशद मिमांसा अन्यत्र नहीं की गयी। पुनः हिन्दी काव्यशास्त्र की दृष्टि को सर्वोपरि महत्व देते हुए हिन्दी रीतिकारों का स्वतन्त्र विवेचन यहां प्रथम बार किया गया है। विवेच्य विषय का निरूपण करते समय संस्कृत के मुख्य मुख्य आधार ग्रन्थों को सामने रखकर मिलाने पर अनेकशः नवोपलब्धि के जहाँ कहीं संकेत मिले हैं, उन्हें यथास्थल बताया गया है। और जहाँ भी न्यूनाधिक्य परिवर्तन-परिवर्धन दृष्टिगत हुआ है, वहाँ हमने निश्चय रूपेण मौलिकता की संज्ञा दी है और रीतिकाव्य के आलोचकों के ऐसे विचारों के प्रति अपनी प्रणतिपूर्वक असहमति व्यक्त की है, जिनमें हिन्दी रीति आचार्यों की काव्यशास्त्रीय विवेचन विषयक मान्यताओं को अपूर्ण और अपरिपक्व ज्ञान की उपज माना गया है।

तृतीय अध्याय शृंगारिक विवेचन विषय का एक विस्तृत प्रयास है। इसमें कतिपय विशिष्ट तथ्यों का उल्लेख पहली बार हुआ तथा शृंगार के प्रत्येक अंग से सम्बद्ध अनेक प्रसंगों के अन्तर्गत बहुत सी नवीन बातों का उद्घाटन किया गया है। शृंगारिक प्रसाधनों के सन्दर्भ में कतिपय विशिष्ट वस्त्रों और आभूषणों का उल्लेख इस शोध प्रबन्ध में ही मिलेगा। इसके पूर्व जिन वस्त्रों और आभूषणों का उल्लेख हुआ है, उनकी शृंगारिक परिप्रेक्ष्य में इतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं की गयी।

हिन्दी रीति कवियों की संस्कृत आदि पूर्ववर्ती शृंगारिक मुक्तककारों से दृष्टि विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए और उनकी पृथक्ता को स्पष्ट करने के निमित्त यथास्थल संस्कृत, प्राकृत और उर्दू आदि रचनाओं का भी उपयोग कियागया है। यद्यपि शोध प्रबन्ध का मुख्य अभिप्राय तुलनात्मक अध्ययन नहीं हैं, परन्तु मौलिकता के वास्तविक प्रतिपादन के लिए तुलनात्मक पद्धति की भी उपेक्षा नहीं की गयी।

चतुर्थ अध्याय में अलंकरण और कला का मार्मिक विश्लेषण हुआ है। इस अध्याय की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें रीतिकाल के सभी प्रतिनिधि कलाकारों की रचनाओं का सर्वप्रथम कला और अलंकरण की दृष्टि से विचार हुआ है और यथासंभव उनके कला और अलंकरण विषयक प्रयोग-वैशिष्ट्य पर पूर्णतया संधान किया गया है। कला और अलंकरण के सम्बन्ध में कई उपेक्षित तत्वों पर भी अपने ढग से विचार हुआ है और कतिपय समीक्षकों की आलोचना के उस अंश का प्रतिवाद किया गया है, जिसमें रीति कवियों की मौलिक देन के सम्बन्ध में एक प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया गया है।

रीति काव्य पर अनुसंधान करते समय सबसे बड़ी समस्या आती है रीति ग्रन्थों की उपलब्धि की। इसमें सन्देह नहीं कि हमने दुर्लभ रीति ग्रन्थों की प्राप्ति में यथा शक्य सभी प्रकार के प्रयत्न किए हैं। पर रीतिग्रन्थ सम्प्रति प्रायः नहीं मिलते। हां, आज से करीब ७०–८० वर्ष पूर्व अनेकशः रीति ग्रन्थ बनारस के लाइट प्रेस, भारत जीवन प्रेस बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस और लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस आदि से मुद्रित

हुए थे। तथा इन मुद्रणालयों से कुछ ऐसे भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे, जो लीथो में छपे थे। इनके अतिरिक्त रीतिकाव्य से सम्बन्धित अनेकशः ऐसे भी ग्रंथ हैं जो हस्तलेख रूप में विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। हमने अपनी शोधावधि में यथावश्यक उन हस्तलेखों का भी निःसंकोच उपयोग किया है। वस्तुतः विवेच्य विषय से सम्बन्धित पुष्कल ग्रंथों की उपलब्धि अनुसंधित्सुओं के मार्ग की एक ऐसी कड़ी है, जिसे प्राप्त करके अनुसंधान की अन्य कड़ियाँ स्वतः स्पष्ट होने लगती है। पर ग्रंथों के अभाव में अनुसंधान की प्रकृत जिज्ञासाएं प्रायः शान्त नहीं हो पातीं। मुझे यह जानकर संतोष है कि रीतिकाव्य पर अनुसंधान करते समय अपेक्षित रीति ग्रंथों की प्राप्ति में बहुत अधिक भटकने पर भी अन्ततः सफलता मिली है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के रीडर पूज्य पण्डित उमाशंकर जी शुक्ल के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है। पूज्य शुक्ल जी ने शोध प्रबन्ध की पंक्ति-पंक्ति पढ़ी है और यथास्थल अपने सत्परामर्शों से मुझे अतिशय लाभान्वित किया है। सुतराम् मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि यदि श्रद्धेय शुक्ल जी के सहज स्नेह और वात्सल्य का संबल मेरे अनुसंधान-पथ में सहायक न होता और अनुसंधित्सर की अपार ज्योति उन्होंने न प्रदीप्त की होती तो मैं शोध प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत कर सकता, इसमें पूर्ण सन्देह है। दूसरे शब्दों में, प्रेरणा उन्हीं की, कृपा उन्हीं की, सुझाव उन्हीं का, दिशा-निर्देश उन्हीं का तथा यह कृति उन्हीं के आदेश का एक मात्र पालन है।

श्रद्धेय शुक्ल जी ने व्यस्त होते हुए भी जिस उदारता के साथ मेरी बातें सुनी और मेरे निराश मानस में आशा की जो रश्मियां समय-समय पर देदीप्यमान कीं तदर्थ उनके चरणों में श्रद्धा के दो सुमनों को अर्पित करने के अतिरिक्त और दे ही क्या सकता हूं? अतः केवल औपचारिक धन्यवाद देने की धृष्टता का साहस मैं नहीं कर सकता।

मेरा रोम-रोम श्रद्धानत है रीतिकाव्य के नवीण विद्वान् आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र के प्रति, जिनकी बहुविध वार्ताओं, व्यक्तिगत पत्रों, लेखों तथा अनेकशः ग्रन्थों के आधार-सेतुओं पर ही मैंने परम लघु पिपीलिका की भाँति रीतिकाव्य के 'अति अपार सरितवर' को 'बिन श्रम' पार करने का यत्किंचित् दुस्साहस किया है। सत्य तो यह है कि मैंने जब कभी अपनी शंकाओं के निराकरण के लिए उनसे सहायता की याचना की, उन्होंने तदर्थ मुझे सहर्ष स्वीकृति दी और कभी निराश नहीं किया तथा अपने प्रांगण में घण्टों बैठकर बड़ी आत्मीयता से मेरी बातें सुनीं और समुचित मार्ग सुझाया। अतएव मैं इस लघु रचना से आचार्य मिश्र जी की कृतज्ञता या गुरुता को कैसे ज्ञापित करूं?

मेरे शोध प्रबन्ध में आद्योपान्त रुचि लेने वालों में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रा[illegible] डा० जगदीश गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्हें [illegible]

महार्घ सत्परामर्शों द्वारा मुझे सदैव सहायता की है। मैं डा० गुप्त जी की इस अहैतुकी कृपा के लिए उनका परम आभारी हूं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक डा० [illegible], डा० पारसनाथ तिवारी और डा० मोहन अवस्थी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं जिनसे मुझे समय-समय पर अमित प्रेरणाएं मिलती रहीं।

मैं डा० भवानीशंकर जी याज्ञिक, लखनऊ, श्री [illegible] चतुर्वेदी, इलाहाबाद और ब्रजभाषा के वयोवृद्ध कवि पं० [illegible] जी का भी विशेष ऋणी हूं, जिनसे मुझे अनुसंधान की अवधि में बहुमूल्य सम्मतियां प्राप्त हुई हैं। डा० भवानीशंकर का नाम पुनः विशेषरूपेण स्मरण करता हूं, जिन्होंने अपने संग्रह के कई अलभ्य एवं दुर्लभ हस्तलेखों को दिखाकर मेरे साथ बहुत बड़ा उपकार किया है। सम्प्रति वे हमारे बीच नहीं हैं। अतः मैं दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि भेंट करता हूं।

स्व० पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र के सुपुत्र श्री० डा० [illegible] मिश्र जी को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने कुछ समय के लिए आचार्य श्रीपति के 'काव्यसरोज' की हस्तलिखित प्रति देकर मेरी अमित सहायता की है।

मथुरा निवासी ब्रजभाषा साहित्य के मान्य विद्वान श्री प्रभुदयाल मीतल जी को भी मैं कैसे विस्मरण करता हूं, जिन्होंने पत्रों द्वारा अपने अनेक सामयिक परामर्श देकर मुझे पूर्ण लाभान्वित किया है। इसके साथ ही मैं डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० सत्यदेव चौधरी और डा० नारायणदास खन्ना का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिनके शोध प्रबन्धों से मुझे पदे-पदे सहयोग मिला है।

अपने परम प्रिय छात्रों में मैं सबसे अधिक आभारी हूं श्री पन्नालाल एम० ए० (द्वि० व०) का, जिन्होंने न केवल प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को यथा शीघ्र समाप्त करने की प्रेरणा दी है, अपितु अपेक्षित अंग्रेजी ग्रन्थों की उपलब्धि और शोध से संबंधित अंग्रेजी के सन्दर्भों की खोज कर प्रस्तुत करने में अधिक रुचि प्रदर्शित की है।

इस क्रम में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय एवं पाण्डुलिपि विभाग, प्रयागस्थित भारती भवन पुस्तकालय, पब्लिक लाइब्रेरी तथा इलाहाबाद लाइब्रेरी के अधिकारीगण भी साधुवादार्ह हैं, जिन्होंने समय-समय पर रीतिकाव्य विषयक मुद्रित एवं हस्तलिखित पोथियों को देखने की अनुमति प्रदान की।

अन्त में मैं अपने अनेक गुरुजनों, मित्रों और शुभैषियों का भी चिरऋणी हूं, जिनकी शुभचिन्तनाएँ मेरे साथ रहीं।

—*किशोरीलाल*

विषयानुक्रमणिका

(७) सोमनाथ

(८) दास

(९) रसिक गोविन्द

(१०) प्रतापसाहि

(११) ग्वाल

३—रस और नायक-नायिका भेद विवेचन

(क) निरूपण पद्धति की दृष्टि से रस ग्रन्थों के रचयिताओं का वर्गीकरण।

(१) नवरस निरूपक आचार्य

(२) सर्वाङ्ग या विविधांग निरूपक रसाचार्य

(३) श्रृंगार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक आचार्य

(ख) नवरस निरूपक आचार्य

(१) केशवदास

(२) तोष

(३) देव

—नायिका भेद के वर्गीकरण की नूतन संगतियाँ

(४) भिखारीदास

—परकीया निरूपण में आचार्य दास की वर्गीकरण विषयक नूतन चेष्टा

(५) रसलीन

(६) रघुनाथ

(७) शिवनाथ

(८) पद्माकर

(९) बेनी प्रवीन

(१०) चन्द्रशेखर

(११) ग्वाल

(ग) सर्वाङ्ग या विविधांग निरूपक रसाचार्य

(१) चिन्तामणि

(२) कुलपति मिश्र

(३) देव

(४) कुमारमणि

(५) श्रीपति

(६) सोमनाथ

७ दास

(८) प्रतापसाहि

(घ) शृंगार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक आचार्य

(१) नायिका भेद की पृष्ठभूमि

—नायक-नायिका भेद निरूपण की परम्परा

—भरत का नाट्यशास्त्र

—वात्स्यायन का कामसूत्र

—भानुदत्त का हिन्दी नायक-नायिक भेद विषयक साहित्य पर प्रभाव।

(ङ) हिन्दी का नायक-नायिका भेद

(१) कृपाराम

—रस मंजरी एवं हित तरंगिनी में वर्णित नायिकाएँ

(२) सूरदास

(३) नन्ददास

(४) रहीम

(५) कविराज सुन्दर

(६) चिन्तामणि

(७) मतिराम

(८) देव

—रस विलास में विवेचित शृंगार एवं नायक-नायिका भेद।

—सुखसागर तरंग में वर्णित शृंगार एवं नायक नायिका भेद।

(९) दास

(१०) उदयनाथ

(११) प्रतापसाहि

(१२) सेवक

(१३) गुलाब कवि

४— अलंकार निरूपक आचार्य

(क) सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों द्वारा किया गया अलंकार निरूपण

(१) केशवदास

(२) चिन्तामणि

(३) कुलपति

—आचार्य मम्मट और कुलपति की विवेचनगत पृथकता

—देव का अलंकार विवेचन तथा उनकी मौलिक दृष्टि

नवीन अलंकारों का उद्भावना

(२) शृंगारिक प्रसाधन

—मेंहदी और महावर

—ताम्बूल

—अंगराग

—तिल और गोदना

—केश रचना

(३) रीति काव्य के विशिष्ट वस्त्र

—निबन्धनीय : साड़ी, चुनरी, पाग, घांघरा

—प्रक्षेप्य : कंचुकी

—आरोप्य : ओढ़नी और घूंघट

(४) रीति काव्य के विशिष्ट आभूषण

—रसना और बिछुआ

—नूपुर और बलया

—हार

—नाक के आभूषण

(५) हाव एवं अनुभाव विधान

—सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्रण

—मन:स्थिति की भावपूर्ण व्यंजना

—तन्मयता

—विलास और उपभोग

—मिलन और विनोद के प्रसंग

(६) जल विहार वर्णन

—गुप्ता नायिका के सन्दर्भ में

—व्यंग्य गर्भित प्रसंग में

—सरल प्रेम व्यंजना के रूप में

(७) शृंगारिक प्रसंगोद्भावना

(८) नायिका भेद

—वैवाहिक जीवन

—नैहर और ससुराल

—स्वकीया का आदर्श

—ननद और भाभी

—देवर और भाभी

—सास और वधू

—सपत्नी

—नववधू

—सामाजिक रूढ़ियाँ एवं अन्धविश्वास : भूत-प्रेत पर विश्वास, जादू-टोना, ज्योतिष, शकुन एवं अपशकुन ।

(६) षडऋतु वर्णन

—वसन्त : उन्मुक्त सौन्दर्य निरूपण, मानवीय क्रियाओं का आरोप, समीर

—ग्रीष्म

—पावस : समीर, हिंडोला वर्णन

—शरद

—हेमन्त और शिशिर

—पर्वोत्सव : अखती, बरसाइत, गनगौर, तीज, सलोनो, दशहरा, दीपावली, गणेश चतुर्थी, होली ।

(ख) विप्रलम्भ शृंगार

(१) पूर्वराग

—श्रवण दर्शन

—चित्रदर्शन

—स्वप्न दर्शन

—प्रत्यक्ष दर्शन

(२) मान

(३) प्रवास

—वियोग की मार्मिक व्यंजनाएँ

—ऊहा और अतिशयोक्तिमूलक प्रवृत्तियाँ

—कृशता और ताप निरूपण

—मानसिक अवस्था का चित्रण

संदेश प्रेषण

(४) वियोग में षड्ऋतु एवं बारहमासा वर्णन

(१) अभिव्यंजना कौशल

(क) शब्द साधना

(ख) रीति कवियों की भाषा

—ब्रजभाषा का परिविस्तार

साहित्यिक उत्कर्ष

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

—शब्द भाण्डार : फारसी, अरबी, [illegible] आदि

मुहावरे, लोकोक्तियां

—लाक्षणिक प्रयोग

(ग) उक्ति वैचित्र्य

(घ) अप्रस्तुत विधान :

—सादृश्यमूलक

—साधर्म्यमूलक

—प्रभावसाम्यमूलक

(ङ) कविप्रसिद्धियां

(च) रङ्गों का प्रयोग

(छ) छन्द योजना

—कवित्त

—सवैया

६—उपसंहार

७—सहायक ग्रन्थ-सूची

पृष्ठभूमि

१—रीतिकाल : नामकरण की समस्या

(क) प्रारम्भिक इतिहासकारों के विचार

फ्रेन्च भाषा में लिखित हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास गार्सां द तासी कृत "हिन्दुई साहित्य का इतिहास" कहा जाता है। इसका प्रथम संस्करण दो भागों में सन् १८३९ और १८४७ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण सन् १८७० एवं १८७१ में निकला था। इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण की अपेक्षा मात्र हिन्दी की दीर्घकालीन विकीर्ण सामग्रियों को सूत्रबद्ध कर देने का ही प्रयास लक्षित होता है। इस दृष्टि से इसे वृत्त-संग्रह शैली में लिखित इतिहास से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। इसमें अधिकांश उपलब्ध ऐतिहासिक सूचनाएँ भी प्रायः तथ्यहीन एवं भ्रमात्मक प्रतीत होती हैं। हाँ, हिन्दी के प्रथम इतिहास के कारण इसका महत्व असंदिग्ध है।

तासी के ३८ वर्ष बाद सन १८७७ में ठाकुर शिव सिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' नामक बृहत् वृत्त-संग्रह प्रकाशित कराया। पर इसे भी साहित्यिक इतिहास की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसमें एक हजार कवियों के जीवन चरित्र, सन्-सम्वत्, जाति और निवास-स्थान आदि के उल्लेख के साथ ही आठ सौ छत्तीस कवियों की रचनाएँ भी संकलित की गयी हैं। तासी की तुलना में निश्चय ही सेंगर जी की सूचनाएँ अधिक विस्तृत एवं महत्वपूर्ण हैं। फिर भी, यह संग्रह ही है, जैसा सेंगर जी ने 'सरोज' की भूमिका में स्वयं कहा है। "मुझको इस बात के प्रकट करने में कुछ सन्देह नहीं कि ऐसा संग्रह कोई आज तक नहीं रचा गया[१]।"

शिव सिंह 'सरोज' के १२ वर्ष पश्चात् सन् १८८९ में डॉ० ए० जी० ग्रियर्सन ने अंग्रेजी में लिखित अपना प्रसिद्ध इतिहास 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आॅव हिन्दुस्तान' प्रकाशित कराया। इसका आधार मुख्यतया तासी का इतिहास और शिव सिंह सरोज है। फिर भी, यत्र-तत्र गोकुल कवि कृत 'दिग्विजय भूषण', सरदार कवि कृत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शृङ्गार संग्रह' और भारतेन्दु कृत 'सुन्दरी तिलक' की भी सहायता

---

१. शिव सिंह सरोज भूमिका भाग पृ० १।

ली गयी है। उक्त ग्रन्थों की तुलना में इसे मात्र कवि वृत्त संग्रह ही नहीं कहा जा सकता, अपितु इसमें कवियों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन महोदय की आलोचनात्मक दृष्टि भी स्थल-स्थल पर लक्षित होती है। यह विशाल ग्रन्थ कई अध्यायों में विभाजित हुआ है तथा इसमें काल-विभाजन के साथ ही सामयिक विशेषताओं का भी निर्देश किया गया है।

डॉ० ग्रियर्सन के इस इतिहास से रीति काव्य के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक ठोस एवं महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इसमें उन्होंने काल-क्रमानुसार काव्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण का बहुत ही मौलिक प्रयास किया है और सबसे महत्व की बात तो यह है कि डॉ० ग्रियर्सन द्वारा सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की हिन्दी रचनाएँ अंग्रेजी इतिहासों में उल्लिखित[१] 'ऑगस्टन युग' की रचनाओं के तुल्य अभिहित की की गयी हैं। ऑगस्टन युग को अंग्रेजी इतिहासकारों ने स्वर्ण[२] युग माना है और उस युग की रचनाएँ अधिक काव्य-कला समन्वित कही गयी हैं और जिस प्रकार लैटिन साहित्य का स्वर्ण युग आगस्टन युग कहा जाता है, उसी प्रकार पोप का युग अंग्रेजी साहित्य का स्वर्ण युग माना गया है। डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को 'दि आर्स पोयटिका' की संज्ञा दी है। लैटिन भाषा के इस शब्द का अर्थ 'काव्य कला' होता है। मान्यवर डॉ० ग्रियर्सन महोदय ने हिन्दी रीति परम्परा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की शृङ्गारिक एवं काव्य-कला-मंडित रचनाओं के आधार पर ही इसे काव्य कला-युग कहना अधिक तर्क संगत एवं औचित्यपूर्ण समझा होगा,[३] यद्यपि काव्य कला-युग के नामकरण का स्पष्ट विश्लेषण उन्होंने कहीं नहीं किया। हाँ, अपने इतिहास में उन्होंने सातवें अध्याय को 'काव्य-कला' के नाम से ही उल्लिखित किया है और स्पष्टतया संकेत किया है कि

---

१. अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में क्लासिकल प्रवृत्तियों से संयुक्त रचना को 'ऑगस्टन युग' के अन्तर्गत रखा गया है और ड्राइडन, जानसन और पोप के युग को 'क्लासिक' तथा 'आगस्टन' दोनों कहा गया है।

२ That as the age of Auguston was the golden age of Latin Literature so the age of Pope was the golden age of English literature.

—An Outline of English Literature, p. 114. HUDSON

३ But the artistic influence which had been brought to bear on Hindi poetry now became self concious in various works which determined the canons of poetic critism,

The Modern Vernacular literature of Hindustan In d

सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर पूरी सत्रहवीं शताब्दी तक की रचनायें काव्य-कला से परिपूर्ण हैं[१]।

मेरी ऐसी धारणा है कि परवर्ती हिन्दी साहित्य के कतिपय इतिहासकारों को रीतिकाल को 'काव्य कला-युग' के नाम से अभिहित करने की प्रेरणा बहुत कुछ डॉ० ग्रियर्सन के इस 'दि आर्स पोयटिका' शब्द से ही मिली होगी, क्योंकि जिन इतिहासकारों ने इसे 'काव्य-कला-युग' की संज्ञा दी है, उनकी दृष्टि में भी काव्य-कला (पोयटिक टैलेंट) का ही महत्व सर्वोपरि रहा।

(ख) अंग्रेजी इतिहासकारों के अभिमत

डॉ० ग्रियर्सन के अतिरिक्त साहित्य के जिन अंग्रेजी इतिहासकारों का उल्लेख किया जाता है, उनमें एडविन ग्रीव्ज, एफ० ई० के, के० बी० जिन्दल और डा० रामअवध द्विवेदी के नाम मुख्य हैं। एडविन ग्रीव्ज के इतिहास—'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर'—का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था। यह पुस्तक अत्यन्त छोटी होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें ग्रीव्ज महोदय के आलोचनात्मक दृष्टिकोण अधिक तर्कपुष्ट हैं तथा रीतिकाव्य की संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण समीक्षा की गयी है। वास्तव में काव्य-कला की प्रौढ़ता, विस्तार और विशदीकरण के ही कारण इस युग को ग्रीव्ज महोदय ने 'एलाबोरेटिव पीरियड' कहना अधिक अच्छा समझा। नामकरण के सम्बन्ध में उनका यह सबसे प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। ग्रीव्ज के अनुसार इस युग की कविता में अंग्रेजी कवि टेनिसन की भाँति काव्य को अधिकाधिक अलंकृत एवं काव्य-कला कौशल से पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है[२]।

---

१. The end of the sixteenth century and the whole of the seventeenth century, a period corresponding closely with the supremacy of the Moghal empire, presents a remarkable array of poetic talent. —The M.V.L. of Hindustan. p. 58. Grierson.

२. The name given to this period is not without some measure of appropriateness. Writers arose, who have had a considerable following ever since, who might say with Tenyson, though in a very different sense, we write because we 'must'—X X X they were writers who after duly singing the praises of their patrons in whose favour they found prosperity, were content to display their powers of versification and ornamentation on well-worn themes. —A Sketch of Hindi Literature. p. 55 (1918) —Rev. Greaves.

ली गयी है । उक्त ग्रन्थों की तुलना में इसे मात्र कवि-वृत्त संग्रह ही नहीं कहा जा सकता, अपितु इसमें कवियों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन महोदय की आलोचनात्मक दृष्टि भी स्थल-स्थल पर लक्षित होती है । यह विशाल ग्रन्थ कई अध्यायों में विभाजित हुआ है तथा इसमें काल-विभाजन के साथ ही सामयिक विशेषताओं का भी निर्देश किया गया है ।

डॉ० ग्रियर्सन के इस इतिहास में रीति काव्य के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक ठोस एवं महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं । इसमें उन्होंने काल-क्रमानुसार काव्य-प्रवृत्तियों के विश्लेषण का बहुत ही मौलिक प्रयास किया है और सबसे महत्व की बात तो यह है कि डॉ० ग्रियर्सन द्वारा सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की हिन्दी रचनाएँ अंग्रेजी इतिहासों में उल्लिखित[1] 'ऑगस्टन युग' की रचनाओं के तुल्य अभिहित की गयी हैं । ऑगस्टन युग को अंग्रेजी इतिहासकारों ने स्वर्ण[2] युग माना है और उस युग की रचनाएँ अधिक काव्य-कला समन्वित कही गयी हैं और जिस प्रकार लैटिन साहित्य का स्वर्ण युग आगस्टन युग कहा जाता है, उसी प्रकार पोप का युग अंग्रेजी साहित्य का स्वर्ण युग माना गया है । डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को 'दि आर्स पोयटिका' की संज्ञा दी है । लैटिन भाषा के इस शब्द का अर्थ 'काव्य कला' होता है । मान्यवर डॉ० ग्रियर्सन महोदय ने हिन्दी रीति परम्परा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की शृङ्गारिक एवं काव्य-कला-मंडित रचनाओं के आधार पर ही इसे काव्य कला-युग मानना अधिक तर्क संगत एवं औचित्यपूर्ण समझा होगा,[3] यद्यपि काव्य कला-युग के नामकरण का स्पष्ट विश्लेषण उन्होंने कहीं नहीं किया । हाँ, अपने इतिहास में उन्होंने सातवें अध्याय को 'काव्य-कला' के नाम से ही उल्लिखित किया है और स्पष्टतया संकेत किया है कि

१. अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में क्लासिकल प्रवृत्तियों से संयुक्त रचना को 'ऑगस्टन युग' के अन्तर्गत रखा गया है और ड्राइडन, जानसन और पोप के युग को 'क्लासिक' तथा 'आगस्टन' दोनों कहा गया है ।

२. That as the age of Auguston was the golden age of Latin Literature so the age of Pope was the golden age of English literature.

—An Outline of English Literature. p. 114. HUDSON.

३. But the artistic influence which had been brought to bear on Hindi poetry now became self concious in varions works which determined the canons of poetic critism,

—The Modern Vernacular literature of Hindustan (Intd.)

सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर पूरी सत्रहवीं शताब्दी तक की रचनायें काव्य-कला से परिपूर्ण हैं[१]।

मेरी ऐसी धारणा है कि परवर्ती हिन्दी साहित्य के कतिपय इतिहासकारों को रीतिकाल को 'काव्य कला-युग' के नाम से अभिहित करने की प्रेरणा बहुत कुछ डॉ० ग्रियर्सन के इस 'दि आर्स पोयटिका' शब्द से ही मिली होगी, क्योंकि जिन इतिहासकारों ने इसे 'काव्य-कला-युग' की संज्ञा दी है, उनकी दृष्टि में भी काव्य-कला (पोयटिक टैलेंट) का ही महत्व सर्वोपरि रहा।

(ख) अंग्रेजी इतिहासकारों के अभिमत

डॉ० ग्रियर्सन के अतिरिक्त साहित्य के जिन अंग्रेजी इतिहासकारों का उल्लेख किया जाता है, उनमें एडविन ग्रीव्ज, एफ० ई० की, के० बी० जिन्दल और डा० रामअवध द्विवेदी के नाम मुख्य हैं। एडविन ग्रीव्ज के इतिहास—'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर'—का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था। यह पुस्तक अत्यन्त छोटी होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें ग्रीव्ज महोदय के आलोचनात्मक दृष्टिकोण अधिक तर्कपुष्ट हैं तथा रीतिकाव्य की संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण समीक्षा की गयी है। वास्तव में काव्य-कला की प्रौढ़ता, विस्तार और विशदीकरण के ही कारण इस युग को ग्रीव्ज महोदय ने 'एलावोरेटिव पीरियड' कहना अधिक अच्छा समझा। नामकरण के सम्बन्ध में उनका यह सबसे प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। ग्रीव्ज के अनुसार इस युग की कविता में अंग्रेजी कवि टेनिसन की भाँति काव्य को अधिकाधिक अलंकृत एवं काव्य-कला कौशल से पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है[२]।

---

१. The end of the sixteenth century and the whole of the seventeenth century, a period corresponding closely with the supermacy of the Moghal empire, presents a remarkable array of poetic talent. —The M.V.L. of Hindustan. p. 58. Grierson

२. The name given to this period is not without some measure of appropriateness. Writers arose, who have had a considerable following ever since, who might say with Tenyson, though in a very different sense, we write because we 'must'—X X X they were writers who after duly singing the praises of their patrons in whose favour they found prosperity, were content to display their powers of versification and ornamentation on well-worn themes. —A Sketch of Hindi Literature. p. 55 (1918) Rev Greaves

ली गयी है। उक्त ग्रन्थों की तुलना में इसे मात्र कवि वृत्त संग्रह ही नहीं कहा जा सकता, अपितु इसमें कवियों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन महोदय की आलोचनात्मक दृष्टि भी स्थल-स्थल पर लक्षित होती है। यह विशाल ग्रन्थ कई अध्यायों में विभाजित हुआ है तथा इसमें काल-विभाजन के साथ ही सामयिक विशेषताओं का भी निर्देश किया गया है।

डॉ० ग्रियर्सन के इस इतिहास से रीति काव्य के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक ठोस एवं महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इसमें उन्होंने काल-क्रमानुसार काव्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण का बहुत ही मौलिक प्रयास किया है और सबसे महत्व की बात तो यह है कि डॉ० ग्रियर्सन द्वारा सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की हिन्दी रचनाएँ अंग्रेजी इतिहासों में उल्लिखित[१] 'ऑगस्टन युग' की रचनाओं के तुल्य अभिहित की गयी हैं। ऑगस्टन युग को अंग्रेजी इतिहासकारों ने स्वर्ण[२] युग माना है और उस युग की रचनाएँ अधिक काव्य-कला समन्वित कही गयी हैं और जिस प्रकार लैटिन साहित्य का स्वर्ण युग आगस्टन युग कहा जाता है, उसी प्रकार पोप का युग अंग्रेजी साहित्य का स्वर्ण युग माना गया है। डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को 'दि आर्स पोयटिका' की संज्ञा दी है। लैटिन भाषा के इस शब्द का अर्थ 'काव्य कला' होता है। मान्यवर डॉ० ग्रियर्सन महोदय ने हिन्दी रीति परम्परा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की शृङ्गारिक एवं काव्य-कला-मंडित रचनाओं के आधार पर ही इसे काव्य कला-युग कहना अधिक तर्क संगत एव औचित्यपूर्ण समझा होगा,[३] यद्यपि काव्य कला-युग के नामकरण का स्पष्ट विवेचन उन्होंने कहीं नहीं किया। हाँ, अपने इतिहास में उन्होंने सातवें अध्याय को 'काव्य-कला' के नाम से ही उल्लिखित किया है और स्पष्टतया संकेत किया है कि

---

१ अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में क्लासिकल प्रवृत्तियों से संयुक्त रचना को 'ऑगस्टन युग' के अन्तर्गत रखा गया है और ड्राइडन, जानसन और पोप के युग को 'क्लासिक' तथा 'आगस्टन' दोनों कहा गया है।

२. That as the age of Auguston was the golden age of Latin Literature so the age of Pope was the golden age of English literature
—An Outline of English Literature. p. 114. HUDSON

३ But the artistic influence which had been brought to bear on Hindi poetry now became self concious in various works which determined the canons of poetic critism.
The Modern Vernacular literature of H d tan Intd

सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर पूरी सत्रहवीं शताब्दी तक की रचनायें काव्य-कला से परिपूर्ण हैं[१]।

मेरी ऐसी धारणा है कि परवर्ती हिन्दी साहित्य के कतिपय इतिहासकारों को रीतिकाल को 'काव्य कला-युग' के नाम से अभिहित करने की प्रेरणा बहुत कुछ डा० ग्रियर्सन के इस 'दि आर्स पोयटिका' शब्द से ही मिली होगी, क्योंकि जिन इतिहासकारों ने इसे 'काव्य-कला-युग' की संज्ञा दी है, उनकी दृष्टि में भी काव्य-कला (पोयटिक टैलेंट) का ही महत्व सर्वोपरि रहा।

(ख) अंग्रेजी इतिहासकारों के अभिमत

डॉ० ग्रियर्सन के अतिरिक्त साहित्य के जिन अंग्रेजी इतिहासकारों का उल्लेख किया जाता है, उनमें एडविन ग्रीव्ज, एफ० ई० की, के० बी० जिन्दल और डा० रामअवध द्विवेदी के नाम मुख्य हैं। एडविन ग्रीव्ज के इतिहास—'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर'—का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था। यह पुस्तक अत्यन्त छोटी होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें ग्रीव्ज महोदय के आलोचनात्मक दृष्टिकोण अधिक तर्कपुष्ट हैं तथा रीतिकाव्य की संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण समीक्षा की गयी है। वास्तव में काव्य-कला की प्रौढ़ता, विस्तार और विशदीकरण के ही कारण इस युग को ग्रीव्ज महोदय ने 'एलाबोरेटिव पीरियड' कहना अधिक अच्छा समझा। नामकरण के सम्बन्ध में उनका यह सबसे प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। ग्रीव्ज के अनुसार इस युग की कविता में अंग्रेजी कवि टेनिसन की भाँति काव्य को अधिकाधिक अलङ्कृत एवं काव्य-कला कौशल से पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है[२]।

---

१ The end of the sixteenth century and the whole of the seventeenth century, a period corresponding closely with the supremacy of the Moghal empire, presents a remarkable array of poetic talent. —The M.V.L. of Hindustan. p. 58. Grierson

२ The name given to this period is not without some measure of appropriateness. Writers arose, who have had a considerable following ever since, who might say with Tenyson, though in a very different sense, we write because we 'must'—X X X they were writers who after duly singing the praises of their patrons in whose favour they found prosperity, were content to display their powers of versification and ornamentation on well-worn themes. —A Sketch of Hindi Literature. p. 55 (1918)

ग्रीव्ज के इतिहास के दो वर्ष बाद सन् १९२० में श्री एफ० ई० की महोदय ने 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें रीतिकाल के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विवेचना नहीं प्रस्तुत की गयी है। हाँ, ग्रीव्ज की तुलना में यह अधिक वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण से लिखी गयी पुस्तक है। इसके प्रकाशित होने के पूर्व मिश्र बन्धुओं का मिश्रबन्धु विनोद (तीन भाग) और 'हिन्दी नव रत्न' प्रकाशित हो चुका था, फिर भी इसका मुख्य आधार ग्रियर्सन महोदय का इतिहास ही है। इन्होंने काव्य-कला का उत्कर्ष एवं विकास का कारण मुगल दरबार माना है। इसमें इससे अधिक सूचना नहीं मिलती[१]। के० बी० जिन्दल कृत 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर' पुस्तक सन् १९५५ में प्रकाशित हुई। इसमें भी नामकरण के सम्बन्ध में एडविन ग्रीव्ज का 'एलाबोरेटिव पीरियड' ही अपनाया गया है[२]। डा० रामअवध द्विवेदी ने पूर्वोक्त सभी इतिहासकारों की तुलना में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दिये गये 'रीतिकाल' नामकरण को ठीक समझा और इसे ही अपने इतिहास में ग्रहण किया[३]।

(ग) हिन्दी साहित्य के आधुनिक इतिहासकार

मिश्र बन्धुओं के पूर्व हिन्दी साहित्य के जितने भी इतिहास लिखे गये, उनमें इतिहासकारों के मुख्यतः दो दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हैं—(१) कविवृत्त संग्रह, (२) कविवृत्त संग्रह के साथ उनकी कविताओं की आलोचना।

१—मिश्रबन्धु

'मिश्रबन्धु विनोद' में मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के मध्य काल को तीन भागों में विभाजित किया है—(१) पूर्व, (२) प्रौढ़, (३) अलंकृत[४]। पूर्व मध्य काल भाषा की प्रौढ़ता के कारण स्वीकार किया गया है। पुनः अलंकृत प्रकरण को मिश्र बन्धुओं ने दो भागों में विभाजित किया है—(१) पूर्वालंकृत, (२) उत्तरालंकृत। पूर्वालंकृत काल की सीमा सं० १६८१ से १७९० मानी है और उत्तरालंकृत को उन्होंने सं० १७९१ से १८८९ तक माना है। 'अलंकृत काल' से मिश्र बन्धुओं का क्या तात्पर्य था, इसे स्पष्ट कर देना प्रसंगोचित होगा। मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्र बन्धु विनोद' के द्वितीय भाग में 'पूर्वालंकृत काल' के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा

१. A History of Hindi Literature, p. 37 (I Ed. 1920). —F.E. Key
२. A History of Hindi Literature. p. 156. —K. B. Zindal
३. Hindi Literature. p, 79. —Dr. Ram Awadh Dwivedi.
४ मिश्रबन्धु विनोद द्वितीय भाग पृ० ३८ द्वि० सं०।

है—"सारांश यह है कि इस काल में भाषा अलंकृत हुई, वीर और शृङ्गार की वृद्धि रही, आचार्यता में परिपक्वता आई, भक्ति एवं कथा प्रसंग शिथिल पड़े और काव्योत्कर्ष की सन्तोषदायक उन्नति हुई। यह समय हिन्दी के लिए बड़े गौरव का हुआ। मिश्र बन्धुओं के उपर्युक्त कथन से अधोलिखित तथ्य निकलते हैं—

१—शृंगार में अलंकरण की प्रवृत्ति।

२—शृंगार रस के साथ ही वीर रसात्मक काव्यों की वृद्धि।

३—आचार्यत्व निरूपण में प्रौढ़ता।

४—भक्तिमूलक कथा-प्रसंगों का अभाव और काव्य-कला का विकास उत्तरालंकृत काल के सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं के क्या विचार हैं, उन्हें भी जान लेना उचित होगा—

"सारांश यह है कि उत्तरालंकृत काल में भाषा भूषणों से लद गई, शृंगार-कविता खूब बनी, आचार्यता बढ़ी, कथा-प्रासंगिक प्रथा ने धर्म से सम्बन्ध करके बल पाया, साधारण कथा-प्रसंग भी रचे गये और खड़ी बोली ने गद्य में भी जड़ पकड़ी।" उनके इस गद्यांश का निष्कर्ष यह है—

१—उत्तरालंकृत काल तक अलंकरण की प्रवृत्ति खूब बढ़ गई।

२—शृंगारिक कविताएँ अधिक रची गयीं।

३—आचार्यत्व का और विकास हुआ।

४—धर्म से समन्वित होने के कारण कथा-प्रसंगों में अपेक्षाकृत अधिक शक्ति आ गई।

५—खड़ी बोली के गद्य-ग्रन्थ भी रचे जाने लगे[1]।

मिश्र बन्धुओं के इस कथन से अब भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भाषा में अलंकारों की प्रचुरता के ही कारण इस युग को अलंकृत काल कहा गया। इस तथ्य को कई रीति काल के आलोचकों ने भी स्वीकार किया है, किन्तु अलंकृत काल की अभिधा स्वीकार कर लेने में इस युग की मुख्य प्रवृत्ति शृंगार और शास्त्रीयता की पूर्ण उपेक्षा हो जाती है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अलंकार को एक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उनके अनुसार मिश्र बन्धुओं ने यहाँ अलंकार शब्द का प्रयोग संस्कृत कोशों में गृहीत समस्त साहित्य-शास्त्र के अर्थ में किया है[2]। संस्कृत में अलंकार शास्त्र का अभिप्राय रस, अलंकार, रीति, पिंगल आदि समस्त काव्यांगों से है। हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य केशवदास ने ही इस शब्द का प्रयोग अपनी 'कवि प्रिया'

---

१. मिश्र बन्धु विनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ६३१।

२ हिन्दी साहित्य का अतीत दूसरा भाग आ० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ३५८

मे किया । वहाँ समस्त वर्ण्य सामग्री अलंकार के अन्तर्गत मानी गयी है[1] । इस का व्यापक प्रयोग हिन्दी में आगे नहीं हो सका । मिश्र बन्धुओं के अलंकृत काल के औचित्य पर विचार करते हुए डा० अम्बा प्रसाद सुमन ने लिखा है—"कविता का भाव पक्ष और कला पक्ष तो भक्तिकाल में भी सुन्दर, चमत्कारिक और अलंकृत था, फिर भी रीतिकाल को ही 'अलंकृत काल' क्यों कहना चाहिए ? वीर गाथा काल से लेकर गद्य काल तक की रचनाएँ बहुत कुछ अलंकारों से सुसज्जित रही हैं। इस आधार पर प्रत्येक काल 'अलंकृत काल' कहलाने का अधिकारी हो सकता है[2] ।" किन्तु प्रश्न यह है कि क्या काव्य-कला का जितना उत्कर्ष रीतिकाल में देखने को मिलता है, क्या उसी अनुपात में भक्तिकाल में भी वह देखने को मिला है ? रीतिकाल में तो कला और अलंकरण की इतनी प्रचुरता थी कि कोई भी कवि काव्य के इन उपादानों के अभाव में कविता की कल्पना भी नहीं कर सकता था । यही नहीं, इस युग के शृंगारेतर काव्यों में भी अलंकार एवं चमत्कार की पर्याप्त अतिशयता मिलती है । ऐसी स्थिति में अलंकार की व्याप्ति प्रत्येक युग में दिखाना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता । आधुनिक काल अलंकार का युग कैसे माना जा सकता है ? क्या रीतिकाल जैसी अलंकृति और साज-सज्जा हमें इस काल में भी मिल सकती है ? इस आधार पर अलंकार काल का औचित्य कथमपि अस्वीकार नहीं किया जा सकता । हाँ, शृंगारानुभूति का प्रतिनिधित्व इस नाम से नहीं हो पाता। इस कारण 'अलंकार काल' की अभिधा सर्वथा वैज्ञानिक एवं औचित्यपूर्ण नहीं कही जा सकती ।

२—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

'रीतिकाल' शब्द का प्रयोग सबसे प्रथम आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में किया । यद्यपि शुक्ल जी के पूर्व 'रीति' शब्द का प्रयोग होता था, किन्तु हिन्दी में रस, अलंकार, शब्द शक्ति, नायिका भेद और पिंगल आदि के लिए प्रयुक्त 'रीति' शब्द शुक्ल जी के पहले अकल्पनीय था । इसमें भी सन्देह नहीं कि 'रीतिकाल' नामकरण की सुदृढ़ प्रतिष्ठा सबसे प्रथम आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की शास्त्र निष्ठ एवं पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा द्वारा ही सम्भव हो सकी । वैसे हिन्दी साहित्य के अन्य इतिहास-ग्रन्थों में 'रीतिकाल' की जगह प्रायः 'रीति ग्रन्थों' का प्रयोग हुआ है । स्वयं मिश्र बन्धुओं ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है ।[3] य:

---

१. कवि प्रिया तृतीय प्रभाव ।

२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग—सं० डा० नगेन्द्र, पृ० १६३,१६४

३. इस प्रकार इस समय भाषा की उन्नति के साथ भाव-शैथिल्य भी साहित्य में आने लगा कवियों ने शृंगार रस की ओर भी कुछ अधिक ध्यान दिया जिससे

'रीतिकाल' नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किसी भी प्रकार का विवेचन नहीं किया है, फिर भी शुक्ल जी के परवर्ती प्रायः सभी आलोचकों ने शुक्ल जी द्वारा सुझाये गये इस नामकरण के सम्बन्ध में अपनी असहमति नहीं प्रकट की। सबों ने शुक्ल जी की 'रीतिकाल' नामकरण विषयक इस मान्यता को स्वीकार किया और उस मार्ग पर चलने का पूरा प्रयास भी किया। हाँ, इस नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र एक मत नहीं हैं। आचार्य मिश्र के विचारों का विवेचन आगे किया जायगा। संस्कृत* कोशों में 'रीति' शब्द प्रायः 'सुष्ठु पदावली' 'लेखन पद्धति' शैली आदि अर्थों में गृहीत हुआ है[1]। किन्तु हिन्दी में संस्कृत का यह अर्थ पूर्णरूपेण मान्य न हो सका। संस्कृत साहित्य में रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन आचार्य वामन ने किया। वामन ने विशिष्ट पद-रचना को 'रीति' की संज्ञा दी है और रीति को काव्य की आत्मा माना है। वामन ने यद्यपि रचना-कौशल को काव्य का मूल उपादान स्वीकार किया है, किन्तु हिन्दी रीति काव्य के अन्तर्गत केवल रचना-कौशल का ही विधान नहीं किया गया, अपितु संस्कृत काव्य-शास्त्र की भाँति इसमें भी रीति काव्य-शास्त्र विवेचन की नाना-विध प्रणालियों का उल्लेख किया गया। अतः 'रीति' शब्द हिन्दी में सर्वथा नवीन अर्थ में ग्रहण किया गया है और अपने सच्चे अर्थ में यह संस्कृत काव्य-शास्त्र का पूर्ण समानार्थक माना जाता है। 'रीति' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में रीति काव्य के प्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार—"हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण ग्रन्थों के लिए होता है: जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है, उन्हें रीति ग्रन्थ कहते हैं और जिस वैज्ञानिक-पद्धति पर जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है, उसे रीति शास्त्र कहते हैं[2]।"

रीति काव्य का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने अन्यत्र लिखा है—स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा

नायिका-भेद पर ग्रन्थ लिखने की प्रथा दृढ़तर हुई। इस प्रणाली के साथ रीति ग्रन्थों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई।

—मिश्र बन्धु विनोद, द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ६८७।

* मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत अंग्रेजी कोश में 'रीति' शब्द का अर्थ यों दिया है—Style of speaking or writing, diction—Page 881.

१. संस्कृत अंग्रेजी कोश—वी० एस० आप्टे, पृ० ४७०।

२. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता।

डा० नगेन्द्र प्र० सं० पृष्ठ १६३

शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है[1]। डा० नगेन्द्र के इस कथन से स्पष्ट है कि हिन्दी रीति काव्य एक विशिष्ट रचना सम्बन्धी नियमों से आबद्ध है। काव्य-रचना की इस विशिष्ट रीति से पूर्ववर्ती हिन्दी के रीति कवि अपरिचित रहे हों, ऐसी बात नहीं है। 'रीति' शब्द का प्रयोग उनकी रचनाओं में बराबर हुआ है। हिन्दी के इस विशिष्ट प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं—

(१) अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति —देव

(२) रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार —चिन्तामणि

(३) सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रस रीति —मतिराम

(४) काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों देखी सुनी बहु लोक की बातें।
—भिखारीदास

(५) छन्द रीति समुझे नहीं बिन पिंगल के ज्ञान। —सोमनाथ

(६) थोरे क्रम-क्रम ते कही अलंकार को रीति। —दूलह

उपर्युक्त उदाहरणों से भली भाँति स्पष्ट है कि 'काव्य पंथ' या 'रीति' शब्द हिन्दी-काव्य-परम्परा में अति प्रचलित हो चला था और सरदार कवि के समय तक 'काव्य रीति', 'रस रीति', 'छन्द रीति', 'अलंकार रीति' काव्य-रचना के विशिष्ट विधान के अर्थ में ग्रहण होने लगा था। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य वामन के 'रीति' शब्द के कुछ अंशों को ग्रहण करते हुए भी रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना है[2]। इसलिये उनके अनुसार जिसने लक्षण-ग्रन्थों की रचना की हो वही रीति कवि नहीं, बल्कि जिस कवि का दृष्टिकोण रीति-बद्ध हो उसे भी रीति काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यथा—बिहारी ने किसी भी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की, लेकिन उनकी रचना का दृष्टिकोण रीतिबद्ध नहीं है, ऐसा कहना भारी भ्रम है। 'बिहारी सतसई' पूर्णतया रीतिबद्ध काव्य है। अत आचार्य शुक्ल को 'रीतिकाल' नामकरण करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई और न 'रीति' शब्द के विशेष विश्लेषण की अपेक्षा का ही अनुभव उन्होंने किया। 'रीति' शब्द स्पष्टतया चिर-परिचित शब्द था, इसी से आचार्य शुक्ल ने बिना किसी संकोच के इस शब्द का प्रयोग किया और यह एक विशिष्ट सीमा तक हिन्दी आलोचकों द्वारा मान्य भी हुआ।

२—डा० रसाल

मिश्र बन्धुओं के अनन्तर डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'रीति' शब्द का

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १४३।
२. वही पृष्ठ १४४।

'कला-काल' नाम दिया[1]। यद्यपि रसाल जी के इतिहास के दो वर्ष पूर्व सं० १९८६ मे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास निकल चुका था, फिर भी डा० रसाल आचार्य शुक्ल के द्वारा स्वीकृत रीति काल की अभिधा से सन्तुष्ट न थे। रसाल जी द्वारा गृहीत इस 'कला-काल' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे डॉ० ग्रियर्सन, एडविन ग्रीव्ज और मिश्र बन्धुओं के द्वारा दिये गये नामों की सीमा से आगे नहीं बढ़ सके, क्योंकि पूर्वोक्त उन सभी इतिहासकारों ने रीतिकाल की व्यापक कलात्मक एवं अलंकरण प्रधान प्रवृत्ति को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है और प्रकारान्तर से उनके नामों मे कलात्मकता का ही समर्थन हो पाता है। अब रसाल जी द्वारा दिये गये 'कला-काल' नाम के औचित्य के सम्बन्ध में विचार करना अनुचित न होगा। 'कला-काल' मे वस्तुतः रीतिकाल के काव्य के बहिरंग पक्ष का ही स्वरूप स्थिर हो पाता है और उससे उस युग की व्यापक शृंगारिक चेतना की प्रायः अवमानना हो जाती है। डा० रसाल के 'कला-काल' से केवल काव्यगत चमत्कार और काव्य के भाव एक पक्षीय स्वरूप का ही बोध हो पाता है, जो रीति काव्य की समग्रता एवं उसकी व्यापक प्रवृत्ति की दृष्टि से अधिक समुचित नहीं प्रतीत होता।

४—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

'अलंकार काल' और 'रीतिकाल' के अतिरिक्त इस काल को आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'शृंगार काल' कहना अधिक उपयुक्त समझा। शृंगार काल की उद्घोषणा उन्होंने करीब चौबीस वर्ष पूर्व अपने 'वाङमय विमर्श' नामक ग्रन्थ मे की थी। उसके अनन्तर अपनी इस मान्यता को उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का अतीत द्वितीय भाग' में अधिक दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। वे आज भी शृंगार काल की अभिधा के पक्ष में अधिक अडिग एवं सुदृढ़ हैं। शृंगार काल के सम्बन्ध में आचार्य मिश्र के विचार अधिक तर्कपुष्ट हैं। उनके विचारों का कुछ अंश इस प्रकार है— "भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस ही होता है। इसी से उसमें कर्ताओं के मानस-पक्ष का प्रसार दूर तक दिखाई पड़ता है, अर्थात् उसकी व्याप्ति प्रकृत्या अधिक होती है। 'भक्ति काल' नाम में 'भक्ति' शब्द की व्याप्ति उसके भाव होने से अधिक है। यदि 'रीति काल' नाम की ओर देखते हैं तो उसमें रीति

---

१ 'कला-काल' से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें हिन्दी क्षेत्र में काव्य को कलापूर्ण किया गया, अर्थात् उसमें काव्य के चमत्कृत रूप एवं चातुर्यपूर्ण गुणों को ध्यान में रखकर रचनाएँ की गयीं और साथ ही शब्द की कला के नियमोपनियमों से सम्बन्ध रखने वाले रीति या लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई।

साहित्य प्रकाश—डा० रसाल- पृ० ११४ सन १९३१ मे प्रकाशित।

अर्थात् रस, अलंकार शब्द शक्ति नायक-नायिका, पिंगल आदि काव्य रीति अवश्य [illegible] विषय ही है पर 'रीति' बाह्यार्थ का ही बोधक है, आभ्यंतरार्थ का नहीं। [illegible] का आभ्यंतर 'वर्ण्य शृंगार' था। 'रीति' की सीमा में जितनी कृतियां समाविष्ट [illegible] वे अधिकतर शृंगार की हैं[1]।" आचार्य मिश्र के इस कथन से अधोलिखित [illegible] उपलब्ध होते हैं—

(१) काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस है।

(२) अलंकार, नायिका भेद, पिंगल आदि काव्य रीति वर्ण्य होने पर [illegible] 'रीति' शब्द बाह्यार्थ ही है।

(३) रीति काल का आभ्यंतर शृंगार था।

(४) रीति की सीमा में समाविष्ट अधिकांश कृतियाँ शृंगार परक हैं।

इस दृष्टि से आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृंगार काल की अभि[illegible] को सर्वोपरि महत्व दिया है। उनके विचार से 'रीति' शब्द काव्य के बहिरंग [illegible] बोधक है, रीति काव्य की स्पिरिट शृंगार है जिसका स्फीत प्रवाह सं० १७०० [illegible] ९०० तक बड़े वेग के साथ प्रवाहित होता रहा। यों रीति काल में अन्य प्रवृत्ति[illegible] भी उद्बुद्ध हुयीं, किन्तु वे सभी शृंगार के समक्ष ठहर न सकीं। बोलबाला शृंगार का ही रहा। शृंगार पक्ष के सम्बन्ध में आचार्य मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि 'रीति' शब्द से उस काल का पूर्ण विभाजन न होने के कारण घनानन्द, बो[illegible] आलम, रसखान, ठाकुर, द्विजदेव आदि कवियों को फुटकल खाते में रखना पड़ा[illegible]। क्योंकि रीति काल ऐसी प्रवृत्ति का बोधक है, जिसमें रीतिबद्ध काव्य की विवेच[illegible] ही प्रधान है। ऐसे कवियों को रीतिकाल में अन्तर्मुक्त नहीं किया जा सकता, जिनकी प्रवृत्ति रीति के बन्धन से सर्वथा मुक्त थी। मिश्र जी के शृंगार-काल के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने इस बात की आपत्ति उठाई है कि शृंगार काल की अभिधा मान [illegible] पर भी भूषण तथा अनेक नीति और उपदेशपरक काव्य लिखने वालों के लिए फुटकल खाता खोलना ही पड़ेगा[3]।" किन्तु प्रश्न यह है कि क्या भूषण और सूदन आदि [illegible] रसात्मक कवियों तथा दीनदयाल गिरि, गिरिधर कविराय और बैताल आदि नीतिपर[illegible] काव्य कर्ताओं से रीतिकाल अथवा शृंगार काल का सच्चा प्रतिनिधित्व हो पाता है कम से कम शृंगारेतर काव्य-कर्ताओं के लिए तो फुटकल खाता खोलना ही पड़ेगा।

---

१ हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृष्ठ ३५७।

२ घनानन्द कवित्त—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १, प्र० सं०।

३. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डा० बच्चन सिंह पृ० ६

हाँ, 'रीतिकाल' नामकरण की अभिधा निश्चय ही रीतिमुक्त कवियों को अपनी सीमा में समेट नहीं पाती और इसीलिए आचार्य शुक्ल को इन स्वच्छन्द मार्ग के सच्चे पथिकों को रीतिबद्ध काव्य के कक्ष से हटाना पड़ा। वस्तुतः शृंगार-काल की अभिधा इन रीति मुक्त कवियों को रीतियुग की व्यापक शृंगारिक चेतना से किसी भी प्रकार असम्पृक्त नहीं कर पाती। फलतः शृंगार-काल मानने वालों के समक्ष रीतिमुक्त कवियों को अलग करने की समस्या नहीं खड़ी होती। रीतिकाल में शृंगारिकता की व्याप्ति कितनी अधिक थी, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? शृंगार के समक्ष अन्य प्रवृत्तियाँ कितनी उभरीं और कितनी विकसित हुईं, इस तथ्य से वे आलोचक भी परिचित हैं, जो शृंगारकाल के औचित्य को स्वीकार करना नहीं चाहते[१]। निश्चय ही शृंगार-काल रीतिकाल की तुलना में अधिक सुग्राह्य है। हाँ, उसके अलंकरण और साज-सज्जा के सम्बन्ध में मतभेद भले ही हो।

आचार्य मिश्र जी के पश्चात् रीति-काव्य के अन्य विद्वान् डा० भगीरथ मिश्र ने इस काल को 'रीति शृंगार' युग कहना चाहा। मिश्र जी की तुलना में डा० भगीरथ मिश्र का यह प्रयास समन्वय मार्ग के अन्तर्गत आता है। डा० भगीरथ मिश्र के रीति शृंगार के सम्बन्ध में क्या विचार हैं, उन्हें जान लेना चाहिए—"जब हम यह मानते हैं कि इस युग में शृंगार का बोल बाला था और अधिकांश साहित्य पर शृंगार का प्रभाव परिलक्षित होता है, साथ ही साथ वीर, भक्ति आदि के समान शृंगार भी हमारी एक वृत्ति है—एक मनःस्थिति है, तब हम इसे शृंगार युग कहने के लिये तैयार होते हैं। परन्तु उस समय की मुख्य साहित्य-चेतना जो इससे भी अधिक व्यापक और गहरे रूप में दिखायी देती है, वह है पद्धतिपरकता। एक साँचे या 'पैटर्न' को लेकर पहले से अच्छा काव्य लिखना। यह शास्त्रीय विधि या पद्धति का आधार बना कर लिखने की चेतना इस युग में अधिक समायी हुई दिखाई देती है[२]। डा० मिश्र के इस कथन से पर्याप्त स्पष्ट है कि वे इस युग की साहित्यिक-चेतना में पद्धतिपरकता की प्रधानता पाते हैं, और इसीलिए वे शृंगार रस को महत्व देते हुए भी उसे पद्धतिपरकता से पृथक् करना नहीं चाहते। वस्तुतः डा० मिश्र के इस समन्वय मार्ग में एक भारी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि हम रीतिमुक्त काव्य के अन्तर्गत आने वाले उन कवियों को उस धारा में अन्तर्भुक्त नहीं कर पाते, जिनकी कृति शृंगार-साधना में ही

१ रीति शृंगार आमुख १,—डा० नगेन्द्र।

२ कला सहित्य और समीक्षा—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ११०।
रीतियुग को महत्व देने वाले आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र भी शृङ्गार की व्याप्ति क महत्त्व का किसी सीमा तक अस्वीकार नहीं कर पाते

बँधी थी, किन्तु जो पद्धति परकता से सर्वथा अलग थे। उनमें शास्त्रीयता की खोज करना मैं अधिक समुचित नहीं समझता। हाँ, रीति के कुछ तत्व अवश्य मिल जायँ, लेकिन पूरे-पूरे रीतिसाधक उन्हें नहीं कहा जा सकता। क्या घनानन्द, ठाकुर, बोधा और आलम आदि कवियों ने उसी 'पैटर्न' को स्वीकार किया जो 'पैटर्न' देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर और दास आदि रीति कवियों का था? डा० मिश्र का यह कथन सर्वथा तर्क संगत है कि हम कालिदास और विद्यापति की शृङ्गारिक रचना को रीतिकालीन शृङ्गारिक काव्यों से सर्वथा भिन्न पाते हैं, क्योंकि इन कवियों का लक्ष्य पद्धति परकता से अनुप्राणित होकर काव्य लिखना नहीं था। निष्कर्षतः 'रीति शृंगार' अभिधा रीतिमुक्त कवियों को अपने में समेट नहीं पाती, इस कारण से 'रीति' विशेषण हटाना ही उचित है।

२—रीतिकाव्य के स्रोत

(क) ऐहिकतापरक शृङ्गार काव्य और उसकी परम्परा

हिन्दी के समस्त रीति-वाङ्मय के सम्यक् स्वरूप-विवेचन के लिए पूर्ववर्ती ऐहिकतापरक शृङ्गारिक एवं अलंकृत काव्य की परम्परा को समझना रीति काव्य के सजग अध्येता के लिए अति अनिवार्य है। इस दृष्टि से ऐहिकतापरक समस्त शृंगारिक काव्य की परम्परा के क्रमिक विकास को ठीक तरह से समझने के लिए इसे तीन स्थूल भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) वैदिक साहित्य की शृङ्गारिकता।

(२) बौद्ध साहित्य की शृङ्गारिकता।

(३) आकर संस्कृत साहित्य और प्राकृत की शृंगारिकता।

१—वैदिक साहित्य की शृंगारिकता

भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम शृङ्गारिक प्रवृत्तियों का उन्मेष वैदिक वीरगीतों और सामवेद की स्तुतियों में दृष्टिगत हुआ। इनमें दो संवाद मिलते हैं, जिनसे उस युग की शृंगारिक-चेतना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—पहला संवाद पुरुरवा-उर्वशी[1] का है और दूसरा यम-यमी[2] से सम्बन्धित है। इसके पश्चात् वैदिक साहित्य में

---

१. ऋ०—१०, ९५।

२. ऋ०—१०, १०

शृंगारिक-भावों का प्रायः अभाव हो गया, किन्तु 'नासदीय सूक्त' में काम भाव के महत्व को स्वीकार किया गया है और अथर्ववेद में 'काम' अथवा इच्छा का प्रतिपादन एक पवित्र भावना के रूप में हुआ है। ऐसा लगता है कि वैदिक काल में संभोग क्रिया एक महत् उद्देश्य की द्योतक थी, क्योंकि वैदिक युग की इन रचनाओं में संभोग क्रियाओं का उल्लेख प्रायः स्पष्ट शब्दों में किया गया है[1]। 'बृहदारण्यकोपनिषद'[2] में तो इस तथ्य का विवेचन अत्यन्त अनावृत रूप में किया गया है जो उस युग के सामाजिक जीवन को जानने का--विशेषतया दाम्पत्य सम्बन्ध को समझने का--एक अच्छा स्रोत है और जिसे वैदिक साहित्य का अध्येता किसी भी रूप में उपेक्षित नहीं कर सकता। वैदिक साहित्य में उपलब्ध इन संवादों से डा० एस० के० डे ने अनुमान लगाया है कि यह एक ऐसे साहित्य की शैली का अवशेषांश है, जिसकी प्रकृति निश्चय रूपेण लोक साहित्य के अनुरूप थी और जो संहिता साहित्य से सर्वथा भिन्न था, किन्तु यह साहित्य परवर्ती वैदिक काल में लुप्त हो गया[3]।

२—बौद्ध साहित्य की शृंगारिकता

बौद्ध साहित्य और दर्शन अपने सच्चे अर्थ में शृङ्गारिक काव्य की प्रकृति के अनुकूल न था। अतः इसमें लौकिकतापरक शृंगारिक एवं अलंकृत मुक्तक काव्यों का बहुत कुछ अभाव है। केवल 'थेरी गाथा' का लावण्य और 'दीघनिकाय' में 'सक्क प्रश्न' ही प्रेम-व्यंजना का उन्मुक्त स्वरूप व्यक्त करता है। रामायण और महाभारत चूंकि महाकाव्य थे और जीवन की नैतिक मान्यताओं से ग्रस्त थे, इसलिये इनमें भी स्वच्छन्द प्रेम का विकास सम्भव न हो सका। वस्तुतः शृंगारिक एवं अलंकृत काव्यों का प्रकृत विकास जितना मुक्तक शैली में देखा गया है, उतना प्रबन्ध में नहीं, क्योंकि प्रबन्ध के कूलों उपकूलों में बँधी हुई ऐसी रचनाओं में प्रायः स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का उन्मेष नहीं हो पाता।

३—आकर संस्कृत साहित्य और प्राकृत की शृंगारिकता

वैदिक साहित्य के अनन्तर शृंगारिक रचनाओं का स्वरूप मूलतः परिवर्तित

---

१. अथर्ववेद १०।२।३२, ३८।

२. प्रस्थानिक त्रयी में संकलित 'बृहदारण्यकोपनिषद' १५।४।३ आर० सी० विद्यार्थी

३. We must, therefore admit that we have in these romantic Vedic dialogues the remant of a style of literature which was essentially of the nature of folk literature, as distinguished from the orthodox-sacre-dotal poetry of Sanhitas, but which died out with later Vedic period.

An nen Inc a E o cs an rot I cr c p 7 S K)

हो गया। वैदिक काल में शृङ्गारिकता वासना के पर्याय रूप में ग्रहण नहीं की जाती थी, यह कहा जा चुका है। अब वैदिक काल के समस्त दाम्पत्य-जीवन की मान्यताएं एवं पवित्र आदर्श भोगमूलक प्रवृत्ति के रूप में समझे जाने लगे और वैदिक काल की नारियों का वह जीवन-चित्र सर्वथा लुप्त हो गया[१]। इधर आकर संस्कृत साहित्य (क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर) की प्रवृत्ति वैदिक काल के समाप्त होते-होते नितान्त अलङ्कृत होती गई। डा० एस० के० डे का कथन है कि इस युग में शृंगारिक रचना अत्यन्त प्रौढ़ हो चुकी थी, क्योंकि उसने इसके बहुत पहले से ही अपना सुदृढ़ स्थान बना लिया था। उन्होंने इस सम्बन्ध में दूसरी शताब्दी पूर्व रचित पतंजलि कृत महाभाष्य में प्राप्त कुक्कट शंकिता एक ऐसी रति प्रीता नायिका का उल्लेख किया है जो प्रत्येक दृष्टि से अलंकृत शृंगारिक मुक्तक का एक उत्कृष्ट नमूना है[२]। इस रचना को क्षेमेन्द्र ने १२वीं शताब्दी में अपने 'औचित्य विचार' नामक ग्रन्थ में उद्धृत किया है, किन्तु भ्रम वश इसे कुमारदास के नाम से उल्लिखित किया है। इस सम्बन्ध में 'औचित्य विचार' में रति प्रीता का जो उदाहरण दिया गया है, वह इस प्रकार है-

'वल्लभं मुञ्च व प्रभातसन्ध्यामरुणकिरणोद्गमो वर्तते कुक्कुटाश्च संप्रवदन्तीति'[३]

ऐहिकतापरक अलंकृत काव्य से सम्बन्धित कुछ ऐसी महत्वपूर्ण प्रशस्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनसे प्राचीन अलंकृत काव्य के अस्तित्व में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह विचार अधिक महत्वपूर्ण है—'गिरनार में महाक्षत्रप रुद्रदामा' (साधारणतः 'रुद्रदामन' रूप में परिचित) का खुदवाया हुआ जो लेख मिला है, उससे निस्संदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि सन् १५० ई० पूर्व संस्कृत में सुन्दर गद्य काव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्य काव्य का एक नमूना है[४]। प्रसिद्ध विद्वान बूलर ने जिन पूर्ववर्ती शिला लेखों का

---

१ In brief, it can be said, the picture of womenhood given in the hymns of the Rig-Veda is far different from what we find in later literature. —Women in the Vedic age, p. 37-38

—S. R. Shastri

२ In Patanjali's Mahabhasya, belonging at the latest to the second B. C. X X X Patanjali also quotes Verses in the ornate measure of the Classical period and one fragment-at least-of a line is clearly erotic in subject, in its description of the morning.

—Ancient Indian Erotics and Erotic Literature, p. 12 S.K. De

३ औचित्य विमर्श—सं० प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० २०६।

४ प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ७

परीक्षण किया है, उनसे यही नहीं प्रमाणित होता कि पाँचवीं शताब्दी तक अलंकृत गद्य और काव्य-शैली में लिखी गई छन्दोबद्ध रचनाएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं, अपितु यह भी सिद्ध होता है कि इन में से अधिकांश प्रशस्ति-लेखक भारतीय काव्य शास्त्र के नियमों से पूर्ण परिचित थे।[1]

गाथा सप्तशती

हिन्दी रीति काव्य को प्रभावित करने वाले ग्रन्थों में हाल की गाथा सप्तशती का नाम अधिक उल्लेखनीय है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शात वाहन हाल ने प्रथम शताब्दी में गाथा सप्तशती के नाम का एक वृहत् संग्रह किया था और इन्हीं के समय में गुणाढ्य ने प्राकृत में वृहत्कथा लिखी थी।[2] इस रचना के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कीथ ने इनकी रचना को दूसरी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य निर्धारित किया है।[3] किन्तु वेबर ने तीसरी तथा सातवीं शताब्दी के मध्य बतलाया है।[4] इधर प्रसिद्ध विद्वान् भण्डारकर इसे छठीं शताब्दी से अधिक मानने के लिए तैयार नहीं।[5] पर मिराशी ने इसे पहली से आठवीं शताब्दी तक की रचना होने का अनुमान लगाया है[6]। इस रचना के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि सन् ईसवी के बाद एक तीसरी वस्तु का अचानक आविर्भाव होता है। यह अध्यात्मवादी या मोक्ष कामी रचनाएँ भी नहीं हैं और कर्मकाण्डवादी या स्वर्ग-कामी भी नहीं है। इनमें ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। प्रारम्भ में ऐसी रचनाएँ प्राकृत भाषा में लिखी गयीं फिर संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं[7]। डा० एस० के०

---

१ His examination of the early inscriptions not only proves the existence of a body of highly elaborate prose and metrical writings in the Kavya Style during the first five centuries A.D., but also establishes the presumption that most of these Prasasti writers were "acquainted with the rules of Indian poetics".
—History of Sanskrit Poetics, Se. ed, p. 13.—S.K. De.

२ मध्यदेश—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १३६।

३ संस्कृत साहित्य का इतिहास—कीथ, पृ० २२४।

४ Da, Saptacatakam Des Hala (1881) Introduction p. XXII.

५ भण्डारकर स्मारक ग्रन्थ—डी० आर० भाण्डारकर, पृ० १८६।

६. Indian historical qurterly, Dec. 1937.

७ हिन्दी साहित्य की भूमिका।
—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १११–११२, पाँचवाँ संस्करण।

डे का अनुमान है कि परवर्ती संस्कृत साहित्य का मूलाधार प्राकृत काव्य ही रहा हो, ऐसा बतलाने के लिए कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु यह सत्य है कि जो शृङ्गारी भाव लोकप्रिय साहित्य में विकीर्ण था, वह प्राकृत काव्य में अवश्य सुरक्षित रहा होगा, जिसने आगे चलकर संस्कृत की दरबारी कविता को पूर्ण प्रभावित किया[१]।

हाल की इस सतसई में लौकिक जीवन से सम्बद्ध नानाविध रसात्मक चित्रों की उद्‌भावना की गयी है। इसमें ग्राम वधूटियों की शृंगार-चेष्टाओं, वृक्षों को अभिसिंचन करने वाली नव ललनाओं की मुद्राओं, हाव-भावों का अंकन बड़े कौशल एवं नैपुण्य के साथ किया गया है, लेकिन यह भूल होगी कि यह रचना लोक साहित्य (फॉक लिटरेचर) है। इसमें लोक तत्व की अपेक्षा अभिजात्य संस्कारों का ऐसा अमिट प्रभाव है, जिसे मनीषियों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इस नई काव्य-धारा का विकास आभीरों के सम्पर्क में आने से हुआ, ऐसा विद्वानों का विश्वास है। आचार्य द्विवेदी का कथन है कि इस देश में हूणों के साथ ही साथ आभीर भी आए थे। ये आभीर हूणों की भाँति लुटेरे नहीं थे बल्कि यहीं आकर बस गये और धीरे-धीरे उन्होंने बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना की। इसके साथ ही साथ डा० भण्डारकर ने आभीरों की चारित्रिक पवित्रता के प्रति सन्देह प्रकट किया है और यह भी बतलाया है कि ये भारत में बहुत बड़ी संख्या में आये थे। पहले वे पंजाब से मथुरा तक और बाद में मथुरा से काठियावाड़ तक फैल गये[२]। आभीरगण अनार्य होने के साथ ही साथ यहाँ के निवासी भी नहीं थे, ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है। भागवत के एक श्लोक के अनुसार वे यहाँ के निवासी नहीं मालूम पड़ते[३], वे बाहर से आये थे और एक विदेशी जाति के वंशज थे। इन विरोधी कथनों से दो तथ्य हमारे समक्ष आते हैं—

(१) आभीर बाहर से आये थे और वे हूणों की भाँति लूट कर चलते नहीं बने, बल्कि यहीं बस गये।

(२) भण्डारकर ने इन्हें एक लुटेरी जाति के रूप में अभिहित किया है और इनके चरित्र को भी सन्देह की दृष्टि से देखा है।

जो कुछ भी हो, इतना महत्व तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि इन आभीरों के संसर्ग के ही कारण ऐहिकतापरक सरस काव्यों का प्रणयन हुआ। इनमें लोक साहित्य का स्वर चाहे क्षीण हो, किन्तु ऐसा नहीं प्रतीत होता कि संगृहीत गाथा के रचयिताओं का हृदय लोक-साहित्य से अनुप्राणित न हुआ हो। इस नयी काव्य-

---

१ Ancient Erotics and Erotic Literature. p. 14. —S. K. De

२ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनरसिस्टम्स—भण्डारकर, पृ० ५२, ५३।

३. भागवत—२।४।१८।

धारा से हिन्दी की ऐहिकतापरक शृङ्गारिक काव्य-धारा अत्यधिक प्रभावित रही, यह असंदिग्ध है। प्राकृत और अपभ्रन्श की ऐसी रचनाओं के आधार पर ही हिन्दी के आलोचक हिन्दी रीति काव्य की धारा को ठीक उसी का विकास समझते हैं, क्योंकि इसमें भी आलोचना की अपेक्षा काव्य की ही प्रधानता थी।[1] डा० भगीरथ मिश्र का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। उनके मत से हिन्दी काव्य शास्त्र की परम्परा का विकास प्राकृत अपभ्रंश से नहीं हुआ। इसकी प्रत्यक्ष प्रेरणा अधिकतर संस्कृत काव्य-शास्त्र से मिली। जहाँ तक काव्य शास्त्रीय प्रेरणा का सम्बन्ध है, इसमें दो मत नहीं है कि यह प्रेरणा हिन्दी को प्राकृत और अपभ्रंश की अपेक्षा संस्कृत से ही मिली थी। लेकिन हिन्दी के ऐहिकतापरक सरस मुक्तकों पर तो प्राकृत और अपभ्रंश के मुक्तकों का ही प्रभाव मानना होगा। शृङ्गारिक रचनाओं के प्राकृत और अपभ्रंश से प्रभावित होने की बात को डा० भगीरथ मिश्र ने पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। इन विरोधी कथनों से दो वास्तविक तथ्य निकलते हैं—

(१) हिन्दी रीति काव्य की शास्त्रीय परम्परा संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा से सम्बद्ध थी।

(२) सरस शृङ्गारिक मुक्तकों की परम्परा प्राकृत एवं अपभ्रंश की परम्परा से विकसित हुई।

अमरु शतक

हाल की सप्तशती के पश्चात् संस्कृत साहित्य में दो ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी के रीति ग्रन्थों पर बहुत अधिक पड़ा है। एक तो अमरुक कृत अमरु शतक है और दूसरी गोवर्धनाचार्य कृत आर्या सप्तशती। 'अमरु शतक' को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसकी रचना प्राकृत में लिखित हाल कृत सप्तशती से पर्याप्त प्रभावित है। अन्तर केवल यही है कि इसमें उत्तरोत्तर नागरिक जीवन की कृत्रिमता का समावेश होता गया, जब कि 'गाथा' में ग्राम्य जीवन की सहज अकृत्रिमता और वन्य जीवन का नैसर्गिक सौन्दर्य पूर्णरूपेण विद्यमान है। अमरुक कवि के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। अनुमान के द्वारा विद्वानों ने इनका समय ईसवी सन् की नवीं शताब्दी से पूर्व बतलाया है। यह अनुमान 'ध्वन्यालोक' के तीसरे उद्योत में लिखित इस पंक्ति के आधार पर है—"मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गार-

१ रीतिकाव्य की भूमिका डा० नगेन्द्र पृ० १४९।

रसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धाएव[१] ।" शृंगारिक मुक्तकों में अपनी सरसता के कारण अमरुशतक की लोकप्रियता संस्कृत साहित्य में बहुत अधिक बढ़ गयी थी। केवल यही नहीं, भरत टीकाकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि अमरु कवि के एक एक श्लोक शत प्रबन्ध से बढ़कर हैं[२]। भावों की मसृणता, अभिव्यंजना की प्रौढ़ता एवं शृङ्गारिक अनुभूतियों की चित्रमयता के लिए इनका यह 'शतक' सर्वथा अनूठा है।[३]

यों अमरु शतक का प्रभाव रीति परम्परा के कई कवियों की शृंगारिक रचनाओं पर पड़ा है, किन्तु पद्माकर और बिहारी इससे अधिक प्रभावित हैं। यत्किंचित् प्रभाव केशव और मतिराम पर भी देखा जा सकता है। पर वह प्रभाव नाममात्र का ही है। अमरु शतक' का इन कवियों पर कितना प्रभाव पड़ा है और 'अमरु शतक' की उत्कृष्ट उक्तियों के उपयोग करने में—अपनी रचनाओं में उन्हें (उन उक्तियों को) अधिक कलात्मक एवं प्रभावकारी बनाने में–इन रीति कवियों ने कितना योग दिया है, यह एक उत्तम उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

> लग्नानांशुक पल्लवे भुजलता न द्वारदेशेर्ऽपिता,[४]
> नो वा पादतले तया निपतितं तिष्ठेति नोक्तं वचः ॥
> काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं प्रवृत्तः शठस्तन्व्या,
> वाष्पजलौधि कल्पित नदी पूरेण रुद्धः प्रियः ॥६५॥

अर्थात् उसने न तो प्रियतम का वस्त्रांचल ही पकड़ा, न द्वारदेश को भुजलता से रोका न वह चरणों में लोटी, न उसने ठहरने को कहा, अपितु मेघमाला से मलिन उस समय में जब निर्दय पति परदेश जाने को तैयार हुआ तब कोमलांगी मुग्धा ने केवल अश्रु समूह की कल्पित नदी की धारा से उसे रोक लिया। अब उसी भाव से मिलता हुआ कविवर पद्माकर का एक छन्द लीजिये है—

> गोगृह काज गुवालन के कहें देखिबे कौं कहूं दूरि को मेरो।
> माँगि बिदा चले मोहिनी सों 'पद्माकर मोहन' होत सबेरो ॥
> फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिन्द गौनतें फेरो।
> गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल में गेरो[५] ॥

१　ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, तीसरा उद्योत, पृ० १८२, सं० आचार्य विश्वेश्वर।

२　अमरुकवरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते—अमरु शतक की भूमिका से उद्धृत, पृ० ४ खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित।

३.　Treatment of love. p. 27.　—S. K. De.

४　अमरु शतक—सं० हृषीश्वरनाथ भट्ट बी० ए० प्राज्ञ प्र० सं०, पृ० ६६।

५.　पद्माकर ग्रन्थावली के अन्तर्गत जगद्विनोद से—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १३४ छन्द पृ० २५०।

उपर्युक्त दोनों छन्दों में प्रसंग प्रायः एक-सा है। अन्तर केवल यही है कि श्लोक में जहाँ मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका नायिका का उल्लेख किया गया है, वहाँ सवैया में मध्या प्रवत्स्यत्पतिका का चित्रण है। दोनों छन्दों की तुलनात्मक समीक्षा से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग की मार्मिक अवतारणा में दोनों कवि नितान्त कुशल हैं। दोनों कवियों ने नायिका की मूक संवेदना के चित्रण में बड़ी मार्मिक व्यंजना का प्रयोग किया है, लेकिन श्लोक की चौथी पंक्ति अतिशयता मूलक उक्ति के कारण अपनी सहज गम्भीरता एवं भावों की प्रभविष्णुता प्रायः खो बैठी है। पद्माकर की चौथी पंक्ति में भावों की मूक चित्रमयता का बड़ा स्वाभाविक चित्रण हुआ है। संकेत की ऐसी योजना के द्वारा पद्माकर ने नायिका की मनःस्थिति की ऐसी सान्द्र विवेचना की है जो सम्वाद-शैली द्वारा सम्भव नहीं। नायिका ने गोपाल के मार्ग में गुलाब की माला लेकर यह व्यजित किया कि मेरी गुलाब जैसी कोमल भावनाओं को कुचल कर जाना चाहें तो जा सकते हैं, अन्य व्यंजना यह भी हो सकती है कि गुलाब खिल रहे हैं अर्थात् वसन्तागमन हो रहा है क्या ऐसी ऋतु में भी आपका परदेश जाना उचित है? 'मोहिनी' और 'माहन' शब्द को बढ़ाकर अवश्य ही पद्माकर उस श्लोक से आगे बढ़ गये हैं। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि अमरु की सरसता निश्चय रूपेण श्लाध्य है और इसके द्वारा हिन्दी की शृङ्गारिक रचनाओं को जो प्रेरणा मिली, वह अविस्मरणीय है।

आर्या सप्तशती

गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' शृङ्गारिक साज-सज्जा एवं भाव-व्यंजना के अनूठे तथा प्रभावपूर्ण विधान के कारण बिहारी आदि रीति कवियों के मूल प्रेरणा स्रोत के रूप में ग्रहण की जाती रही। इसमें प्राकृत की गाथा से अधिक अलंकृत शैली (आरनेट स्टाइल) की झलक मिलती है। यद्यपि इस पर हाल की गाथा का पूर्ण प्रभाव है, किन्तु अतिशय कलात्मक सजगता के कारण इसका ढाँचा (पैटर्न) उससे बहुत कुछ भिन्न हो गया है। प्राकृत की गाथा की सहज सरसता को ठीक उसी तरह संस्कृत में नहीं उत्पन्न किया जा सकता, इस कठिनाई को स्वयं गोवर्धनाचार्य ने भी अनुभव किया था[1]। यों 'आर्या सप्तशती' के अनुकरण पर अन्य सप्तशतियाँ भी बनीं किन्तु इसके जोड़ में वे ठहर न सकीं। इसकी ऊहा, रचनागत वैदग्ध्य एवं शिल्प-विधि सभी अपने आप में अप्रतिम हैं। इसके सदृश उक्ति-विन्यास एवं शृङ्गारिक वैविध्य संस्कृत के अन्य सप्तशतियों में कम ही मिल पाता है।

---

१. वाणी प्राकृत समुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्॥

आर्या सप्तशती १।५२. पृ० २७ —व्याख्याकार पं० रमाकान्त त्रिपाठी।

संस्कृत का स्तोत्र साहित्य

संस्कृत साहित्य में शृंगारिक प्रवृत्तियों से अनुबद्ध एक ऐसी धारा भी प्रवाहित हुई थी जो देवताओं के स्तोत्रों से सम्बन्धित थी और जिसके मूल में देवताओं तथा चण्डी, लक्ष्मी आदि देवियों के प्रति एक भक्तिमूलक प्रेरणा अक्षुण्ण रही। यों स्तोत्रों का बाहुल्य बहुत कुछ रामायण एवं महाभारत में ही दृष्टिगत होता है, किन्तु पंडितों का अनुमान है कि इनकी संख्या सन् ईसवी के आस-पास काफी बढ़ चुकी थी। इन स्तोत्रों में सबसे प्रचीन रचना बाणकृत चंडीशतक मानी जाती है। यों भाव की दृष्टि से इनका स्वर मूलतः ऐहिक काव्यों (सेक्युलर पोयट्री) से सर्वथा भिन्न है, किन्तु अलंकरण एवं काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से उन्हें ऐहिकतापरक शृङ्गारिक रचनाओं से किसी भी प्रकार से पृथक् नहीं किया जा सकता। इन स्तोत्रों की सुदीर्घ परम्परा में अनेकशः ग्रन्थों की प्रचुरता है। मयूर की 'सूर्य शतक' और शंकराचार्य की देव विषयक अनेक स्तुतियाँ स्तोत्र साहित्य की परम्परा में अति प्राचीन हैं। इन स्तोत्रों का स्वरूप कहीं-कहीं पर पर्याप्त अश्लील और शृंगारिक हो गया है, जिसके कारण यह अनुमान लगाना गलत नहीं है कि इनका स्वर हिन्दी रीति काव्य की शृंगारिक रचनाओं से अधिक मेल खाता है।[1] हिन्दी रीति काव्य की शृंगारिक परम्परा मे इन स्तोत्रों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इन स्तोत्रों में शृंगारिकता का स्वर कैसे मुखरित हुआ, यह आज के जिज्ञासुओं के लिए एक अलग महत्व रखता है। इस सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि आभीरों के आगमन के साथ उनके धर्म विश्वासों के मिश्रण से भागवत धर्म का जो वैष्णव रूप बाद मे चलकर शक्तिशाली हुआ, वह जब तक शक्तिशाली नहीं हुआ था, तब तक भीतर ही भीतर लोक-भाषा को और उसके द्वारा शास्त्रीय कवित्व को प्रभावित कर रहा था।"[2] डा० द्विवेदी के विचारों से यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि वह लोक-भाषा का काव्य जो अहीर अहीरिनों के प्रेम-चित्रण से काफी सम्बद्ध था, भागवत धर्म से सम्पृक्त हो जाने से इस तरह काव्य-शास्त्र प्रभावित काव्य में भी आने लगा होगा और इस प्रकार लोक-काव्य से अधिक प्रभावित होने के कारण ही इन देवताओं से सम्बन्धित स्तोत्रों में भी शृंगारिकता का समावेश स्वभावतया होने लगा होगा। यह शृंगारिकता केवल राधा और कृष्ण से सम्बन्धित काव्यों में ही नहीं आई, बरन् यह

---

1 These sensuous and often somewhat obscene lyrics of the Stotras may reasonably be considered to have paved the way for the poetry of the Riti School.

—Hindi Literature. p. 88. Dr. Ram Awadh Dwivedi.

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १२०।

चंडी, लक्ष्मी, गंगा, शिव, विष्णु आदि देवताओं की एकनिष्ठ भक्ति-भाव से उपासना करने वाले कवियों की रचनाओं में भी प्राप्त है। यही कारण है कि जयदेव और कालिदास के काव्यों में शृंगारिकता का जैसा अश्लील रूप प्रकट हुआ है, वह किसी भी प्रकार से रीति काव्य की शृङ्गारिकता से कम नहीं है। ऐसा लगता है कि जयदेव और विद्यापति आदि के गीतों में अनावृत शृङ्गारिकता के मूल में जो अनाविल एवं वासना रहित प्रेम की धारा प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित हो रही है, वह उसी स्तोत्र परम्परा की कड़ी है, जिसमें अहीर-अहीरिनों की शृंगारिक चेष्टाओं और लौकिक प्रेम के अन्तर्गत किसी समय भागवत धर्म का सामंजस्य हुआ था। जयदेव की यह गर्वोक्ति भी हमारे इस कथन की पूर्ण पुष्टि करती है—

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलास कुतूहलम्
मधुर कोमल कान्त पदावली
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।"[1]

भक्ति और शृङ्गार के समन्वय की यह परम्परा सूर आदि कृष्ण-भक्तों तक अबाध गति से चलती रही, किन्तु रीति काल में केवल शृङ्गार रह गया। भक्ति तो कभी-कभी 'सुकवि' के न रीझने पर वरण की जाती थी, वह भी सच्चे मन से नहीं केवल बहाने के लिए।[2]

स्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत और भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनमें लीलाशुक कृष्णामृत, दुर्गासप्तशती, वक्रोक्ति पंचाशिका (शिव पार्वती की वन्दना), चण्डी-कुच पंचाशिका आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन स्तोत्रों के शृंगारिक नख-शिख वर्णनों के देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि इनसे रीति कवियों को शृंगार रस के अन्तर्गत नख-शिख काव्य लिखने की बहुत बड़ी प्रेरणा मिली होगी। मेरा अनुमान है कि 'चण्डीकुच-पंचाशिका' आदि ग्रन्थों के अलावा कामराज दीक्षित कृत शृंगार-कालिका-त्रिशती और विश्वेश्वर कृत 'रोमावली शतक' प्रभृति ग्रन्थों से ही अंग दर्पण (रसलीन) अंगादर्श (रंगपाल) तिल शतक और अलक शतक (मुबारक) आदि नख-शिख रचनाओं को काफी प्रेरणा मिली होगी। स्तोत्रेतर कुछ और शृंगारिक मुक्तक काव्य भी रचे गये, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उल्लेखनीय शृंगारिक मुक्तकों के नाम इस प्रकार हैं—

---

१. गीता गोविन्दादर्श—रामचन्द्र नागर कृत संस्कृत का भाषा प्रतिबिम्ब, पृ० ४,५
२. 'रीझिहैं सुकवि तो ह्वैहैं कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।' आचार्य भिखारीदास कृत काव्य निर्णय' पृ० ३

बिल्हण कृत गौरी पंचाशिका, भर्तृहरि कृत शृंगार शतक, कालिदास कृत शृंगार तिलक घटकर्पर आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि इन स्तोत्रों की शतक शैली का प्रभाव परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी पड़ा होगा जिससे धीरे-धीरे हिन्दी में भी शतक और 'सप्त शतक' में लिखने की प्रणाली चल पड़ी।

(ख) हिन्दी रीति काव्य का उद्भव

हिन्दी रीति काव्य की परम्परा का विकास संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य की उन प्रवृत्तियों के आधार पर हुआ, जिनमें ऐहिकतापरक शृंगारिकता का प्राधान्य था। इसके पूर्व कहा जा चुका है कि किस प्रकार वैदिक साहित्य से लेकर संस्कृत की परवर्ती काव्य-धारा तक ऐहिकतापरक शृंगारिक रचनाएँ अपने वैकासिक मार्ग को प्रशस्त करती रहीं। डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार हिन्दी काव्य परम्परा का स्रोत जितनी आसानी से प्राकृत अपभ्रंश में खोजा जा सकता है, उतनी आसानी से हिन्दी की रीति काव्य शास्त्रीय परम्परा नहीं खोजी जा सकती। उन्होंने हिन्दी काव्य परम्परा में आने वाले कुछ ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रवृत्ति की दृष्टि से पर्याप्त रीति-तत्व मिलते हैं। उन ग्रन्थों का नामोल्लेख इस प्रकार है---

१—छन्दों रत्नाकर (सन् १०००) —रत्नाकर शान्ति

२—प्राकृत व्याकरण, छन्दोनुशासन, देशी नाममाला कोश, —हेमचन्द्र सूरि (१०८८-११७९)

३—सुदर्शन चरित–(११वीं शताब्दी) जैन मुनि 'नयनंद'

इन ग्रन्थों के आधार पर डा० भगीरथ मिश्र ने यह अनुमान लगाया है कि हिन्दी रीति परम्परा की एक क्षीण धारा अपभ्रंश काव्य में अवश्य रही होगी, जिसका पूर्ण ज्ञान हमें नहीं है।[1] वास्तव में डा० भगीरथ मिश्र की यह अनुसंधानात्मक दृष्टि अधिक ठोस एवं सारगर्भित प्रतीत होती है।

भाषा-साहित्य में सर्वप्रथम ठाकुर शिव सिंह ने अपने 'शिव सिंह सरोज' ग्रन्थ मे ७७० वि० के लगभग एक पुण्ड या पुष्प नामक कवि का उल्लेख किया है, जिसने संस्कृत अलंकारों को 'भाषा दोहरो' में वर्णन किया है। यह पुण्ड या पुष्प कौन था, इसके सम्बन्ध में, उनका उल्लेख महत्वपूर्ण है—"किताब राजस्थान में मुझको अवन्ती-पुरी के एक प्राचीन इतिहास में लिखा मिला कि संवत् सात सौ सत्तर में अवन्तीपुरी

१ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र पृ० ४९ प्र० सं०

केशव पूर्व रीति कवियों में कृपाराम का नाम इसलिये लिया जाता है कि इनकी 'हित तरंगिणी' (सं० १५९८) से यह स्पष्ट आभास मिल जाता है कि इनसे पहले या इनके सम-सामयिक कवि शृंगार रस का वर्णन विस्तारपूर्वक करते थे। इसी कारण इन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द में शृंगार रस का निरूपण संक्षिप्त शैली में किया। कदाचित् संक्षिप्त शैली को स्मरण-सौकर्य के लिये ही इन्होंने अपनाया होगा।[1] सम्प्रति 'हित तरंगिणी' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों को सन्देह है। सर्वप्रथम पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने 'केशवदास' ग्रन्थ में 'हित तरंगिणी' के रचना-काल से सम्बन्धित दोहे के आधार पर इसे परवर्ती रचना माना है।[2] 'हित तरंगिणी' का रचना-काल विषयक दोहा इस प्रकार है—

सिधि निधि शिव मुख चन्द्र लखि माघ शुक्ल तृतियासु।
हित तरंगिणी हौं रची, कवि हित, परम प्रकास॥

(हित तरंगिणी, छन्द सं० २०६)

आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने इस दोहे में पाठान्तर माना है और तदनुसार इसका रचना-काल सं० १७९८ निर्धारित किया है। इसकी अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि इसमें दिन का उल्लेख नहीं है, पर दिन के उल्लेख न होने से किसी कृति की रचना-विषयक प्रामाणिकता संदिग्ध नहीं मानी जा सकती। यह तर्क इसकी अप्रामाणिकता का विशेष पुष्ट आधार नहीं है। ब्रजभाषा साहित्य के ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं, जिनमें तिथि का उल्लेख नहीं किया गया है। क्या इस आधार पर उन्हें अप्रामाणिक माना जा सकता है? प्रताप साहि कृत प्रसिद्ध रीति ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के अन्त में रचना-काल विषयक जो दोहा दिया गया है, उसमें भी तिथि का उल्लेख नहीं है। क्या इस आधार पर विद्वान उसे भी परवर्ती रचना मानते हैं?[3] 'हिततरंगिणी' के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[4] और

---

१. बरनत कवि शृंगार रस, छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच, यातें सुघर बिचारि॥४
(हित तरंगिणी—कृपाराम, सं० जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० १, सं० १९५२, भारत जीवन प्रेस, काशी)।

२. केशवदास—आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ४०८, प्र० सं०।

३. संवत् ससि वसु वसु सु द्वै, गनि अषाढ़ को मास।
किय व्यंग्यारथ कौमुदी, सुकवि प्रताप प्रकास॥
(व्यंग्यार्थ कौमुदी, सं० रामकृष्ण वर्मा, पृ० ८४ प्र० सं०)

४. हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १९२

विल्हण कृत गौरी पंचाशिका, भर्तृहरि कृत शृंगार शतक, कालिदास कृत शृंगार तिलक, घटकर्पर आदि । ऐसा प्रतीत होता है कि इन स्तोत्रों की शतक शैली का प्रभाव परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी पड़ा होगा जिससे धीरे-धीरे हिन्दी में भी शतक और 'सप्त शतक' में लिखने की प्रणाली चल पड़ी ।

(ख) हिन्दी रीति काव्य का उद्भव

हिन्दी रीति काव्य की परम्परा का विकास संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य की उन प्रवृत्तियों के आधार पर हुआ, जिनमें ऐहिकतापरक शृंगारिकता का प्राधान्य था । इसके पूर्व कहा जा चुका है कि किस प्रकार वैदिक साहित्य से लेकर संस्कृत की परवर्ती काव्य-धारा तक ऐहिकतापरक शृंगारिक रचनाएँ अपने वैकासिक मार्ग को प्रशस्त करती रहीं । डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार हिन्दी काव्य परम्परा का स्रोत जितनी आसानी से प्राकृत अपभ्रंश में खोजा जा सकता है, उतनी आसानी से हिन्दी की रीति काव्य शास्त्रीय परम्परा नहीं खोजी जा सकती । उन्होंने हिन्दी काव्य परम्परा में आने वाले कुछ ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रवृत्ति की दृष्टि से पर्याप्त रीति-तत्व मिलते हैं । उन ग्रन्थों का नामोल्लेख इस प्रकार है—

१—छन्दों रत्नाकर (सन् १०००) —रत्नाकर शान्ति

२—प्राकृत व्याकरण, छन्दोनुशासन, देशी नाममाला कोश,
—हेमचन्द्र सूरि (१०८८-११७१)

३—सुदर्शन चरित–(११वीं शताब्दी) जैन मुनि 'नयनंद'

इन ग्रन्थों के आधार पर डा० भगीरथ मिश्र ने यह अनुमान लगाया है कि हिन्दी रीति परम्परा की एक क्षीण धारा अपभ्रंश काव्य में अवश्य रही होगी, जिसका पूर्ण ज्ञान हमें नहीं है ।[1] वास्तव में डा० भगीरथ मिश्र की यह अनुसंधानात्मक दृष्टि अधिक ठोस एवं सारगर्भित प्रतीत होती है ।

भाषा-साहित्य में सर्वप्रथम ठाकुर शिव सिंह ने अपने 'शिव सिंह सरोज' ग्रन्थ में ७७० वि० के लगभग एक पुण्ड या पुष्प नामक कवि का उल्लेख किया है, जिसने संस्कृत अलंकारों को 'भाषा दोहरो' में वर्णन किया है । यह पुण्ड या पुष्प कौन था, इसके सम्बन्ध में, उनका उल्लेख महत्वपूर्ण है—"किताब राजस्थान में मुझको अवन्तीपुरी के एक प्राचीन इतिहास में लिखा मिला कि संवत् सात सौ सत्तर में अवन्तीपुरी

---

१ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र पृ० ८९ प्र० सं० ।

के राजा भोज के पिता राजा मान काव्य शास्त्र में महा निपुण थे। उन्होंने संस्कृत अलकार विद्या पूषी नाम के एक बन्दीजन को पढ़ाई। 'पूषी' कवि ने संस्कृत अलंकारों को भाषा दोहरों में वर्णन किया।[1] ठाकुर शिवसिंह का यह उल्लेख कर्नल टाड कृत 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ के आधार पर है। उसमें 'पूखी' कवि का उल्लेख नही है, वरन् केवल 'पुष्य' का उल्लेख किया गया है। कदाचित् यहाँ भूल वश ऐसा लिखा गया हो। पुष्य, पुष्प अथवा पुण्ड जैसे नामों की एकरूपता के सम्बन्ध में भी पर्याप्त भ्रम बना हुआ है। डा० ग्रियर्सन ने भी अपने इतिहास में इस प्रकार के भ्रमात्मक नामों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है।[2] उन्होंने यह भी बतलाया है कि "टाड कृत 'राजस्थान' में इस बात का उल्लेख नहीं है कि पुष्य ने किस भाषा में लिखा। उसमें जिस पुष्य की चर्चा की गयी है, उसका सम्बन्ध किसी शिला लेख के लेखक से है। इस प्रकार पुष्य या पुण्ड के सम्बन्ध में हमें कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता, जिसके आधार पर उसे हिन्दी अलंकार शास्त्र का प्रथम लेखक मान लिया जाय।"

१—केशव पूर्व रीति-परम्परा

केशव पूर्व रीति काव्य की परम्परा में विद्यापति का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भाषा की दृष्टि से भले ही वे ब्रजभाषा रीति काव्य के मेल में न हो, किन्तु रीति तत्व की दृष्टि से उनका महत्व अक्षुण्ण है। उनकी पदावली में शृंगारिकतत्व (इरोटिक एलीमेंट्स) इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं कि उन्हें भक्ति की कोटि में बैठाने वाले आलोचक भी कभी-कभी चौंक उठते हैं। इनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें न जाने कितने कल्पना-प्रसूत चित्रों की अवतारणा कवि ने की है। शृंगाररसान्तर्गत एक चित्रात्मक सौन्दर्य (पिक्टोरियल ब्युटी) का नमूना लें—

आध बदन ससि बिहंसि देखाओलि आध पीहलि निज बाहू।

---

१. शिवसिंह सरोज—ठाकुर शिवसिंह, सप्तम संस्करण, पृ० ६, भूमिका भाग।

२. It is not clear from this account whether his name was Pushya, puspa or Punda–, ...The only allusion apparently bearing on this point in the Rajasthan is a reference (i, 229; Calcutta edition,ai, 246) to a Pusya, the author of an inscription (translated i, 799), I can find no mention in Tod regarding the language in which he wrote.
—The Modern Vernacular Literature of Hindusthan p. 1 (1889
A Grierson

किछु एक भाग बलाहक झांपल किछुक गरासल राहू ।[1]

विद्यापति के गीतों में ऐन्द्रिय सौन्दर्य की जैसी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, उससे लगता है कि उनकी शृंगारिक तन्मयता अधिक हृदयग्राही एवं प्रभविष्णु है। उनके चित्रों मे मान, अभिसार, मानभंग, सखी शिक्षा आदि अधिक भावात्मक एवं सरस हैं।

विद्यापति के पूर्व 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थों में भी रीति काव्य के आलोचकों द्वारा रीतितत्व खोजने का प्रयास अधिक महत्व नहीं रखता, क्योंकि केवल प्रबन्धगत रूप चित्रण और नख-शिख वर्णन के आधार पर उसके रचयिता को सच्चे अर्थों मे रीति कवि नहीं घोषित किया जा सकता 'रासो' आदि प्रबन्ध ग्रन्थों में नख-शिख एव रूप-चित्रण की योजना प्रसंगवश ही हुई है, वैसे कवि का मूल लक्ष्य—नख-शिख वर्णन करना नहीं है।

विद्यापति के पश्चात् आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'शिवसिंह सरोज' एव 'मिश्रबन्धु विनोद' के आधार पर कुछ ऐसे शृंगारिक एवं अलंकारिक कवियों का उल्लेख किया है, जिनकी कृतियाँ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। उन कृतियों में चरखारी के मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार सागर'* तथा नरहरि कवि के साथी करनेस कवि के 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूप भूषण' नामक ग्रन्थ मुख्य हैं।[2] 'शृंगार सागर' मे शृंगार रस का और 'कर्णाभरण', 'श्रुति भूषण' तथा 'भूप भूषण' नामक ग्रन्थों मे अलंकारों का विवेचन हुआ है। मिश्रबन्धुओं ने मोहनलाल के 'शृंगर सागर' को एक साधारण श्रेणी का रीति ग्रन्थ बतलाया है।[3] करनेस बन्दीजन के सम्बन्ध में भी किसी महत्वपूर्ण सूचना का पता नहीं चलता। ठाकुर शिवसिंह ने भी करनेस के बारे मे विशेष चर्चा नहीं की है। केवल तीन ग्रन्थों का उल्लेख करने के बाद उनके दो छन्दों को उद्धृत किया है।[4]❀

---

१. विद्यापति—टी० कुंवर सूर्यवली सिंह, पद सं० १८, पृ० १४८।

* यह ग्रन्थ अब उपलब्ध हो गया है और शीघ्र ही डॉ० भालचन्द्रराव तेलंग द्वारा सम्पादित होकर मुद्रित होने वाला है।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, परिवर्धित एव संशोधित संस्करण, पृ० २३२।

३. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ० २६३, पंचम संस्करण।

४. वही पृ० २८१, पं० सं०।

५. शिवसिंह सरोज, पृ० ३४, सप्तम संस्करण।

❀ करनेस बन्दीजन की ये रचनाएँ अब परवर्ती मानी जाती हैं—देखें—बिहारी आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १८

केशव पूर्व रीति कवियों में कृपाराम का नाम इसलिये लिया जाता है कि इनकी 'हित तरंगिणी' (सं० १५९८) से यह स्पष्ट आभास मिल जाता है कि इनसे पहले या इनके सम-सामयिक कवि शृंगार रस का वर्णन विस्तारपूर्वक करते थे। इसी कारण इन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द में शृंगार रस का निरूपण संक्षिप्त शैली मे किया। कदाचित् संक्षिप्त शैली को स्मरण-सौकर्य के लिये ही इन्होंने अपनाया होगा।[1] सम्प्रति 'हित तरंगिणी' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों को सन्देह है। सर्वप्रथम पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने 'केशवदास' ग्रन्थ में 'हित तरंगिणी' के रचना-काल से सम्बन्धित दोहे के आधार पर इसे परवर्ती रचना माना है।[2] 'हित तरंगिणी' का रचना-काल विषयक दोहा इस प्रकार है—

सिधि निधि शिव मुख चन्द्र लखि माघ शुक्ल तृतियासु।
हित तरंगिणी हौं रची, कवि हित, परम प्रकास॥
(हित तरंगिणी, छन्द सं० २०६)

आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने इस दोहे में पाठान्तर माना है और तदनुसार इसका रचना-काल सं० १७९८ निर्धारित किया है। इसकी अप्रामाणिकता के सम्बन्ध मे दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि इसमें दिन का उल्लेख नहीं है, पर दिन के उल्लेख न होने से किसी कृति की रचना-विषयक प्रामाणिकता संदिग्ध नहीं मानी जा सकती। यह तर्क इसकी अप्रामाणिकता का विशेष पुष्ट आधार नहीं है। ब्रजभाषा साहित्य के ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं, जिनमें तिथि का उल्लेख नहीं किया गया है। क्या इस आधार पर उन्हें अप्रामाणिक माना जा सकता है? प्रताप साहि कृत प्रसिद्ध रीति ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के अन्त में रचना-काल विषयक जो दोहा दिया गया है, उसमें भी तिथि का उल्लेख नहीं है। क्या इस आधार पर विद्वान उसे भी परवर्ती रचना मानते हैं?[3] 'हिततरंगिणी' के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[4] और

---

१. बरनत कवि शृंगार रस, छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच, यातें सुघर विचारि॥४
(हित तरंगिणी—कृपाराम, सं० जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० १, सं० १९५२, भारत जीवन प्रेस, काशी)।

२. केशवदास—आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ४०८, प्र० सं०।

३. संवत् ससि वसु वसु सु द्वै, गनि असाढ़ को मास।
किय व्यंग्यारथ कौमुदी, सुकवि प्रताप प्रकास॥
(व्यंग्यार्थ कौमुदी, सं० रामकृष्ण वर्मा, पृ० ८४ प्र० सं०)

४. हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १९२

आचार्य पं० विश्वनाथ[1] प्रसाद मिश्र भी उसे परवर्ती रचना मानने के पक्ष में हैं। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अभी तक इसकी अप्रामाणिकता पर विशेष विचार नहीं कर सके, लगता है पाण्डेय जी के तर्क से वे अधिक सहमत नहीं हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पाण्डेय जी के तर्कों के आधार पर ही इसे परवर्ती काल की रचना स्वीकार करते हैं। जो भी हो, इसकी अप्रामाणिकता भी विशेष असंदिग्ध नहीं है। इसकी भाषा इतनी परिष्कृत है और नायिका-भेद का विवेचन इतनी प्रौढ़ शैली में किया गया है, जिसके कारण प्रामाणिकता में सन्देह होना स्वाभाविक है। निष्कपत यही कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती रीति ग्रन्थों की परम्परा में इसका महत्व निश्चय पूर्वक अत्यधिक है।

सूरदास की 'साहित्य लहरी' और 'सूर सागर' के कुछ पद रीतिबद्ध शृंगारिक रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'साहित्य लहरी' में रीतिबद्धता की प्रवृत्ति इतनी अधिक मुखरित है कि उसके कारण सूर साहित्य के कुछ विद्वान इसे सूर की रचना कहने में पर्याप्त सन्देह प्रकट करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'सूर सागर' और 'साहित्य लहरी' में काव्यगत प्रवृत्ति की दृष्टि से इतना अधिक साम्य है कि इसे सहसा शीघ्र अप्रामाणिक रचना भी नहीं माना जा सकता। 'साहित्य लहरी' में नानाविध अलकारों और नायिकाओं का निरूपण कूट शैली में किया गया है। अतिशय चमत्कार एवं अलंकरण-प्रियता के कारण इसकी सहज सरसता प्राय क्षीण हो गयी है। सूर में जो केशव का अर्थ-गाम्भीर्य कहा जाता है, वह इसमें भली भाँति देखा जा सकता है। इसके अर्थ में इतनी अधिक दुरूहता आ गयी है कि बिना टीका के अर्थ की गहराई मे उतरना आसान नहीं है। इसमें रीति तत्व इतने स्पष्ट रूपेण दृष्टिगत होते हैं कि यह रचना किसी रीतिकार की प्रतीत होती है। 'सूक्ष्मालंकार' के अन्तर्गत एक क्रिया विदग्धा नायिका का उदाहरण लें—"देखत हूँ वृषभानु दुलारी। नन्द नन्दन आ।। वृज वीथिन भीर संग लै भारी। सिव आनन लिखि चन्द बिन्दु दै कर निज कुंभ मिलाये।"[2]

इस रचना से लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले कवियों को निश्चय ही सीधी प्रेरणा मिली होगी। आश्चर्य है, सूर सागर में भी खण्डिता एवं विपरीत रति से सम्बन्धित कई पद मिले हैं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की बरवै रामायण के सम्बन्ध में

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ३६८।

२. साहित्य लहरी सूरदास कृत—भारतेन्दु द्वारा संग्रहीत, पृ० १२, १३, पृ० स० १८९२

यह कहा जाता है कि गोस्वामी जी ने यह रचना रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' की प्रेरणा से लिखी है। इसी से स्थल-स्थल पर रीति काव्य की शृंगारिकता और अतिशय अलंकरण प्रियता दोनों एक साथ झलकती हैं। इसमें प्रयुक्त अलंकारों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि मानो कवि ने अलंकारों के लक्षण देखकर इसे रचा हो। रहीम कृत 'बरवै नायिका-भेद' निश्चय ही शृंगारिक परम्परा का एक उत्कृष्ट रीति-ग्रन्थ है। यद्यपि इसकी भाषा अवधी है, फिर भी नायिका भेद का ऐसा सरस एवं मधुर चित्रण अन्य ग्रन्थों में कम दृष्टिगत होता है। 'बरवै नायिका भेद' लक्षण लक्ष्य बद्ध काव्य न होकर मात्र लक्ष्यबद्ध काव्य के अन्तर्गत आता है। इसमें जो लक्षण दिये गये हैं, वे रहीम के न होकर मतिराम कृत हैं। पर उदाहरण इतने मधुर और रस-सिक्त हैं कि पाठकों का हृदय उसमें सहज ही तन्मय हो जाता है। 'नगर शोभा' के अन्तर्गत रहीम ने नाना जाति की स्त्रियों का शृंगारिक ढंग से वर्णन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि देव कवि को 'रस विलास' और 'जाति विलास' के लिखने में इस ग्रन्थ से बहुत बड़ी प्रेरणा मिली होगी। 'नगर शोभा' की अपेक्षा 'बरवै नायिका भेद' मे रीति तत्व का समावेश अधिक हुआ है। इस छोटे से छन्द में प्राप्त हृदय की रसार्द्रता का एक चित्र इस प्रकार है—

> रहत नयन के कोरवा, चितवन छाय।
> चलत न पग पैजनियाँ, मग ठहराय ॥४॥[1]

नन्ददास की 'रस मंजरी' में नायिका भेद का विवेचन उदाहरणों की सरसता के लिये इतना प्रसिद्ध नहीं है, जितना लक्षणों की प्रांजलता के लिये। इसमें भानुदत्त कृत 'रसमंजरी' का आधार ग्रहण किया गया है और बहुत स्थलों पर इन्होने 'रस मंजरी' का अक्षरशः अनुवाद भी कर डाला है। ऐसे शृंगारिक ग्रन्थ की रचना नन्ददास ने अपने एक ऐसे मित्र के आग्रह से की थी, जिसने कभी नायक-नायिका भेद नहीं सुना था।[2] इसमें नायिका भेद के साथ ही हाव-भाव, हेला आदि का विश्लेषण बहुत निष्ठापूर्वक किया गया है। कृपाराम के साथ ही लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले लेखकों में नन्ददास की भी गणना होती है। जब कृपाराम की 'हित तरंगिणी' निश्चय रूप से अप्रमाणित रचना मान ली जायगी, उस समय नन्ददास कृत 'रस मंजरी' का स्थान स्वभावतया केशव पूर्व रीति ग्रन्थों में सर्वोपरि होगा, इसमें दो मत नहीं है।

---

१. रहीम रत्नावली—सं० पं० मायाशंकर याज्ञिक, तृतीय सं०, पृ० ४०।

२. ग्रन्थावली—सं० पृ० १४४

२—प्रस्तावना काल

केशव पूर्व इन रचनाओं से पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार प्रेम लक्षणा-भक्ति के प्रभाव से शृंगारिक प्रवृत्तियाँ रीति काव्य के सम्यक् विकास का मार्ग प्रशस्त करने लगी और शृंगार में प्रेम लक्षणा भक्ति के समावेश से अपभ्रंश युग की शृंगारिक प्रवृत्तियाँ जो समय के प्रभाव से दबी हुई थीं, अब किस प्रकार रीतिबद्ध शृंगारिक काव्यों के बहुमुखी उन्नयन के निमित्त एक पुष्ट भूमिका तैयार करने में लग गयीं।[1] आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सम्वत् १६०० से १७०० तक की समस्त रीति काव्य विषयक रचनाओं के आधार पर इस युग को शृंगार की प्रस्तावना की अभिधा दी है। उनके अनुसार सम्वत् १६०० के आस-पास से ही शृंगार भक्ति के परिवेश से निकल कर अपना पृथक् मार्ग बनाने लगा था और सं० १७०० तक शृंगार की अखण्ड परम्परा की धारा अपने प्रखर वेग से प्रवाहित होने लगी। निष्कर्षतः प्रस्तावना-काल की शृंगारिक प्रवृत्तियों के वैकासिक स्रोत को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

१—शृंगार में प्रेम लक्षणा भक्ति का समावेश।
२—अपभ्रंश काव्य की शृंगारिक प्रवृत्तियों का प्रभाव।
३—संस्कृत के रीति ग्रंथों का आधार।
४—भक्त कवियों की शृंगारिक रचनाओं का बाहुल्य।

प्रस्तावना-काल (सं० १६००–१७०० तक) के कवियों की आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक वृहत् तालिका दी है, जो इस प्रकार है—

संवत् (रचना-काल)	कवि	रचना
१६१६	गंग	फुटकल
१६१६	मोहनलाल	शृंगार सागर
१६२०	मनोहर	फुटकल
१६२०	गंगाप्रसाद	कोई रीति ग्रन्थ बनाया, जिसका नाम अज्ञात है।
१६३७	करनेस	कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण
१६४०	बलभद्र मिश्र	नख शिख
१६४०	रहीम	बरवै नायिका भेद
१६५०	केशवदास	रसिक प्रिया, कवि प्रिया

१ वाङ्मय विमर्श—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० २४३ तृतीय सं०

१६५१	हरिराम	छन्द रत्नावली
१६५७	बालकृष्ण	रस चन्द्रिका (पिंगल)
१६६०	मुबारक	अलक शतक, तिल शतक
१६७६	लीलाधर	नख शिख
१६८८	सुन्दर	सुन्दर शृंगार
१७००	सेनापति	षट् ऋतु वर्णन
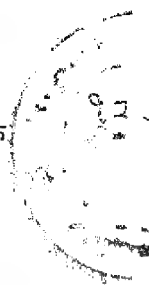
आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की उपर्युक्त तालिका के अन्तर्गत तीन ऐसे कवियों के नाम छूट गये हैं, जिन्हें रीति काव्य की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन कवियों में क्षेमकवि* और मुनिलाल का नामोल्लेख इसलिये होता है कि इन्होंने केशव पूर्व हिन्दी रीति काव्य की परम्परा को अग्रसर करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। ब्रज के क्षेम और मुनिलाल का उल्लेख डा० श्यामसुन्दर ने अपनी सन् १९०६–८ की सर्वे रिपोर्ट में इस प्रकार किया है—

> "ए स्माल बिगनिंग हैड बीन मेड प्रिअर टु हिम (केशव) बाई क्षेम ऑव ब्रज एण्ड वन मुनिलाल हू इज रिगार्डेड ऐज दी फाउण्डर आफ दी टेक्निकल स्कूल आव पोयट्री।"[1]

आचार्य केशवदास के महत्व निरूपण के क्रम में डा० जी० ए० ग्रियर्सन ने भी अपने इतिहास में कवि क्षेम के कार्य का मूल्यांकन किया है[2]। मुनिलाल के सम्बन्ध मे 'शिवसिंह सरोज' में भी विशेष विवरण प्राप्त नहीं है, केवल रामचन्द्र जी के पद नख के सम्बन्ध में उनका एक छन्द दिया गया है[3]। मिश्र बन्धुओं ने (अपनी प्र० त्रै० रि० के अनुसार) इनके 'रामप्रकाश' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया और इन्हे

---

* डलमऊ जिला रायबरेली के छेम को डा० ग्रियर्सन ने हुमायूँ का दरबारी कवि माना है और अनुमान लगाया है कि कदाचित् यह बुन्देलखण्ड का वही छेम है, जिसे ठाकुर शिवसिंह ने अपने सरोज में उल्लिखित किया है।

—ग्रियर्सन का इतिहास, पृ० ३४।

1. Introduction—Search for Hindi MSS 1906–8.

—Shyam Sunder Das.

2 After one or two attempts by minor authors, such as the poet Khem (No. 87). Keshava Das stepped forward and settled for ever the canons of poetical criticism.

—The M. V, L. of Hindustan. (Intd.) p. XXI. A. Grierson.

३ शिव सिंह सरोज सप्तम पृ० २५६

एक साधारण कोटि का कवि माना है।[1] मिश्र बन्धुओं ने खेम जी के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण तो नहीं दिया। हाँ, उनके एक ग्रन्थ 'खेम जी की चितवनी' का उल्लेख अवश्य किया है। इन दोनों कवियों के अतिरिक्त 'गोप कवि' का भी नामोल्लेख मिश्र जी की तालिका में नहीं हुआ है। ठाकुर शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में इनके दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) रामभूषण, (२) अलंकार चन्द्रिका। उनके एक छन्द का उदाहरण भी अपने ग्रन्थ में दिया है।[2] डा० ग्रियर्सन से भी गोप के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण सूचना नहीं मिलती। केवल सरोजकार की भाँति इन्होंने उनके दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[3] मिश्रबन्धु विनोद में भी गोप के केवल दो ग्रन्थों की चर्चा है। ये ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं, इस कारण गोप की काव्य प्रतिभा के सम्बन्ध में अभी तक सम्यक् विचार नहीं किया जा सका।

रीति परम्परा के प्रवर्तन में केशव का महत्त्व

केशव पूर्व जिन कवियों का उल्लेख किया गया है, उनका प्रयास प्रायः प्रारम्भिक ही माना जाता है, क्योंकि रीति काव्य के शास्त्रीय विवेचन के पाण्डित्यपूर्ण प्रयास की जैसी उस समय अपेक्षा थी, वह किसी भी कवि द्वारा पूरी न हो सकी। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य केशवदास ने ही संस्कृत के भामह, उद्भट और दण्डी के काव्यादर्शों के आधार पर काव्यांगों का विशद तथा सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत किया। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रीति-परम्परा के प्रवर्त्तन में केशवदास के महत्व को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि केशव द्वारा प्रवर्तित काव्य शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण रीतिकाल के किसी कवि द्वारा नहीं किया गया। आचार्य शुक्ल के अनुसार केशव के पचास वर्ष बाद हिन्दी रीति ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली।[4]

आचार्य केशव की उपेक्षा के कारण

केशव की उपेक्षा का कारण आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना का वह अंश है, जिसमें उन्होंने केशव के महत्व को इसलिये स्वीकार नहीं किया कि वे भामह

१. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ० २६६, पाँचवाँ सं०।

२. शिव सिंह सरोज सप्तम सं०, पृ० ६७०।

3. The poet Gopa B. 1533 A. D. He wrote the Ram Bhukhan and Alankar Chandrika,—The Modern Vernacular Literature of Hindustan. p. 14. —A. Grierson.

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, संशोधित सं० पृ० २३३

आदि के अलंकारवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना चाहते थे। आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ के उस दृष्टिकोण को नहीं, जिसमें अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट भेद हो चला था। आचार्य शुक्ल की केशव विषयक इस समीक्षा ने इतना जोर पकड़ा कि उनके बाद आने वाले कुछ समीक्षकों ने भी आचार्य केशवदास के सम्बन्ध मे पूर्ण उदासीनता प्रकट की। आचार्य केशवदास की उपेक्षा का दूसरा कारण यह था कि वे कुछ आधुनिक आलोचकों द्वारा एक चमत्कारवादी कवि मान लिये गये, क्योंकि उनमें रसानुभूति की पर्याप्त कमी थी। पर बात ऐसी नहीं है। केशव की 'रसिक प्रिया' रसवादी शृंगारप्रकाशकार आदि के आधार पर रची गई है। 'रसिक प्रिया' में केशव की रसात्मकता की जैसी पराकाष्ठा हुई है, वह अन्यत्र कम दृष्टिगत होती है। उनके प्रभाव एवं पाण्डित्य को रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि देव ने भी स्वीकार किया है।[१] केशव की उपेक्षा का तीसरा प्रबल कारण यह है कि श्रीपति जैसे आचार्य कवि ने अपने 'काव्य सरोज' ग्रन्थ में उनके काव्य को कई स्थलों पर दोषपूर्ण ठहराया है।[२] फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि केशव के आचार्यत्व को रीति-काव्य के अधिकांश आलोचकों ने स्वीकार किया है।

केशव के महत्त्व के सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन और लाला सीताराम के विचार

केशव के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के पुराने इतिहासकार डा० ग्रियर्सन और लाला सीताराम के भी विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनके ऐसे विचारों से केशव के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्तियों का बहुत कुछ निराकरण हो सकता है। यद्यपि डा० ग्रियर्सन ने केशव के महत्व को पूर्णरूपेण स्वीकार किया है, लेकिन रीति परम्परा का आरम्भ उन्होंने केशवदास के ७० वर्षों बाद माना है।[३] दूसरा तथ्य उनका यह

---

१. रस विलास—देव सं० बाबू रामकृष्ण वर्मा, पृ० ४६, प्र० सं०, सन् १९०० में भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित।

२, *There is hardly to be found any poet or scholar of Hindi who* is ready to recognise the authority and accepts his view on poetics (not to say this, scholars like Shripati have criticised him and have tried to show his-work on poetics as faulty), However he has been allowed a very high place in the field of Hindi literature.—Evolution of Hindi Poetics. Dr. R. S. Rasal

३. Seventy years later in the middle of the seventeenth century, Chinta Mani Tripathi and his brothers amplified and developed the rules laid down by him.

The M V L of Hindustan (Intd p XXI) = A Grierson

है कि केशवदास द्वारा निरूपित काव्य शास्त्रीय नियमों तथा सिद्धान्तों का सम्वर्धन एवं विकास आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी तथा उनके भाइयों ने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में किया। ग्रियर्सन का यह विचार आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचारों से बहुत कुछ भिन्न है। क्योंकि आचार्य शुक्ल ने केशव द्वारा चलाई परिपाटी के अनुसरण की बात स्वीकार नहीं की। परम्परा प्रवर्तन के सम्बन्ध में विचार करने के अनन्तर डा० ग्रियर्सन ने उनके अगाध पाण्डित्य की सराहना करते हुए पुनः एक दूसरे स्थल पर स्पष्टतया घोषित किया है कि परवर्ती दो शताब्दियों तक हिन्दी के रीति आचार्यों ने केशव का ही पादानुसरण किया।[1]

केशव के सम्बन्ध में लाला सीताराम के भी वही विचार हैं जो विचार डा० ग्रियर्सन के हैं। लाला सीताराम ने भी चिन्तामणि की तुलना में केशव के ही महत्व को स्वीकार किया है और रीतिकाल की उस सुदीर्घ एवं विशाल परम्परा में केशव के प्रभाव ही नहीं, वरन् चिन्तामणि और मतिराम द्वारा उनके प्रवर्तित मार्ग के अनुसरण की बात भी कही है। लाला जी के अनुसार इस परम्परा के अंतिम काव्याचार्य भिखारीदास तक केशव का ही अनुसरण होता रहा।[2]

केशव और चिन्तामणि के सम्बन्ध में रीतिकाव्य के आलोचकों के मत

रीति परम्परा के प्रवर्तन के सन्दर्भ में आचार्य केशव और चिन्तामणि का साहित्यिक महत्व और उत्कर्ष की दृष्टि से प्रायः विचार किया जाता है। जब से आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि को रीति परम्परा को पुरस्सर करने में महत्व प्रदान किया, उसी समय से केशव और चिन्तामणि के पारस्परिक साहित्यिक महत्व के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद खड़ा हो गया है। विद्वानों का एक वर्ग ऐसा है, जो रीति परम्परा के प्रवर्त्तन में केशव को महत्व प्रदान करता है, तो दूसरा वर्ग चिन्तामणि त्रिपाठी को। वस्तु स्थिति यह है कि केशव के पाण्डित्य और उनके अगाध

---

1. The first great writer on this subject was the sixteenth century Keshav Das and the two succeeding centuries numerous scholars followed in his footsteps.

—Selections from Hindi Literature B. V. p. 1 (1924 Ed.)

2. He was followed by the brothers, Chinta Mani and Mati Ram and hundreds of other ending with the great master of Hindi rhetoric, Bhikari Das of Pratap Garh in Oudh.

Selections from Hindi Literature p 5 1924 Lala Sitaram

ज्ञान की जैसी प्रतिष्ठा दो सौ वर्षों तक रीति काव्य मर्मज्ञों में रही, वैसी चिन्तामणि त्रिपाठी की नहीं। यही कारण है कि डा० श्यामसुन्दरदास ने आचार्य शुक्ल की केशव विषयक धारणा का प्रतिवाद बहुत पहले कर दिया था और बहुत दृढ़तापूर्वक रीति परम्परा के प्रवर्तन का सारा श्रेय आचार्य केशवदास को ही दिया था। चिन्तामणि का महत्व उनकी दृष्टि में नगण्य रहा।[1] इसके अनन्तर अन्य विद्वानों ने भी चिन्तामणि के आचार्यत्व को अपेक्षाकृत स्वीकार नहीं किया। डा० जानकीनाथ सिंह मनोज ने अपने शोध प्रबन्ध में चिन्तामणि को छन्द शास्त्र का प्रथम लेखक मानते हुए भी रीति परम्परा के आरम्भकर्ताओं में उनके महत्व को स्वीकार नहीं किया।[2] डा० भगीरथ मिश्र ने केशव की तुलना में चिन्तामणि को ही रीति परम्परा का वास्तविक प्रारम्भ-कर्ता प्रमाणित किया है,[3] किन्तु डा० मिश्र ने दूसरे स्थल पर यह भी लिखा है कि 'वे सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य शास्त्र पर लिखा'।[4] इस विवाद को और विस्तार-पूर्वक सुलझाने के लिये डा० नगेन्द्र ने केशवदास पर एक गम्भीर लेख लिखा और चिन्तामणि की तुलता में आचार्य केशव के महत्व को इन शब्दों में प्रतिपादित किया—

(१) केशव पूर्व कृपाराम का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है और व्यक्तित्व साधारण

(२) चिन्तामणि को केशव जैसा गौरव देना अन्याय है।

(३) यह एक संयोग मात्र था कि चिन्तामणि के उपरान्त रीति काव्य की धारा अविच्छिन्न रूप में चली।

(४) देव, दास आदि परवर्ती सभी कवियों ने केशव को आचार्य रूप में श्रद्धा जलि दी है।[5]

चिन्तामणि के ग्रन्थों में—कविकुल कल्पतरु, छन्द विचार और श्रृंगार मंजरी मुख्य है। जहाँ तक उनकी कृतियों की मौलिकता का सम्बन्ध है, 'श्रृंगार मंजरी' अकबर शाहिकृत तैलगू का ब्रजभाषा रूपान्तर है। 'काव्य विवेक' और 'रामायण'

---

१. हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ३४६, सं० १९६४ का संस्करण।

2 The first writer on Hindi prosody is Chinta Mani Tripathi. It is from this poet that unbroken chain of Riti Granthas runs for more than one century. He is therefore regarded the pioneer of Riti Kal period, although this view as is the opinion of some scholars does not seem so reasonable.
—The contribution of Hindi poetry to prosody. p. 32. (Typed thesis)—Dr. Manoj.

३. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ७३।

४. वही पृ० ५२, ५३।

५ अवन्तिका पृ० ११३

उनकी अनुपलब्ध रचना है। रह गया 'कविकुल कल्पतरु'। इसे भी विद्वानों ने विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' तथा भानु कृत 'रस मंजरी' आदि के आधार पर रचित बतलाया है। अतः इसकी भी मौलिकता नगण्य है। हाँ, विषय-प्रतिपादन की प्रांजलता में यह कृति केशव से अवश्य श्रेष्ठ है। रह गई आधार ग्रहण की बात। आधार ग्रहण पर ही किसी कवि की मौलिकता असिद्ध नहीं हो सकती। यदि आधार ग्रहण की ही बात देखनी हो तो केशव में भी अपने पूर्ववर्ती द्वारा ग्रहण किये गये अधिकाधिक प्रभाव दृष्टिगत हो सकते हैं। विचार यह करना है कि केशव ने अथवा चिन्तामणि ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से गृहीत तथ्यों को किस ढंग से आत्मसात् किया? इस दृष्टि से विचार करने पर निश्चय ही केशव के अगाध पाण्डित्य की श्लाघा करनी पड़ती है। चिन्तामणि का स्थान निश्चय ही केशव की तुलना में निम्न है। केशव रीति परम्परा की नींव के ऐसे पत्थर हैं, जिनके आधार पर ही रीति काव्य के प्रासाद की विशाल दीवार खड़ी हुई है। अतः रीति परम्परा में केशव का स्थान निश्चय ही बहुत अधिक है।

३—मौलिकता : अर्थ एवं स्वरूप विवेचन

प्रसिद्ध संस्कृत कोशकार वी० एस० आप्टे ने अपने कोश में मौलिक शब्द का अर्थ 'तत्वरूप', 'मुख्य' एवं 'अनुत्तम' माना है।[1] प्रकारान्तर से मोनियर विलियम्स ने मौलिक शब्द 'मूलोत्पादक', 'वंशादि', 'मूल से गृहीत' आदि अर्थों में ग्रहण किया है।[2] किन्तु इधर सन् १९४२ में अमेरिका से प्रकाशित वेब्स्टर कृत प्रसिद्ध पर्यायवाची कोश में मौलिकता का अर्थ उपर्युक्त दोनों कोशों से बहुत कुछ भिन्न है। वेब्स्टर महोदय के अनुसार मौलिक शब्द का अर्थ 'विचार में स्वतन्त्र एवं सृजनात्मक' तथा 'एक सामान्य रीति' होता है।[3] 'बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश' में मौलिक शब्द का अर्थ 'रूप और शैली में नव्य' तथा 'सर्वथा नवीन' दिया गया है।[4] वस्तुतः कोशकारों का उक्त अर्थ विज्ञान एवं साहित्य दोनों की मौलिकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में सदैव मौलिकता का अर्थ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न अर्थ में ग्रहण किया जाता रहा। विज्ञान में जहाँ मौलिकता से अभिप्राय केवल नवीन उद्भावना का ही है, वहाँ साहित्य में दृष्टिकोण एवं विवेचन की नवीनता ही उसके लिये अपेक्षित रहती है।[5]

---

१. संस्कृत अंग्रेजी कोश—वी० एस० आप्टे, पृ० ४५०।
२. वही—मोनियर विलियम्स, पृ० ८३७, द्वि० सं०।
३. न्यु इण्टरनेशनल डिक्शनरी—वेब्स्टर, द्वितीय भाग, पृ० ११२१।
४. अंग्रेजी हिन्दी कोश—डा० हरदेव बाहरी, प्र० सं०, पृ० ६३।
५. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० २७६

(क) भाव सादृश्य एवं अर्थापहरण

संस्कृत साहित्य के मान्य आचार्यों ने अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य की मौलिकता की बड़ी सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचना की है। शताब्दियों पूर्व आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और राजशेखर आदि द्वारा विवेचित, आलोचित एवं प्रतिपादित मौलिकता विषयक सुदृढ़ सिद्धान्त आज भी सुग्राह्य एवं मान्य हैं। मौलिकता के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ में 'भाव साम्य' का विश्लेषण करते समय कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनसे हिन्दी रीति काव्य की मौलिकता विषयक फैली हुई भ्रान्तियों का सम्यक् निराकरण हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट उद्घोषणा की है—"जहाँ नवीन स्फुरण होने वाले काव्यार्थ (काव्य वस्तु) में पुरानी (प्राचीन कवि निबद्ध) कोई वस्तु, अक्षर आदि की रचना के समान निबद्ध की जाती है, वह निश्चित रूप से दूषित नहीं होती, यह स्पष्ट ही है।[1] इसी प्रकार जो प्राचीन भाव को अपनी निराली नूतनता द्वारा चमत्कृत कर दे, उन्हें भी आनन्दवर्धन मौलिक कवि की कोटि में रखना चाहते हैं—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरूपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥[2]

अर्थात् जहाँ लोकों को (सहृदय को) यह कोई नई सूझ (स्फुरण) है, इस प्रकार की अनुभूति होती है (नई या पुरानी) जो भी हो, वही वस्तु रम्य (कहलाती) है। पूर्व छाया से युक्त होने पर भी उसी प्रकार की वस्तु का वर्णन करने वाला कवि निन्दनीयता को प्राप्त नहीं होता। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' नामक ग्रन्थ में 'पुरानी उक्तियों' के संस्कार पर पर्याप्त बल दिया है। उनके अनुसार प्राचीन कवियों ने कुछ अछूता नहीं छोड़ा, अतः नवीन कवियों को पुरानी उक्तियों का संस्कार करना चाहिये।[3]

आचार्य अभिनव गुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की मूल प्रतिष्ठा तथा उनकी प्रकृत विवेचना में भी मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना जैसा फल माना है—

पूर्व प्रतिष्ठापितयोजनासु मूल प्रतिष्ठाफलमामनन्ति।

---

१. ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत—टी० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३६१।
२. वही पृ० ३६२।
३ पुराणकविक्षुण्ण वर्त्मनि वस्तु ततश्च तदेव संस्कर्तुम प्रयतेत
काव्य मीमासा टी० डा० राय पृ० १५६

इस दृष्टि से केवल शास्त्र या काव्य के वे ही आचार्य उद्भावक आचार्य नहीं माने जा सकते, जिन्होंने नवीन सिद्धान्तों को जन्म दिया, अपितु पूर्व विवेचित विषयों का अपने ढंग से आख्यान तथा पुनराख्यान करने वाले गम्भीर विचारक आचार्य भी इसी कोटि मे आते हैं ।[1]

आनन्दवर्धन और राजशेखर द्वारा विवेचित मौलिकता विषयक सिद्धान्त की श्लाधा आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने भी की है, उनके अनुसार—इस परिष्कार को भी, आनन्दवर्धन तथा राजशेखर ने कवि प्रतिभा के रूप में स्वीकृत किया है । शब्द भी वे ही रहते हैं, अर्थ विभूति या काव्य विषय भी वही रहता है, अन्तर केवल कहने के ढंग में हो जाता है ।[2]

राजशेखर के अनुसार मौलिक कवि

रचना की मौलिकता की दृष्टि से राजशेखर ने चार प्रकार के मौलिक कवि माने हैं—(१) उत्पादक कवि, (२) परिवर्तक कवि, (३) आच्छादक कवि, (४) संवर्गक कवि ।[3] उत्पादक कवि वह है जो अपनी प्रतिभा के बल से काव्य में नूतन अर्थवत्ता का समावेश करता है । परिवर्तक कवि प्राचीन कवि के भावों में परिवर्तन करके अपना बना लेता है । आच्छादक कवि उसे कहते हैं जो दूसरे की उक्ति छिपाकर तत्सदृश उक्ति द्वारा अपनी रचना का प्रचार करता है और संवर्गक कवि राजशेखर की दृष्टि में अत्यन्त हीन माना गया है । यह चोर एवं डकैत सदृश होता है । मौलिकता की दृष्टि से उत्पादक कवि ही श्रेष्ठ माना गया है । अन्य तीनों प्रकार के कवियों में मौलिकता का अंश अधिक नहीं होता । इसी प्रकार राजशेखर ने अर्थापहरण से सम्बन्ध रखने वाले कवियों का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है ।

वास्तव में भावसादृश्य एवं अर्थापहरण यदि काव्यगत उक्ति के सौन्दर्यवर्धन में योग देता है तो वह मौलिकता की कोटि में रखा जा सकता है । भाव साम्य के औचित्य के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के विचार अधिक तर्कपुष्ट हैं । उनके अनुसार भाव साम्य तीन प्रकार से होता है—(१) समान मानसिक परिस्थितियाँ, संस्कार, विचार

---

१. रस मीमांसा—डा० नगेन्द्र, पृ० १७० ।

२. त एव पदविन्यासास्ता एवार्थ विभूतयः । तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रन्थ कौशलात्—बिहारी से उद्धृत, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ६८ ।

३. उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्तकः ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा समवर्गको परः ॥
—काव्य मीमांसा राजशेखर टी० डा० राय पृ० १५९

पद्धति एवं सामाजिक वातावरण के कारण, (२) दो या दो से अधिक कवियों द्वारा पूर्ववर्ती भावों को ग्रहण किए जाने के कारण, (३) पूर्ववर्ती साहित्य के गम्भीर अध्ययन द्वारा संस्कार ग्रहण करने के कारण।[1]

समान मनःस्थिति के सम्बन्ध में बाबू राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु बाबू द्वारा रचित एक ऐसे शृंगारिक कवित्त की चर्चा की है, जिसका भाव किसी प्राचीन कवि के कवित्त से मिलता था,[2] पर उत्तरवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि की रचना देखी है, इसमे फिर भी पूर्ण संदेह है। तथ्यतः समान मनःस्थिति के कारण कभी-कभी बहुत-सी समानान्तर प्रतीत होने वाली रचनाओं में एक ही प्रयास और एक ही अन्तःप्रेरणा लक्षित होती है। किन्तु इधर भावसादृश्य अथवा दो कवियों द्वारा पूर्ववर्ती भावो के ग्रहण किये जाने के सम्बन्ध में प्रसिद्ध आलोचक पं० कृष्णविहारी मिश्र ने बहुत उत्तम ढग से विचार किया है। उन्होंने भावसादृश्य को तीन कोटियों में विभाजित किया है—(१) सौन्दर्य सुधार, (२) सौन्दर्य रक्षा, (३) सौन्दर्य संहार।[3] प्रथम दो को साहित्य मर्मज्ञों ने अच्छा बतलाया है। इन दोनों में भी सौन्दर्य-सुधार की भूरिशः श्लाघा होती हे और अन्तिम अर्थात् 'सौन्दर्य संहार' को ही साहित्यिक चोर बतलाया गया है। प० कृष्णबिहारी का यह विभाजन नया नहीं है, वरन् यहाँ आनन्दवर्धन और राजशेखर के ही विचारों का प्रकारान्तर से उल्लेख किया गया है। रीति युग की काव्यगत मौलिक चेतना से असहमति व्यक्त करने वाले आलोचकों ने रीति कवियों पर भावसाम्य और अर्थापहरण का बुरी तरह से दोषारोपण किया है। उनके ऐसे दोषारोपण का उत्तर प० पद्म सिंह शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बिहारी की सतसई' में बहुत पहले दे दिया है।[4] वस्तुतः भावसादृश्य, अर्थापहरण और मौलिक उद्भावनाओं को दृष्टि मे रखते हुए समग्र रीति काव्य का विवेचन तीन दृष्टियों से करना अधिक तर्कसगत होगा—

१—रीति कवियों की काव्यशास्त्रीय विवेचनगत नवीन उद्भावनाएँ।

२—रीति कवियों द्वारा प्रस्तुत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं फारसी-उर्दू की उक्तियों के अनुवाद एवं भावानुवाद।

३—रीति कवियों द्वारा नये-नये सन्दर्भों में विन्यस्त परम्परागत समस्त काव्य रूढ़ियाँ।

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० २७८

२. राधाकृष्ण ग्रन्थावली—सं० डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० ३४७।

३. देव और बिहारी—पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, चतुर्थ संस्करण, पृ० ९७।

४ विहारी की सतसई पं० पदमसिंह शर्मा द्वि० सं० पृ० ३५।

इस प्रकार रीति काव्य के स्वरूप का विवेचन अधिक सन्तुलित एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत हो सकेगा। यद्यपि यह सत्य है कि पूर्ववर्ती उक्तियों का अविकल अनुवाद या भावानुवाद रीति कवियों की मौलिकता के समक्ष एक प्रश्नवाचक चिह्न लगा देता है, पर पुरानी उक्तियों में अपनी सहज रसग्राहिता का समावेश करते हुए इन रीति कवियों ने रस-चयन में सजग उस मधु-मक्खी की कुशलता व्यक्त की है, जिसके कारण स्वाद एवं गुण दोनों में अप्रतिम और पूर्व आकलित पुष्परस से भिन्न मधु जैसी रसात्मकता सहज ही आ गई है। इस तथ्य को हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है।

(ख) प्रतिभा एवं मौलिकता

भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्यों ने प्रतिभा को एक लोकोत्तर शक्ति के रूप मे अभिहित किया है[1] और कवि-प्रतिभा के आधार पर ही उन्होंने किसी रचना की मौलिकता के न्यूनाधिक्य अंश का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। यह कहना अनुचित असंगत न होगा कि काव्य की मौलिक चेतना का प्रादुर्भाव एक विशिष्ट जन्म नक्षत्र में होता है[2] और उस नक्षत्र में जन्म लेकर कवि या कलाकार अपनी सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है। भारतीय मनीषियों ने प्रतिभा का कारण इस जन्म के संस्कार के साथ ही पूर्व जन्म का संस्कार भी माना है। संस्कृत काव्यशास्त्र में स्वयं कुतक ने पूर्व जन्म के संस्कार और इस जन्म के संस्कार को ही प्रतिभा का मूल कारण बतलाया है[3]। इसके अतिरिक्त भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, भट्टतौत ने प्रतिभा को नये-नये अर्थों के उन्मेष में समर्थ होने वाली प्रज्ञा के रूप में माना है[4]। नये-नये अर्थों से उनका अभिप्राय मौलिकता ही है, यह पूर्णतया स्पष्ट है। पुनः काव्य-सृजन की प्रेरणा प्रतिभा के अभाव में कथमपि सम्भव नहीं। प्रतिभा अन्तःकरण का वह लोकोत्तर

१　वक्रोक्ति जीवितम—सं० एस० के० डे, अंग्रेजी भूमिका से, पृ० १३, द्वि० सं०।

२　सक्ति कवित्त बनाइवेकी, जिन जन्म-नक्षत्र में दीनीं विधातें। काव्य निर्णय
—आचार्य भिखारीदास, सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, द्वि० सं०, पृ० ६।

३　प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा,
प्रतिभा　काचिदेव　कविशक्ति।—वक्रोक्ति जीवितम् (प्रथमोन्मेष)
—सं० एस० के० डे, द्वि० सं०, पृ० ४९।

४.　प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी　प्रतिभा　मता
तदनु प्राणनाजीवद्वर्णना　निपुणः कविः।

०　　पृ० ३ पर उद्धत

आलोक है, जिसके कारण समस्त रचना मौलिकता के सौन्दर्य से जगमगा उठती है। भारतीय काव्यशास्त्रियों में रुद्रट की व्याख्या अधिक प्रांजल और सुबोध है। उन्होंने प्रतिभा को एक ऐसी शक्ति माना है, जिससे चित्त के समाहित होने पर अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से स्फुरित होता है और कमनीय पदों द्वारा वह अभिव्यक्त होता है।[1]

अंग्रेज आलोचक इमर्सन ने प्रतिभाशक्ति के अभाव में मौलिकता को स्वीकार नहीं किया। उनके विचार से यदि कवि प्रतिभाशाली है और उसमें मौलिक रचना की शक्ति है तो उसे अधिकार हैं कि वह दूसरों की रचना का उपयोग कर ले—'साहित्य में यह एक नियम-सा हो गया है कि यदि कवि यह दिखला सके कि उसमें मौलिक रचना की प्रतिभा है तो उसे अधिकार है कि वह और की रचनाओं को इच्छानुसार व्यवहार में लावे।'[2]

पाश्चात्य जगत के अन्य विद्वानों में कान्ट और कालरिज ने प्रतिभा को 'कल्पना' (इमेजिनेशन) के रूप में ग्रहण किया है।

(ग) मौलिकता विषयक पाश्चात्य दृष्टिकोण

पश्चिम के आलोचकों ने भी मौलिकतत्व की पर्याप्त विवेचना की है, यह उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों से स्पष्ट है। शास्त्रीयता एवं परम्परा का अनुगत श्री टी० एस० ईलियट ने मौलिकता को परम्परा-सापेक्ष माना है। उसकी दृष्टि में परम्परा से विच्छिन्न मौलिकता का मूल्य सर्वथा नगण्य है। उसने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' में दो तथ्यों की ओर स्पष्ट संकेत किया है—

१—परम्परा रिक्थ रूप में नहीं मिलती, इसे श्रम पूर्वक अर्जित करना पड़ता है।

२—इस परम्परा के मूल में एक ऐतिहासिक चेतना (हिस्टारिकल सेन्स) संग्रथित रहती है।

कोई भी कलाकार परम्परा की समग्र मान्यताओं को आत्मसात् कर लेने के पश्चात् ही उसके रूढ़ि एवं गलित अंश को हटाकर मौलिकता की नवीन कड़ी जोड़ सकेगा। यही कारण है कि ईलियट ने परम्परा को अधिक महत्व दिया है और उसे

---

१. भारतीय साहित्य शास्त्र—आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्र० सं०, पृ० ३४०।

२ देव और विहारी प० कृष्णविहारी मिश्र पृ० ८३ से उद्धत

एक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है।[1] परम्परा का अर्जन एकनिष्ठ साधना द्वारा ही सम्भव है और यही साधना एक ओर प्राचीनता के मोह और दूसरी ओर नवीनता की सजगता में उसे बाँध रखती है—भूत और वर्तमान के सन्तुलन को बनाये रखती है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र ने भी टी० एस० ईलियट की भाँति अपने पारम्परिक मोह को उन्मुक्त भाव से व्यक्त किया है—

"यद्यपि मौलिकता चिन्तना का सर्वाधिक स्पृहणीय गुण है, फिर भी विद्या के साधक को अन्य लोगों की भाँति मौलिकता के लोभ को संयत करने का प्रयत्न करना चाहिये, उसे कभी न भूलना चाहिये कि मौलिकता की सिद्धि परम्परा की श्रद्धापूर्ण स्वीकृत के द्वारा ही सम्भव है।"[2] जार्ज बर्नर्डशा ने परम्परा विहीन मौलि-लिकता को एक जन्तु विशेष की संज्ञा दी है।[3] जेम्स रसेल लावेल ने एक स्थल पर लिखा है कि जो कवि नितान्त मौलिक बनने की कल्पना करता है, उसकी रचना में सिवा विचित्रता के और कुछ न होगा।[4] पश्चिम में कवि के सौन्दर्य-बोध और उसकी काव्य-चेतना के धरातल का मूल्यांकन करने के लिये वहाँ की प्राचीन परम्पराओं का ज्ञान ऐतिहासिक आलोचना की अपेक्षा सौन्दर्यवादी समीक्षा का एक सिद्धान्त समझा जाता है। टी० एस० ईलियट महोदय ने कवि की मौलिक चेतना एवं उसकी सौन्दर्य-वादी दृष्टि के सम्यक् अनुशीलन के लिए इसको अधिक महत्व प्रदान किया है। उसकी दृष्टि में किसी भी कवि अथवा कलाकार का पूर्ण महत्व अपने आप में कुछ भी नहीं है, उसका महत्व, उसकी विशेषता पूर्व कवियों और कलाकारों की सापेक्षिकता में ही आंकी जा सकती है। आप निरपेक्षतः उसका मूल्यांकन नहीं कर सकते। उसके वैषम्य एवं साम्य के पूर्ण परीक्षण के लिये आपको उसे पूर्व कवियों के मध्य रखना

---

1. Tradition is a matter of much wider significance. It can not be inherited, and if you want it you must obtain it by great labour. It involves, in the first place, the historical sense, which may call nearly indespensable to any one who would continue to be a poet beyond his twenty fifth years;......

—T. S. Eliot's Selected Essays. p. 14.

२. हिन्दी अलंकार—प्राक्कथन, डा० नगेन्द्र, पृ० ६।

३. बिहारी का नया मूल्यांकन—डा० बच्चन सिंह, पृ० १६।

4. If a poet resolves to be original, it will end commonly in his being merely peculiar...... —James Russel Lowell

On Wordsworth

ही होगा। मैं इसे ऐतिहासिक ही नहीं, सौन्दर्यवादी समीक्षा के एक सिद्धान्त के रूप में मानता हूँ।"[1]

निष्कर्षत: पाश्चात्य साहित्य में मौलिकता का विवेचन प्राय: परम्परा के सन्दर्भ में किया गया है।

(घ) रीति साहित्य की मौलिकता के सम्बन्ध में हिन्दी समीक्षकों के विचार

हिन्दी के आधुनिक आलोचकों में सर्वप्रथम आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ही मिश्र बन्धुओं द्वारा निरूपित हिन्दी रीतिशास्त्र की मौलिकता को निराधार बतलाया। पर रीति काव्य के कलात्मक सौन्दर्य की मौलिकता को उन्होंने समस्त संस्कृत काव्य के लक्षण ग्रन्थों में बिखरे हुए उदाहरणों की तुलना में बहुत अधिक उत्तम माना।[2] शुक्ल जी की इस मान्यता को उनके पश्चात् आने वाले आलोचक आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और कृष्णशंकर शुक्ल ने दृढ़तापूर्वक अपनाया। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी हिन्दी काव्य शास्त्रीय मौलिकता को विशेष स्थान नहीं देते। उनके विचार से 'काव्य-निरूपण का सच्चा स्वरूप कुछ बिगड़ सा चला। हिन्दी के रस निरूपण वाले ग्रन्थों में रचयिताओं ने अपने ही उदाहरणों से उसकी पूर्ति की, उन्होंने यह नहीं समझा कि लक्षण ग्रन्थों के लिए आधारभूत पूर्ववर्ती लक्ष्य ग्रन्थ हुआ करते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण हिन्दी में तर्कबद्ध शैली चली ही नहीं और इस ओर नई बात ढूँढ़ निकालने या प्रस्तुत विषय का विवेचन करने की रुचि ही नहीं हुई। संस्कृत से ही पका-पकाया माल मिल जाने के कारण भी उन्होंने अपना कवित्व मात्र दिखलाने का प्रयत्न किया, कोई नया मार्ग खोजने की चेष्टा नहीं की'।[3] आचार्य मिश्र के इस कथन से दो मुख्य तथ्य हमारे समक्ष आते हैं—

(१) लक्षण ग्रन्थों के आधारभूत लक्ष्य ग्रन्थ होते हैं, जिनका हिन्दी रीति ग्रन्थों में पूर्ण अभाव है।

---

1. No poet, no artist of any art has his complete meaning alone His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists. you can not value him alone; you must set him for contrast and comparison among the dead. I mean this as a principle of aesthetic, not merely historical, criticism. —T. S. Eliot's Selected Essays. p. 15.
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २३६।
३ पचामृत प विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ५४

(२) हिन्दी में संस्कृत काव्यशास्त्र की भाँति तर्कबद्ध शैली का प्रचलन नहीं हुआ।

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के पश्चात् पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अपनी इसी प्रकार की धारणा 'केशव की काव्य कला' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार व्यक्त की है—"रीति के अनुसार ग्रन्थ बनाने वाले कवियों ने हिन्दी साहित्य का अध्ययन कर तथा उसकी प्रकृति को परख कर ग्रन्थ बनाना आरम्भ नहीं किया। वे संस्कृत के किसी आचार्य का ग्रन्थ अपने सामने रख लेते थे और उसका अनुवाद अथवा भावानुवाद प्रस्तुत कर देते थे। हिन्दी में जितने रीति के अनुसार रचना करने वाले हुए सब एक प्रकार से अनुवादक थे। उनके ग्रन्थ, उनकी स्वतन्त्र उद्भावना अथवा सूक्ष्म बुद्धि के फलस्वरूप न होते थे।[१] शुक्ल जी के इस गद्यांश से अधोलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं—

(१) रीति ग्रन्थों के रचयिताओं को हिन्दी की प्रकृति का ज्ञान नहीं था।

(२) वे संस्कृत के किसी काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ को लेकर उसका अनुवाद अथवा भावानुवाद कर देते थे।

(३) उनके ग्रन्थ स्वतन्त्र उद्भावना एवं सूक्ष्म बुद्धि के परिणाम न थे।

पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने उपर्युक्त अंशों में रीति ग्रन्थों के शास्त्रीय पक्ष की नवीन उद्भावना पर ही विचार किया है। रीति ग्रन्थों की कवित्वगत मौलिकता के सम्बन्ध में इसमें कुछ भी विचार नहीं किया गया, यह पूर्णतया स्पष्ट है।

ब्रजभाषाविद् श्री प्रभुदयाल मीतल ने काव्य शास्त्रीय विवेचना की चर्चा तो नहीं की, किन्तु नायिका भेद की संकुचित परिधि में प्राप्त होने वाली मौलिकता का उल्लेख अत्यंत निष्ठापूर्वक किया है। उनका यह विचार द्रष्टव्य है—"मेरी दृष्टि में नायिका भेद का महत्व विशेषतया उसके काव्य—सौन्दर्य के कारण है। इस दृष्टि से इस विषय पर विचार करने से ज्ञात होगा कि नायिका भेद पर कवियों ने जिन टकसाली मुक्तक छन्दों की रचना की है, उनमें काव्य कला के समस्त गुण विद्यमान हैं। उनके सरस कवित्व और काव्य-सौष्ठव की समता अन्यत्र मिलना कठिन है। संस्कृत साहित्य के कवि भी इस विषय में ब्रजभाषा कवियों से पीछे रह गये हैं। वास्तव में काव्य शास्त्र का यही एक ऐसा विषय है जिसके कथन में ब्रजभाषा के कलाकार अपने अग्रज संस्कृत कवियों को भी बहुत पीछे छोड़ गये हैं।"[२] मीतल जी के इस कथन से अधोलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

---

१. केशव की काव्य कला—पं० कृष्णशंकर शुक्ल, तृतीय संस्करण, पृ० १७२।

२. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद—श्री प्रभुदयाल मीतल प्राक्कथन द्वि० सं० पृ० ३

(१) नायिका भेद का महत्व उसके काव्यगत सौन्दर्य के कारण है।

(२) इन रचनाओं में काव्य-कला के समस्त गुण विद्यमान हैं।

(३) इस दिशा में ब्रजभाषा के कवि अपने अग्रज संस्कृत कवियों से भी आगे बढ़ गये हैं।

डा० नगेन्द्र, डा० सत्यदेव चौधरी ने भी काव्य शास्त्रीय मौलिकता की अपेक्षा ब्रजभाषा के काव्यगत सौन्दर्य की ही मौलिकता को स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र का एतद्विषयक दृष्टिकोण का सारांश इस प्रकार है—

(१) इन समीक्षक कवियों ने रीति-विवेचन में कोई गम्भीर मौलिक योग नहीं दिया।

(२) संस्कृत का रीति शास्त्र १८वीं शताब्दी तक इतना समृद्ध हो चुका था कि उसका विस्तार सम्भव न था।

(३) युग की रुचि गम्भीर न थी, अतः काव्य मीमांसा की अपेक्षा लोग रसिकला को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते थे।

(४) प्रौढ़ एवं काव्य शास्त्रीय विवेचन के उपयुक्त गद्य का अभाव था।

(५) उनके काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ इन्हीं कारणों से विवेचनात्मक होने के बजाय वर्णनात्मक हो गये हैं।[१]

डा० सत्यदेव चौधरी ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' में हिन्दी काव्य शास्त्रीय पाँच आचार्यों का बड़ा विशद अध्ययन प्रस्तुत किया। इन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र की तुलना में हिन्दी रीति काव्य के काव्य शास्त्रीय विवेचन का जो निष्कर्ष निकाला है, वह इस प्रकार है—

१—चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं[२] किया, फिर भी रीतिकाल के इन आचार्यों का महत्व नगण्य नहीं है।

२—इनके ग्रन्थ प्राचीन काव्य-शास्त्र और वर्तमान आलोचना-शास्त्र के बीच कड़ी है।

३—इन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करके लोगों में काव्यशास्त्रीय जिज्ञासा पैदा की।

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १६७, १६९।

२ हिन्दी रीति के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी पृ० ७५०

डा० सत्यदेव चौधरी के उपर्युक्त निष्कर्षों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि इन्होंने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के पोषक उन आचार्यों की तुलना में कवित्व की मौलिकता के साथ ही साथ हिन्दी की विशाल काव्यशास्त्रीय परम्परा का नियदेश में महत्व स्वीकार किया है। इसी क्रम में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और ग्रीब्ज महोदय के भी विचारों का उल्लेख कर देना असंगत न होगा। डा० हजारीप्रसाद जी की हिन्दी रीति काव्य विषयक मौलिकता के विचार उनके दो ग्रन्थों (१) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और (२) 'हिन्दी साहित्य उसका उद्‌भव और विकास' में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य की भूमिका में व्यक्त उनके विचारों का निष्कर्ष यों है—

१—नायिका भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सकता था, उतना चित्र निश्चय[1] ही विश्वसनीय है।

२—शास्त्रमत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्-भावना शक्ति के प्रति सावधान बना दिया।

३—शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लेने के कारण उनमें स्वाधीन चिन्ता के प्रति एक अवज्ञा भाव आ गया है।

अपने दूसरे ग्रन्थ में डा० द्विवेदी ने बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन तो नहीं किया है, लेकिन इस दिशा में उनके विचार महत्त्व के हैं—उनके विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है—

१—रीति ग्रन्थों में जिन संस्कृत के उपजीव्य ग्रन्थों का उल्लेख है, उनका अनुवाद ठीक ढंग से हुआ है।

२—कभी-कभी शृंगारी प्रसंगों में इन कवियों ने अधिक ब्योरेवार प्रसंगों का उत्थापन किया है।

३—वस्तुतः इन ग्रन्थकारों के ग्रन्थ न पूर्ण रूप से अनुवादित हैं और न मौलिक।

४—इन सब के बावजूद ये कवि पुराने कवियों की रस-रीति मन में रखकर कुछ नया कहने में संकोच नहीं करते थे।[2]

मिस्टर ग्रीब्ज महोदय ने बहुत पहले 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' के अपने एक अंग्रेजी लेख में हिन्दी रीति काव्य के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि इन रीति कवियों में संस्कृत ग्रन्थों से तथ्य ग्रहण करने की क्षमता का पूर्ण

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२५, (पाँचवाँ सं०)

२. हिन्दी साहित्य उसका उदभव और विकास

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वि० सं० पृ० १९९

अभाव था। इन्हीं कारणों से मौलिक सृजन की अपेक्षा संस्कृत अनुवाद के कार्यो मे इन्होने अपनी प्रतिभा को प्रायः नष्ट कर दिया।[1]

रीति काव्य के उक्त विद्वान समीक्षकों के विचारों के निष्कर्ष से यही प्रमाणित होता है कि इन रीति कवियों की काव्यशास्त्रीय मौलिकता प्रायः नगण्य है। इनकी प्रतिभा का सम्यक् स्फुरण शृंगार रस के अंतर्गत नायिका भेद में ही हुआ है। इस दिशा मे ये कलाकार अपने अग्रज संस्कृत कवियों को भी पीछे छोड़ गये हैं। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि रीति काव्य के शास्त्रीय विवेचन के लिए यदि संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों को सर्वत्र मूलाधार न बनाकर उनका मूल्यांकन हिन्दी काव्य शास्त्रीय विवेचन की प्रकृति को दृष्टि में रखकर किया जाय तो यह अधिक महत्वपूर्ण और उनकी मौलिक देन के स्वरूपांकन में अधिक सहायक सिद्ध हो सकेगा। दूसरे शब्दों में हिन्दी रीति आचार्यों ने सर्वत्र संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा का ही अन्धानुसरण नहीं किया, अपितु यथावश्यक संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में जहां कहीं जटिलता देखी उसे त्याग कर सरलीकरण की पद्धति अपनायी और जहाँ कहीं अपनी संक्षिप्तता के कारण संस्कृत के दुर्बोध एवं स्पष्ट लक्षणों का अनुभव किया, वहाँ विशदीकरण द्वारा इन्हे बोधगम्य बनाने का भी भरसक प्रयास किया। यही नहीं, जिन लक्षणों के नामकरण से वे सन्तुष्ट नहीं थे, उनके स्थान पर नामान्तर की भी उद्भावना की।

जहाँ तक रीति कवियों की कवित्वगत मौलिकता का सम्बन्ध है, अभी तक हिन्दी आलोचकों ने रीति परम्परा के सन्दर्भ में बिहारी और घनानन्द की ही मौलिकता का अधिक ऊर्जस्वित स्वरों में उल्लेख किया हैं। यद्यपि हिन्दी रीति काव्य के वे रसिक कलाकार जिन्हें अधिकांश आधुनिक काव्य के आलोचकों द्वारा बहुत सहानुभूति नहीं मिल सकी, कुछ नवीन कहने का दावा सदैव करते थे। हाँ, विषय की सीमा ओर शास्त्रीयता के कड़े अंकुश के कारण उनकी अन्तश्चेतना अधिक स्पन्दित नहीं हो पाती थी फलतः वह कुंठित हो जाती थी। पुनः इन्हें इतना अवकाश भी नहीं था कि ये सूर और तुलसी की भाँति जीवन की विराट्ता का चित्र एक विशाल फलक पर अंकित कर सकते; क्योंकि शास्त्रीय जटिलता एवं तद्विषयक गूढ़ एवं गम्भीर ऊहापोह में फंसे रहने के कारण वे अधिक खुलकर जीवन और जगत को नहीं देख पाते थे। फिर भी, अपनी लघु सीमा में आबद्ध रहकर भी शास्त्रीय निरूपण को नूतन ढंग से पुरस्सर करने का उनमें चाव नही था, ऐसा कथन औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इसकी पुष्टि

---

१. Frequently translation and adoptation from Sanskrit books rather than original production enlisted the energies of writers
—द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में संकलित रेवरेंड ग्रीव्ज के एक लेख से, पृ० २०६ सं० १९९०

रीति युग के प्रसिद्ध कलाकार देव कवि के साक्ष्यों के आधार पर सहज ही की जा सकती है। देव ने अपनी पूर्व परम्परा के आचार्य केशवदास के पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इन्होंने उनकी अगाध ज्ञान-राशि से लाभ भी उठाया है। किन्तु फिर भी वे सरस और 'अपूरब' (मौलिक) ग्रन्थ रचना के लिए पर्याप्त व्यग्र हैं—यह उनकी पंक्तियों से स्पष्ट है—

केशव आदि महाकवि बरनी सो बहु ग्रन्थ।
हौं हूँ बरनत ताहि अब सरस अपूरब पंथ।[1]

ऐसा लगता है कि देव की दृष्टि में केशव की 'सरसता' और 'अपूर्वता' में कुछ न्यूनता रह गयी है, जिसकी पूर्ति वे अपने इस ग्रन्थ में कर देना चाहते हैं। यही नहीं, एक ग्रन्थ के संक्षिप्त विषय को नवीन प्रकार (मौलिक ढंग) से वे विस्तारपूर्वक दूसरे ग्रन्थ में वर्णित करना चाहते हैं। इसी से देव ने अपने 'भाव विलास' में नायिका भेद निरूपण कर लेने के पश्चात् भी 'रस विलास' में उस विषय को नये ढंग से कहा। भले ही आज के कतिपय मान्य आलोचकों को देव द्वारा 'रस विलास' में वर्णित नायिका-भेद का यह आधार मान्य न हो—

"रस विलास रचि ग्रन्थ सो कहत दूसरी बार।
वही नायिका भेद सब सुनहु नवीन प्रकार॥[2]

देव के इस कथन से पूर्णतया स्पष्ट है कि प्राचीन एवं पिष्टपेषित विषयों को प्रतिभा के बल पर नवीन भंगिमा से दीप्त किया जा सकता है। कदाचित् कुन्तक ने इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर कहा था—जो वस्तुओं में अन्तर्हित सूक्ष्म एवं सुन्दर तत्व को अपनी वाणी से खींच लाता है तथा जो वाणी द्वारा ही उस विषय की बाह्यतः अभिव्यक्ति करता है, उन दोनों कवियों को नमस्कार करता हूँ।"[3]

---

१. रस विलास—देव, सं० बाबू रामकृष्ण वर्मा, प्र० सं०, सन् १९००, पृ० ४६ छन्द सं० ३८।

२. वही, छ० सं० ४०।

३. लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्म सुभगं तत्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः।
द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देवरां तं पुनः
यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः॥१०७॥
वक्रोक्ति जीवितम द्वितीयो मेष म एस० व० ड पृ० १ ६

द्वितीय अध्याय
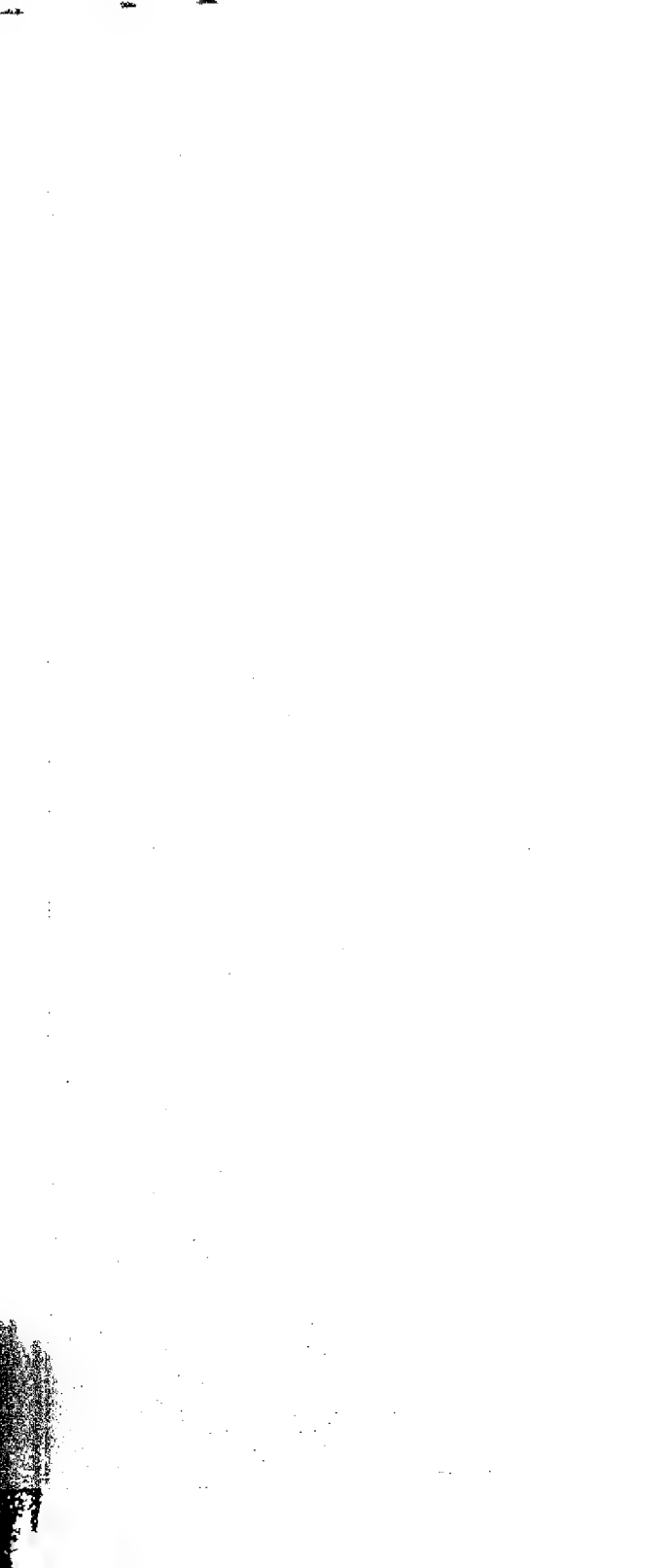
शास्त्रीय विवेचन

शास्त्रीय विवेचन

१—रीति काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

डा० नगेन्द्र ने समस्त रीति साहित्य को प्रवृत्ति की दृष्टि से दो स्थूल भागो में विभाजित किया है—(१) रीति निरूपण अथवा आचार्यत्व, (२) श्रृंगारिकता ।[१] किन्तु इस विभाजन के आधार पर हम रीति काव्य के प्रकृत स्वरूप का मूल्यांकन एव विवेचन प्राय: नहीं कर सकेंगे । कारण यह है कि संस्कृत की गम्भीर शास्त्रीयता के कूलों-उपकूलों में बँधी रहने पर भी रीति युग की श्रृंगारिक चेतना की यह धारा अपने अलंकरण और शिल्पगत लावण्य से पूरे दो सौ वर्षों तक—सं० १७०० से १६०० तक—किस प्रकार जगमगाती रही, इस तथ्य से रीति युग का सजग अध्येता प्राय: पूर्ण परिचित है । इस दृष्टि से यदि रीति निरूपण और श्रृंगारिकता के साथ रीति काव्य की एक विशिष्ट एवं प्रमुख प्रवृत्ति कला और अलंकरण को भी उक्त विभाजन की सीमा में और जोड़ दिया जाय तो रीति काव्य के शिल्पगत सौन्दर्य के मूल्यांकन में वह कठिनाई न होगी जो इसके अभाव में सहज सम्भाव्य है ।

यों रीति काव्य का विश्लेषण करते समय भले ही हम किसी सीमा तक शास्त्रीयता का बन्धन हटा लें, पर श्रृंगारिकता और शिल्पगत सौन्दर्य (टेक्निकल ब्युटी) रीति काव्य के ऐसे मूलभूत उपादान हैं, जिन्हें पृथक् कर देने पर हम उसकी यथार्थ कल्पना और उसके स्वरूप का ठीक-ठीक भावन प्राय: नहीं कर सकते । कला और अलंकरण के आधार पर ही विद्यापति और सूर की भक्ति मूलक श्रृंगारिक रचनाएँ रीति काल की अलंकृत एवं कलात्मक सौष्ठव से संवलित रचनाओं से सहज ही अलग की जा सकती हैं । यही नहीं, कला तत्व और अलंकरण की प्रधानता के ही कारण रीति युग को मिश्र बन्धुओं और डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने क्रमश. 'अलंकृत काल' और 'काव्य कला काल' की अभिधा दी है। अत: स्पष्ट है कि अलंकार और कला रीति काव्य की शिराओं में प्रवाहित होने वाले उस रक्त के समान है, जिसके अभाव में हिन्दी का रीति काव्य सर्वथा निस्पंद, निष्प्राण एवं निष्क्रिय जैसा लगेगा, क्योंकि उसे सजीव बनाने वाले मूल उपकरणों की खोज हमें सजावट और अलंकरण में ही करनी होगी । हमारे इस कथन का समर्थन हिन्दी रीति काव्य के

---

१ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र पृ० १४७

प्रसिद्ध आलोचक डा० भगीरथ मिश्र द्वारा भी हो जाता है। डा० मिश्र ने रीति काव्य की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते समय अलंकृत काव्य को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार "दूसरी प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखने की है जो प्रथम प्रवृत्ति का परिणाम है। आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए उक्ति चमत्कार एवं शब्दों की बाजीगरी भी खूब प्रदर्शित की गई। दूसरे शब्दों में वह अलंकार प्रधान काव्य है। कवि अपने काव्य को सजाने और संवारने में पूर्णतः सचेत है और अधिकांश में कवि का अलंकार प्रयोग सहज नहीं[1]।"

(क) रीति निरूपण

यद्यपि हिन्दी के समस्त रीति ग्रन्थ-प्रणेता आचार्य की अपेक्षा कवि कोटि में ही रखे जा सकते हैं, फिर भी संस्कृत की गम्भीर शास्त्रीय विवेचना से ये अनभिज्ञ थे, ऐसा कहना उनके प्रति अधिक न्यायसंगत न होगा। सत्य बात तो यह है कि उनका लक्ष्य लक्षण ग्रन्थों की अपेक्षा लक्ष्य ग्रन्थों की रचना करना था और इसमें ये निस्सन्देह पर्याप्त सफल हुए हैं, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। यह सत्य है कि ये कविगण शास्त्रीय निरूपण के झमेले में पड़ना अच्छा नहीं समझते थे। किन्तु शास्त्रीय ग्रन्थियों को समझने में इनकी बुद्धि सर्वथा अपरिपक्व थी, ऐसा कथन मात्र भ्रमोत्पादक है। वास्तव में रीति काल तक आते-आते संस्कृत काव्य शास्त्र की मौलिक विवेचना का युग समाप्त हो चुका था; अब केवल सम्पादन और पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रों का स्पष्टीकरण ही अवशेष रह गया था, क्योंकि आचार्य मम्मट के पश्चात् मूल सैद्धान्तिक विवेचना का कार्य प्रायः अवरुद्ध हो चुका था। मम्मट संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा के एक समन्वयकारी आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। उनके जैसा स्वतन्त्र विवेचन और मौलिक उद्भावना पुनः देखने में नहीं आई। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी के ये आचार्य नूतन उद्भावना का स्वरूप किस रूप में और किस सीमा तक प्रस्तुत कर सकते थे, इस तथ्य को काव्य शास्त्रीय परम्परा की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। आज काव्य शास्त्र की सैद्धान्तिक विवेचना की जैसी श्लाघा की जाती है, वह किसी सीमा तक सत्य है। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत जिन रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदायों की स्थापना की गयी, उनके सम्बन्ध में संस्कृत आलोचकों द्वारा प्रस्तुत विवेचन और सिद्धान्त प्रतिपादन विवाद रहित कभी नहीं रहा। उसमें भी खण्डन-मण्डन की नानाविध प्रणालियों के होते हुए भी मतैक्य स्थापित न हो सका और

---

१ हिन्दी रीति साहित्य डा० भगीरथ मिश्र पृ० १३१ १३२

अनेकशः दुरूह और गम्भीर स्थल विवादैषणा के निमित्त बच ही गये। फिर ऐसी दशा में विचारे हिन्दी आचार्यों से क्या आशा की जा सकती है, जिन्हें काव्य शास्त्रीय विवेचन के लिए मात्र पद्य का ही सहारा रह गया था और जिन्हें संस्कृत जैसा प्रौढ़ एव परिष्कृत गद्य भी प्राप्त नहीं था। अतः हमारी दृष्टि में संस्कृत की गम्भीर एव गूढ़ शास्त्रीयता को गद्य में ढाल देना ही उनके लिए एक जटिल कार्य था, क्योंकि जिन सैद्धान्तिक तत्वों का विश्लेषण कभी-कभी गद्य में भी सम्भव नहीं हो पाता, उन्हे पद्यबद्ध करना अनुपयुक्त और अस्वभाविक ही नहीं, एक भारी एवं अत्यधिक साहस की बात भी कही जा सकती है।

(ख) रीति ग्रन्थ

सुविधानुसार समस्त रीति ग्रन्थों को तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सर्वाङ्ग या विविधांग निरूपक ग्रन्थ।

(२) रस और नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ।

(३) अलंकार निरूपक ग्रन्थ।

उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त एक चौथे वर्ग की भी डा० नगेन्द्र ने चर्चा की है। उनके अनुसार चौथा वर्ग उन कवियों का है, जिन्होंने आचार्य क्षेमेन्द्र के आधार पर कवि शिक्षा की पुस्तकें लिखीं। हिन्दी में आचार्य केशवदास की 'कवि प्रिया' इस वर्ग के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में है। हिन्दी में कवि शिक्षा पर अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये, इस कारण कवि शिक्षा की यह परम्परा अधिक विकसित न हो सकी।

हिन्दी रीति काव्य की सुदीर्घ एवं विशाल परम्परा के अन्तर्गत लिखे जाने वाले ग्रन्थ अधिकांशतः रस पर विशेषतया शृंगाररसान्तर्गत नायिका भेद पर उपलब्ध होते हैं। उसके पश्चात् जिन ग्रन्थों की बहुलता है, वे हैं अलंकार निरूपक ग्रन्थ। सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थों का अधिक अभाव है। पूरे रीति काल में आपको दो-चार ही ऐसे आचार्य मिलेंगे, जिन्हें सर्वाङ्ग निरूपक की कोटि में रखा जा सके और जिनकी विवेचना मौलिकता की कोटि में आ सके। सर्वांग निरूपक ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इनमें भी शृंगाररसान्तर्गत नायक-नायिका भेद, शृंगारेतर रस और अलंकारों का ही विशेष निरूपण हुआ है। ध्वनि का विवेचन बहुत कम हुआ है और रीति का विचार अत्यल्प हुआ है। वक्रोक्ति और औचित्य पर सिद्धान्ततः एकदम विचार नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में रीति साहित्य के अधिकारी विद्वान् आचार्य

f प्रसाद मिश्र के विचार इस प्रकार हैं न कवियो ने सस्कृत के

साहित्यशास्त्र का उतना ही अंश गृहीत किया, जिसकी तत्कालीन हिन्दी साहित्य के लिए विशेष आवश्यकता थी और जिसका विस्तार करना काव्य पक्ष के लिए विशेष प्रयोजनीय था, जैसे उन्होंने वक्रोक्ति और औचित्य का विचार एकदम नहीं किया रीति का विचार बहुत थोड़ा किया। ध्वनि का विचार उन्होंने उतना ही किया जितना अपेक्षित था। उसके शास्त्रीय विवाद में लोग नहीं फँसे।"[१] वक्रोक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन तो नहीं हुआ, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वक्रोक्ति विधान घनानन्द की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में मिलेगा। इसी प्रकार कुछ लोगों ने ध्वनि को आधार बनाकर बिहारी की रचनाओं की अनुसन्धानपरक विवेचना की है।[२] सैद्धान्तिक दृष्टि से ध्वनि का विवेचन करने वाले आचार्य बहुत थोड़े हैं। अभी तक ध्वनि विवेचकों में जिनकी चर्चा की जाती है, उनमें आचार्य चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, आचार्य देव, आचार्य भिखारीदास, कुमारमणि, आचार्य श्रीपति, सोमनाथ, प्रताप साहि, कविवर गुलाब और लछिराम आदि मुख्य हैं। जहाँ तक रीति सिद्धान्त की बात है, उसे हिन्दी में अधिक लोकप्रियता नहीं मिल सकी,[३] क्योंकि रस सिद्धान्त-विशेषकर शृंगारवाद—के समक्ष वह ठहर नहीं सका। फिर भी सर्वांग निरूपक आचार्यों ने काव्य शास्त्र के अन्यान्य अंगों की चर्चा करते समय इस सिद्धान्त की थोड़ी बहुत विवेचना अवश्य की है। रीति सिद्धान्त का विश्लेषण जिन आचार्यों ने किया है उनमें आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी, आचार्य कुलपति मिश्र, आचार्य देव, आचार्य भिखारीदास और जगत सिंह प्रमुख हैं।

२—सर्वांग या विविधांग निरूपक आचार्य

(क) काव्यांग, काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु

रीति परम्परा के पूर्व सर्वांग निरूपक आचार्यों में आचार्य केशवदास का नाम अग्रगण्य है, किन्तु उनके सर्वांग निरूपक ग्रन्थ 'कवि प्रिया' का अनुकरण रीति परम्परा के आचार्यों द्वारा किसी भी रूप में नहीं किया जा सका। वस्तुतः विविधांग निरूपण का विशद प्रयास रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु' नामक ग्रन्थ से प्रारम्भ हुआ। अतः विविधांग निरूपक आचार्यों में हम सर्वप्रथम चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु' ग्रन्थ से ही मौलिक तथ्यों का विवेचन करेंगे।

---

१. आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा प्राप्त व्यक्तिगत पत्र से।
२. मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी—डा० रामसागर त्रिपाठी।
३ भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका—डा० नगेन्द्र पृ० १३३

१—चिन्तामणि

चिन्तामणि कृत 'कविकुल कल्पतरु' का मुद्रण सन् १८७५ ई० में मुन्शी महेश प्रसाद द्वारा सम्पादित होकर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ के पाषाण यन्त्रालय में हुआ था। सम्प्रति यह मुद्रित प्रति भी दुर्लभ हो गयी और कुछ ही पुराने पुस्तकालयों में उपलब्ध होती है। इसकी एक प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में मौजूद है। चिन्तामणि का दूसरा काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ 'शृंगार मंजरी' भी डा० भगीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। 'शृंगार मंजरी' की रचना—'कविकुल कल्पतरु' के पूर्व हुई होगी, क्योंकि आचार्य चिन्तामणि ने 'कविकुल कल्पतरु' में कई स्थलों पर 'शृंगार मंजरी' का उल्लेख किया है।[1]

आचार्य चिन्तामणि से पूर्व आचार्य केशवदास का उल्लेख किया जाता है, किन्तु आचार्य केशवदास ने अपनी 'कवि प्रिया' में काव्य के शास्त्रीय लक्षण का कहीं भी संकेत नहीं किया है, केवल एक पंक्ति में काव्य के दोष रहित होने के लक्षण की ओर सामान्य दृष्टि से विचार किया है।[2] अतएव हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य चिन्तामणि ने ही काव्यांग विवेचन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य चिन्तामणि ने काव्य लक्षण का निरूपण इस प्रकार किया है—

सगुनालंकार सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित्त कहत विबुध सब कोइ।[3]

आचार्य चिन्तामणि का यह काव्य लक्षण आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' से बहुत कुछ साम्य रखते हुए भी उससे पृथक् है। आचार्य मम्मट ने काव्य लक्षण का निर्धारण करते हुए लिखा है—

तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।[4]

इस काव्य लक्षण के द्वारा आचार्य मम्मट ने काव्य को दोष रहित शब्दार्थ सहित एवं सगुण तो माना लेकिन 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा काव्य में अलंकार की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं किया। आचार्य चिन्तामणि ने काव्य में अलंकारों को वांछित महत्व प्रदान किया। यह प्रभाव विद्यानाथ कृत 'प्रताप रुद्र यशोभूषण' का

---

१. 'कविकुल कल्पतरु'—आचार्य चिन्तामणि, छठा प्रकरण, पृ० १८५-१८७।
२. 'राजत रंच न दोष युत कविता बनिता मित्त'—'कवि प्रिया' आचार्य केशवदास ३।५।
३. कविकुल कल्पतरु, छं० सं०, पृष्ठ ३।
४ काव्य प्रकाश हरिमंगल मिश्र पृ० १६ द्वि० सं०

प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने भी अलंकारों की अनिवार्यता को स्वीकार किया है—

गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोष वर्जितौ ।[1]

इस दृष्टि से आचार्य मम्मट का अनुसरण करते हुए भी अपनी स्वतन्त्र मान्यताओं के कारण अलंकारों को अनिवार्य महत्व देना चिन्तामणि की स्वचिन्तना और मौलिक विवेचना का ही परिणाम कहा जा सकता है ।

'कविकुल कल्पतरु' में एक स्थल पर आचार्य चिन्तामणि ने काव्य को पुरुष रूपक के द्वारा प्रतिपादित किया है । उनका यह रूपक विद्यानाथ कृत प्रताप रुद्र यशोभूषण से बहुत मेल खाते हुए भी उससे पर्याप्त भिन्न है, क्योंकि इस रूपक के अन्तर्गत विद्यानाथ ने 'व्यंग्य तत्व' को काव्य का जीवित माना है[2] और आचार्य चिन्तामणि ने 'जीवित रस जिय जानि'[3] के द्वारा रस को काव्य का जीवित स्वीकार किया है । वास्तव में रस के महत्व को स्वीकार करते हुए भी आचार्य चिन्तामणि न न तो विद्यानाथ का अनुसरण किया और न 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के प्रतिपादक विश्वनाथ का । उन्होंने ध्वनिवादियों की परम्परा का पालन करते हुए 'रस' को 'रस ध्वनि' के रूप में स्वीकार किया है । यही उनका मौलिक विवेचन कहा जा सकता है । काव्य प्रयोजन की दृष्टि से आचार्य चिन्तामणि ने विशेष विचार नहीं किया । केवल आनन्द प्राप्ति को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन स्वीकार किया ।

'कविकुल कल्पतरु' में कहीं भी काव्य हेतु की चर्चा नहीं की गयी ।

२—*कुलपति मिश्र*

आचार्य चिन्तामणि के पश्चात् जिन सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों की गणना की जाती है, उनमें आचार्य कुलपति मिश्र का स्थान बहुत महत्व का है । कुलपति मिश्र के सम्बन्ध में मिश्र बन्धु विनोद, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास और डा० भगीरथ मिश्र के हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास में पर्याप्त विवेचना की गयी है । इधर डा० सत्यदेव चौधरी ने भी अपने शोध प्रबन्ध 'रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' के अन्तर्गत उन पर विशेष विचार किया है ।

कुलपति मिश्र के आचार्यत्व का प्रतिपादक मुख्य ग्रन्थ 'रस रहस्य' माना जाता है । डा० भगीरथ मिश्र ने 'गुण रस रहस्य' नामक दूसरे काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ

---

१. प्रताप रुद्र यशोभूषण २।१ ।
२. प्रताप रुद्र यशोभूषण २।२५ ।
३ कविकुल कल्पतरु पृ० २ छं० सं० १

की भी चर्चा अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' में की है।[1] 'रस रहस्य' ग्रन्थ की रचना का समय सं० १७२३ माना जाता है। इस ग्रन्थ का मुद्रण प्रयाग के इण्डियन प्रेस से संवत् १९५४ में हुआ था।

यों तो 'रस रहस्य' का मुख्य आधार मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है,[2] लेकिन यथा-प्रसंग 'साहित्य दर्पण' की भी चर्चा की गयी है। सर्वाङ्ग निरूपण की जैसी विशद चेष्टा इस ग्रन्थ में की गयी है, वैसी आचार्य भिखारीदास को छोड़कर पूरे रीतिकाल में कम देखने को मिलती है। इसकी सबसे बढ़कर विशेषता यह है कि इसमें अनेक संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख करने के अलावा स्वयं कुलपति मिश्र ने अपने विचारों का भी उपयोग बीच-बीच की 'वचनिका' द्वारा किया है। इस वचनिका से कवि की आलोचनात्मक दृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है। काव्य शास्त्रीय निरूपण में गद्य द्वारा विचारों का स्पष्टीकरण रीतिकाल के बहुत कम आचार्यों ने किया है। केवल आचार्य चिन्तामणि, कुमारमणि शास्त्री, रसिक गोविन्द* और ग्वाल कवि जैसे थोड़े से आचार्यों में ही आलोचनात्मक दृष्टि का यत्किंचित् उन्मेष हो पाया है, अन्यथा हिन्दी रीति काव्य का समस्त शास्त्रीय विवेचन प्रायः पद्य शैली द्वारा ही प्रस्तुत किया गया। यद्यपि कुलपति मिश्र के इस ग्रन्थ का नाम तो 'रस रहस्य' है, लेकिन इसमें रस के अतिरिक्त अन्य काव्यांगों की भी चर्चा की गयी है।

आचार्य चिन्तामणि की तुलना में आचार्य कुलपति मिश्र का 'काव्यांग निरूपण' अधिक मौलिक एवं तथ्य गर्भित है। आचार्य कुलपति मिश्र ने 'अथ काव्य प्रकाश को लक्षण' शीर्षक द्वारा यह स्पष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है कि यह परिभाषा आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मम्मट कृत ,काव्य प्रकाश' के इस काव्य लक्षण से आचार्य कुलपति मिश्र सहमत हैं ? मेरे विचार से 'कहुं अल्पालंकार' की उद्भावना आचार्य कुलपति की अपनी है, क्योंकि 'अदोषो' और 'सगुणों' का अनुवाद 'दोषरहित अरु गुण सहित' तो ठीक जँचता है, लेकिन क्या मम्मट के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का 'कहुं अल्पालंकार' शब्दावली द्वारा ठीक अनुवाद हो पाया है ? वास्तव में इस पर आचार्य कुलपति मिश्र ने मम्मट के 'अनलंकृती

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ० ९१
२. मम्मट मत कोसारु सब बरनत भाषा भाखि। 'रस रहस्य', पृ० २, छं० स० १६, संवत् १९५४ में प्रयाग के इण्डियन प्रेस में मुद्रित।
* रसिक गोविन्द कृत 'रसिक गोविन्दानन्द घन' अत्यन्त प्रयास करने पर भी प्राप्त न हो सका केवल 'दूषणोल्लास' नामक ग्रन्थ, जो अभी प्रकाशित हुआ है देखने को मिला है

पुनः क्वापि' के प्रति अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त की है और 'कहु अलालकार' द्वारा काव्य में अलंकारों के यत्किंचित महत्व को स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य कुलपति मम्मट के 'अदोषों' को स्वीकार करते हुए भी विश्वनाथ के उस लक्षण को भी स्वीकार करते हैं जिसमें कहा गया है कि सर्वथा दोष रहित काव्य की सम्भावना कथमपि नहीं की जा सकती।[1] कुलपति ने विश्वनाथ के इस लक्षण को अपने शब्दों में यों कहा है—

> हैं सब गुण भूषण तहाँ, औ सब दूषण नाँहि।
> ऐसो कवित्त न जगत में, जो वा लच्छन माँहि॥[2]

मम्मट के सिद्धान्तों का खण्डन करने के पश्चात् पं० विश्वनाथ के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया गया है। कुलपति ने विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सिद्धान्त को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि यदि अंगीभूत रस को ही काव्य माना जाय तो रसवदादि अलंकारों को—जहाँ रस अंग बन जाता है—काव्य का विषय न माना जा सकेगा और रस को ही काव्य की आत्मा मानने पर इसका परिणाम यह होगा कि वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि को- जहाँ रस का पूर्ण अभाव रहता है—काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकेगी। प्रतीत होता है कि कुलपति को काव्य में रस की एकान्त अवस्थिति का विरोध पण्डितराज जगन्नाथ के उस आक्षेप के कारण करना पड़ा जिसमें रस के अभाव में भी अलंकार और वस्तु ध्वनि के अन्तर्गत उन्होंने काव्यगत चमत्कार को अंगीकार किया है।[3] इन्हीं कारणों से आचार्य कुलपति ने पं० विश्वनाथ के उक्त काव्य लक्षण को नहीं माना और इनके विरोध में अपने कथन की विवेचना भी की।[4] इसके अनन्तर आचार्य कुलपति ने 'अथ काव्य लक्षण' शीर्षक के अन्तर्गत काव्य का लक्षण अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है।

हिन्दी रीति ग्रन्थकारों में आचार्य कुलपति मिश्र ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य प्रयोजनों की बड़ी विशद विवेचना की है। इनके पूर्व आचार्य केशव और आचार्य चिन्तामणि ने केवल 'काव्य प्रयोजन' के अन्तर्गत 'आनन्द प्राप्ति' का ही उल्लेख किया है, लेकिन कुलपति ने इस प्रयोजन का वर्णन इस प्रकार किया है—

> जस सम्पति, आनन्द अति दुरतिन डारै खोय।
> होत कवित चतुरई, जगत राम बस होय॥[5]

---

१. सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात—साहित्य दर्पण विमला टीका, च० सं० पृ० १८
२. रस रहस्य, पृ० ३, छं० सं० २२।
३. 'रस गंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ, पृ० ९, प्र० अ०।
४. रस रहस्य—कुलपति मिश्र, पृ० ३, ४ छं० सं० २८—३०।
५. रस रहस्य पृ० ४ छं० सं० ३२

इस दोहे का मूलाधार आचार्य मम्मट का एक श्लोक है।[1] आचार्य कुलपति मिश्र ने अपने उक्त छन्द में मम्मट कृत श्लोक के आधार को ग्रहण करते हुए भी 'कान्ता सम्मित उपदेश' को स्थान नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य में 'उपदेश प्रवणता' की प्रवृत्ति से अधिक सहमत नहीं हैं, अतः परम्परागत इस काव्य शास्त्रीय लक्षण को ठीक उसी रूप में ग्रहण करना उचित नहीं समझा। 'कान्ता सम्मित उपदेश' की जगह उन्होंने 'जगत राम बस होय' तत्व को अधिक महत्व दिया है। 'जगत राम बश' से कदाचित् उनका यह आशय था कि काव्य द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति सहज ही हो सकती है। काव्य को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा भी गया है। डा० भगीरथ मिश्र ने दतियाराज पुस्तकालय में इण्डियन प्रेस की जिस मुद्रित प्रति को देखा है, उसमें 'राम बस' की जगह 'राग बस' पाठ है। अतः डा० सत्यदेव चौधरी के अनुसार डा० मिश्र का ही पाठ औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु प्रश्न यह है कि 'रस रहस्य' का अद्यावधि एक ही संस्करण हुआ है। वह संस्करण सं० १९५४ में मुद्रित इण्डियन प्रेस का ही है। अतएव यहाँ दो पाठों की सम्भावना के लिए कुछ भी स्थान नहीं है।

काव्य हेतु के सम्बन्ध में कुलपति मिश्र ने अपनी धारणा यों व्यक्त की है—

शब्द अर्थ जिनतेँ बनैं नीकी भाँति कवित्त।
सुधि ब्यावन समरथ्य तिन कारण कवि को चित्त॥[2]

इसकी टीका में वे लिखते हैं—"वैसे चित्त का कारण कहीं शक्ति, कहीं वित्पत्ति, कही अभ्यास, कहीं तीनों जानिये :"

आचार्य कुलपति मिश्र की यह टीका अधिक स्पष्ट नहीं है। इसमें मौलिक विवेचना का सर्वथा अभाव है। क्योंकि उन्होंने परम्परागत तीनों कारणों—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास का उल्लेख तो उक्त टीका अंश में किया है, लेकिन उक्त छन्द के द्वारा इन तथ्यों पर सम्यक् प्रकाश नहीं पड़ता। इधर डा० सत्यदेव चौधरी ने 'सुधि ब्यावन समर्थ चित्त' का अर्थ 'संस्कार सम्पन्न चित्त' किया है और संस्कृत काव्य शास्त्री कुन्तक के अनुसार प्रतिभा के हेतु को पूर्व जन्म का संस्कार सम्पन्न चित्त माना है।

३—देव

कुलपति मिश्र के पश्चात् रीतिकाल के जिन प्रमुख आचार्यों का उल्लेख होता

---

१. काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मट, टीकाकार हरिमंगल मिश्र, प्रथम उल्लास, पृ० १८
२ रस रहस्य—कुलपति मिश्र पृ० ४ छ० स० ३३

है, उनमें आचार्य देव का स्थान सर्वथा अप्रतिम है। काव्य के सर्वाङ्ग विवेचन में आचार्य देव की प्रतिभा की सराहना रीति काव्य के उन आचार्यों ने भी की है, जो हिन्दी काव्य शास्त्र की मौलिक विवेचना को अधिक महत्व नहीं देते। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने देव के कवित्व की मौलिकता तो कियदंश में स्वीकार की है, लेकिन उनके आचार्यत्व की अधिक सराहना करने के पक्ष में वे नहीं हैं। इसके सर्वथा विपरीत मिश्र बन्धुओं ने देव को रीतिकाल का प्रमुख आचार्य माना है और काव्य शास्त्र के क्षेत्र में उनकी कई महत्वपूर्ण स्थापनाओं की भूरिशः श्लाघा भी की है। यही नहीं, उन्होंने देव की आचार्यत्व विषयक मौलिकता पर सन्देह करने वाले कतिपय आलोचकों की स्पष्ट शब्दों में आलोचना भी की है।[1]

देव के सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थों में 'शब्द रसायन' का स्थान अधिक महत्व का है। डा० नगेन्द्र ने इसे देव के सबसे प्रौढ़ रीति ग्रन्थों में माना है।[2] इनके अनुसार देव के अन्य रीति ग्रन्थों में प्रायः उनके कवि रूप ही का दर्शन होता है, लेकिन शब्द रसायन में देव के प्रौढ़ आचार्यत्व का भी परिचय मिलता है। 'शब्द रसायन' प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां हमें देखने को मिली हैं। एक प्रति काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के सौजन्य से मिली थी, दूसरी प्रति स्व० पं० कृष्णबिहारी मिश्र के सुपुत्र स्व० डा बृजकिशोर मिश्र की कृपा से प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य हस्तलिखित पोथियों का उल्लेख डा० जानकीनाथ सिंह 'मनोज' और देव मर्मज्ञ डा० नगेन्द्र ने किया है।

'शब्द रसायन' में देव ने काव्य स्वरूप का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ।
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ।[3]

इस छन्द में देव ने काव्य के पूर्णतम स्वरूप की अभिव्यक्ति की है और इसे ही समर्थ काव्य की संज्ञा दी है। इसमें मुख्यतया काव्य स्वरूप के विधायक तत्वों का समावेश बहुत कुशलतापूर्वक किया गया है। काव्य के मूल उपादानों में भाव, भूषण (अलंकार)

---

१. यह महाराज अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त एक चौथी शक्ति तात्पर्य भी मानते हैं। एकआध समालोचक लोग कहते हैं कि जब संस्कृत के आचार्यों ने तात्पर्य का वर्णन किया है तब इसमें देव की मुख्यता क्या है, उन्हें जानना चाहिए कि हम हिन्दी के विषय में कथन करते हैं। हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु, पृ० २८४, छठा संस्करण।

२. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० ५६।

३. शब्द रसायन—देव कवि पृ० २ छं० सं० १०।

सरस (रस) छन्द आदि की गणना की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि देव ने इसमें अपने भाव एवं कला दोनों पक्षों का समर्थन बहुत दृढ़तापूर्वक किया है। इसमें केवल 'शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ' के द्वारा 'शब्दार्थौं सहितौ काव्यम्' का ही समर्थन नहीं किया गया है, 'वरन् वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' के कर्ता विश्वनाथ तथा भूषण (अलंकारों) के महत्व को स्वीकार करने वाले दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों का भी समर्थन हुआ है। काव्य स्वरूप की यह मीमांसा देव की अपनी है। यह सत्य है कि देव पूर्ववर्ती रसवादी परम्परा से प्रभावित हैं, लेकिन अलंकारों के चमत्कार से रहित रचना देव में आपको बहुत कम मिलेगी। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग के पोषक तत्वों की उपेक्षा कदाचित् देव जैसे मान्य आचार्य एवं प्रतिभा सम्पन्न कवि को मान्य भी नहीं हो सकती थी। छन्द से उनकी संगीतात्मकता, भाव एव रस से उनकी अतिशय रागात्मकता और भूषण (अलंकार) से उनकी अलंकरण प्रियता एवं कलात्मकता का सहज स्वरूप स्वतः व्यक्त हो जाता है।

काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में देव का दृष्टिकोण अधिक सुग्राह्य है। वे काव्य को अर्थोपलब्धि का साधन मानने वाले आचार्यों में न थे। देव के वैराग्य विषयक छन्द उनकी इस धारणा को अधिक पुष्ट करते हैं। जीवन भर शृंगार रस का राग अलापने वाले इस कबि ने 'बानी पुनीत ज्यों देव धुनी' पर ही अपना विश्वास प्रकट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे गोस्वामी तुलसीदास के 'सुरसरि सम सब कर हित होई' जैसे काव्य-प्रयोजन के पूर्ण समर्थक थे। पूरे रीतिकाल में काव्य प्रयोजन विषयक ऐसी विशाल धारणा अन्यत्र नहीं मिलेगी। शब्द रसायन में काव्य प्रयोजन का देव ने स्पष्ट संकेत किया है।[1] देव की दृष्टि में काव्य-रचना का प्रयोजन यशोपलब्धि एव हरि रस की प्राप्ति है। भौतिक आनन्द का दृष्टिकोण यहाँ सर्वथा गौण है। देव के विचार से काव्य का प्रकृत प्रयोजन 'हरि जस रस की रसिकता' है और यही समस्त रसों का मूल तत्व है। देव का यह दृष्टिकोण काव्य के 'ब्रह्मानन्द सहोदर' के अधिक निकट प्रतीत होता है।

काव्य हेतु के सम्बन्ध में देव ने कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया हैं। अतः इस सम्बन्ध में उनकी मौलिक उद्भावना का प्रश्न प्रायः गौण है। केवल उन्होंने गुरु की कृपा के द्वारा हृदय मन्दिर में अनुभव दीपक के प्रकाशित होने की चर्चा की है। यह अनुभव दीपक देव के अनुसार काव्य-चेतना का पर्याय ही हो सकता है। ऐसा अनुमान है कि अनुभव दीपक या काव्य-चेतना प्रतिभाजन्य उस लोकोत्तर प्रकाश के रूप मे देव ने अभिहित किया होगा, जिसे आचार्य मम्मट ने काव्य के एक मूलभूत उपादान के रूप में स्वीकृत किया है।

---

१ शब्द देव कवि पृ० १ छ० स० ७

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के पश्चात् देव और कालिदास के समय तक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के लिखने की एक पुष्ट परम्परा बन गयी थी।[1] देव के पश्चात् सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों में जिनका अधिक नामोल्लेख होता है, उनमें आगरा निवासी आचार्य सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट शास्त्री, आचार्य श्रीपति, आचार्य सोमनाथ आचार्य भिखारीदास, रसिक गोविन्द और प्रताप साहि प्रमुख हैं। हम इन आचार्यों के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

१—सूरति मिश्र

आगरा निवासी आचार्य सूरति मिश्र ने कई काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है, यथा—'अलंकार माला', 'रस रत्न माला', 'सरस रस', 'काव्य सिद्धान्त' आदि। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य में कुछ टीकाएँ भी लिखी है जो इस प्रकार है—"अमर चन्द्रिका' (बिहारी सतसई की टीका), 'रसिक प्रिया की टीका' (रस ग्राहक चन्द्रिका), बैताल पंच-विंशति का ब्रजभाषा अनुवाद। सूरति मिश्र के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञातव्य बातें आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल आदि के इतिहास ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती। इधर इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से डा० भगीरथ मिश्र और आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखने का प्रयास किया है। हमारे प्रयास करने पर भी सूरति मिश्र का कोई ग्रन्थ सुलभ न हो सका।* अतः सूरति मिश्र के सम्बन्ध में प्रस्तुत विवेचन उक्त दोनों विद्वानों के ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। आचार्य सूरति मिश्र काव्य के सच्चे पारखी थे और कवि मण्डल में उन्हें सम्मान-पूर्ण स्थान प्राप्त था। सूरति मिश्र के सम्बन्ध में आचार्य पण्डित विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने अपनी नई शोध के आधार पर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—

"सूरति मिश्र का अपनी जीवितावस्था में कितना सम्मान था, इसका पता 'सरस रस' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना से चलता है। सं० १७९४ के एकाध वर्ष इधर-उधर आगरे में कवि समाज एकत्र हुआ था। उसमें साहित्य के कई मर्मज्ञों ने योग दिया था। उस कवि गोष्ठी में यह निश्चित हुआ था कि साहित्य शास्त्र की छानबीन पुनः की जाय। जो निर्णय हुआ उसके आधार पर राय शिवदास नाम के कवि ने 'सरस रस' नाम का रीति ग्रन्थ प्रस्तुत किया। उस ग्रन्थ में सूरति मिश्र के मन्तव्यों का समावेश तो है ही उनकी रचनाएँ भी समाविष्ट की गयी हैं।"[२]

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १११ प्र० सं०।

* सुनने में आया है कि सूरति मिश्र ग्रन्थावली अब डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' द्वारा सम्पादित होकर मुद्रित हो रही है।

२ हिन्दी साहित्य का अतीत द्वितीय भाग पृ० ४५१

आचार्य सूरति मिश्र का सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'काव्य सिद्धान्त' कहा जाता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति डा० भगीरथ मिश्र ने टीकमगढ़ में देखी थी। डा० मिश्र के अनुसार 'काव्य सिद्धान्त' में काव्य शास्त्र के सभी विषयों पर विचार किया गया है और यह महत्व का ग्रन्थ है।[1] 'काव्यांग निरूपण' में आचार्य सूरति मिश्र ने अधिक मौलिकता प्रदर्शित नहीं की, प्रत्युत् काव्य प्रकाशकार की सीमा में ही सिमटे रहे। काव्य स्वरूप के सम्बन्ध में इनका मत है कि शब्द, अर्थ, गुण, दोष, रस और अलकार आदि तत्वों से ही काव्य के स्वरूप का निर्धारण होता है।

काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में इनकी कोई मौलिक धारणा नहीं है। आचार्य मम्मट की भाँति ये भी काव्य प्रयोजन को यश प्राप्ति, आनन्द, अर्थ लाभ और अशुभ की हानि मानते हैं।

काव्य हेतु के सम्बन्ध में कुछ नूतनता का समावेश तो इन्होंने नहीं किया। हाँ, काव्य हेतु की विवेचना कुछ अधिक पुष्ट प्रमाणों द्वारा प्रस्तुत की गई है, जो द्रष्टव्य है। सूरति मिश्र ने मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' से काव्य हेतु विषयक तथ्यो को ग्रहण करते हुए भी उसका प्रस्तुतीकरण अपने ढंग से किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार बीज, मिट्टी और जल के संयोग से वृक्ष अपने स्वरूप को ग्रहण करता है, ठीक उसी प्रकार देव प्रसाद, व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य का निर्माण होता है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य सूरति मिश्र में काव्य विवेचन की प्रौढ़ शक्ति विद्यमान थी और यदि इन्हें संस्कृत आचार्यों की भाँति प्रौढ़ गद्य का आश्रय मिलता तो इनका भी काव्य शास्त्रीय विवेचन उसी महत्व का होता, जिसकी श्लाघा संस्कृत काव्य शास्त्र के आलोचक प्रायः किया करते हैं।

५—*कुमार मणि*

कुमार मणि भट्ट का केवल 'रसिक रसाल' नामक ग्रन्थ अद्यावधि प्रकाशित हुआ है। इसका प्रकाशन सं० १९९४ में विद्या विभाग कांकरोली से हुआ था। इसमें काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का आधार आचार्य मम्मट कृत काव्य प्रकाश है।[2]

कुमार मणि ने काव्य स्वरूप विधायक तत्वों को कुछ तो जगन्नाथ से ग्रहण

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ११२।

२. काव्य प्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल।
पण्डित सुकवि कुमार मनि, कीहौ रसिक रसाल॥
रसिक रसाल कुमार मणि भट्ट पृष्ठ २

किया है और अंशतः विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से। काव्य लक्षण का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं—

उपजत अद्‌भुत वाक्य जो शब्द अर्थ रमनीय ।
सोई कहियतु कवित है सुकवि कर्म कमनीय ।[1]

उनके इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि वे केवल मम्मट के 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ का अनुसरण नहीं करते, वरन् काव्य स्वरूप की विवेचना के लिए अपनी स्वतन्त्र धारणा का भी उपयोग यत्र-तत्र कर लेते हैं।

काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में कुमार मणि की धारणा उनके शब्दों में इस प्रकार है—

अर्थ धर्म जस-कामना, लहियतु, मिटत विषाद ।
सहृदय पावत कवित में, ब्रह्मानन्द सवाद ।।[2]

वास्तव में कुमार मणि का यह दोहा मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के इस श्लोक का अनुवाद प्रतीत होता है—

काव्यं यशसे अर्थकृते, व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मितयोपदेश युजे ।।

कुमार मणि ने अपने उक्त काव्य प्रयोजन के अन्तर्गत 'कान्ता सम्मितयोपदेश युजे' का समावेश नहीं किया। काव्य प्रयोजन के इस तथ्य को न रखने का क्या कारण है, अधिक स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी रीति काव्य के अधिकांश आचार्य काव्य में उपदेश प्रदता को अधिक महत्व नहीं देते, क्योंकि रीति काव्य का मूल लक्ष्य शुद्ध रूप से कला की साधना करना था। वहाँ 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त ही अधिक मुखर है। आचार्य कुलपति मिश्र ने अपने 'रस रहस्य'[3] में भी इस तथ्य का समावेश इसी कारण नहीं किया। कुलपति के पूर्व आचार्य केशव और चिन्तामणि आदि रीतिकारों ने भी उपदेश प्रवणता की प्रवृत्ति को अधिक महत्व नहीं दिया। अतः इस दृष्टि से हिन्दी रीति आचार्यों की यह धारणा और काव्य विषयक उनका यह दृष्टिकोण उनकी स्वतन्त्र चेतना और विवेक का परिणाम कहा जा सकता है। इन आचार्यों ने हिन्दी रीति काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार उन्हीं तथ्यों का आकलन लिया जो तत्कालीन युग और समाज के सर्वथा अनुकूल थे। उन तथ्यों के विपरीत दिशा में जाने की न उनमें शक्ति थी और न साहस।

---

१. रसिक रसाल, पृष्ठ २।
२. रसिक रसाल, पृ० २।
३. रस रहस्य—कुलपति मिश्र १'३२।

आचार्य कुमार मणि ने काव्य हेतु विषयक अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त की है—

शक्ति, शास्त्र, लौकिक सकल, परवीनता समेत।
कवि शिक्षा, अभ्यास भनि कवित उपज को हेत ॥[1]

कुमार मणि का यह दोहा मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के एक श्लोक[2] का अनुवाद प्रतीत होता है। काव्य हेतु विषयक धारणा के सम्बन्ध में कुमार मणि की मौलिकता का इससे यत्किंचित भी प्रकाश नहीं पड़ता। इसे मम्मट कृत अनुवाद के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य चिन्तामणि और कुलपति के पश्चात् विषय-विवेचन की जैसी गम्भीरता इनमें पायी जाती है, वह अन्य आचार्यों मे बहुत कम मिलती है। आचार्य भिखारीदास में मौलिक विवेचना का प्राधान्य अवश्य है लेकिन भाषागत शैथिल्य के कारण विषय की गम्भीरता का निरूपण वे भी नही कर सके। क्योंकि शास्त्रीय विवेचन की गम्भीरता के लिए जिस प्रकार की प्राजल शैली की अपेक्षा होती है, उसका आचार्य दास में बहुत कुछ अभाव था। हाँ, नूतन उद्भावना के लिए आचार्य दास की सराहना तो करनी ही पड़ेगी।

६—*आचार्य श्रीपति*

आचार्य श्रीपति सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों में प्रमुख माने जाते हैं। इनका प्रसिद्ध प्राप्त ग्रन्थ 'काव्य सरोज' अभी तक प्रकाशित न हो सका। इसकी एक हस्त-लिखित प्रति पं० कृष्णबिहारी मिश्र के पुस्तकालय में मौजूद है। हमें 'काव्य सरोज' की दो हस्तलिखित प्रतियों के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एक प्रति पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र के पुत्र डा० वृजकिशोर मिश्र से मिली थी और दूसरी प्रति नील-गाँव, सीतापुर से प्राप्त हुई थी। दोनों प्रतियाँ इतने स्वल्प समय के लिए प्राप्त हुई थी कि उनका सम्यक् उपयोग नहीं किया जा सका। सामान्य दृष्टि से देखने पर स्पष्ट प्रतीत हुआ कि इस ग्रन्थ का आधार भी मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है। इसमे काव्यांग निरूपण, काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु के सम्बन्ध में किसी विशेष मौलिक तथ्य की विवेचना नहीं की गयी, अपितु मम्मट के सिद्धान्तों का ही निरूपण कुछ हेर-फेर के साथ किया गया है।

काव्यांग निरूपण करते हुए आचार्य श्रीपति लिखते हैं—

शब्द अर्थ बिनु दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान ॥[3]

---

१. रसिक रसाल, पृ० २।
२ काव्य प्रकाश टी० हरिमंगल मिश्र पृ० १५।
३ काव्य सरोज हस्तलिखित दल १ नीलगाँव की हस्तलिखित प्रति से

काव्य स्वरूप के विवेचन में मम्मट का आधार ग्रहण करते हुए आचार्य श्रीपति ने अपनी मौलिक चिन्तना से भी कार्य लिया है। सर्वत्र मम्मट की लकीर पर चलने का प्रयास नहीं किया। काव्य लक्षण विषयक इस दोहे में अलंकारों और रसों की महत्व-पूर्ण स्थिति को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में आचार्य श्रीपति ने मम्मट से अपना स्पष्ट पार्थक्य व्यक्त किया है। मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' से अलंकारों को गौण स्थान दिया और रस की महत्ता ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार की है। दूसरे शब्दों में 'रस ध्वनि' का ठीक ढंग से अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त श्रीपति ने अल-कारों का वांछनीय महत्व स्वीकार करके रस सिद्धान्त के प्रति अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है और इस प्रकार विश्वनाथ के 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' सिद्धान्त का स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया है। काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु का प्रकारान्तर से भामह का ही शब्दशः अनुकरण किया है।

७—आचार्य सोमनाथ

आचार्य सोमनाथ की गणना सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों की कोटि में की जाती है। इनका प्रसिद्ध सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'रस पीयूष निधि' अभी तक मुद्रित न हो सका। इसकी एक हस्तलिखित प्रति स्वर्गीय सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के पास थी और दूसरी हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में है।

वस्तुतः 'रस पीयूष निधि' काव्य शास्त्र का एक विशद एवं अनूठा ग्रन्थ है। इसमें रस और नायिका भेद निरूपण के अतिरिक्त काव्य शास्त्रीय अन्य अंगों का विश्लेषण अति सूक्ष्मता के साथ किया गया है। आचार्य सोमनाथ के पूर्व आचार्य कुलपति मिश्र, देव, सूरति मिश्र आदि आचार्यों ने काव्य स्वरूप और काव्य लक्षण के सम्बन्ध में सम्यक् निरूपण किया है। आचार्य सोमनाथ ने काव्यांग विवेचन करते हुए लिखा है—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध ॥[1]

इस लक्षण में आचार्य सोमनाथ ने काव्य प्रकाशकार का आधार ग्रहण किया है, पर चिन्तामणि और आचार्य श्रीपति आदि की भाँति इन्होंने भी मम्मट के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अनुसरण न करके काव्य में अलंकारों की वांछनीय महत्ता को स्वीकार किया है। वास्तव में रीति युग का कोई भी आचार्य अलंकार विहीन कविता को महत्व देने के लिए प्रस्तुत नहीं है, क्योंकि अलंकार रीति युग के काव्य का अवि-

---

१ रस पीयूष निधि ७ २ याज्ञिक संग्रह की हस्तलिखित प्रति से

भाज्य अंग है। यही कारण है कि अलंकार विषयक इस वैकल्पित स्थिति को रीति युग के किसी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया।[1]

आचार्य सोमनाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण से कुछ और पार्थक्य प्रकट किया है। इनके अनुसार 'पिंगल मत अविरुद्ध' काव्य ही प्रकृत काव्य के रूप में अभिहित किया जा सकता है अर्थात् काव्य में छन्दोबद्धता का होना अति अनिवार्य है। इसके विपरीत काव्य प्रकाशकार ने छन्दबद्धता के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का संकेत नही किया। यही इनकी विवेचनगत मौलिकता है।

आचार्य सोमनाथ ने काव्य प्रयोजन का उल्लेख अपने 'रस पीयूष निधि' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

कीरत वित्त विनोद अरु अति मंगल को देत।
करै भलो उपदेश नित यह कवित्त चित चेत॥[2]

इस दोहे का आधार मम्मट कृत काव्य प्रकाश है। इसमें उनकी किसी मौलिक धारणा का परिचय नहीं मिलता, वरन् मम्मट द्वारा विवेचित काव्य प्रयोजन का अति सूक्ष्म सकेत मात्र कर दिया गया है।

सोमनाथ ने काव्य हेतु विषयक किसी नूतन मत की स्थापना नहीं की। केवल 'काव्य प्रकाश' का सीधा अनुवाद कर डाला।[3] शब्दावली अवश्य कुछ भिन्न है, पर तथ्य की दृष्टि से वे मम्मट कृत लक्षण से अधिक दूर नहीं जा पाये हैं।

८—*आचार्य भिखारीदास*

आचार्य दास रीतिकाल के उत्कृष्ट आचार्यों के अन्तर्गत आते हैं। काव्य शास्त्रीय विवेचनगत प्रौढ़ता और मौलिकता के प्रसंग में इनकी विशेष प्रसिद्धि है। इनके काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, रस सारांश छन्दोर्णव-पिंगल प्रभृति अधिक महत्वपूर्ण हैं। सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थों में 'काव्य निर्णय' का महत्व अधिक है। इसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र एवं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वानों ने पर्याप्त विवेचन किया है।

आचार्य दास ने काव्यांग निरूपण करते समय अधोलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

---

१. रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ७६।
२ रस पियूष निधि ७।२।
३ रस पियूष निधि ७ ४ ५

रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल ।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करें कुरूपता ।[1]

इस लक्षण के अन्तर्गत आचार्य दास ने रस, अलंकार, गुण और ध्वनि आदि का पटुतापूर्वक समन्वय किया है । यद्यपि वे काव्य में रस ध्वनि के समर्थक थे और काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की दृष्टि से वे आचार्य मम्मट के रस ध्वनि सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं, किन्तु रीति युग की प्रवृत्ति के अनुसार वे काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन के झगड़े में नहीं पड़े ।

काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में निस्संदेह आचार्य दास का दृष्टिकोण पर्याप्त मौलिक है । इन्होंने मम्मट कृत काव्य प्रकाश के अनुसार काव्य प्रयोजन विषयक सभी तथ्यों को स्वीकार नहीं किया । केवल धन, यश और आनन्द इन्हीं तीनों तथ्यों को ग्रहण किया है और परमार्थ लाभ विषयक चौथा प्रयोजन सूर और तुलसी जैसे महाकवियों के उदाहरण द्वारा प्रतिपादित किया है । इसके अतिरिक्त आचार्य दास ने काव्य प्रकाश की भाँति संस्कृत के कालिदास, श्री हर्ष आदि कवियों का नामोल्लेख न करके हिन्दी के सूर, तुलसी, रहीम, केशवदास, बीरवल प्रभृति कवियों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं ।[2]

एक लहै तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसांई ।
एक लहै बहु सम्पत्ति केशव भूषण ज्यों बरबीर बड़ाई ।।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाई ।
दास कवित्तन की चरचा बुधवन्तन को सुख दै सब ठांई ।।

यहाँ निश्चयपूर्वक दास के सामने हिन्दी काव्य परम्परा की प्रवृत्ति का पूर्ण ध्यान रहा । मात्र-संस्कृत की स्थापनाओं को वे सर्वत्र मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं ।

काव्य हेतु—आचार्य दास ने काव्य हेतु के सम्बन्ध में किसी मौलिक तथ्य का निरूपण तो नहीं किया, किन्तु 'काव्य प्रकाश' के द्वारा विवेचित काव्य हेतु विषयक तथ्यों का विश्लेषण अपने ढंग से किया है । आचार्य दास के अनुसार काव्य के तीन हेतु हैं—शक्ति, सुकवियों द्वारा सीखी हुई काव्य रीति एवं लोकानुभव । इन्हीं तथ्यों को आचार्य दास ने काव्य-रथ के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है ।[3] दास के अनुसार जैसे रथ धुरन्धर (बैल) सूत (रथ वाहक) और चक्र (पहिया) इन तीनों में से किसी एक के अभाव में चल नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार शक्ति, काव्य रीति एवं लोकानुभव के बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं ।

---

१. काव्य निर्णय—भिखारीदास, पृ० ५ ।
२ काव्य निर्णय पृ० ४
३ काव्य निर्णय १ १२

वस्तुतः रीति काव्य की सजग कलात्मक साधना के लिए रीति काव्य के समस्त स्पृहणीय तत्वों को सीखना अति अनिवार्य था। बिना रीति की सम्यक् जान-कारी के काव्य-क्षेत्र में कूदना उस समय के कवियों के लिए सम्भव न था। आचार्य दास हिन्दी काव्य परम्परा के प्रकृत आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने काव्यांग निरूपण के पूर्व हिन्दी काव्य की भाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। कविता की भाषा के सम्बन्ध में इतनी विशद विवेचना किसी भी लेखक अथवा आचार्य ने नहीं की। आचार्य दास ने काव्य की भाषा के लिए ब्रजभाषा को स्वीकार किया और कहा कि इसमें संस्कृत और फारसी के शब्दों का भी समावेश किया जासकता है, यदि उन भाषाओं के शब्द हिन्दी में खप सकते हों। यह प्रयास भाषा की समृद्धि में पूर्ण सहायक हो सकता है।[1] निस्सन्देह हिन्दी के लिए आचार्य भिखारीदास के भाषा-विवेचन की यह नूतन उपलब्धि है।

६—*प्रताप साहि*

प्रताप साहि रीति काल के प्रसिद्ध आचार्यों में माने जाते हैं। इनका रचना-काल आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १८८०—१९०० के बीच माना है।[2] इन्होने अपने आश्रयदाता चरखारी नरेश के आश्रय में कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनमे काव्य विनोद, श्रृंगार मंजरी, अलंकार चिन्तामणि, काव्य विलास तथा व्यंग्यार्थ कौमुदी आदि मुख्य हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने मतिराम कृत 'रसराज' तथा बलभद्र मिश्र कृत 'नखशिख' जैसे ग्रन्थों की टीकाएं भी लिखी हैं। इनके काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में 'काव्य विलास' और 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' मुख्य हैं। काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में अद्यावधि इनकी एकमात्र रचना 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' ही मुद्रित हो सकी है, अन्य ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में विभिन्न पुराने पुस्तकालयों में ही देखने को मिलते हैं। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के दो संस्करण देखने में आये हैं। इसका एक संस्करण काशी के भारत जीवन प्रेस से सं० १९५१ में मुद्रित हुआ था और अन्य संस्करण वाराणसी सस्कृत यन्त्रालय से सं० १९३१ में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में कवि का मुख्य उद्देश्य व्यंग्यार्थ निरूपण के द्वारा नायिका भेद और अलंकारों का विवेचन करना है। इसमें विषय के स्पष्टीकरण के लिए यथास्थल गद्य अंश का भी आधार लिया गया है।

'काव्य विलास' की हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में देखने को मिलती है।[3] 'काव्य विलास' वस्तुतः त्रिविधांग निरूपक ग्रन्थों में माना जाता

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १३६
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३३७
३ काव्य विलास हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा क्रमांक २४० १४७ लिपि काल २७ आश्विन सं० १९७६

है। इसमें छः प्रकाश हैं और कुल छन्द संख्या ४११ है। व्यंग्यार्थ कौमुदी की भांति इस ग्रन्थ में विषय के स्पष्टीकरण के लिए वृत्ति का भी सहारा लिया गया है तथा केवल अलंकार और नायिका भेद को छोड़ कर इसमें काव्य के मुख्य-मुख्य अंगों का सम्यक् निरूपण किया गया है। चूंकि 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में अलंकार और नायिका भेद का संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका था, इस कारण ऐसा लगता है कि प्रताप साहि ने इन विषयों की पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझा।

प्रताप साहि ने काव्यांग निरूपण के सम्बन्ध में किसी मौलिक मत का विवेचन नहीं किया वरन् केवल संस्कृत आचार्यों के कुछ चुने हुए काव्यांग लक्षणों को दोहा छन्द मे बद्ध कर देने का प्रयास किया है। इन्होंने 'काव्य प्रकाश', 'काव्य प्रदीप', 'साहित्य दर्पण' और 'रस गंगाधर' जैसे संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के लक्षण देने में भी भूल की है। 'साहित्य दर्पण' और 'रस गंगाधर' के जो लक्षण इन्होंने दिये हैं, वे क्रमश इस प्रकार हैं—

(क) रसयुत् व्यंग्य प्रधान जहँ, शब्द अर्थ सुचि होइ।
उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावै सोइ॥

(ख) अलंकार अरु गुण सहित दोष सहित पुनि वृत्य।
उक्त रीति मुद सहित रसयुत बचन प्रवृत्य॥[1]

वस्तुतः न तो यह विश्वनाथ के 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' का अनुवाद है और न पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' का ही मात्र रूपान्तर। डा० सत्यदेव चौधरी ने भी काव्य लक्षणों की ऐसी भ्रान्तियों के प्रति यह अनुमान लगाया है कि कदाचित् परवर्ती लिपिकारों अथवा तथाकथित पण्डितों ने अपने पांडित्य प्रदर्शन के लिए प्रताप साहि के उक्त चार काव्य लक्षणों को संस्कृत के चारों काव्य-शास्त्रियों के साथ सम्बद्ध कर दिया हो।[2] डा० सत्यदेव चौधरी का यह अनुमान किसी सीमा तक ठीक माना जा सकता है।

'काव्य विलास' में प्रताप साहि ने काव्य प्रयोजन का उल्लेख इस प्रकार किया है—

चारि वर्ग जासु ते आवत करतल मद्धि।
सुनत सुखद समुझत सुखद वरणत सुखद समृद्धि॥[3]

वस्तुतः प्रताप साहि कृत यह काव्य प्रयोजन विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' से प्रभा-

---

१ काव्य विलास—हस्तलिखित १।५—८
२. रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ८६
३ काव्य विलास हस्तलिखित १ ६

वित है,[1] 'चारि वर्ग' से प्रताप साहि का तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से है। काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में प्रताप साहि द्वारा किसी नूतन धारणा का संकेत तो नहीं मिलता। हाँ, यह अवश्य है कि जहाँ अन्य रीति आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' से प्रभावित है, वहाँ प्रताप साहि पर अपेक्षाकृत साहित्य दर्पण का प्रभाव माना जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ काव्य के अन्य तत्वों के निरूपण के लिए इन्होंने 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रन्थों का अवलम्बन लिया, वहाँ काव्य प्रयोजन के निरूपण में पूर्णरूपेण वे साहित्व दर्पण से प्रभावित हैं। 'साहित्य दर्पण' का छायानुवाद होने पर भी इनके विवेचन की शैली अति प्रांजल हैं।

प्रताप साहि ने 'काव्य विलास' में काव्य हेतु पर यों विचार किया है—

प्रथम संस्कृत वृत्ति पुनि तीजो कहि अभ्यास।
कारण तीनि सुकाव्य, वरणत सुकबि विलास।।[2]

प्रताप साहि ने काव्य हेतु के सम्बन्ध में इस प्रकार तीनों तथ्यों—संस्कृत, वृत्ति और अभ्यास—पर प्रकाश डाला है। वास्तव में प्रकारान्तर से ये तीनों मम्मट कृत शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास का अनुवाद प्रतीत होते हैं। 'संस्कृत' संस्कार का पर्याय तो माना जा सकता है, किन्तु 'वृत्ति' का व्युत्पत्ति के रूप में परिकल्पित करना एक भारी खीच तान होगी। प्रताप साहि ने अपने ग्रन्थ के वृत्त (टीका) भाग में चूंकि मम्मट कृत तीन काव्य हेतुओं का संकेत किया है। अतः उन तीनों का यही अर्थ तर्क संगत प्रतीत होता है। पुनः इन तीनों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् भी विचार किया गया है। सस्कार का शक्ति के रूप में अभिहित करने का तात्पर्य कदाचित् मम्मट और कुन्तक द्वारा उल्लिखित संस्कार से है, जिसे उन्होंने शक्ति के पर्याय रूप में माना है। आगे अपने ग्रन्थ में आचार्य प्रताप साहि ने 'संस्कार' का उल्लेख न करके शक्ति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार शक्ति ही कवित्व का मूल है।[3] उसी बीज से काव्य रूप वृक्ष अंकुरित होता है। आचार्य मम्मट ने विविध शास्त्रों, काव्यों आदि में कौशल प्राप्त करने को ही व्युत्पत्ति माना है। इस सम्बन्ध में प्रताप साहि ने इसका विशद विश्लेषण किया है।[4]

प्रताप साहि ने कोश, व्याकरण, काव्य, शास्त्र एवं कला के मंथन की ओर पूर्णतया संकेत किया है। हिन्दी में इस प्रकार विस्तार पूर्वक कथन किसी अन्य

---

१. चतुवर्ग फल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। सा० दर्पण ३।२
२. काव्य विलास, हस्तलिखित, १।१२
३. काव्य विलास, ह० लि० १।१३
४ वही १ १६

आचार्य ने नहीं किया। निश्चय ही यहाँ प्रताप साहि ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। प्रताप साहि की एक अन्य मौलिक विवेचना के स्वरूप का दर्शन हमें वहाँ होता है, जहाँ उन्होंने शक्ति के दो भेदों का उल्लेख किया है।[१] वास्तव में शक्ति के दो भेदों की चर्चा संस्कृत आचार्यों में केवल रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में की है।[२] वे दोनों भेद इस प्रकार हैं—

(१) सहजा, (२) उत्पाद्या।

प्रताप साहि की स्वनिष्ठा शक्ति को डा० सत्यदेव चौधरी ने रुद्रट की 'सहजा' शक्ति का और श्रोत्रविद्ध को रुद्रट की 'उत्पाद्या' शक्ति का पर्याय माना है।[३] प्रताप साहि के विवेचन की ऐसी प्रौढ़ता की श्लाघा अन्य आचार्यों की तुलना में अवश्य करनी होगी।

हिन्दी रीति आचार्यों में शक्ति के दो भेदों का ऐसा सूक्ष्म निरूपण किसी आचार्य ने नहीं किया और यही नहीं, इन्होंने काव्य प्रकाश का अवलम्ब ग्रहण करते हुए भी साहित्य दर्पण और काव्यालंकार से भी पूरी सहायता ली है। काव्य हेतु विषयक उनका यह निरूपण अधिक व्यवस्थित और पूर्ण कहा जा सकता है। प्रताप साहि से पूर्व रसिक गोविन्द कृत 'एक प्रौढ़ सर्वाङ्ग निरूपक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ रसिक' 'गोविन्दानन्द घन' की चर्चा हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने की है, लेकिन प्रयत्न करने पर भी वह ग्रन्थ हमें उपलब्ध न हो सका।

(ख) शब्द शक्ति विवेचन

हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत शब्द शक्ति विवेचन विषयक किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हो सकी है। शब्द शक्ति का विवेचन केवल विविधांग निरूपक ग्रन्थों में ही पाया जाता है। अद्यावधि उपलब्ध जिन काव्य ग्रन्थों में शब्द शक्ति विवेचन का प्रयास किया गया है, उनकी सूची इस प्रकार है—

(१) कविकुल कल्पतरु (चिन्तामणि त्रिपाठी)
(२) रस रहस्य (कुलपति मिश्र)
(३) शब्द रसायन (देव)

---

१. काव्य विलास, ह०लि०, १।१५

२ प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति—काव्यालंकार, रुद्रट १।१६ (निर्णय सागर प्रेस का संस्करण)

३ रीति के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी पृ० १०५

(४) काव्य सिद्धान्त (सूरति मिश्र)
(५) रसिक रसाल (कुमार मणि)
(६) काव्य सरोज (श्रीपति)
(७) रसपीयूष निधि (सोमनाथ)
(८) काव्य निर्णय (भिखारीदास)
(९) काव्य विलास (प्रताप साहि)
(१०) कविता रस विनोद (जनराज)
(११) रसिक गोविन्दानन्द घन (रसिक गोविन्द)
(१२) वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका (गुलाब कवि)

हिन्दी में आचार्य चिन्तामणि के पूर्व शब्द शक्ति विवेचन से सम्बन्धित कोई भी रचना प्राप्त नहीं है। यद्यपि चिन्तामणि से पूर्व आचार्य केशवदास का नामोल्लेख अवश्य होता है, लेकिन शब्द शक्ति विवेचन विषयक कोई भी ग्रन्थ उनके द्वारा रचित नही मिलता। ऐसी स्थिति में हिन्दी में काव्य शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत शब्द शक्ति विवेचन के प्रथम प्रयास का समस्त श्रेय आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को ही दिया जा सकता है। आचार्य चिन्तामणि के शब्द शक्ति विवेचन गत मौलिक तथ्यो के विश्लेषण के पूर्व हम हिन्दी रीति काव्य के अन्तर्गत यह विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं कि शब्द शक्ति विवेचन की व्याप्ति और सीमा क्या थी ? जहाँ तक शब्द शक्ति विवेचन की व्याप्ति का प्रश्न है, हमें समस्त हिन्दी रीति वाङमय के अन्तर्गत सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से उसकी तीन दिशाएँ प्राप्त होती हैं—

(१) शब्द शक्ति का विवेचन स्वतन्त्र (सैद्धान्तिक) रूप में।
(२) शब्द शक्ति का विवेचन नायिका भेद और अलंकार निरूपण के संदर्भ मे।
(३) शब्द शक्ति का विवेचन लक्ष्य ग्रन्थों के रूप में।

स्वतन्त्र रूप से अर्थात् सैद्धान्तिक दृष्टि से शब्द शक्ति विवेचन का प्रयास विविधाग निरूपक ग्रन्थों में हुआ है। ऐसे ग्रंथों में रस रहस्य, कविकुल कल्पतरु, शब्द रसायन, रस पीयूष निधि, काव्य सिद्धान्त, रसिक रसाल आदि मुख्य कहे जाते हैं।

नायिका भेद और अलंकार निरूपण के सन्दर्भ में जिन कवियों ने शब्द शक्ति विवेचन का प्रयास किया है, उनमें प्रताप साहि और बूंदी के गुलाब कवि का नाम लिया जाता है। प्रताप साहि का प्रमुख ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है और गुलाब कवि का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वृहत् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका' है जो कि सं० १९५४ में भारत जीवन प्रेस, काशी से लीथो में प्रकाशित हुआ था। इन ग्रन्थों में शब्द शक्ति निरूपण के सम्बन्ध मे गद्य एवं पद्य टीकाओं का माध्यम ग्रहण किया गया है लक्ष्य ग्रन्थों के रूप

में शब्द शक्ति का विवेचन प्रायः व्यावहारिक रूप में हुआ है। जिन कवियों ने लाक्षणिकता एवं ध्वनि का काव्यगत सौन्दर्य दिखाने का प्रयत्न किया है, उनमें बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, घनानन्द आदि का नाम अग्रगण्य है। बिहारी पर इधर ध्वनि की दृष्टि से एक शोधपरक ग्रन्थ भी प्रस्तुत किया जा चुका है।[१] पद्माकर और घनानन्द की समीक्षा के सन्दर्भ में बहुत पूर्व आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषागत लाक्षणिक शक्तियों पर सम्यक् विवेचन अपने इतिहास में किया था।[२] यही नहीं ब्रजभाषा काव्य के मर्मज्ञ बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने अपने कुछ महत्वपूर्ण लेखो में बिहारी के सम्बन्ध में ध्वनि की दृष्टि से विचार किया था और उनके विचारो से यह भी ध्वनित हुआ था कि बिहारी के कुछ ऐसे दोहे हैं, जिनका अर्थ व्यंजना एव ध्वनि के अध्ययन के बिना स्पष्ट नहीं हो सकता।[३]

१—चिन्तामणि त्रिपाठी

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविकुल कल्पतरु' के पंचम प्रकरण में शब्द शक्ति का निरूपण अत्यन्त संक्षेप में किया है। इनके निरूपण का आधार आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है—यहाँ तक कि लक्षणों के उदाहरण मे भी मम्मट का अनुकरण किया गया है।[४] शब्द शक्ति का निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है—

पद वाचक अरु लाक्षणिक व्यंजक विविध बखान।
वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य पुनि अर्थों तीनि प्रमान॥[५]

शब्दार्थ निरूपण के पश्चात् ध्वनि का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है। निष्कर्षतः आचार्य चिन्तामणिहिन्दी रीति परम्परा के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इस दृष्टि से उनका शब्द शक्ति विषयक विवेचन मौलिक न होते हुए भी महत्वपूर्ण है। शब्द शक्ति विवेचन का विषय इतना गम्भीर और दुरूह है कि उसके लिए पर्याप्त परिष्कृत एव प्रौढ़ भाषा की अपेक्षा होती है। आचार्य चिन्तामणि के पास उक्त विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए वांछनीय एवं स्पृहणीय भाषा का सर्वथा अभाव था।

---

१ मुक्तक काव्य पराम्परा और बिहारी—डा० रामसागर त्रिपाठी
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१०, ३३९
३ कविवर बिहारी—सं० रामकृष्ण, पृ० १५६, १६०
४ कविकुल कल्पतरु, पृ० ८०
५ कवि कुल कल्पतरु पृ० ७६

२—*कुलपति*

आचार्य कुलपति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस रहस्य' में शब्द शक्ति का विवेचन आचार्य चिन्तामणि की तुलना में अधिक स्पष्टता के साथ किया है। इसका मूलाधार मम्मटकृत 'काव्य प्रकाश कहा जाता है। इन्होंने द्वितीय वृत्तान्त में 'शब्दार्थ निर्णय' शीर्षक से शब्द शक्ति विवेचन बड़े विस्तारपूर्वक किया है और पद्यबद्ध लक्षण के अतिरिक्त बीच-बीच में विषय की सुबोधता के लिए गद्य का भी प्रयोग किया हैं। इनके गद्य प्रयोग से स्पष्ट है कि अन्य रीतिकारों की अपेक्षा इनमें विषय-विवेचन की प्रौढ़ क्षमता थी। अतः उस युग में इनका ऐसा प्रयास सर्वथा मौलिक और नूतन कहा जा सकता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनके गद्य प्रयोग के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकट किए हैं, वे इस प्रकार हैं—"शास्त्रीय निरूपण के लिए पद्य उपयुक्त नहीं होता, इसका अनुभव इन्होंने किया, इससे कहीं-कहीं कुछ गद्य वार्तिक रखा। पर गद्य परिमार्जित न होने के कारण जिस उद्देश्य से इन्होंने अपना यह ग्रन्थ लिखा वह पूरा न हो सका।"[१]

आचार्य कुलपति मिश्र ने जहाँ वाचक शब्द, व्यंजना शक्ति और तात्पर्य वृत्ति के स्वरूप निरूपण को अधिक भ्रमात्मक एवं अस्पष्ट बना दिया है, वहाँ अपने स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिक विचारों का भी परिचय दिया है। यथा, इन्होंने लक्षणा मूला व्यंजना के दो भेदों—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या का निरूपण व्यंजना के प्रकरण में करके परम्परा से कुछ हटने का भी प्रयास किया है।[२] परम्परा का यह अतिक्रमण इन्होंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि संस्कृत वालों की सभी बातों को आँख बन्द करके स्वीकार कर लेना इन्हें प्रिय नहीं है। मम्मट का आधार ग्रहण करने पर भी उदाहरण सब इनके हैं।

३—*आचार्य देव*

शब्द शक्ति निरूपण के सम्बन्ध में आचार्य देव की गणना मौलिक विवेचकों के अन्तर्गत होती है। समस्त रीतिकाल में देव और आचार्य भिखारीदास ही ऐसे आचार्य हैं, जिनकी काव्यशास्त्रीय विवेचना अन्य आचार्यों की तुलना में पर्याप्त मौलिक तथा तथ्यपूर्ण है। आचार्य देव का एकमात्र सर्वांग निरूपक ग्रन्थ 'काव्य रसायन' कहा जाता है। इस ग्रन्थ में आचार्य देव ने शब्द शक्तियों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००२ का संस्करण, पृ० २२४

२ व्यग्य दो भाँति के हैं मूला और अभिधा मूला और लक्षणा मूला दो

शब्द शक्ति विवेचन के सन्दर्भ में उन्होंने कतिपय मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं, जिनके सम्बन्ध में हम स्पष्ट रूप से विचार करेंगे। आचार्य देव ने सर्वप्रथम ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में पदार्थ निर्णय से ही काव्यशास्त्रीय निरूपण प्रारम्भ किया है। शब्द शक्तियों में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त तात्पर्य शक्ति भी इन्होंने स्वीकार की है।[1]

काव्य रसायन के द्वितीय प्रकाश में तीनों वृत्तियों का बड़ा ही विशद एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें देव ने तीनों वृत्तियों के शुद्ध एवं संकीर्ण भेदों की चर्चा की है। इसे उनकी मौलिक उद्भावना कहा जा सकता है, परन्तु कुछ विद्वानों ने इसे देव की मौलिक उद्भावना न मानकर इसका आधार संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत निरूपित आर्थी व्यंजना बताया है, जहाँ व्यंग्यार्थ का विवेचन करते समय वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ का विचार किया गया है।[2] लेकिन इस आधार को ढूंढ़ निकालने पर भी देव की मौलिकता किसी भी अंश में संदिग्ध नहीं कही जा सकती। कम से कम ऐसे संकेत को पाकर देव ने अपने ढंग से उसका विशदीकरण तो किया और हिन्दी काव्य शास्त्र में अपनी स्वतन्त्र मान्यता तो स्थापित की। वस्तुतः संस्कृत की सुदृढ़ मान्यताओं से पृथक् अपने मत एवं अपने स्वतंत्र विचारों की ऐसी उद्घोषणा करना भी देव के लिए एक भारी साहस का कार्य था।

आचार्य देव ने इन वृत्तियों के १२ भेद माने हैं—

१—अभिधा : १. शुद्धा अभिधा, २. अभिधा में अभिधा, ३. अभिधा में लक्षणा ४. अभिधा में व्यंजना।

२—लक्षणा : ५. शुद्धा लक्षणा, ६. लक्षणा में लक्षणा, ७. लक्षणा में व्यंजना ८. लक्षणा में अभिधा।

३—व्यंजना : ९. शुद्धा व्यंजना, १०. व्यंजना में व्यंजना, ११. व्यंजना में अभिधा, १२. व्यंजना में लक्षणा।

इसके अनन्तर वे स्पष्टरूपेण बतलाते हैं कि तात्पर्यार्थ के मिलने पर इन १२

---

१. सुर पलटत ही शब्द ज्यों, वाचक व्यंजक होत।
तात्पर्य के अर्थ हू, लीन्यौ करत उदोत॥
तात्पर्य चौथो अरथ, तिहूं शब्द के बीच।
अधिक मध्य, लघु वाच्य धुनि, उत्तम मध्यम नीच॥

—शब्द रसायन, पृ० २।

२. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त प्र० भाग—डा० भोलाशंकर व्यास पृ० ३८९

भेदो से अनन्त भेदों की सृष्टि हो सकती है।[1]

चार प्रकार की संकीर्ण वृत्तियों का वर्णन करने के उपरान्त आचार्य देव ने इन वृत्तियों के विभिन्न मूलों की भी चर्चा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रत्येक वृति के चार मूल बताए हैं, जो इस प्रकार है—

(क) अभिधा के मूल—१. जाति, २. क्रिया, ३. गुण, ४. यदृच्छा।[2]

(ख) लक्षणा के मूल—१. कार्य कारण, २. सदृशता, ३. वैपरीत्य, ४. आक्षेप[3]

(ग) व्यंजना के मूल—१. वचन, २. क्रिया, ३. स्वर, ४. चेष्टा।[4]

लक्षणा के उक्त चारों मूलों के स्थान पर संस्कृत के आचार्यों ने पाँच मूलों का संकेत किया है—

कार्य कारण योगाच्च सादृश्यात् व्यभिचारतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता॥

लेकिन देव ने 'व्यभिचार' और 'क्रिया योग' को इसमें अन्तर्मुक्त करना अच्छा नहीं समझा, अतः इन दोनों को आक्षेप में ही समाविष्ट कर लेना उन्होंने अधिक औचित्य-पूर्ण माना, यह देव की अपनी सूझ हैं। देव कृत व्यंजना के चारों भेदों का मूल उत्स सस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में आसानी से ढूँढ़ा जा सकता हैं। स्वयं आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में इसका संकेत किया है।[5]

डा० नगेन्द्र ने देव के उक्त व्यंजना विषयक चारों मूलों को किसी मौलिक उद्भावना के अन्तर्गत नहीं रखा। उनके अनुसार इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति के उपर्युक्त चार भेदान्तर भी स्वतन्त्र नहीं हैं।[6] क्योंकि इन चारों का समावेश 'काव्य प्रकाश' के श्लोक से हो जाता है, लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि देव ने काव्य प्रकाश के मत को बहुत कुछ स्वीकार करते हुए भी वर्गीकरण अपने ढंग से क्यों किया है और इतनी स्वच्छन्दता क्यों दिखाई? गम्भीरता से सोचने पर इसका कारण स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः देव की दृष्टि यहाँ संक्षिप्तीकरण की ओर है और वे इन १३ भेदों

---

१. तातपारजारथ मिलत भेद बारह,
पदारथ अनन्त सबदारथ मतै छह्यौ।—काव्य रसायन, द्वि०प्र०, पृ० १२।

२. शब्द रसायन, पृ० २१।

३. ,, ,, २३।

४. ,, ,, २५।

५ काव्य प्रकाश टीकाकार हरिमंगल मिश्र पृ० ३५

६ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता प्र० स० पृ० १५८

के स्थान पर केवल चार भेदों को ही स्वीकार करते हैं।[1] इसमें सन्देह नहीं कि देव के विवेचन का मूलाधार संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ हैं, किन्तु देव ने जहाँ तक हो सक है, विवेचन और वर्गीकरण सर्वथा अपने विचारों के अनुरूप किया है। इस सम्बन्ध मे डा० भगीरथ मिश्र का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"काव्य रसायन उत्तम ग्रन्थों में है। वर्गीकरण और विवेचन दोनों के विचार से यह ग्रन्थ रोचक है। यद्यपि आधार संस्कृत है, फिर भी क्रम और ढंग तथा विषय-विभाजन आदि में नवीनता है।"[2]

४—सूरति मिश्र

सूरति मिश्र का प्रसिद्ध सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'काव्य सिद्धान्त' कहा जाता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति काव्य शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान डा० भगीरथ मिश्र ने टीकमगढ़ की लाइब्रेरी में देखी थी, जिसका उल्लेख अपने शोध प्रबन्ध में उन्होंने स्वय किया है।[3] इसमें शब्द शक्ति का विवेचन मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के आधार पर किया गया है। इस ग्रन्थ में कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है।

५—कुमार मणि भट्ट

कुमार मणि भट्ट ने शब्द शक्ति का विवेचन अपने सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'रसिक रसाल' में किया है। इनके विवेचन का आधार मम्मट कृत काव्य प्रकाश है। इन्होंने शब्द शक्ति जैसे प्रौढ़ एवं गम्भीर विषय का प्रारम्भ 'रसिक रसाल' के द्वितीय उल्लास में किया है। सर्व प्रथम इन्होंने उत्तम काव्य के भेदों की चर्चा की है।[4]

कुमार मणि के कथनानुसार ध्वनि के पाँच भेद होते हैं—

१—अभिधा मूला ध्वनि के तीन भेद—वस्तुगत, अलंकारगत और रसगत।

२—लक्षणा मूला के दो भेद—अर्थान्तिर संक्रमित वाच्य ध्वनि अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि, किन्तु द्वितीय उल्लास के अन्त में इसे 'चतुर्विध व्यंग्य कथन' नाम बतलाया है। इसका कारण यह है कि कुमार मणि ने रस ध्वनि को छोड़ कर अन्य ध्वनियों का निरूपण सामान्य ढंग से किया है। तृतीय उल्लास में 'रस ध्वनि' का विवेचन अधिक विस्तारपूर्वक किया है। इनकी सबसे बढ़कर विशेषता यह

---

१. यह विधि तीनों वृत्ति के भेदान्तर प्रत्येक।
चारि चारि संक्षेप विधि, वरणत सुमति अनेक।
—शब्द रसायन—देव, पृ० २६

२. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १०७

३. वही, पृ० ११३

४ रसिक रसाल द्वितीय उल्लास पृ० ६

है कि इन्होंने बिषय के स्पष्टीकरण के लिए यथा स्थल गद्य का भी सहारा लिया है। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने व्यंग्य के हेतुओं में कुछ को छोड़कर केवल मुख्य-मुख्य हेतुओं की ही चर्चा की है। यद्यपि 'प्रभृति' के द्वारा अन्य भेदों को भी स्वीकार किया है, लेकिन हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा के अनुसार अधोलिखित भेदों को अधिक महत्व दिया है—

वक्ता, श्रोता, काकु, थल, वाक्य, अर्थ, ढिग और।
देश, समय, प्रकरन प्रभृति, रचत व्यंग्य बहु दौर ॥[1]

इन कथित भेदों में भी केवल सात की ही चर्चा की है और सरल उदाहरणों द्वारा उन्हीं का उपबृंहण किया है। जो भी हो, आचार्य चिन्तामणि, देव तथा भिखारीदास के साथ कुमारमणि की भी गणना की जाती है। यह सत्य है कि आचार्य देव और भिखारीदास जैसी मौलिकता तो इनमें नहीं है, परन्तु इनके विवेचन की शैली अधिक प्राञ्जल और स्पष्ट है।

६—*आचार्य श्रीपति*

आचार्य श्रीपति ने काव्यांगों के निरूपण में अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'काव्य सरोज' है, जिसमें सर्वांग विवेचन का स्तुत्य प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"काव्य सरोज बहुत ही प्रौढ़ ग्रन्थ है। काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है, उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य मे व्याख्या की परिपाटी चल गयी होती तो आचार्यत्व ये और भी अधिक प्रौढ़ता के साथ प्रदर्शित कर सकते।"[2] जहाँ तक शब्द शक्ति विवेचन का सम्बन्ध है, इन्होंने किसी मौलिक तथ्य का उद्घाटन नहीं किया है। केवल काव्य प्रकाश के आधार पर ही इस विषय का निरूपण किया है। शब्द शक्ति का विवेचन 'काव्य सरोज' के तृतीय दल में किया गया है। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के अनन्तर उन्होंने लक्षणा के षट् भेदों की चर्चा की है।[3] शब्द शक्ति विवेचन के सन्दर्भ में आचार्य श्रीपति की मौलिकता अत्यन्त नगण्य है। हाँ, निरूपण में इनकी मौलिकता की सराहना करनी

---

१. वही, पृ० १२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २७२
३ काव्य सरोज हस्तलिखित प्रति—स्व० कृष्णबिहारी मिश्र के सुपुत्र स्व० डा० व्रजकिशोर मिश्र के सौजन्य से प्राप्त

पड़ती है। दोष प्रकरण के सम्बन्ध में स्वयं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल[1] और मिश्र बन्धुओं[2] ने भी इनकी भूरिशः श्लाघा की है।

७—आचार्य सोमनाथ

आचार्य सोमनाथ ने सं० १७६४ के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस पीयूषनिधि' की रचना की थी। यह ग्रन्थ सर्वांग निरूपक ग्रन्थों में अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता है। नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में इसकी हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। आचार्य सोमनाथ के मुद्रित होने वाले ग्रन्थों में 'पंचाध्यायी' और 'माधव विनोद नाटक' मुख्य हैं। माधव विनोद भवभूति कृत 'मालती माधव' का ब्रजभाषा छन्दों में रूपान्तरित ग्रन्थ है। इसका सम्पादन डा० सोमनाथ गुप्त ने किया है। आचार्य श्रीपति और भिखारीदास की भाँति इन्होंने भी 'रस पीयूष निधि' में अनि वैशद्यपूर्ण काव्यांगों का निरूपण किया है। यह ग्रन्थ भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' से अपेक्षाकृत बड़ा है।

आचार्य सोमनाथ ने शब्द शक्ति का विवेचन 'रस पीयूष निधि' की छठवीं तरंग में किया है। इस ग्रन्थ का भी आधार मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है। किन्तु यथावश्यक इन्होंने 'साहित्य दर्पण' से भी सहायता ली है और संस्कृत ग्रन्थों से सहायता लेने पर भी विषय का सैद्धांन्तिक विवेचन अपने ढंग से किया है। सबसे बढ़कर एक बात यह है कि इन्होंने हिन्दी काव्य शास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा से भी लाभ उठाया है। इसकी पुष्टि के लिए इनका व्यंजना विषयक प्रसंग लिया जा सकता है। इन्होंने मम्मट के अनुसार व्यंजना को दो प्रमुख भागों में बाँटा है — (१) लक्षणा मूला, अभिधा मूला। पुनः लक्षणा मूला को दो भागों में विभाजित किया है—(१) गूढ़ व्यंग्या, (२) अगूढ व्यंग्या। किन्तु आचार्य मम्मट ने इन भेदों की चर्चा प्रयोजनवती लक्षणा के अन्तर्गत की है। वास्तव में आचार्य सोमनाथ ने व्यंजना के स्वरूप-विवेचन में यहाँ हिन्दी काव्य शास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्य कुलपति मिश्र से प्रभाव ग्रहण किया है, क्योंकि उन्होंने भी उक्त दोनों भेदों को व्यंजना में ही अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है। यहाँ आचार्य सोमनाथ ने परम्परागत मार्ग से हटकर चलने का यत्न किया है। यह इनकी स्वतन्त्र धारणा का परिणाम है। इनकी दूसरी मान्यता भी विचारणीय है। इन्होंने व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिए मम्मट कृत वक्ता आदि दस विशेषताओं के स्थान पर केवल वक्ता, काकु, वाक्य और समय[3] का ही संकेत किया है। इन चार विशेष-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २७२
२. मिश्र बन्धु विनोद, द्वितीय भाग, द्वि० सं०, पृ० ५७९
३. रस पीयूष निधि—६।५१ हस्तलिखित—याज्ञिक संग्रह से प्राप्त प्रति के आधार पर

ताओं से आचार्य सोमनाथ के केवल संक्षिप्तीकरण की ही प्रवृत्ति लक्षित होती है ।

८—*आचार्य भिखारीदास*

समस्त रीति वाङमय में शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से आचार्य दास कृत 'काव्य निर्णय' का महत्व अप्रतिम है। आचार्य भिखारीदास की समकक्षता में केवल आचार्य देव का ही नामोल्लेख किया जाता है; अन्यथा इनके समान काव्य शास्त्र का इतना प्रौढ़, सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता ।

इन्होंने परम्परा से प्राप्त सभी सिद्धान्तों को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया, अपितु अपनी मौलिक चिन्तना का परिचय स्थल-स्थल पर दिया है। शब्द शक्ति का विवेचन 'काव्य निर्णय' के द्वितीय उल्लास में किया गया है। यद्यपि शब्द शक्ति विवेचन का मूलाधार मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है। पर पूरे 'काव्य निर्णय' के निर्माण में चन्द्रालोक से भी—विशेषकर अलंकार निरूपण में—सहायता ली गयी है। 'काव्य प्रकाश' और 'चन्द्रालोक' की चर्चा आचार्य दास ने 'काव्य निर्णय' में स्पष्ट रूपेण की है।[1] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आचार्य दास ने उक्त संस्कृत ग्रन्थों का उल्था मात्र कर दिया है और उसमें उनकी मौलिक विवेचना का अंश क्षीण हो गया है। इस सम्बन्ध में स्वयं दास का दावा है कि 'काव्य निर्णय' संस्कृत ग्रन्थों का केवल उल्था नहीं है।[2]

आचार्य दास के शब्द शक्ति विवेचन के सम्बन्ध में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'वीणा' नामक पत्रिका में उनकी मौलिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया है।[3] किन्तु वास्तविकता यह है कि आचार्य दास ने संस्कृत आचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन अथवा संस्कृत के मान्य विचारों का परिवर्तन इसलिए किया है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत वे सिद्धान्त और विचार अधिक सदोष एवं जटिल प्रमाणित हुए हैं और उन्हें समझने में हिन्दी के पाठक भारी कठिनाई का अनुभव करते हैं।

आचार्य दास ने शब्द शक्ति विवेचन में अपनी जैसी मौलिकता प्रदर्शित की है, उसे हम एक-एक करके इस प्रकार निरूपित करेंगे—

---

१ बूझि सुचन्द्रालोक अरु, काव्य प्रकासहु ग्रन्थ ।
समुझि सुरुचि भाषा कियो, लै औरो कवि पंथ ॥५॥
—भिखारीदास ग्रन्थावली, भाग २, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३

२. वही बात सिगरी कहैं, उलथो होतयकंक ।
सब निज उक्ति बनायहू, रहै स्व कल्पित संक ॥६॥
—भि० दास० ग्रं०, पृ० ४

३ कला और साहित्य-डा० सत्येन्द्र पृ० २४४

—अभिधा प्रकरण के अन्तर्गत संयोग, वियोग आदि शक्तियों का समावेश[1]

संस्कृत आचार्य मम्मट ने अभिधा शक्तियों को व्यंजना प्रकरण के अन्तर्गत स्थान दिया है। इस मत से दास जी सहमत नहीं हैं। उन्होंने अभिधा के प्रकृत स्वरूप की व्यंजना के लिए उसकी शक्तियों को व्यंजना प्रकरण में रखना किसी भी प्रकार समीचीन नहीं समझा। आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' में अभिधा की जो परिभाषा दी गई है, वह इस प्रकार है—

"स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते" ।८।।

अर्थात् शब्द के कहे जाने पर बिना विलम्ब ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसी अर्थ को लोग मुख्य अर्थ कहते हैं और जिस व्यापार के द्वारा इसका ज्ञान होता है, उसे अभिधा कहते हैं ।[2] दास जी ने अभिधा की उस परिभाषा से अपनी स्पष्ट असहमति यों व्यक्ति की है—

अनेकार्थहू शब्द में, एक अर्थ की भक्ति।
तिहि बाच्यारथ को कहैं, सज्जन अभिधा शक्ति ।।६।।[3]

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सभी अर्थ एक साथ अभिधेय नहीं, वह अभिधा शक्ति ही है, जिससे अनेकार्थी शब्द में भी एक ही अर्थ मिल सके।[4] दास जी के इस वैज्ञानिक विवेचन को न समझने के कारण पोद्दार जी जैसे विद्वानों ने आचार्य दास के इस प्रकरण को सदोष ठहराया है। दास जी ने वस्तुतः अभिधा वृत्ति के निरूपण में यहाँ आचार्य मम्मट का अनुसरण नहीं किया, क्योंकि आचार्य मम्मट कृत अभिधा वृत्ति निरूपण अत्यन्त स्पष्ट है। व्यंजना प्रकरण में अभिधा शक्तियों के न देने का दूसरा कारण यह भी था कि अभिधा के ऐसे रूप को देखकर काव्य शास्त्र का पाठक सहसा भ्रम में पड़ जाता और उसके सामने व्यंजनागत उसके स्वरूप और अर्थ के सम्बन्ध में एक समस्या खड़ी हो जाती। इसीसे इसके विवेचन का प्रश्न लक्षणा प्रकरण में उठाया ही नहीं। किन्तु अब स्पष्ट है कि यहाँ 'प्रकरण भंग का दोष' उनमें किसी भी प्रकार आरोपित नहीं किया जा सकता।

---

१. भि० दास ग्रं०, पृ० ७
२. काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मट टीकाकार हरिमंगल मिश्र, पृ० १७
३. भिखारीदास ग्रन्थावली, भाग २, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ७
४ कला कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र पृ० २४६

—दास जी की गूढ़ व्यंग्य मूलक लक्षणा का उदाहरण

आचार्य दास की गूढ़ व्यंग्या लक्षणा के सम्बन्ध में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने दोष दिखलाया है। उनके अनुसार गूढ़ व्यंग्या लक्षणा का यह उदाहरण दास जी ने 'काव्य प्रकाश' से लिया है और वे 'काव्य प्रकाश' के उक्त उदाहरण में अन्तर्हित गूढ़ व्यंग्य को अपने छन्द में प्रकट न कर सके। इस कारण दास जी का यह उदाहरण अत्यन्त शिथिल हो गया है। किन्तु अधिक विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दास जी ने मम्मट कृत उक्त उदाहरण से अधिक व्यंग्य दिखलाने का प्रयास किया है। यही नहीं, दास जी के छन्द की अन्तिम पंक्ति में जो गूढ़ व्यंग्य झलक रहा है, वह काव्य प्रकाश के उदाहरण में कहां ? दोनों छन्दों को नीचे उद्धृत किया जा रहा है, जिससे तथ्यातथ्य का अनुमान आसानी से लगाया जा सके—

(क) मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं।
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्थामतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं।
बतेन्दुवदना तनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥६॥[1]

(ख) आनन में मुसिक्यांनि सुहावनी, बंकता नैनन मांझि छई है।[2]
बैन खुले मुकले उरजात, जकी विथकी गति बेन ठई है ॥
दास प्रभा उछिलै सब अंग, सुरंग सुबासता फैलि गई है।
चन्द्रमुखी तन पाइ नवीनो, भई तरुनाई अनंद मई है ॥

इन दोनों छन्दों में दास जी की अन्तिम पंक्ति में गूढ़ व्यंग्य का जो चमत्कार है, वह मम्मट कृत उक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति में नहीं है, यह स्पष्टतया आभासित हो रहा है। मम्मट के उक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति का अर्थ है कि 'अरे यह तो बड़े आनन्द का विषय है कि इस चन्द्रमुखी नायिका के शरीर में यौवन की छटा प्रकट हो रही है।''

अब दास के अन्तिम छन्द की व्याख्या लीजिए—

इस चन्द्रमुखी के नवीन शरीर को प्राप्त करके स्वतः यौवनावस्था आनन्द युक्त हो गई है। इसमें गूढ़ व्यंग्य यह है कि जब तरुणावस्था इसे पाकर इतनी आनन्दित हुई

---

१ काव्य प्रकाश—हरिमंगल मिश्र पृ० २८

२ काव्य निणय—स० प० चतुर्वेदी द्वि० स० पृ० ३०

है तब यदि उसे कोई दूसरा पाएगा तो वह कितना आनन्दित होगा। आचार्य दास ने ब्रजभाषा टीका में भी इस गूढ़ व्यंग्य का स्पष्ट संकेत किया है।[१]

आचार्य दास ने शब्द शक्ति विवेचन के सन्दर्भ में अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना के महत्व को अधिक प्रदर्शित किया है और इस तथ्य को उन्होंने जल और पात्र द्वारा समझाने का सफल प्रयास किया है।[२] वास्तव में जैसे जल के बिना रिक्त पात्र की उपादेयता नगण्य है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ बेकार है। हाँ, यह अवश्य है कि यह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर ही आश्रित है।

—आचार्य दास का लक्षणा निरूपण

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार एवं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य दास के लक्षणा निरूपण के सम्बन्ध में यह स्पष्ट उद्घोषणा की है कि आचार्य दास की लक्षणा की विवेचना सर्वथा भ्रममूलक है। 'उपादान लक्षणा' के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की धारणा है कि इसका लक्षण बहुत विचित्र हो गया है।[३] पोद्दार जी ने दास की परिभाषा के सम्बन्ध में 'वीणा'[४] में बड़ी विशदता के साथ यह स्पष्ट किया है कि दास जी लक्षणा की मूल परिभाषा ही स्वयं न समझ सके। इसमें सन्देह नहीं कि प्रौढ़ गद्य के अभाव में आचार्य दास के लक्षण कहीं-कहीं अधिक भ्रमात्मक अवश्य हो गये हैं, लेकिन उनके शुद्ध लक्षणों को भी गलत समझने का भ्रम हुआ है। उदाहरणार्थ, दास जी के 'शुद्ध साध्यवसाना' के निरूपण में उनका यह दोहा लिया जा सकता है—

बैरिन कहा बिछावती, फिर-फिर सेज कृशानु।
सुन्यौ न मेरे प्रान धन, चहत आज कहुं जान॥

इसमें पोद्दार जी ने 'साध्यवसाना' के लक्षण को सन्देहास्पद दृष्टि से देखा है और इसे उन्होंने 'सारोपा' का उदाहरण माना है। लेकिन इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र जी के

---

१. काव्य निर्णय—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी चतु० सं०, पृ० ३०

२. वाचक लक्षक भाजन रूप है, व्यंजक को जल मानत ज्ञानी।
जानि परै न जिन्हैं तिन्ह के समुझाइबे को यह दास बखानी॥
ये दोउ होत सव्यंग अव्यंग औ व्यंग इन्है बिनु ल्यावैं न बानी।
भाजन त्याइय नीर बिहीन न आइ सकै बिनु भाजन पानी॥
—दास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, वि० प्र० मिश्र, पृ० १२

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० २३६

४ वीणा मे १९३१ मे प्रकाशित सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का लेख

विचार अधिक ग्राह्य एव मान्य है। उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे इसे साध्यवसाना का उदाहरण माना है। इसे उन्होंने महावीर प्रसाद मालवीय वैद्य 'वीर' कृत 'काव्य निर्णय' की टीका के आधार पर यह निरूपित किया है कि सखी को बैरिन और सेज को कृशानु कहना सारोप लक्षणा का भ्रम पैदा करता है।[1] किन्तु कृशानु में 'फूल' का कथन न होने के कारण यह स्पष्टतया साध्यवसाना लक्षणा है। प्राचीन काव्य मर्मज्ञ लाला भगवानदीन 'दीन' ने भी इसे 'साध्यवसाना' लक्षणा के उदाहरण में रखा है।[2]

वस्तुतः लक्षणा की परिभाषा में कुछ स्थलों पर जो भ्रम परिलक्षित होता है, वह आचार्य दास के प्रौढ़ ज्ञान की त्रुटि नहीं सूचित करता, वरन् उससे यह भी आभास मिलता है कि इन्होंने यथास्थल अपने विचारानुकूल आवश्यक परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन के विशेष कारणों को समझने के लिए आवश्यक है कि इन पर वृत्ति लिखी जाये, जिससे इनके अभिप्रायों को समझने में सुविधा हो। और अनावश्यक दोषारोपण से वे बच सकें। मेरी समझ में सर्वत्र संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को कसौटी बनाकर इनकी आलोचना-प्रत्यालोचना करना बहुत तर्कसंगत नहीं है। उनकी काव्यशास्त्रीय देन को हिन्दी काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसना अपेक्षाकृत अधिक न्यायसंगत होगा।

—व्यंजना के अन्तर्गत गूढ़ एवं अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा का समावेश

आचार्य दास ने 'काव्य प्रकाश' की भांति लक्षणा के गूढ़ एवं अगूढ़ व्यंग्य को लक्षणा प्रकरण' में नहीं रखा। इसे उन्होंने व्यंजना प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित किया है।[3] इसे सेठ पोद्दार ने 'प्रकरण भंग' दोष माना है।

मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में गूढ़ व्यंग्या लक्षणा का निरूपण 'लक्षणा प्रकरण'[4] के अन्तर्गत किया है और लक्षणा मूला व्यंग्या[5] का विवेचन व्यंजना प्रकरण के अन्तर्गत किया है। आचार्य दास ने लक्षणा के अन्तर्गत व्यंग्य का समावेश करना उत्तम नहीं समझा, क्योंकि काव्यशास्त्र का पाठक लक्षणा के स्वरूप से परिचित हो जाने पर व्यंजना के अन्तर्गत लक्षणा मूला व्यंग्या के स्वरूप को आसानी से समझ सकता है। वहाँ किसी भी प्रकार की भ्रान्ति की सम्भावना नहीं है। वस्तुतः आचार्य दास ने गूढ

---

१. कला, कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र, पृ० २५०
२. व्यंग्यार्थ मंजूषा—लाला भगवानदीन, प्र० सं०, पृ० १५
३. काव्य निर्णय—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, द्वि० सं०, पृ० ३०
४. काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मट, टीकाकार पं० हरिमंगल मिश्र, पृ० २८
५ एव लक्षणामूल व्यंजकत्वमुक्तकम काव्य प्रकाश पृ० ३४ टी० हरिमगल मिश्र

व्यंग्य अथवा अगूढ़ व्यंग्या के प्रकरण में यह मानते हुए कि व्यंग्यार्थ का मूलाधार वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों ही है, फिर भी व्यंग्यार्थ को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया है। व्यंजना शक्ति के निरूपण में आचार्य दास की यह धारणा उनकी मौलिक उद्भावना के अन्तर्गत आती है। दास के पूर्व संस्कृत अथवा हिन्दी के किसी अन्य आचार्य ने व्यंजना शक्ति के विवेचन में इस प्रकार की कल्पना नहीं की। आचार्य दास की दूसरी मौलिक उद्भावना यह है कि उन्होंने हिन्दी आचार्यों की तुलना में सर्वप्रथम अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण प्रस्तुत किया। अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना का यह उदाहरण आचार्य चिन्तामणि, कुलपति और सोमनाथ आदि किसी भी आचार्य के ग्रन्थों में नहीं मिलता। जो भी हो, इनके शब्द शक्ति विवेचन की गम्भीरता, और प्रतिपादन की मौलिकता की श्लाघा आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल[१] और डा० सत्येन्द्र[२] आदि कई विद्वानों ने भी की है, अतः हिन्दी आचार्यों की परम्परा में निस्संदेह दास का स्थान सर्वथा अप्रतिम है।

आचार्य दास के पश्चात् शब्द शक्ति विवेचन के सम्बन्ध में अद्यावधि कोई ऐसी कृति उपलब्ध नहीं है, जिससे शब्द शक्ति निरूपण के गम्भीर प्रयास का अनुमान किया जा सके। केवल जनराज कृत 'कविता रस विनोद'[३] और जगत सिंह कृत 'साहित्य सुधानिधि'[४] नामक दो ऐसी कृतियां प्राप्त है, जिनमें शब्द शक्ति विवेचन अति सामान्य रूप में हुआ है, इनका मुख्य आधार मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है।

रीति परम्परा के अन्तिम शब्द शक्ति विवेचक आचार्यों में प्रतापसाहि और लछिराम का अधिक उल्लेख किया जाता है। प्रतापसाहि ने 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' और 'काव्य विलास' नामक ग्रन्थों में शब्द शक्ति का विवेचन किया है और लछिराम ने 'रावणेश्वर कल्पतरु' और 'मुनीश्वर कल्पतरु' में। पर दोनों के विश्लेषण का मूल आधार मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' हैं।

(६) प्रतापसाहि

लछिराम की तुलना में प्रतापसाहि ने 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में अवश्य परम्परागत शब्द शक्ति विवेचन प्रणाली से भिन्न एक नूतन प्रणाली के आधार पर उक्त विषय का निरूपण किया है। इस ग्रन्थ में व्यंग्य द्वारा नायिका भेद निरूपण और पुनः लक्षणा

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २७८
२. कला, कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र, पृ० २४४
३. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १५९
४. " " पृ० १५६

पर विचार करने के अनन्तर अलंकारों की चर्चा की गयी है।[1] इनके इस विषय के विवेचन की मौलिकता की श्लाघा आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी की है। आचार्य शुक्ल ने इनके आचार्यत्व और कवित्व दोनों के अनूठे संयोग के कारण इन्हें मतिराम, श्रीपति और आचार्य भिखारीदास से कुछ बीस ठहराया है और इस तथ्य का भी अनुमोदन किया है कि प्रतापसाहि की रीतिबद्ध काव्य कला ने पद्माकर के साथ-साथ पूर्णता पर पहुंचकर दम लिया।[2] हमने लक्ष्य ग्रन्थ में निरूपित शब्द शक्ति विवेचन के सम्बन्ध में इस बात की चर्चा की थी कि आचार्य प्रतापसाहि ने अपने 'व्यंग्यार्थ कौमदी' में व्यंजना का निरूपण करते समय उसका स्पष्टीकरण व्रजभाषा गद्य में किया है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी काव्य-परम्परा में व्रजभाषा गद्य के माध्यम से प्रताप साहि का लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति का निरूपण सर्वथा मौलिक है। व्रजभाषा के सरस नायिका-भेद के साथ अलंकार और शब्द शक्ति का इतना स्पष्ट संकेत इनकी प्रखर प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के एक छन्द द्वारा इनकी निरूपण शैली का सहज अनुमान लगाया जा सकता है—

> 'होत प्रभात अन्हायबे काज सखीन के साथ तहाँ पग धारे।
> भंजन कै पहिरे पट सुन्दर भूषन अंगन अंग संवारे॥
> तीर है नीर भरी गगरी सु बिलोकि नये तहँ कौतुक भारे।
> आजु सरोवर में सजनी जल भीतर पंकज फूल निहारे॥

अब इस छन्द की प्रतापसाहि कृत व्रजभाषा टीका का नमूना लीजिए—

टीका। नायिका की उक्ति सखी सों कि आजु सरोवर में जल भीतर कमल निहारे तामे व्यंग्य, अपने नेत्रन को प्रतिबिम्ब देखि कमल के फूल मानति भई तातें अज्ञाता इहा नेत्रन को आरोप कमल फूल विषै करो सो अकेले फूल ही पाये तातें साध्यवसाना, अरु जल भीतर फूल यह आश्चर्य यातें रसवदालंकार। श्रृंगार को अंग अद्भुत तातें अपरांग व्यंग्य हैं ताते प्रेयस्वत अलंकार॥ लं० जहाँ भाव में होय अंग और को और तह। प्रेयस्वत कहि सोयगुनीभूत की व्यंग्य जहं।२१॥[3]

प्रतापसाहि का एक अन्य काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्य विलास' है। इसमें भी शब्द शक्तियों का विवेचन किया गया है, पर इसका मूलाधार मम्मट कृत 'काव्य

---

१. व्यंग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसाहि, पृ० २, छं०सं० ७
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१७
३ व्यंग्यार्थ कौमुदी प्रताप साहि पृ० ९ छ० संख्या २१

प्रकाश' के साथ ही विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' भी है। इसमें मौलिक तथ्यो का सर्वथा अभाव है।

(१०) गुलाब कवि

प्रतापसाहि के अनन्तर नायिका भेद एवं अलंकारों का व्यंग्य शैली द्वारा निरूपण करने वाले आचार्यों में बूंदी निवासी कविराज राव गुलाब सिंह का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनकी प्रमुख कृति 'बृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका' है जिसकी चर्चा लक्ष्य ग्रन्थों में निरूपित शब्द शक्ति के सन्दर्भ में की जा चुकी है। इसका आधार प्रतापसाहि कृत 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है। अन्तर यह है कि 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में जहा ब्रजभाषा गद्य द्वारा विषय की गूढ़ता को सरल एवं सुबोध बनाने का यत्न किया गया है, वहाँ 'बृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका' में ब्रजभाषा की संक्षिप्त पद्यबद्ध टीका में पूरे छन्द मे व्याप्त नायिका भेद और अलंकारों का निरूपण अति कुशलता के साथ किया गया है। इसमें भी व्यंग्य गर्भित शैली में नायिका भेद निरूपण की प्रधानता है।[1]

वस्तुत: व्यंग्यार्थ निरूपण की यह सर्वथा नूतन शैली है। व्यंग्य तत्व, नायिका भेद और अलंकारों के समवेत विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिकता की कोटि मे रखा जा सकता है। इनकी व्यंग्य शैली का एक नमूना इस प्रकार है—

अहि शशि खंजन कीर पिक कुन्द बिंबदरबील।
केलि कंज इक बेलि मैं देखे सहित सबील ॥२७॥

इसमें रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा पद्मिनी नायिका का संकेत व्यंग्य शैली से किया गया है।[2]

(ग) ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य की जैसी सांगोपांग विवेचना की गई है, उस कोटि का विवेचन हिन्दी रीति काव्य में प्राय: उपलब्ध नहीं होता।

---

१. व्यंग्य अर्थ की नायिका, विगरै तहाँ विचारि।
—(बृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका-गुलाब कवि) पृ० २, सं० १९५४

२. शशि मुख पिक बानी विषै जानि पद्मिनी जुक्ति।
निकसे वर्ण्य अवर्ण्य में रूपकातिशय उक्ति ॥
बृहद व्यंग्यार्थ चन्द्रिका पृ० ६ छ० स० २८

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का यत्किंचित् जो निरूपण हुआ है, वह पूर्णरूपेण संस्कृत की काव्य शास्त्रीय परम्परा का ही रिक्थ है और उसमें इन कवि आचार्यों का योगदान सर्वथा नगण्य है। इस सन्दर्भ में विवेचन करते समय हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि आचार्य भिखारीदास जैसे कुछ थोड़े से आचार्यों ने इस विषय के विश्लेषण में संस्कृत काव्यशास्त्र की तुलना में कहाँ-कहा अपनी दृष्टि का उपयोग किया है और कहाँ पर विवेच्य विषय को परम्परा से हटकर एक नूतन प्रक्रिया से देखने और समझने का प्रयास किया है।

हिन्दी रीति काव्य परम्परा में चिन्तामणि से पूर्व आचार्य केशवदास का ही नाम सर्वांग निरूपक आचार्यों में लिया जाता है, किन्तु उनके दो प्रसिद्ध रीतिग्रन्थो 'कविप्रिया' एवं रसिक प्रिया'—में कहीं भी ध्वनि शास्त्र और गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में हिन्दी रीति काव्य परम्परा में ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य निरूपक आचार्यों में सर्वप्रथम नाम आचार्य चिन्तामणि का ही आता हे। चिन्तामणि से पूर्व भी ध्वनि विवेचन हुआ होगा, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, किन्तु उन ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण ऐसा अनुमान अधिक प्रयोजन नही रखता। चिन्तामणि से पूर्व ध्वनि निरूपण का संकेत कविवर सेनापति के 'कवित्त रत्नाकार' में मिलता अवश्य हैं,[1] लेकिन ध्वनि के सैद्धान्तिक विवेचन का वहाँ भी सर्वथा अभाव है। हाँ, उनके 'काव्य कल्पद्रुम' में ध्वनि विवेचन की सम्भावना की जा सकती है, लेकिन यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्राप्य है।

आचार्य चिन्तामणि के पश्चात् जिन आचार्यों ने ध्वनि का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है, उनमें कुलपति मिश्र, श्रीपति, आचार्य दास, सोमनाथ और प्रताप साहि प्रभृति मुख्य हैं।

इस दृष्टि से हिन्दी रीति काव्य में ध्वनि शास्त्र का विवेचन प्रायः दो रूपो मे दृष्टिगत होता है—

(१) सैद्धान्तिक रूप में
(२) काव्यात्मक रूप में

सैद्धान्तिक पक्ष को ग्रहण करने वाले आचार्यों में आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, श्रीपति, आचार्य सोमनाथ, प्रतापसाहि और भिखारीदास प्रमुख हे। लक्ष्य ग्रन्थों के रूप में ध्वनि का निरूपण करने वाले कवियों में बिहारी का नाम अग्रगण्य है। पिछले पृष्ठों में बिहारी के ध्वनि विवेचन का संकेत किया जा चुका है।

---

१ सरस अनूप रस रूप यामें धुनि है—कवित्त रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल पृ० ३ १ ७

बिहारी के अतिरिक्त प्रतापसाहि ने भी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में ध्वनि का प्रतिपादन प्रायः काव्यात्मक स्वारस्य के रूप में ही किया है। वे स्पष्टतया ध्वनि परम्परा के आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि इसका संकेत अपनी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में किया है।[1] समस्त रीति काव्य की परम्परा में कुछ ऐसे आचार्य भी हैं, जिन्होंने ध्वनि काव्य का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है। इन आचार्यों में केशवदास और देव का नाम सर्व-प्रथम आता है। आचार्य देव ने 'शब्द रसायन' में जहाँ काव्य के अन्य अंगों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है, वहाँ उन्होंने ध्वनि की चर्चा तक नहीं की। आचार्य केशवदास ने प्रायः दो सिद्धान्तों की मान्यता को अधिक महत्व दिया है—

१. अलंकारवाद,

२. शृंगारवाद

'कविप्रिया' में अलंकारवाद का समर्थन किया गया और 'रसिक प्रिया' में प्रत्यक्षरूप में शृंगारवाद का।

रीति परम्परा के भी आचार्य प्रमुखतया आचार्य मम्मट की भाँति रस ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपोषक थे। इसका संकेत इनके ग्रन्थों में स्पष्टरूपेण किया गया है।[2]

(१) चिन्तामणि

आचार्य चिन्तामणि ने अपना ध्वनि निरूपण प्रायः मम्मटकृत 'काव्य प्रकाश' के आधार पर किया है, किन्तु नायिका भेद का निरूपण विश्वनाथ के आधार पर 'रस ध्वनि' के अन्तर्गत किया है। आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट की भाँति ध्वनि को मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया है—

१, अविवक्षित वाच्य

२. विवक्षितवाच्य।[3]

---

१. व्यंग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसाहि, पृ० २

२. (क) भिन्न-भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास।
　　रसहि व्यंग सब कोउ कह्यो, धुँनि कौ जहाँ प्रकास॥
　　　　—काव्य निर्णय, पृ० १००, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी

　(ख) व्यंग्य जीव ताकौ कहत शब्द अर्थ है देह।
　　गुन गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन येह॥
　　　　—रस-रहस्य, कुलपति मिश्र, पृ० ४

३ कविकुल कल्पतरु चिन्तामणि पृ० ८३

(अ) अविवक्षित वाच्य को पुनः दो भागों में विभाजित किया है—

१. अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि[1]

२. अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि

(ब) पुनः विवक्षितान्यपरवाच्य को आचार्य चिन्तामणि ने दो भागों में विभाजित किया है—

१. संलक्ष्यक्रम व्यंग्य

२. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के जिन भेदों की चर्चा की है, वे इस प्रकार हैं—अविवक्षित वाच्य ध्वनि—४—१. अत्यन्त तिरस्कृत २. अर्थान्तर संक्रमित। इनके पद एवं वाक्यगत भेद भी होते हैं। अतः कुल चार भेद हो गये। यही क्रम आचार्य चिन्तामणि का भी है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के अन्तर्गत—प्रथम संलक्ष्यक्रम और फिर असंलक्ष्यक्रम भेद किये गये हैं। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के आचार्य मम्मट और चिन्तामणि ने कुल ४१ भेदों की कल्पना की हैं जो इस प्रकार है—(१) शब्द शक्त्युद्भव के ४ भेद, (२) अर्थ शक्त्युद्भव के ३६ भेद, (३) शब्दार्थ शक्त्युद्भव के १ भेद। किन्तु असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत आचार्य चिन्तामणि ने जहाँ १ भेद माना है, वहाँ मम्मट ने इसके पद, पद्यांश, रचना, वर्ण, वाक्य और प्रबन्धगत ६ प्रकार के भेद माने हैं।[2] इस सम्बन्ध में उन्होंने मम्मट की इस ध्वनि भेद विषयक धारणा से अपनी असहमति प्रकट की है। यही नहीं, इनके सभी उदाहरण अधिक सरस और मौलिक हैं। प्रथम आचार्य होते हुए भी इनके ध्वनि विवेचन में पर्याप्त प्रौढ़ता है और शास्त्रीय दृष्टि से वे खरे उतरते हैं।

गुणीभूत का निरूपण 'कविकुल कल्पतरु' में नहीं किया गया है। इसका सामान्य संकेत मात्र एक स्थल पर किया गया है।[3]

आचार्य चिन्तामणि ने गुणीभूत व्यंग्य का कथन क्यों नहीं किया, यह स्पष्ट नहीं है।

(२) कुलपति मिश्र

आचार्य कुलपति मिश्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस रहस्य' के तृतीय वृत्तान्त में

---

१. कविकुल कल्पतरु—चिन्तामणि, पृ० ८४

२. काव्य प्रकाश—टी० हरिमंगल मिश्र, सूत्र ६१

३ कवि० कुल० का० पृ० ८३

ध्वनि निरूपण विवेकपूर्वक किया है। यद्यपि इस ग्रन्थ का आधार मम्मटकृत 'काव्य प्रकाश' है फिर भी आचार्य कुलपति ने विवेचन विषयक पर्याप्त मौलिकता दिखायी है। इन्होंने मम्मटकृत ध्वनि के भेदोंपभेदों का नामकरण और स्वरूप विश्लेषण सर्वथा अपने ढंग से किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने आचार्य चिन्तामणि की भाँति ध्वनि के ४६ भेदोंपभेदों की चर्चा नहीं की। केवल मुख्य-मुख्य १८ भेदों का उल्लेख किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनकी दृष्टि संस्कृत आचार्यों की भाँति विस्तार प्रियता की ओर न थी।[१] इन्होंने हिन्दी काव्य परम्परा की प्रवृत्ति और उसके मूल उद्देश्यों का सम्यक् ध्यान रखा। आचार्य कुलपति मिश्र ने ध्वनि के मूल १८ भेदों की चर्चा की है।[२] गद्य में इन अठारह भेदों का विवरण इस प्रकार दिया है—

दो भेद अविवक्षित वाच्य के, एक अक्रमव्यंग ध्वनि का, दो शब्द शक्ति मूल के, बारह अर्थशक्ति मूल के, एक उभय मूल का इस प्रकार सब अठारह भेद हुए।[३]

—ध्वनि भेदों का लक्षण निरूपण

मूल लक्षणा है जहाँ, गूढ़ व्यंग परधान।
अर्थ न काहू अर्थ को सो ध्वनि जानहु जान॥[४]

अर्थात् इसमें लक्षणा मूलक गूढ़ व्यंग्य की प्रधानता रहती है और वाच्यार्थ का महत्व गौण रहता है। यद्यपि कुलपति ने यह लक्षण आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' से ग्रहण किया है,[५] तथापि विषय-प्रतिपादन अपने ढंग से किया है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेदों की चर्चा करते हुए वे आगे लिखते हैं—

जहां अर्थ नहि काम को, सो ध्वनि द्वै विधि होय।
अर्थ और सों मिलि रहै, अर्थहि गनै न कोय॥[६]

---

१. पद समूह, पद, बन्ध, ध्वनि, संकर और संसृष्टि।
डरपि ग्रन्थ विस्तार तें, करी न तिन सों दृष्टि॥
—रस रहस्य, पृ० ३६, छं० सं० १२६

२. रस रहस्य, पृ० ३५, छं० सं० १२५

३. " पृ० ४३६

४. " पृ० १४ तृतीय वृत्तान्त, छं०सं० २

५. काव्य प्रकाश—चतुर्थ उल्लास, टीकाकार, हरिमंगल मिश्र, पृ० ५१

६. रस रहस्य पृ० १५ वतांत तृतीत छं० सं० ३

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ की आवश्यकता ही न पड़े वहां कुलपति के अनुसार अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है और जहां वाच्य अर्थ अन्य अर्थ में संक्रमित (परिणत) हो जाय वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। वास्तव में 'जहाँ अर्थ नहिं काम को' से कुलपति का तात्पर्य अविवक्षित वाच्य ध्वनि से ही है। आचार्य कुलपति ने इसके अनन्तर विवक्षितवाच्य ध्वनि का निरूपण इस प्रकार किया है—

अर्थ व्यंग के काम को जहाँ सुध्वनि द्वै भाँति ।७।
प्रथमहि क्रम नहिं जानिये दूजै है क्रम कांति ।।६।।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्य के काम का हो उसे विवक्षित वाच्य ध्वनि कहा जाता है। इसके दो भेद होते हैं—१. असंलक्ष्य क्रम २. संलक्ष्यक्रम ध्वनि। जिसमें वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ में क्रमलक्षित नहीं होता, उसे असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहा जाता है। जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम लक्षित होता है, उसे संलक्ष्य क्रम ध्वनि कहते हैं। आचार्य कुलपति ने विषयगत जटिलता को स्पष्ट करने के लिए प्रायः सरस उदाहरणों और 'वचनिका' का सहारा लिया है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि उनका ध्वनि निरूपण प्रतिपादन की दृष्टि से हिन्दी के अन्य आचार्यों की तुलना में सर्वथा मौलिक हैं।

संस्कृत आचार्यों की भांति कुलपति मिश्र ने भी गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण मध्यम काव्य के अन्तर्गत किया है। इन्होंने गुणीभूत व्यंग्य के मुख्य ८ भेदों का उल्लेख किया हैं।[१] कुलपति ने इन आठ भेदों में कुछ के नामों को सर्वथा परिवर्तित कर दिया है। आचार्य मम्मट के अनुसार परिगणित भेदों में जहाँ नामान्तर किया गया है, वह इस प्रकार है—

'अपरांग' को इन्होंने 'अंग और को' 'वाच्य सिद्धयंग को' 'अर्थहि देइ बनाय' 'तुल्य प्रधान' को 'सम सुखदायक' और 'काक्वाक्षिप्त' को 'काक' के रूप में ग्रहण किया है। इन नामान्तरों से भी इनकी नूतन दृष्टि का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है, और परम्परा के अनुसरण के साथ ही इनकी विवेचन क्षमता का प्रकृत स्वरूप उद्घाटित होता है।

यद्यपि आचार्य कुलपति मिश्र ने भी अन्य हिन्दी आचार्यों की भाँति गुणीभूत व्यग्य के 'अपरांग' भेद का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। पर संस्कृत काव्य शास्त्रियो की भाँति गुणीभूत व्यंग्य के अधिक विस्तार एवं उसके सूक्ष्म निरूपण की ओर इनकी दृष्टि नहीं गई। हाँ, कहीं-कहीं विवेच्य विषय की इयत्ता के अन्तर्गत कुछ मौलिक उद्भावना का प्रयास अवश्य किया गया है। उदाहरण के लिए 'अपरांग' के अन्तर्गत

---

१ रस रहस्य कुलपति मिश्र पृ० ३६ छ०स० १ २

रसवत् अलंकार के मात्रदो रूपों की चर्चा की गई है—१. रस की 'रस' के प्रति औ भाव के प्रति अंगता। कुलपति ने इनके उदाहरण स्वनिर्मित रखे हैं। इस तथ्य को 'काव्य प्रकाश' और 'रस रहस्य' के तुलनात्मक अध्ययन से पूर्ण रूपेण समझा जा सकत है। इसके अतिरिक्त मम्मट ने प्रेयस्वत् अलंकार के निरूपण में केवल भाव की भाव के प्रति अंगता का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है, किन्तु भाव की रस के प्रति अंगता पर प्रकाश नहीं डाला। कुलपति मिश्र ने 'रस का अंग भाव, विषय पर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो निश्चय ही मम्मट की तुलना में उनकी यह मौलिक सूझ है। निष्कर्षतः ध्वनि निरूपण की तुलना में गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण आचार्य कुलपति मिश्र ने अधिक विवेकपूर्वक किया है। कुलपति मिश्र के अनन्तर ऐतिहासिक क्रम में आचार्य देव का नाम लिया जाता है, किन्तु यह पहले कहा चुका है कि आचार्य देव चूंकि रसवादी परम्परा के अन्तर्गत आने वाले आचार्यों के अनुगत थे। अतः उन्होंने अपने प्रौढ़ ग्रन्थ 'शब्द रसायन' में ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की चर्चा नहीं की।

देव के पश्चात् एक अन्य उल्लेखनीय आचार्य सूरति मिश्र हैं। इनका प्रसिद्ध सर्वांग निरूपक ग्रन्थ 'काव्य सिद्धान्त' है। इसका विवेचन 'काव्य प्रकाश' के आधार पर किया गया है। इस ग्रन्थ में भी ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य की चर्चा की गई है, किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण इसकी विवेचना नहीं की जा सकी। यह ग्रन्थ यद्यपि हस्तलिखित रूप में टीकमगढ़ की लाइब्रेरी में मौजूद है। सूरति मिश्र के अतिरिक्त दूसरे सर्वांग निरूपक आचार्य कुमार मणि शास्त्री हैं, जिनकी चर्चा काव्य-शास्त्रीय विवेचन के अन्य संदर्भ में की जा चुकी है। इन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ 'रसिक रसाल' में ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य का विश्लेषण बड़ी प्रांजल शैली में किया है। नीचे इनके ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(३) कुमार मणि

कुमार मणि ने अपने 'रसिक रसाल' के द्वितीय उल्लास में ध्वनि का संक्षिप्त विवेचन किया है। इसका भी आधार मूलतः मम्मटकृत 'काव्य प्रकाश' है। इसमें मौलिक तथ्य का उल्लेख तो नहीं किया गया। हाँ, विषय का प्रतिपादन बड़ी सुबोध शैली में किया गया है जो हिन्दी काव्य शास्त्र के पाठकों के लिए सहज ही सुग्राह्य है कुमारमणि के अनुसार—

> जामधि व्यंग प्रधान सो, उत्तम काव्य बताय।[१]
> शक्ति लक्षणा मूल सो, द्वैविध व्यंग जताय॥

१ रसिक रसाल—कुमार मणि पृ० ६

इस दृष्टि से इन्होंने मम्मट की भाँति लक्षणा मूलक व्यंग्य के दो भेद माने हैं—

१—अर्थान्तर संक्रमित,
२—अत्यन्त तिरस्कृत

और अभिधामूला ध्वनि के तीन भेद माने हैं—१–वस्तुगत, २–अलंकारगत, ३—रसगत[1] इस प्रकार ध्वनि के इन्होंने कुल पांच भेद माने हैं। इन पांचों भेदों में 'रस व्यंग' का कथन इन्होंने तृतीय उल्लास में पृथक् रूप से दिया है। शेष 'चतुर्विध व्यंग्य कथन' द्वितीय उल्लास में किया है। ध्वनि निरूपण में इनकी प्रवृत्ति अति संक्षिप्तीकरण की ओर प्रतीत होती है। विषय का विस्तार एवं उसके गम्भीर एवं सूक्ष्म महत्व का प्रतिपादन कदाचित् इन्हें अभीष्ट न था। इस कारण यह विषय अधूरा सा रह गया।

मम्मट की भाँति कुमारमणि ने भी मध्यम काव्य के संदर्भ में गुणीभूत व्यंग्य की चर्चा की है। गुणीभूत व्यंग्य का विश्लेषण 'रसिक रसाल' के षष्ठ उल्लास में किया गया है। 'काव्य प्रकाश' की भाँति इन्होंने भी गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेदों का कथन किया है।[2]

आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यग्य के आठ भेदों का निर्देश इस प्रकार किया है—

(१) अगूढ़
(२) अपरांग
(३) वाच्य सिद्धंयंग
(४) अस्फुट
(५) संदिग्ध प्राधान्य
(६) तुल्य प्राधान्य
(७) काकु ध्वनि से आक्षिप्त
(८) असुन्दर।

अब देखना यह है कि आचार्य कुमारमणि ने मम्मट कृत उक्त भेदों के नाम आदि में किस प्रकार के परिवर्तन किए हैं। आचार्य कुमारमणि ने इन आठों भेदों में अगूढ़ व्यंग्य को

---

१. वस्तु रूप रस रूप त्यों, भूषन रूप प्रमान।
शक्ति मूल जो व्यंग्य है, तीन भाँति इमि जान॥—रसिक रसाल, पृ० ६

२. अगूढ़मपरस्यांग वाच्यसिद्ध्यंगमस्फुटम्।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥
व्यस्यमेवं गुणीभूत व्यंग्यस्याष्टौभिदाः स्मृताः।—काव्य प्रकाश, पंचमउल्लास, पृ० १२४

'प्रगट व्यंग्य' के रूप में अभिहित किया है। यह नामान्तर इनका अपना है। किसी परम्परा का अनुसरण नहीं है। 'अति प्रगट व्यंग्य' (अगूढ़ व्यंग्य) का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह 'काव्य प्रकाश' से सर्वथा भिन्न है।[१] 'अति गुप्त व्यंग्य' को कुमारमणि ने मम्मटकृत 'अस्फुट व्यंग्य' के अर्थ में प्रयुक्त किया हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारमणि अस्फुट के स्थान पर 'अतिगुप्त' नाम अधिक उचित समझते हैं। अतः मम्मटकृत इस नामकरण से वे सहमत नहीं हैं। इस कारण उक्त नाम में संशोधन करना उन्होने आवश्यक समझा। इसके उदाहरण में किसी भी प्रकार की नूतनता नहीं मिलती—मात्र मम्मट के उदाहरण का पद्य में रूपान्तर कर दिया गया है। 'असुन्दर व्यंग्य' का उदाहरण कुमारमणि का अपना है, क्योंकि मम्मटकृत उदाहरण से यह सर्वथा भिन्न है। मेरे विचार से मम्मट से इनका उदाहरण अधिक स्पष्ट एवं सरस है। दोनों ग्रन्थो के उदाहरणों से हमारे कथन की पुष्टि भली भाँति हो सकती है—

(अ) 'रसिक रसाल' का उदाहरण—

भोर हीं प्रीतम को लखि दूरतें आदर भाव सुभाव जतायौ
आसन दै निज पास 'कुमार' डबाधरि पान सुगंध सुहायौ।
'प्यारो भयो शाम आवत' यों कहि लै कर बीजन आप डुलायौ।
सारस लोचनी आरसी दैकर, पानी सयानीं सखी सों मगायौ।[२]

(ब) 'काव्य प्रकाश' का उदाहरण

वानीर कुंजो ड्डीवशकुनि कोलाहलं शृ णवन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्या सीदन्त्यंगानि ॥

अर्थात् घर के समीप वाले लता कुंज में संकेत स्थान नियत करके वहाँ के पक्षियो के उड़ने के कोलाहल को सुनकर नायिका नेवहां पर अपने जार की उपस्थिति का अनुमान कर लिया उसी के विषय में कहा गया है—: बेत के घने कुंज से उड़ते पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुए घर के कामों में फंसी हुई बहू के अंग-अंग व्याकुल हो रहे हैं।

'संदिग्ध प्राधान व्यंग्य' का भी उदाहरण कुमारमणि का अपना है।[४] इसके स्थान पर मम्मट ने एक अन्य उदाहरण का प्रयोग किया है[५] जो कि कुमारमणि से

---

१ राखति भूषन में रुचि रंग तो लाल मिलाउरी सोने से अंग में।—रसिक रसाल पृ० १२६

२. रसिक रसाल—षष्ठ उल्लास, पृ० १२६

३- काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मठ, पृ० १३८, टी० हरिमंगल मिश्र

४ लसत हसत-से दीह दृग, विहसत विमल कपोल।
चन्द्रमुखी मुखचन्द्र लखि, नन्द नन्दन चित लोल ॥—रसिक रसाल पृ० १२९

५ काव्य प्रकाश पचम उल्लास पृ० १३६ टी० हरिमगल मिश्र

अधिक सरस नहीं प्रतीत होता। 'तुल्य प्रधान' का उदाहरण आचार्य मम्मट ने महावीर चरित नाटक के द्वितीय अंक से उद्धृत किया है और कुमारमणि ने इसका उदाहरण उससे भिन्न रखा है। कुमारमणि के उदाहरण में शृंगार रस की सहज माधुरी दृष्टिगत होती है।[1] इसके अतिरिक्त अधिकांश उदाहरण मम्मट कृत उदाहरणों का ब्रजभाषा रूपान्तर है।

कुमारमणि ने गुणीभूत व्यंग्य के निरूपण में सिद्धान्ततः किसी नूतन धारणा का प्रतिपादन तो नहीं किया, किन्तु विषय के स्पष्टीकरण में नामान्तर के साथ ही सरस उदाहरणों की रचना द्वारा निश्चय ही अपनी मौलिक प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। हिन्दी काव्य-शास्त्र की परम्परा में उनकी यह विचारणा एक नूतन कड़ी के रूप में परिगणित होगी। मम्मट जैसे आचार्य के गूढ़ एवं गम्भीर ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' की समकक्षता में उसके प्रचलित नामों का संशोधन और प्रयुक्त उदाहरणों की तुलना में अधिक सरस और उपयुक्त उदाहरणों का चयन वस्तुतः उनके भारी साहस एवं दृढ़ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

(५) *सोमनाथ*

आचार्य सोमनाथ से पूर्व देव, सूरति मिश्र और आचार्य श्रीपति द्वारा निरूपित ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य का उल्लेख किया जाता है, किन्तु इन तीनों में देव को छोड़कर शेष दो आचार्यों ने ध्वनि का विवेचन अति सामान्य और चलते ढंग से किया है, उसकी सूक्ष्मता एवं भेदोपभेद में प्रवेश करने का प्रयास प्रायः नहीं किया। आचार्य सोमनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस पीयूष निधि' में सातवीं तरंग से लेकर अठारहवीं तरंग तक ध्वनि का निरूपण किया है और १९वीं तरंग में गुणीभूत व्यंग्य का। इसके साथ ही 'रस ध्वनि' के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का निरूपण किया है। सिद्धान्त की दृष्टि से आचार्य सोमनाथ की गणना ध्वनिवादी आचार्यों के अन्तर्गत की जाती है।

'रस पीयूष निधि' के अन्तर्गत विवेचित ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का आधार आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है। आचार्य सोमनाथ ने भी मम्मट की भाँति ध्वनि के मूल १८ भेदों का ही कथन किया है। इसके सूक्ष्म भेदों की गहराई में उतरने का प्रयत्न नहीं किया। इन १८ भेदों की चर्चा हम कुलपति मिश्र के प्रसंग में कर चुके हैं। अतः उन भेदों का पुनः अनावश्यक विस्तार यहाँ उचित नहीं है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य सोमनाथ की प्रांजल विवेचन प्रणाली आचार्य

---

१ रसिक रसाल पृ० १२९

कुलपति आदि हिन्दी आचार्यों की तुलना में अधिक श्लाघ्य है। इसके महत्व को मिश्र बन्धुओं[1] और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल[2] ने भी स्वीकार किया है।

इनमें सन्देह नहीं कि आचार्य सोमनाथ ने उदाहरणों के चुनाव में अपनी सहृदयता एवं कवि सुलभ सरसता का अच्छा परिचय दिया है। आचार्य मम्मट की तुलना में इनके उदाहरण अधिक सुग्राह्य एवं सरस हैं। उदाहरण के लिए एक-एक छन्द उद्धृत किया जा रहा है। इन उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो जायगा कि आचार्य सोमनाथ ने मम्मट का आधार ग्रहण करने पर भी उदाहरणों के चयन में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है—

आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' का उदाहरण—

उपकृतं बहुतत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदासखे, सुखितमास्स्व ततः शारदां शतम् ।।[3]

अर्थात् अनेक अपकारों द्वारा पीड़ित कोई व्यक्ति अपने अपकारी से कहता है कि हे मित्र ! आपने मेरा बहुत उपकार किया है। आप सदैव ऐसा ही करते हुए सैकड़ों वर्ष सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें।

यह उदाहरण आचार्य मम्मट ने 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' के निमित्त उद्धृत किया है। अब इसी ध्वनि के उदाहरण में आचार्य सोमनाथ की रचना लें—

उनि पियूष परस्यो मधुर, उनि अचयौ मकरन्द ।
अलि अनूप कौतिक भयो, निरखि अरविन्द सुचन्द ।।[4]

यहां इस दोहे का सामान्य अर्थ तो यह है कि 'कोई सखी किसी से कह रही है कि हे अलि, कमल ने चन्द्र का पीयूष पान किया और चन्द्र ने कमल का मकरन्द, किन्तु व्यंग्यार्थ की दृष्टि से उसका अर्थ यह है कि नायक-नायिका परस्पर अधर-पान में संलग्न हैं। वस्तुतः उदाहरणों के ऐसे स्वारस्य के ही कारण आचार्य सोमनाथ का स्थान मम्मट से निश्चय ही ऊँचा है। इन्होंने मम्मट की भांति गुणीभूत व्यंग्य के मात्र आठ भेदों का उल्लेख किया है। उसके भेदोपभेद में जाने का प्रयास प्रायः नहीं किया। इस विषय के निरूपण में इन्होंने किसी तथ्य की ओर संकेत तो नहीं किया,

१. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ६४६, द्वितीय संस्करण
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २८५
३. काव्य प्रकाश—मम्मट, पृ० ५२, टीकाकार—हरिमंगल मिश्र
४ रस पियूष निधि आचार्य सोमनाथ—याज्ञिक संग्रह की हस्तलिखित प्रति ७ ५

पर सरस उदाहरणों में अपनी सूझ-बूझ का परिचय अवश्य दिया है। नीचे 'अपरांग गुणीभूत व्यंग्य' के अन्तर्गत 'भाव के अंगीभूत रस' विषयक 'काव्य प्रकाश' और 'रसपीयूष निधि' का एक-एक उदाहरण लीजिए—

(i) **काव्यप्रकाश का उदाहरण**—कैलासालय भाल लोचनरुचा निर्वर्तिताल-
क्तकव्यक्तिः पादनखद्युति र्गिरि भुवः सावः
सदात्रायताम्।

स्पर्द्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कांतिः कोकनदानुकाररसा सद्यः समुत्सार्यते।[1]

(ii) **रसपीयूष निधि का उदाहरण**—

हरि अजहूँ आये नहीं आयो निकट वसन्त।
क्यों सजनी करिये कहा, सरस्यो बिरह अनन्त[2]॥

(५) भिखारीदास

आचार्य दास ने अपने 'काव्य निर्णय' के षष्ठ उल्लास में मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर ध्वनि निरूपण किया है। इसी ग्रंथ के सातवें उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य का उल्लेख किया गया है। ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य निरूपण में दास ने मम्मट से अधिक प्रभावित होने पर भी कई स्थलों पर उनसे अपना स्पष्ट मत भेद प्रकट किया है और कहीं-कहीं पारस्परिक विवेचन से हटकर अपनी स्वतन्त्र उद्भावना से भी काम लिया है। यद्यपि यह सत्य है कि इन्होंने सैद्धान्तिक निरूपण में आचार्य कुलपति और सोमनाथ जैसी प्रांजल तथा सुबोध शैली नहीं अपनाई, फिर भी मौलिक तथ्यों का जैसा विशद प्रतिपादन आचार्य दास ने अपने ग्रंथों में किया है, उस कोटि का विवेचन हमें समस्त रीतिकाल के आचार्यों में ही नहीं, वरन् कहीं-कहीं संस्कृत काव्यशास्त्र में भी नहीं दृष्टिगत होता। इन्होंने अपने विचारों के स्पष्टीकरण के लिए यथास्थल 'वृत्ति' का भी प्रयोग किया है। इस 'वृत्ति' का प्रयोग काव्य निर्णय में ही विशेषरूप से हुआ है। हम डा० सत्यदेव चौधरी के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि आचार्य दास ने गद्य अथवा 'वृत्ति' का प्रयोग बिलकुल नहीं किया।[3]

आचार्य दास ने मम्मट के अनुसार प्रथमतः ध्वनि के दो मुख्य भेदों का उल्लेख किया है—१-अविवक्षित वाच्य ध्वनि, २-विवक्षित वाच्य ध्वनि। इन्हीं दो मुख्य

१—काव्य प्रकाश, पृ० १२८

२—रसपीयूष निधि—आचार्य सोमनाथ १६।१५

३—हिन्दी रीति के प्रमुख —डा० सत्यदेव चौधरी पृ० ७३६

भेदों के आधार पर ध्वनि के अनेक उपभेदों का कथन किया गया है। आचार्य दास ने मम्मट की भांति अविवक्षित ध्वनि के दो मुख्य भेदों—अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत–का उल्लेख करते हुए गूढ़ व्यंग्य का समावेश केवल अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि में ही किया है। यद्यपि अविवक्षित वाच्य ध्वनि पूर्णतया लक्षणा मूला ध्वनि पर आधारित है, लेकिन दास ने आचार्य मम्मट के इस सिद्धान्त का अनुमोदन केवल उक्त ध्वनि के ही सन्दर्भ में किया है और इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दूसरे भेद अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के गूढ़ व्यंग्य को नहीं माना। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य दास की यह अपनी दृष्टि है। उसमें गूढ़ व्यंग्य के न मानने का कारण क्या है, इसे इन्होंने स्पष्ट नहीं किया।

इसी प्रकार विवक्षतान्यपरवाच्यध्वनी के आचार्य दास ने दो भेद किये हैं—

१—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य,
२—संलक्ष्यक्रम ध्वनि।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि के तीन भेदों का उल्लेख किया गया है—

१—शब्द शक्त्युद्भव
२—अर्थशक्त्युद्भव
३—शब्दार्थशक्त्युद्भव

इन तीनों में अर्थक्त्युद्भव ध्वनि को आचार्य मम्मट ने तीन भागों में बांटा है—(!) स्वतः संभविजन्य, (!!) कवि प्रौढ़ोक्तिजन्य और कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध।[1] किन्तु आचार्य दास ने मात्र स्वतःसंभविजन्य और कविप्रौढ़ोक्ति जैसे दो भेदों की चर्चा की है।[2] कविनिवद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध को अनावश्यक समझने के कारण इसके महत्व को स्वीकार नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य दास ने कवि-निबद्ध वक्ता को कवि के अन्तर्गत समाविष्ट करके कवि को ही समस्त महत्व और गौरव प्रदान किया है। संस्कृत काव्य शास्त्र में स्वतः पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अपने 'रसगंगाधर'[3] ग्रंथ में कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति को स्वीकार नहीं किया। अतः स्पष्ट है कि आचार्य दास यहाँ मम्मट की तुलना में पण्डित राज जगन्नाथ से अधिक सहमत हैं। और इसी से पात्र निबद्धता और कवि की प्रौढ़ोक्ति जैसे स्थूल और अस्वाभाविक विभाजन आचार्य दास जैसे काव्यशास्त्र के वैज्ञानिक विवेचक को मान्य नहीं है।

---

१. काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मट, पृ० ८५, टीकाकार—हरिमंगल मिश्र
२. काव्य निर्णय—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी. पृ० १२९
३. पं० जगन्नाथ २ आ० पृ० १३५

—दास का स्वयं लक्षित व्यंग्य

आचार्य दास ने ध्वनि प्रकरण के अन्तर्गत एक स्वयं लक्षित व्यंग्य का भी उल्लेख किया है और उसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

वाही कहें बने जुविधि, वा सम दूजो नाहिं।
ताहि 'सुयंलच्छित' कहें, व्यंग्य समझि मन मांहि ॥[1]

और इसके भेदों का कथन इस प्रकार किया है—

सब्द, वाक, पद, पदहुं को, एक देश पद बर्न।
होत सुयंलच्छित तहां, समझे सज्जन कर्न ॥[2]

वस्तुतः 'स्वयं लक्षित व्यंग्य' की चर्चा संस्कृत काव्यशास्त्र के किसी आचार्य ने नहीं की। इसे मम्मट द्वारा कथित असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के पर्याय रूप में भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि मम्मट ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का जो रूप निर्धारित किया है, उससे यह किसी भी रूप में मेल नहीं खाता।[3] ऐसी स्थिति में कुछ लोगो के अनुसार आचार्य दास की यह मौलिक उद्भावना नहीं कही जा सकती, अपितु यह अशास्त्रीय दृष्टि का परिणाम है।[4] मेरे विचार से इस प्रकार का कथन अधिक तर्कपुष्ट नही है, क्योंकि शब्द, वाक्य, पदांश रचना और बर्ण जैसे पांच ध्वनिभेदो की उन्होंने स्वतः स्थापना की है। डा० नारायणदास खन्ना ने अपने शोध प्रबन्ध ग्रथ 'आचार्य भिखारीदास' में स्वयं 'लक्षित व्यंग्य' को मम्मट द्वारा उल्लिखित 'पदैक देश रचना वर्णध्वपि रसादयः' के रूप में परिगणित किया है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह पक्ति स्वय लक्षित व्यंग्य से मेल खाती है? जहां तक 'स्वयं लक्षित व्यंग्य' की समस्या है, इसकी चर्चा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत करना उचित नहीं है, क्योंकि स्वयं दास ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को अलग से निरूपति किया है—और इधर मम्मट के टीकाकारो ने कथित पदैकदेश...आदि की व्याख्या करते समय स्पष्ट शब्दों में इस लक्षण को असलक्ष्यक्रम ध्वनि में अन्तर्भुक्त किया है।[5] आचार्य दास ने चूंकि मम्मट के अनुसार असलक्ष्यक्रम व्यंग्यके पदगत आदि भेदों की चर्चा नहीं की, इसी से स्वयंलक्षित व्यग्य के पांच ध्वनिभेदों को देखकर लोगों को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का भ्रम हुआ है। मेरे

---

१. काव्य निर्णय—पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० १४१
२. ,, ,, ,, ,, ,,
३. काव्य प्रकाश—मम्मट ४।६१ सूत्र
४ हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य डा० सत्यदेव चौधरी पृ० २११
५ काव्य प्रकाश पृ० ११० टीकाकार हरिमगल मिश्र

विचार से पद आदि भेदों का विस्तार करना उन्हें अभीष्ट नहीं था, इसीलिए उन्होंने 'स्वयं लक्षित' नामक नूतन ध्वनि के माध्यम से कुछ मौलिक स्थापना का प्रयास किया है।

—ध्वनि प्रकरणके अन्तर्गत दास की मौलिकता

आचार्य मम्मट ने व्यंजना शक्ति का निरूपण करते समय उसे दो प्रमुख भागों में बाँटा है—१-शाब्दी व्यंजना, २-आर्थी व्यंजना। पुनः शाब्दी व्यंजना को दो भागों में विभाजित किया है—

१—लक्षणा मूला व्यंजना,
२—अभिधामूला व्यंजना।

और आर्थी व्यंजना का नामोल्लेख करते समय उसके दस भेदों की गणना की थी।[1] ध्वनि निरूपण के सम्बन्ध में भी आचार्य मम्मट ने अविवक्षित ध्वनि और विवक्षिता-न्यपरवाच्य ध्वनि को क्रमशः लक्षणा मूला और अभिधामूला का अपर रूप माना है, किन्तु आर्थी व्यंजना के दस भेदों का कथन बिलकुल नहीं किया है। हाँ, मम्मट की तुलना में आचार्य दास ने आर्थी व्यंजना को ध्वनि के भेदों में अन्तर्भुक्त किया है[2] और इस प्रकार ध्वनि और व्यंजना को प्रकारान्तर से एक माना है। वस्तुतः ध्वनि जैसे गम्भीर एवं जटिल विषयों के क्षेत्र में नूतन स्थापना और वैज्ञानिक विवेचन इनकी गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तना का ही परिणाम कहा जा सकता है।

आचार्य दास ने अपने 'काव्य निर्णय' में गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन इस प्रकार किया है—

जा व्यंग्यारथ में कछू, चमत्कार नहिं होइ।
गुँनीभूत सो व्यंग है, मध्यंम काव्यहि सोइ॥[3]

किन्तु डॉ० सत्यदेव चौधरी ने आचार्य मम्मट की तुलना में इस परिभाषा को त्रुटि-पूर्ण माना है।[4] इसके विपरीत डॉ० नारायणदास खन्ना ने आचार्य भिखारीदास के के इस लक्षण को, साहित्य दर्पणकार, काव्य प्रकाशकार, ध्वनिकार और चन्द्रालोक-

---

१. काव्य प्रकाश—मम्मट, पृ० ४० सूत्र ३७

२. ए सब तैंतिस जोरि दस, व्यक्त आदि पुनि ल्याइ।
तैंतालीस प्रकास धुनि, दीनी मुख्य गिनाइ॥
—काव्य निर्णय पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, छठां उल्लास, पृ० १४५।

३ काव्य निर्णय—पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी पृ० १४६

४ रीति के प्रमुख आचाय डा० सत्यदेव चौधरी पृ० २२७

कार की तुलना में सर्वथा शुद्ध माना है।[1] आचार्य दास ने यह परिभाषा पूर्णतया परम्परा पालन की प्रकृति से प्रभावित होकर नहीं लिखी, अपितु इसमें यत्किंचित् संशोधन भी किया है।

(६) प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के पूर्व भी कुछ हिन्दी आचार्यों ने ध्वनि विषय का विवेचन प्रस्तुत किया था, जिनमें जनराज (कविता रस विनोद) जगत सिंह (साहित्य सुधानिधि) तथा रणधीर सिंह (काव्य रत्नाकर) मुख्य हैं।[2] इन आचार्यों द्वारा निरूपित ध्वनि विषय अति संक्षिप्त है। इसमें विशद विवेचन का सर्वथा अभाव है। प्रतापसाहि ने ध्वनि विषय का विवेचन अपने 'काव्य विलास' के तृतीय प्रकाश में किया है।

इन्होंने 'काव्य विलास' में प्रथमतः १८ भेदों की चर्चा की है।[3] इन अठारह भेदों से ५१ भेदों का विस्तार किया है,[4] जो अधिक जटिल एवं अस्पष्ट है। इन ५१ भेदों को बढ़ाते-बढ़ाते इनकी संख्या १०४०४ और १०४५५ तक पहुंचा दी गयी है। आचार्य प्रतापसाहि यों मूलतः मम्मट से प्रभावित हैं, लेकिन इन्होंने यथावश्यक विश्वनाथ सेभी सहायता ली है।

प्रतापसाहि ने अपने 'काव्य विलास' ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकाश में गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण किया है। इस विषय का मूलाधार मम्मटकृत 'काव्य प्रकाश' है पर कहीं-कहीं साहित्य दर्पण आदि का भी आधार लिया गया है, इसके सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने स्वयं उल्लेख किया है। गुणीभूत व्यंग्य के अष्ट भेदों का उल्लेख प्रताप साहि ने इस प्रकार किया है—

(१) प्रकट व्यंग्य
(२) गुप्त व्यंग्य
(३) और को अंग (अपरांग)
(४) वाच्य सिद्धांग
(५) काक कथित
(६) संदिग्ध

---

१ आचार्य भिखारीदास—डा० नारायणदास खन्ना, पृ० १६७
२ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १५४, १५६, १७०
३ काव्य विलास—प्रताप साहि, ३/११०, १११ नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से
४ कहि पद ये धुनि के पुव प्रमान ३ ११३

(७) तुल्य प्रधान

(८) असुन्दर।[1]

इन भेदों के अतिरिक्त मम्मट कृत 'अस्फुट' व्यंग्य की चर्चा तो इस सूची में नहीं की, किन्तु पृथक् से इसका लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।[2] अन्य हिन्दी आचार्यों की भाँति प्रतापसाहि ने भी अपरांग के भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अपरांग के सात भेदों के लक्षण एवं उदाहरणों की शास्त्रीय विवेचना में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

आचार्य प्रतापसाहि ने भी कुमारमणि की भाँति मम्मटकृत उल्लिखित गुणीभूत व्यंग्य के कतिपय नामो में परिवर्तन किया है। ऐसा लगता है कि ये कुलपति मिश्र की अपेक्षा 'रसिक रसाल' के रचयिता कुमारमणि से अधिक प्रभावित हैं, क्योंकि 'रसिक रसाल' के षष्ठ उल्लास में कथित गुणीभूत व्यंग्य के अष्ठ भेदों की वही नामावली इन्होंने भी ज्यों-की-त्यों प्रस्तुत की है। इन्होंने भी मम्मट के अगूढ़ व्यंग्य को कुमार मणि की भाँति 'प्रकट व्यंग्य' के रूप में स्वीकार किया है। और मम्मट के 'अस्फुट व्यंग्य' को अष्ट भेदों में स्थान नहीं दिया। किन्तु कुमार मणि ने इसे 'अति गुप्त व्यंग्य' के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि 'रसिक रसाल' में अति गुप्त व्यंग्य का जो उदाहरण मिलता है, वह ठीक मम्मट के 'स्फुट व्यंग्य' का रूपान्तर है।[3] इससे स्पष्ट है कि 'अति गुप्त व्यंग्य' अस्फुट व्यंग्य के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य को ठीक से न ग्रहण करने के कारण प्रतापसाहि ने 'अस्फुट व्यंग्य' का कथन गुणीभूत व्यंग्य के अष्ट भेदों के अतिरिक्त पृथक् से किया है। डॉ० सत्यदेव चौधरी ने इसे नये भेद के रूप में स्वीकार किया है, लेकिन यदि 'रसिक रसाल' को आधार बना कर इस प्रकार विचार किया गया होता तो ऐसी शंका को स्थान न मिलता।[4] 'अस्फुट व्यंग्य' की जो परिभाषा प्रताप साहि ने दी है, वह इस प्रकार है—

जहां व्यंग्य अति कठिन से सहृदै हिये निहारि।
अस्फुट तासों कहत हैं कवि कोविद निरधारि॥

---

१. काव्य विलास ४।१, २

२. " ४।२४, २५

३. काव्य प्रकाश-पंचम उल्लास, पृ० १३५, टीकाकार—हरिमंगल मिश्र

४ काव्य विलास ४ २२

वास्तव में प्रतापसाहि का यह लक्षण मम्मट[1] ओर विश्वनाथकृत[2] 'ग्रस्फुट व्यंग्य' की कारिका वृत्ति का ठीक छायानुवाद है। अतः 'अति गूढ़' या 'अति गुप्त' व्यंग्य के सम्बन्ध में डॉ० चौधरी का यह कथन तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि 'वस्तुतः गूढ अथवा अतिगूढ़ को गुणीभूत व्यंग्य कहना युक्ति संगत है भी नहीं।'[3] एक ओर जहाँ आचार्य मम्मट ने ग्रस्फुट व्यंग्य के रूप में गूढ़ व्यंग्य की सत्ता स्वीकार की है, वहाँ प्रतापसाहि द्वारा उल्लिखित गुप्त अथवा गूढ़ व्यंग्य की आलोचना ठीक नहीं जँचती। हा, प्रताप साहि ने मम्मट की अपेक्षा कुमारमणि के प्रभाव को अधिक ग्रहण किया। इस प्रकार 'ग्रस्फुट व्यंग्य' और 'अति गुप्त व्यंग्य' को उन्होंने दो भिन्न व्यंग्य के रूप मे अभिहित किया।

(घ) गुण एवं रीति विवेचन

गुण और रीति के सम्बन्ध में हिन्दी रीति आचार्यों ने बहुत कम विचार किया।* जिन थोड़े से आचार्यों ने कुछ कहने का साहस भी किया तो विवेचन की सक्षिप्तता के कारण उनका यह विषय प्रायः ग्रस्पष्ट ही बना रहा। दूसरा कारण यह भी था कि नायक-नायिका भेद और अलंकार विवेचन की सीमा से ये आचार्य आगे बढना चाहते भी न थे, क्योंकि इनकी दृष्टि शृंगार और अलंकार के निरूपण मे जितनी जमी, उतनी अन्य विषयों के विस्तार में नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्टतया प्रतीत होता है कि आचार्य केशव जैसे मान्य रीति शास्त्र के मर्मी पंडितों द्वारा भी अधिक गहराई और विवेकपूर्वक रीति ग्रार गुण की मीमांसा न हो सकी। केवल संकेत से ही काम चलाया गया है।

(१) चिन्तामणि

इसी प्रकार रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य चिन्तामणि की भी विवेचना

---

१. अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभंय च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम्
—काव्य प्रकाश पं० उ०, पृ० १३५

२. इति व्यंग्यं व्युत्पन्नान्तयपि झटित्यस्फुटम्—साहित्य दर्पण, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० १५३

३. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० २३४।

* इस सम्बन्ध में लाला सीताराम का विचार दृष्टव्य है—
"The Gunas also seems to have received scanty attention, except from such writers as Keshav Das and Chintamani
Selections from Hindi Literature Part v Introduction Page 2

अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। हाँ, कुछ स्थलों पर उन्होंने अपनी नूतन दृष्टि का परिचय अवश्य दिया है। ऐसे स्थलों पर नूतनता की यह दृष्टि अधिक उल्लेखनीय है। आचार्य चिन्तामणि के गुण विषयक विवेचन के सम्बन्ध में मौलिक तत्वों का कथन इस प्रकार किया जाता है—

१—आचार्य चिन्तामणि ने 'माधुर्य' गुण को सर्वप्रथम कविता का तत्व बतलाया।[1]

२—'उदारता' में अर्थ चारुता और 'अर्थ व्यक्ति' में अलंक्रियता के समावेश किये जाने का सर्वप्रथम संकेत किया।[2]

इधर रीति तत्व के विवेचन में आचार्य चिन्तामणि ने प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है और तद्विषयक विवेचन की कोई नूतन उद्भावना का आभास उनमें नहीं मिलता।

(२) कुलपति मिश्र

चिन्तामणि के पश्चात् आचार्य कुलपति ने इस विषय पर बहुत सामान्य रूप से विचार किया है। आधार प्रायः मम्मट का ही है। इस कारण गुण और रीति दोनों के सम्बन्ध में वे अपनी स्वतंत्र सम्मति न दे सके।

(३) देव

आचार्य कुलपति के बाद अन्य उल्लेखनीय आचार्यों में महाकवि देव की चर्चा की जाती है। आचार्य देव ने गुण और रीति का निरूपण अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शब्द रसायन में किया है। आचार्य देव ने रीति को काव्य का द्वार माना है और रस के साथ इसकी पूर्ण अभिन्नता स्वीकार की है।[3] सबसे बढ़कर बात तो यह है कि आचार्य देव ने रीति और गुण को समानार्थक माना है। इन्होंने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों का कहीं कथन नहीं किया, बल्कि इनके स्थान पर ओज, प्रसाद एवं माधुर्य गुणों को ही रीतियों के रूप में अभिहित किया है। वास्तव में पारम्परिक दृष्टि से देव की यह सर्वथा भिन्न दृष्टि है। यद्यपि इसके औचित्य के सम्बन्ध में विद्वानों ने पूर्ण आपत्ति की है।[4] देव की दूसरी नवीन उद्भावना यह है कि इन्होंने प्रत्येक रीति के

---

१. कवि कुल कल्पतरु, पृ० ३

२. " " पृ० ७,८

३. शब्द रसायन—देव पृ० ७२

४ रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० १६१

नागर एवं ग्राम्य भेद माने हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में देव का कथन है कि नागर गुणों का आगर होता है और ग्राम्य रस सागर होने पर भी सुरुचि हीन होता है।[1] रीतिकाल के मान्य आलोचक डा० नगेन्द्र ने देव के नागर और ग्राम्य विषयक भेदों को पूर्ण असंगत बताया है।[2]

(४) दास

गुण और रीति के अन्य मान्य आचार्य भिखारीदास कहे जाते हैं। इस विषय का विवेचन इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' में किया है। आचार्य दास ने निश्चय ही अन्य आचार्यों की तुलना में इस विषय का मम्मटानुसार कथित लक्षणों से भिन्न अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। गुण के सम्बन्ध में दास की मौलिक उद्भावना का यह अंश देखें—

रस कवित्त को अंग भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता ॥१३॥[3]

इस प्रकार संस्कृत के किसी आचार्य ने काव्य में गुण की स्थिति उसके स्वरूप और रंग के रूप में कभी स्वीकार नहीं की और न रस ही काव्य के अंग रूप में मान्य हुआ। वस्तुतः दास की यह मौलिक उद्भावना है। उनकी अन्य मौलिकता दस गुणों के वर्गीकरण में लक्षित होती हैं, जहाँ इन्होंने परिपाटी से भिन्न स्वतंत्र प्रयास किया है। रीतियों के सम्बन्ध में किसी नवीन दृष्टि का आभास नहीं मिलता। रीतियों का वर्णन इन्होंने वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत किया है, जो स्पष्ट ही अत्यन्त स्थूल विवेचन है। हिन्दी के अन्य आचार्य सोमनाथ, कुमारमणि, प्रतापसाहि, लछिराम आदि में किसी भी प्रकार की नूतनता नहीं मिलती।

(ङ) दोष निरूपण

हिन्दी रीति शास्त्र के पूरे इतिहास में दोष-निरूपण जैसे विषय का विस्तार बहुत थोड़े आचार्यों द्वारा किया गया। जिन आचार्यों ने इस विषय पर कुछ लिखने का प्रयास भी किया तो वह मात्र प्रयास ही रहा, क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों

---

१. शब्द रसायन, पृ० ७३
२ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा०नगेन्द्र पृ० १६३
३ प्र० द्वि०ख० पृ० ५

की भाँति बहुत जमकर और विवेकपूर्वक लिखने की निष्ठा हिन्दी आचार्यों में प्राय नहीं मिलती।

(१) आचार्य केशवदास

यद्यपि हिन्दी रीतिशास्त्र के प्रथम आचार्य केशवदास ने दोष-निरूपण के सम्बन्ध में कुछ विचार 'रसिक प्रिया' में किया अवश्य हैं, परन्तु मौलिकता की दृष्टि से उनके ऐसे विचारों का बहुत अधिक महत्व नहीं है। यों नवीनता के नाम पर रस दोष के अन्तर्गत उनके पाँच दोषों—प्रत्यनीक, नीरस' विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट का उल्लेख होता है,[1] किन्तु ये सभी दोष रसाभास, अपुष्टार्थ आदि के अन्तर्गत आ जाते हैं। फिर भी नामान्तरण में इनकी मौलिकता मान्य है। इसी प्रकार कतिपय दोषों की चर्चा 'कविप्रिया' में भी की गयी है, लेकिन वे सभी दोष संस्कृत आचार्य दण्डी और केशव मिश्र आदि से प्रायः मिल जाते हैं। हाँ, 'नग्नदोष' केशव की मौलिक उद्-भावना के अन्तर्गत आता है।[2] आचार्य केशव ने 'नग्न दोष' का लक्षण तो नहीं लिखा, किन्तु उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'अलंकार हीन' और 'रस हीन' रचना नग्न दोष के अन्तर्गत आती है।

(२) चिन्तामणि

रीतिकाल के दूसरे आचार्य चिन्तामणि ने दोषों का निरूपण अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवि कुल कल्पतरु' में किया है। किन्तु मौलिकता की दृष्टि से चिन्तामणि का यह विवेचन अधिक महत्व नहीं रखता। आचार्य कुलपति मिश्र ने काव्य-दोषों का प्रति-पादन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस रहस्य' में किया है। अन्यान्य काव्यांगों की भाँति दोषों का भी विवेचन मम्मटकृत 'काव्य प्रकाश' के आधार पर किया गया है। जहाँ तक मौलिकता का सम्बन्ध है, हमें इनके विवेचन में किसी प्रकार की नई सूझ-बूझ दृष्टि-गत नहीं होती। हाँ, यह अवश्य है कि इन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम दोष-परिहार-प्रसंग को विस्तृत रूप में एवं सोदाहरण प्रस्तुत किया है।[3]

(३) देव

रस दोष वर्णन के सन्दर्भ में आचार्य देव ने कुछ नूतन उद्भावना का प्रयास किया अवश्य है, किन्तु उन दोषों में कुछ ऐसे भी हैं, जिनका अन्तर्भाव संस्कृत काव्य-

---

१. केशव ग्रन्थावली—प्रथम खण्ड, सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ९२,९३

२. केशव ग्रन्थावली- प्रथम खण्ड- पृ० १०२

३ हिन्दी रीति के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी पृ० ५०६

शास्त्रीय ग्रन्थों में परिगणित दोषों में हो जाता है। 'शब्द रसायन' में देव ने जिन दोषों का उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—सरस, नीरस, सम्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, भीत, अभीत, उदास और उचित।[1] वास्तव में स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, सम्मुख और विमुख रस दोष न होकर रसभेद के अन्तर्गत आते हैं, इन रस भेदों का उल्लेख भानुदत्त ने अपनी 'रसतरंगिणी' में किया भी है।[2]

(४) *सूरति मिश्र*

आचार्य देव के पश्चात् काव्य दोष निरूपण के प्रसंग में आचार्य सूरति मिश्र का स्मरण किया जाता है। आचार्य सूरति मिश्र ने 'काव्य सिद्धान्त' नामक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ में काव्य दोषों की चर्चा की है, किन्तु अधिकांशतः मम्मट के 'काव्य प्रकाश' तथा विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। डा० भगीरथ मिश्र ने इनके दोषों की जो सूची दी है, उसमें कुछ ऐसे भी हैं, जो मम्मट सम्मत नहीं कहे जा सकते। यथा, दुस्संधान, हीनरस, पंगु, मृतक, कर्महीन और विरोधी।[3]

(५) *कुमार मणि*

कुमारमणि ने 'रसिक रसाल' में दोषों का निरूपण जिस ढंग से किया है, वह बहुत कुछ उनकी मौलिक देन के अन्तर्गत मान्य है। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि उन्होंने काव्य-दोषों में जिन उदाहरणों का प्रयोग किया है, वे अधिकांशतः हिन्दी कवियों के हैं। वस्तुतः इस प्रकार की दृष्टि उनकी मौलिक चिन्तना में ही परिगणित होती है। इन्होंने सर्वत्र मम्मट और विश्वनाथ की ही ओर दृष्टि नहीं डाली, अपितु हिन्दी के प्राचीन काव्य कर्ताओं से भी लाभ उठाया है। इससे स्पष्ट है कि इनकी दृष्टि हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा और हिन्दी काव्यशास्त्र की निरूपण-शैली से पूर्णतया प्रभावित है। काव्य दोषों में इन्होंने हिन्दी के जिन कवियों के उदाहरण दिए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—जगदीश, केशवदास, बेनी, गंग, सविता, ब्रह्म, मुरलीधर, कासीराम, गदाधर, मतिराम, केशवराय, मनि कंठ।[4]

(६) *श्रीपति*

आचार्य श्रीपति ने दोषों का निरूपण 'काव्य सरोज' के चतुर्थ एवं पंचम दल

---

१. शब्द रसायन—देव, पृ० ५०, पंचम प्रकाश
२. रस तरंगिणी—भानुदत्त, पृ० १४५, सप्तम तरंग
३ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृ० ११४
४ रसिक रसाल भूमिका भाग पृ० १६

में किया है। 'काव्य सरोज' में यों तो अन्य काव्यांगों का निरूपण आचार्य श्रीपति ने अपनी शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत किया ही है, किन्तु दोषों के निरूपण में बहुत थोड़े आचार्य इनकी तुलना में ठहर पाते हैं। इनकी एक मुख्य विशेषता यह है कि इन्होंने दोषों के जितने उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, वे सभी इनसे पूर्ववर्ती परम्परा के हिन्दी कवियों के हैं। इन दोषों से न केवल इनके आचार्यत्व का ही द्योतन होता है, वरन् हिन्दी रीति परम्परा की काव्यानुशीलन विषयक एक आलोचनात्मक दृष्टि का भी आभास मिलता है। आलोचना शास्त्र के विकास में आचार्य श्रीपति की इसी विशिष्टता का उल्लेख हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है।[1]

आचार्य श्रीपति ने दोष-निरूपण के संन्दर्भ में जिन हिन्दी कवियों का उल्लेख किया है और यथा प्रसंग जिनकी रचनाएँ उदाहरणार्थ दी हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—केहरि, केशवदास, ब्रह्म और सेनापति। वस्तुतः आचार्य श्रीपति ने केशव के छन्दों में दोषोद्भावनाएँ उस समय की जब कि केशव के आचार्यत्व का लोहा रीति काल के आचार्यों ने मान लिया था। सेनापति के भी छन्द रीति परम्परा के अन्तर्गत अति लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे। ऐसी स्थिति में 'काव्य सरोज' में इन छन्दों को दोषों के उदाहरण रूप में उद्धृत करना आचार्य श्रीपति के भारी साहस के साथ ही इनके गम्भीर अध्ययन का भी द्योतक है। रीतिकाल के और भी कवियों के छन्दों की बड़ी सूक्ष्म विवेचना का प्रयास यत्र-तत्र लक्षित होता है। यथा, 'उपहति दोष' के अन्तर्गत बीरबल (ब्रह्म) के जिस छन्द में प्रयुक्त 'कलाधिक' शब्द में दोष स्वीकार किया गया है, उस पर दोष की दृष्टि से सामान्यतया हमारी दृष्टि नहीं जाती।[2] परन्तु आचार्य श्रीपति ने इस शब्द के प्रयोग पर पूर्ण आपत्ति उठाई है। इसी प्रकार इनकी मौलिकता का दर्शन इनके 'भाषाच्युत दोष' में भी होता है। इन्होंने भाषाच्युत के तीन भेद स्वीकार किए हैं—

१—लघु भाषाच्युत

२—मध्यम भाषाच्युत,

३—गुरुभाषाच्युत

लघु भाषाच्युत वहाँ माना गया है, जहाँ अन्तर्वेद की भाषा मिल जाय और मध्यम भाषाच्युत वहाँ होता है, जहाँ ब्रजभाषा के साथ सुरभाषा (सम्भवतः संस्कृत भाषा

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल. पृ० ५२५
२. काव्य सरोज, चतुर्थ दल, छं०सं० ५१—नीलगाँव सीतापुर से प्राप्त हस्त-लिखित प्रति से

से अभिप्राय है) का मेल हो। इसी प्रकार 'गुरुभाषाच्युत' वहाँ होता है, जहाँ यवन भाषा (कदाचित् फारसी भाषा) का भी मिश्रण हो। इन दोषों से स्पष्ट है कि आचार्य श्रीपति को तत्कालीन काव्यभाषा के स्वरूप का कितना प्रगाढ़ ज्ञान था और यह भी ज्ञात होता है कि रीतिकाल के आचार्य संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ज्ञान के बल पर ही नहीं उछलते थे, वरन् इन्हें हिन्दी काव्य-परम्परा का पूर्ण ज्ञान था और उसमें निष्णात होने का इन्हे गर्व भी था। आचार्य श्रीपति ने मम्मटकृत दोषों के अतिरिक्त अन्य जिन दोषों की परिकल्पना अपने 'काव्य सरोज' में की है, उनके नाम इस प्रकार हैं—असंगत, भाषाच्युत, खण्डित, असम्मितमान, वास्तुसंविधि, दुष्टवाक्य, अगत, विरस, हीनोपमा, अधिकोपमा। इसके अतिरिक्त दोषों से यह पूर्ण स्पष्ट है कि आचार्य श्रीपति संस्कृत आचार्य मम्मट और विश्वनाथ के ही अकृत अनुयायी नहीं थे, अपितु वे आवश्यकतानुसार अपनी स्वतन्त्र चिन्तना का भी विनियोग एवं उपयोग करते थे। पंचम दल में विस्तार-भय के कारण केवल बारह अर्थ दोषों का विवेचन किया गया है।

(७) *सोमनाथ*

आचार्य सोमनाथ ने 'रसपीयूष निधि, ग्रन्थ के २० वीं तरंग में दोषों का निरूपण किया है। इसके अधिकांश स्थल 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' से पूर्ण प्रभावित हैं। मौलिकता की दृष्टि से इसमें विशेष उल्लेखनीय तथ्य नहीं मिलते। हाँ, विवेचन की दृष्टि संस्कृत काव्यशास्त्रीय पद्धति से बहुत कुछ भिन्न है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि इसमें 'अप्रयुक्त' एवं 'अश्लील' दोषों में दिए गये उदाहरण संस्कृत के न होकर हिन्दी भाषा के हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से उदाहरणों पर रीति काव्य की परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने तीन प्रकार के अश्लील दोषों के परिहार के लिए नितान्त मौलिक कल्पना की है, जो निश्चय ही इनकी नूतन दृष्टि की परिचायक है।[1]

(८) *दास*

आचार्य दास ने काव्य निर्णय के २३ वे उल्लास में शब्द, वाक्य एवं अर्थगत दोषो का विवेचन किया है और २४ वें तथा २५ वें उल्लास में क्रमशः दोषोंद्धार एवं रस दोषों का वर्णन किया है। यद्यपि इनके अधिकांश दोष निरूपण पर मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव दृष्टिगत होता है, किन्तु कुछ ऐसे भी स्थल मिलेगें, जहाँ आचार्य दास की मौलिक उद्भावना का भी दर्शन होता है। यथा, इन्होंने संस्कृत और हिन्दी

---

१ हिन्दी रीति के प्रमुख आचार्य डा० सत्यदेव चौधरी पृ० ५१३

के अन्य आचार्यों की तुलना में अधिक विस्तारपूर्वक प्रत्येक दोष का लक्षण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त च्युत संस्कृति, प्रक्रमभंग, अनवीकृत, प्रकृति-विपर्यय और पुनः पुनः दीप्ति की परिभाषाओं में अपनी पूर्ण मौलिकता प्रदर्शित की है।[१] कहीं-कहीं संस्कृत के मान्य नामों के स्थान पर अन्य नामों की भी कल्पना की है। यथा—वाक्य दोषों के निरूपण में आए हुए 'चरणान्तर्गत पद' तथा 'अकथित कथनीय' नाम के दोषों का नामकरण आचार्य दास द्वारा ही किया गया है और अर्थगत दोषों के अन्तर्गत मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' में उल्लिखित 'अविशेष प्रवृत्त' का नामान्तरण 'सामान्य प्रवृत्त' रूप में किया गया है।[२]

(९) रसिक गोविन्द

समूचे रीतिकाल में रसिक गोविन्द ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसिक गोविन्दानन्दघन' ग्रन्थ में काव्यांगों का निरूपण बड़े विस्तार के साथ तथा अधिक पाण्डित्यपूर्ण प्रक्रिया से किया है। विषयों के स्पष्टीकरण में इन्होंने अधिकाधिक ब्रजभाषा गद्य का आधार लिया है। इस ग्रन्थ में अन्यान्य काव्यांगों के के साथ दोषों का भी बहुविध विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और सबसे बढ़कर बात तो यह है कि इन्होंने दोष निरूपण के प्रसंग में अधिकांश हिन्दी कवियों की रचनाएँ उद्धृत की हैं। जिन कवियों का उल्लेख किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—केशव, सेनापति, गोविन्द, कुलपति और सोमनाथ आदि।

(१०) प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के दोष निरूपण में किसी उल्लेखनीय विशेषता का दर्शन नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि अधिकांश उदाहरण इनके अपने हैं, वे किसी संस्कृत ग्रन्थ के कोरे अनुवाद या छायानुवाद मात्र नहीं हैं।

(११) ग्वाल

रीतिकाल के अन्तिम आचार्य ग्वाल ने 'दूषण दर्पण' नामक ग्रन्थ में दोषों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ अद्यावधि प्रमुद्रित अवस्था में है। इसमें दोषों के सभी उदाहरण हिन्दी कवियों की रचनाओं से चुने गये हैं। और रीतिकालीन परम्परा के मान्य आचार्य एवं रीतिकार केशव और बिहारी की रचनाओं में भी

---

१. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ५२३
२. आचार्य भिखारीदास—डा० —— खन्ना पृ० ३५५

दोषोद्भावना की गई है। यही नहीं नाक, पेट, गाल जैसे शब्दों में ग्राम्यत्व दोष माना गया है और इसी संदर्भ में बिहारी के प्रसिद्ध दोहे 'जटित नीलमनि जगमगति सीक सुहाई नाक' में प्रयुक्त 'नाक' शब्द में ग्रामीण दोष बतलाया गया है। इसी प्रकार आचार्य केशव की 'रसिक प्रिया' के एक छन्द में प्रयुक्त 'उरमाई' शब्द को इसलिए असंगत ठहराया गया है कि यह शब्द ठेठ बुन्देलखण्डी है। छन्द की पंक्ति इस प्रकार हैं—'कटि के तट हार लपेटि लियो कटि किंकिन लै उर सो उरमाई। रीति काव्य के मान्य विद्वान आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ग्वाल के दोष निरूपण के सम्बन्ध में अपने जो विचार रखे हैं, वे अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनका कथन है कि 'हिन्दी के इन रीतिग्रन्थ-कार कवियों ने हिन्दी की परम्परा और उसके दोष का जितना विचार किया है उन सब का संग्रह किया जाय तो इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री मिल सकती है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इनमें आलोचना की समयानुरूप पर्याप्त दृष्टि थी।'[1]

३—रस और नायक-नायिका भेद विवेचन

संस्कृत साहित्य में रस विवेचन का अति बृहत् एवं प्रौढ़ प्रयास किया गया है। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में रस मीमांसा विषयक ग्रन्थ नही मिलते[2]। रस एवं नायक-नायिका भेद विषयक विवेचन का यह कार्य हिन्दीमें परिमाण एव गुण दोनों दृष्टियों से अति विशद एवं व्यापक रूप में हुआ है। हिन्दी का उत्तर-मध्यकाल रस–विशेषकर शृंगार रस–और नायिका भेद से इतना समृद्ध एवं सम्पन्न है कि उसकी तुलना में भारत की किसी भी प्रान्तीय भाषा में ऐसा साहित्य उपलब्ध नही होता। हाँ, काव्यशास्त्रीय विवेचन का कुछ प्रयत्न मराठी में अवश्य हुआ है, किन्तु हिन्दी रीति वाङ्मय की प्रौढ़ एवं पुष्ट परम्परा के समक्ष वह प्रायः नगण्य है। मेरी निश्चित धारणा है कि शृंगार और नायक-नायिका भेद के विशदीकरण और उसके व्यापक प्रसार की ऐसी महत् चेष्टा संस्कृत वाङमय में भी परिलक्षित नही होती। यही नहीं, यदि नायिका भेद के शास्त्रीय पक्ष को छोड़ भी दिया जाय तो भी उसके काव्यात्मक सौन्दर्य और शृंगारानुभूति के नाना विधि रूपों की ऐसी मादक एवं मोहक अभिव्यंजना किसी भी साहित्य में नहीं मिलेगी। यही कारण है कि नायक-नायिका भेद और शृंगार रस के कटु आलोचकों ने भी जहाँ एक ओर रीति काव्य

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय खण्ड—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५४६
२. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग–आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३२८

की नैतिक मान्यताओं के दुर्बल पक्ष के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त की है, वहां दूसरी ओर नायिका भेद और शृंगार रस के कवित्व लावण्य और उसकी सहज मसृण भाव-व्यंजना के वे परम प्रशंसक भी रहे हैं।[१]

हिन्दी रीति काव्य के पण्डितों ने रसमीमांसा पर उतना बल नहीं दिया, जितना बल नायक-नायिका भेद के सुन्दर उदाहरणों के गढ़ने में और उनकी सूक्ष्मताओं के निखारने में। इसी से समग्र रीति साहित्य में ऐसे थोड़े से ही आचार्य मिलेंगे, जिन्होंने रस निष्पत्ति विषयक विभिन्न मतों और ध्वनि स्थापना आदि के प्रकृत हेतुओं पर सम्यक् विचार किये हों। सत्य तो यह है कि इनमें रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति तथा उसके विश्लेषण और मन्थन की प्रवृति का पूर्ण अभाव मिलता है। हाँ, रस के नाम पर शृंगार का ही विशेष उपबृंहण किया गया है और शृंगारेतर रसों का विवेचन अति संक्षिप्त और अव्यवस्थित रूप में चलता कर दिया गया है। ऐसा लगता है कि इतर रसों का उल्लेख केवल शास्त्रीय परम्परा के मात्र पालन की दृष्टि से किया गया है, क्योंकि उनमें इन रीतिकारों की रुचि और मानसिक निष्ठा का सच्चा रूप नहीं झलकता।

(क) निरूपण पद्धति की दृष्टि से रस ग्रन्थों के रचयिताओं का वर्गीकरण

समस्त हिन्दी रीति काव्य को रस निरूपण की दृष्टि से मुख्यतया तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) नवरस निरूपक आचार्य

(२) सर्वांग या विविधांग निरूपक रसाचार्य

(३) शृंगार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक आचार्य

(१) नवरस निरूपक आचार्य

नवरस निरूपक आचार्यों ने यद्यपि नवरसों में शृंगार का और उसके अन्तर्गत नायिका भेद का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, परन्तु शृंगारेतर रसों का विश्लेषण संक्षेप में करने पर भी शास्त्रीय पद्धति के अनुसरण का पूर्ण दावा किया है। इन नवरस निरूपक आचार्यों में मुख्यरूप से जिनकी गणना साहित्य के इतिहासकारों ने की है,

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल पृ० २३७

वे इस प्रकार हैं—केशव (रसिक प्रिया), तोष (सुधानिधि), देव (भवानी विलास और भाव विलास), भिखारी दास (रस सरांश), रसलीन (रस प्रबोध), रघुनाथ (काव्य कलाधर), शिवनाथ (रस वृष्टि), पद्माकर (जगद्विनोद), वेनी प्रबीन (नव रस तरंग), चन्द्रशेखर (रसिक विनोद), ग्वाल (रस रंग)।

(२) सर्वांग या विविधांग निरूपक रसाचार्य

दूसरा वर्ग उन कवि आचार्यों का है, जिन्होंने काव्यांगों का विशद विवेचन करते समय प्रसंगवश नवरस का भी कथन किया हैं। ऐसे कवि-आचार्यों के मुख्य नाम इस प्रकार हैं—आचार्य चिन्तामणि (कविकुल कल्पतरु), कुलपति मिश्र (रस रहस्य), देव (शब्द रसायन), कुमारमणि (रसिक रसाल), आचार्य सोमनाथ (रस पीयूषनिधि), पतापसाहि (काव्य विलास), भिखारी दास (काव्य निर्णय)।

(३) शृंगार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक आचार्य

तीसरा वर्ग उन कवियों का है, जिन्होंने शृंगार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद का विवेचन बड़ी निष्ठा के साथ किया है। इन कवियों की मुख्य नामावली इस प्रकार है—कृपाराम (हित तरंगिनी), सुन्दर कविराज (सुन्दर शृंगार), सूरदास (साहित्य लहरी), नन्ददास (रस मंजरी), रहीम (बरवै नायिका भेद), चिन्तामणि (शृगार मंजरी), मतिराम (रसराज), देव (सुखसागर तरंग और रस विलास), आचार्य दास (शृंगार निर्णय), कवीन्द्र (रस चन्द्रोदय), प्रताप साहि (व्यंग्यार्थ कौमुदी), सेवक (वाग्विलास), गुलाब कवि (बृहत् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका)।

(ख) नव रस निरूपक आचार्य

(१) केशव दास

खोज रिपोर्टों और साहित्य के इतिहास ग्रन्थों से इस बात की सूचना नहीं मिलती कि आचार्य केशवदास के पूर्व किसी आचार्य ने हिन्दी में 'नवरस निरूपण' का प्रयास किया है। इस दृष्टि से हिन्दी रीति परम्परा के अन्तर्गत आचार्य केशव ही नव रस निरूपक आचार्य के रूप में अभिहित किये जाते है। आचार्य केशव द्वारा प्रणीत दो मुख्य रीति ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है—प्रथम, 'कवि प्रिया' और द्वितीय 'रसिक प्रिया'। 'कवि प्रिया' में काव्य रीतियों के अतिरिक्त मुख्यता अलंकार निरूपण की है और 'रसिक प्रिया' में नवरसों का विवेचन होने पर भी प्रधानता शृंगार की है इसमे शृगार रस के अतर्गत नायक-नायिका भेद का विशद विवचन प्रस्तुत

किया गया है। 'रसिक प्रिया' के निर्माण में जिन ग्रंथों का आधार ग्रहण किया गया है, उनमें अधोलिखित मुख्य हैं—भरतकृत नाट्शास्त्र, रुद्रभट्टकृत शृंगार तिलक, रुद्रट्कृत काव्यालंकार, विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण, भानुकृत रसमंजरी तथा भोजकृत शृंगार प्रकाश और सरस्वती कंठाभरण आदि। इनके अतिरिक्त 'रसिक प्रिया' पर कामशास्त्रीय ग्रन्थों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। इन ग्रन्थों में काम सूत्र, अनंगरंग और रतिरहस्य मुख्य हैं। वस्तुतः यह बतलाना कुछ मुश्किल है कि केशवदास की 'रसिक प्रिया' पर किन ग्रन्थों का प्रभाव अधिक है, फिर भी इधर आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी खोजों और रसिक प्रिया तथा शृंगार तिलक आदि ग्रन्थों के तुलनात्मक अनुशीलन द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि रसिक प्रिया पर अपेक्षा कृत शृंगार तिलक का प्रभाव अधिक है।

रस विवेचन की दृष्टि से 'रसिक प्रिया' में अधिक मौलिक तथ्य उपलब्ध नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य केशव ने मानो शृंगारेतर रसों का विवेचन अत्यन्त चलते ढंग से कर दिया हो और इन रसों के विवेचन में जैसे उन्होंने अधिक जमकर और निष्ठापूर्वक लिखने की प्रवृत्ति प्रदर्शित न की हो। शृंगारेतर रसों का उल्लेख इन्होंने रसिक प्रिया के चतुर्दश प्रभाव में किया है। नवरसों का 'ब्रजराज मय' कहने के कारण शृंगारेतर रसों का स्वरूप प्रायः प्रच्छन्न हो गया है और प्रत्येक रस में प्रकारान्तर से शृंगार की ही झलक मिलती है। फिर भी, रसिक प्रिया में शृंगार तिलक आदि ग्रन्थों की तुलना में कहीं-कहीं मौलिकता की भी झलक मिलती है। यथा, नवरसों के निरूपण में आचार्य केशव ने उनके रंगों का भी उल्लेख किया है जो शृंगार तिलक जैसे ग्रन्थों में नहीं है। कहीं-कहीं वर्णों का उल्लेख छूट भी गया है, यथा, हास्य रस में। नवरसों के लक्षण में चाहे रस की झलक कुछ मिल जाये, लेकिन लक्ष्य अंश प्रायः शृंगार रस का हो गया है, चाहे करुण रस हो अथवा शान्त रस हो। फिर भी 'परिहास' की कल्पना केशव की मौलिक बतलाई जाती है, क्योंकि परिहास के सम्बन्ध में किसी भी संस्कृत आचार्य ने विचार नहीं किया।

आचार्य केशव ने पूरी रसिक प्रिया में जमकर यदि निरूपण किया है तो शृंगार एवं नायक-नायिका भेद का। शृंगार के स्वरूप विधान में मानों केशव की चित्त-वृत्ति अधिक रमी है। यही कारण है कि इसकी सूक्ष्मताओं के अंकन में पूर्ववर्ती शृंगार निरूपक आचार्य केशव की तुलना में ठहर नहीं पाते। उदाहरणों की ऐसी सरसता शृंगार तिलक, साहित्य दर्पण और रस मंजरी आदि किसी भी ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं हो पाती। रसिक प्रिया और इन ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से इस तथ्य का उद्घाटन सहज ही किया जा सकता है।

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृंगार और नायिका भेद के दो प्रवाह माने हैं—(१) शृंगार तिलक का, (२) रस मंजरी का। एक तीसरे प्रवाह का भी

उल्लेख किया जाता है, वह है रूप गोस्वामी कृत उज्ज्वल नीलमणि का। किन्तु श्रृंगार और नायिका भेद का यह प्रवाह अधिक गतिशील नहीं हो सका। इसका प्रभाव केवल ग्वाल के रसिकानन्द ग्रन्थ तक ही सीमित रहा; वह भी नायिका निरूपण के सन्दर्भ में, अन्यत्र यह प्रभाव लक्षित नहीं हो पाता। इसका मूल कारण यह है कि श्रृंगार की यह धारा भक्ति भाव से समन्वित होने के कारण रीति काव्य की श्रृंगारिक चेतना के अनुरूप न थी। श्रृंगार तिलक और रस मंजरी की तुलना में हिन्दी रीति काव्य पर रस मंजरी का प्रभाव अधिक पड़ा, किन्तु श्रृंगार तिलक का प्रभाव केशव तक ही परिमित रहा। रीतिकाल में केवल आचार्य देव की श्रृंगारिक रचनाओं पर केशव के माध्यम से श्रृंगार तिलक का भी प्रभाव बतलाया जाता है, वैसे आचार्य देव पर रस मंजरी की ही अमिट छाप है।

केशव की एक सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने प्रत्येक रस में प्रच्छन्न एव प्रकाश-भेद की कल्पना की है। पहले यह केशव की मौलिक देन के अन्तर्गत माना जाता रहा, लाला भगवानदीन ने भी इसे केशव के मस्तिष्क की उपज माना है—लाला जी के कथनानुसार—"दूसरी विशेषता इसमें यह है कि उन मानव-भावनाओ को जिनके अनुसार नायिका भेद लिखा गया है, दो रूप दिये हैं, अर्थात् प्रच्छन्न और प्रकाश। प्रकृति में होता तो ऐसा ही है, पर केशव के बाद के आचार्यों ने इस भेद को उड़ा दिया है। हमारे अनुमान से इसका कारण यह जान पड़ता है कि प्रच्छन्न भावनाएँ, या उनके वर्णन कवि को रस के परिपाक तक नहीं पहुंचने देते—बाधक होते हैं—अतः उनको छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। जहाँ तक हमको ज्ञात है, संस्कृत के आचार्यों ने भी इन भेदों का जिक्र नहीं किया। ये केवल केशव के ही ईजाद थे और केशव ही तक रहे, आगे न चल सके।"[१]

परन्तु आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया और पूर्ववर्ती ग्रन्थों—श्रृङ्गार दर्पण, पद्म सुन्दर (अकबरसाहि) और श्रृङ्गार प्रकाश (भोज)—के आधार पर उन्होंने इन उपभेदों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[२] आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने प्रच्छन्न और प्रकाश उपभेदों की चर्चा करते हुए स्पष्टरूपेण स्वीकार किया है कि इसकी प्रेरणा आचार्य केशव को रुद्रभट्ट कृत श्रृङ्गार तिलक से मिली है।[३] जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि प्रच्छन्न और प्रकाश उपभेदों की

१. केशव पंचरत्न—सं० लाला भगवानदीन, प्र० सं०, पृ० १३
२. केशवदास—आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, प्र० सं०, पृ० २२५, २२६
३ रसिक प्रिया—प्रिया प्रसाद तिलक प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १६ भूमिका भाग

कल्पना केशव की अपनी नहीं है और प्रच्छन्न और प्रकाश के आधार पर केशव का यह वर्गीकरण सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। भोज और शृंगार तिलककार ने जिस ढंग से प्रच्छन्न और प्रकाश का उल्लेख किया है, वह सर्वथा व्यवस्थित एवं औचित्य-पूर्ण है। रसिक प्रिया में तो केवल शृंगार रसान्तर्गत प्रच्छन्न और प्रकाश की व्याप्ति पायी जाती है, किन्तु शृंगार तिलक में प्रत्येक रस के अन्तर्गत इसकी चर्चा की गयी है। यद्यपि केशवदास भी इसकी व्याप्ति प्रत्येक रस में मानते हैं, लेकिन अन्य रसों में वे इसका निर्वाह प्रायः नहीं कर पाये हैं।

'शृङ्गार तिलक' के अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश का उल्लेख रुद्रट ने भी अपने 'काव्यालंकार' में इस प्रकार किया है—

सम्भोऽस्संगतयोः वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भो सौ।
पुनरप्येष द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥[1]

शृंगार तिलक की तुलना में केशव ने प्रच्छन्न और प्रकाश उपभेदों के सम्बन्ध में यत्किञ्चित नूतनता लाने का भी प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, शृंगार तिलक में प्रच्छन्न और प्रकाश की चर्चा तो की गयी है, परन्तु इनके लक्षण और उदाहरण नहीं दिये गये हैं। उनका विवेचन भी केशव की भाँति नहीं किया गया है।[2] आचार्य केशवदास ने अपने रसिक प्रिया ग्रन्थ में सर्वप्रथम शृंगार रस के आश्रय और आलम्बन के रूप में कृष्ण और राधा को मान्यता दी है। केशव के पूर्व भोज ने अपने 'शृंगार प्रकाश' में शृंगार रस को सब रसों का मूल माना है और इसीलिए अन्य रसों का स्थान उनकी दृष्टि में गौण है। भोज के अनुसार अन्य सभी रस इसी में अन्तर्मुक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्त रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति को सब रसों का मूल उत्स माना है। उन्होंने भक्ति रस का वर्गीकरण करते हुए इसके पाँच मुख्य रसों और सात गौण रसों का उल्लेख किया है। इस प्रकार कुल १२ रसों के आश्रय आलम्बन हरि और राधा को ही स्वीकार किया गया है। आचार्य केशव ने भोज के शृङ्गार और उज्ज्वल नीलमणि के भक्तिरस का समन्वय करते हुए रस क्षेत्र में प्रथमतः एक नूतन मत की स्थापना का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। यही इनकी मौलिकता है। नायक-नायिका भेद के विवेचन में आचार्य केशव ने अधिकांशतः भरत कृत नाट्यशास्त्र, शिंग भूपाल कृत, रसार्णव सुधाकर और विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण से सहायता ली है, किन्तु इन

---

१. भोज का शृंगार प्रकाश—डा० वी० राघवन, पृ० ६८४

२. रसिक प्रिया—टीकाकार आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २४, भूमिका भाग

ग्रन्थों की रसिक प्रिया से तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि केशव ने सर्वत्र इनका भावानुवाद ही नहीं किया है, वरन् बहुत से स्थलों पर नाम बदल देने के अलावा अपनी दृष्टि का भी उपयोग किया है। फलतः नायक-नायिका भेद के सम्बन्ध मे बहुत कुछ नवीन तथ्य भी उपलब्ध होते हैं।

रसिक प्रिया के द्वितीय प्रकाश में नायक भेद का उल्लेख किया गया है। नायक के लक्षण प्रायः धनन्जय कृत दशरूपक और विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण से बहुत कुछ मिलते हैं, फिर भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि केशव पर किसका प्रभाव अधिक है, क्योंकि केशव ने शठ नायक के जो लक्षण दिये हैं, वे किसी से भी नहीं मिलते। अतः प्रतीत होता है कि ये लक्षण केशव ने अपनी बुद्धि से प्रस्तुत किए हैं। केशव कृत शठ नायक के लक्षण इस प्रकार हैं—'जो मुँह से तो मीठी बातें करे और जिसका हृदय कपट से भरा हो तथा अपने किए हुए अपराध का डर न हो, उसे शठ नायक कहना चाहिए।'[1] धनंजय[2] और विश्वनाथ[3] ने शठ नायक के जो लक्षण दिये हैं, वे केशव से सर्वथा भिन्न हैं। दक्षिण नायक के सम्बन्ध में भी केशव के लक्षण न तो साहित्य दर्पणकार से मिलते हैं और न दशरूपकार से। दक्षिण नायक के सम्बन्ध में केशव ने जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है—

पहिली सों हिय हेतु डर, सहज बढ़ाई कानि।
चित्त चलै हू ना चलै, दक्षिण लक्षण जानि ॥७॥[4]

आचार्य केशव ने रसिक प्रिया के सप्तम प्रकाश में अष्ट नायिकाओं का उल्लेख किया है। आचार्य केशव के अनुसार अष्ट नायिकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) स्वाधीन पतिका।
(२) उत्कंठिता।
(३) वासक शय्या।
(४) अभिसंधिता (कलहांतरिता)।

---

१ मुँह मीठी बातैं कहै, निपट कपट जिय जानि।
जाहि न डर अपराध को, सठ करि ताहि बखानि॥
—रसिक प्रिया, टी० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय प्रकाश, पृ० १६

२ दशरूपक—धनंजय, व्याख्याकार, भोलाशंकर व्यास. पृ० ८६ वि० सं०

३ साहित्य दर्पण—टीकाकार शालिग्राम शास्त्री, पृ० ६७, चतुर्थ संस्करण।

४ रसिक प्रिया टीकाकार —— कवि पृ० १८ क्षेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई प्र० संस्करण

(५) खण्डिता ।

(६) प्रोषितपतिका ।

(७) विप्रलब्धा ।

(८) अभिसारिका ।

आचार्य केशव ने कलहांतरिता नायिका के स्थान पर 'अभिसंधिता' नायिका स्वीका की है। यहाँ नामान्तर के अतिरिक्त और कोई नयी बात नहीं प्रतीत होती, क्योंि इसमें समस्त लक्षण कलहांतरिता का ही है। धनंजय, विश्वनाथ और भानु आि आचार्यों ने कलहां तरिता का ही कथन अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। अभिसंधिता का उल्लेख हमें सर्वप्रथम केशव कृत रसिक प्रिया में ही मिलता है, अन्यत्र नहीं।

केशव द्वारा कथित अष्टनायिकाओं में खण्डिता नायिका के जो लक्षण दिये गये हैं, वे पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों से मेल नहीं खाते; यथा—

आवन कहि आवै नहीं, आवै प्रीतम प्रात।
जाके घर सो खण्डिता, कहै जु बहु बिधि बात॥

ये लक्षण शृंगार तिलक,[1] दशरूपक[2] और साहित्य दर्पण[3] आदि से नहीं मिलते। वास्तव में हिन्दी के अधिकांश आचार्य नायिका-भेद निरूपण के सन्दर्भ में भानुदत्त की 'रस मंजरी' से ही अधिक प्रभावित हैं। इसी से खण्डिता विषयक लक्षण प्रायः 'रस मंजरी' के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं। केशव के भी खंडिता नायिका के लक्षण रस मंजरीकार से अधिक प्रभावित है। रस मंजरीकार से प्रभावित होने पर भी केशव के लक्षण उससे शब्दशः प्रभावित नहीं हैं। यह तुलना द्वारा देखा जा सकता है। खंडिता के सम्बन्ध में रस मंजरीकार ने लिखा है—

'अन्योपभोग चिह्नित प्रातरागच्छति पतिर्यस्याः सा खंडिता।'

अर्थात् पर स्त्री के सम्भोग से चिह्नित होकर प्रातःकाल आकर जिसका पति मिलता है, उस नायिका को खंडिता कहते हैं।[4] अब भानुदत्त के इसी लक्षण से केशव के खंडिता विषयक लक्षण को मिलाइये, दोनों में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होगा। केशव ने

---

१. शृंगार तिलक १।७१

२. दशरूपक व्याख्याकार—भोलाशंकर व्यास, पृ० ११६ द्वि० सं०

३. साहित्य दर्पण—शालग्राम शास्त्री, पृ० ७१ चतुर्थ संस्करण

४. रस मंजरी—टीकाकार बदरीनाथ शर्मा, पृ० ५१

रस मंजरीकार के 'अन्योपभोग चिह्नित' अंश को बिलकुल छोड़ दिया, और प्रकारान्तर से इसी अंश का समावेश 'कहै जु बहु विधि बात' के अन्तर्गत किया। खंडिता के पश्चात् अभिसारिका के लक्षण भी केशव के नहीं मिलते। अभिसारिका नायिका को केशव ने तीन भागों में विभाजित किया है—(१) प्रेमाभिसारिका, (२) गर्वाभिसारिका, (३) कामाभिसारिका। इन तीन प्रकार की अभिसारिकाओं का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

हित तें कै मद मदन तें, पिय पै मिलै जु जाइ।
सो कहिये अभिसारिका, बरनी त्रिविध बनाइ ॥२५॥[1]

अभिसारिका के सम्बन्ध में भरत ने नाट्यशास्त्र में उल्लेख अवश्य किया है और भरत कथित अभिसारिकाओं के लक्षण से केशव प्रभावित भी हैं, किन्तु दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि केशव ने भरत के केवल दो ही भेदों को ग्रहण किया है—(१) गर्वाभिसारिका, (२) कामाभिसारिका। प्रेमाभिसारिका की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। इस दृष्टि से केशव द्वारा उल्लिखित प्रेमाभिसारिका नायिका नितान्त मौलिक है। अभिसारिका विषयक भरत का लक्षण इस प्रकार है—

हित्वा लज्जां समाकृष्टा मदेन मदनेन या।
अभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका ॥[2]

अर्थात् जो लज्जा को त्याग कर मद या मदन (काम) से आकृष्ट होकर प्रियतम के पास अभिसरण करे, उसे अभिसारिका कहते हैं।

धनन्जय[3] और विश्वनाथ[4] के भी लक्षण केशव से प्रायः नहीं मिलते। धनन्जय और विश्वनाथ के लक्षणों में अत्यधिक साम्य है।

रसिक प्रिया के तृतीय प्रकाश में आचार्य केशव ने स्वकीया परकीया आदि के भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, किन्तु सामान्या नायिका के सम्बन्ध में केवल

---

१. रसिक प्रिया—टी० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १३१
२. नाट्यशास्त्र—भरत २४।२१२
३. कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका—दशरूपक–धनंजय, द्वितीय प्रकाश, पृ० ११८
४. अभिसारयते कान्तं वा मन्मथ वशंवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषाधीरैरुक्ताभिसारिका ॥७६
साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद टी० शालग्राम शास्त्री पृ० ७९

संकेत मात्र किया गया है।[1] यद्यपि शृंगार तिलक में सामान्या का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु आचार्य केशव ने सुरुचि एवं सामाजिक मर्यादा के कारण सामान्या का समावेश नायिका भेद के अन्तर्गत करना उचित नहीं समझा। हां, अभिसारिका नायिका के वर्णन में सामान्या अभिसारिका नायिका विषयक जो तीन दोहे मिले हैं, वे सरदार कवि के अनुसार केशवकृत नहीं हैं, क्योंकि हस्तलेखों में वे अप्राप्त हैं।[2] ऐसी दशा में उन्हें प्रक्षिप्त अंश के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त तृतीय प्रकाश के अन्तर्गत उल्लिखित मध्याधीराधीरा और प्रौढ़ा अधीरा नायिका के लक्षण संस्कृत ग्रन्थों से नहीं मिलते। अतः उनके लक्षण केशव के अपने हैं। मध्याधीरा नायिका का लक्षण केशव के अनुसार इस प्रकार है—मध्याधीराधीरा नायिका उसे कहते हैं जो प्रियतम से उलाहना देती है।[3] साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने मध्याधीराधीरा का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मध्याधीराधीरा नायिका नायक को सव्यंग्य कथन द्वारा रोदन से खिन्न करती है।[4]

मध्याधीराधीरा विषयक लक्षण[5] रसमंजरी और दशरूपक[6] में भी वे ही हैं जो 'साहित्य दर्पण' में मिलते हैं।

केशव ने प्रौढ़ा अधीरा नायिका का भी लक्षण संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित लक्षणों से भिन्न रखा है। इन्होंने रसिक प्रिया के तृतीय प्रभाव में प्रौढ़ा अधीरा का लक्षण दिया है।[7] प्रौढ़ा अधीरा का यह लक्षण विश्वनाथ,[8] धनंजय,[9] शिंगभूपाल[10] और भानुदत्त[11] आदि किसी से नहीं मिलता। यह लक्षण केशव का अपना है, इस दृष्टि से यह मौलिक है।

---

१. रसिक प्रिया—टी० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २६
२. रसिक प्रिया, पृ० १३२
३. रसिक प्रिया—'प्रिय सों देइ उराहनो, सो धीरा न अधीर।' पृ० ४२
४. साहित्य दर्पण—टी० शालग्राम शास्त्री, पृ० ७५
५. रसमंजरी—भानुदत्त टी० बदरीनाथ शर्मा, पृ० २०
६. दशरूपक—टीकाकार-भोलाशंकर व्यास, पृ० १०४ द्वि सं०
७. रसिक प्रिया—टी० सरदार कवि, पृ० ४२
८. साहित्य दर्पण—टी० शालग्राम शास्त्री, पृ० ७६ चतुर्थ संस्करण
९. दशरूपक-टी० भोलाशंकर व्यास, पृ० १९९, द्वि० सं०
१०. रसार्णव सुधाकर, पृ० २६
११ रस मंजरी-टी० बदरीप्रसाद शर्मा पृ० २०

रसिक प्रिया के तीसरे प्रभाव के आरम्भ में आचार्य केशव ने जाति के आधार पर कामशास्त्रोक्त नायिकाओं का वर्णन किया है।[1] हिन्दी 'नायिका भेद के अन्तर्गत सर्वप्रथम आचार्य केशव ने ही काम शास्त्रीय नायिकाओं का उल्लेख अपने रसिकप्रिया ग्रन्थ में किया, यद्यपि कृपाराम ने भी अपनी 'हिततरंगिनी' में इसकी चर्चा की है, लेकिन वहाँ इतना विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया। यद्यपि काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काम शास्त्रीय बातों का समावेश किया जाना बहुत उचित नहीं है, फिर भी इसकी चर्चा संस्कृत ग्रन्थों में प्रारम्भ हो चुकी थीं। इस सम्बन्ध में डा० भगीरथ मिश्र का भी यही विचार है—

"काव्यक्षेत्र के भीतर कामशास्त्र की संभोग सम्बन्धी बातों ने ही नायिका भेद ग्रन्थों के सौन्दर्य को अनुज्ज्वल कर दिया, इस प्रकार की बातों का समावेश संस्कृत के ही ग्रन्थों में प्रारम्भ हो गया था।"[2]

रसिक प्रिया के सप्तम प्रभाव के अन्त में आचार्य केशव ने सर्वप्रथम कामसूत्रों मे वर्णित अगम्या नायिका का कथन किया है। नायिका भेद के अन्तर्गत संस्कृत के किसी आचार्य ने अगम्या की चर्चा नहीं की। केशव ने 'अगम्या' नायिकाओं से प्रेम करना वर्जित किया है; यथा—

तजि तरुनी सम्बन्ध की, जानि मित्र द्विजराज।
राखि लेइ दुख भूख तें, ताकी तियते भाज ॥४२
अधिक बरन अरु अंग घटि, अन्त्यज जन की नारि।
तजि विधवा अरु पूजिता, रमियहु रसिक विचारि ॥४३॥[3]

वात्स्यायन मुनि ने अपने 'कामसूत्र' ग्रन्थ में भी इस बात का उल्लेख किया है कि किन स्त्रियों के साथ सहवास न करना चाहिए।[4]

इसके अतिरिक्त सखीजन कर्म के सन्दर्भ में सखी द्वारा नायक-नायिका को शिक्षा देना, विनय करना, मिलाना, मनाना, शृंगार करना, उलाहना देना आदि व्यापार सर्वथा मौलिक हैं। संस्कृत में इस प्रकार के वर्णन प्रायः नहीं हुए हैं। उत्तमा, मध्यमाऔर अधमा के लक्षण भी संस्कृत ग्रन्थों से नहीं मिलते। हेला एवं बोधक हाव

---

१ रसिक प्रिया-टी० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २१
२. शृंगार मंजरी—सं० डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २८
३ रसिक प्रिया टी० f——— प्रसाद मिश्र पृ० १४०
४ हिन्दी कामसूत्र शास्त्री पृ० १७४

केशव के अपने हैं। हेला हाव की जो परिभाषा साहित्य दर्पणकार ने दी है, वह के से बिलकुल नहीं मिलती।

हिन्दी में केशव का बोधक हाव इस कारण मौलिक कहा जाता है,* क्यो संस्कृत में बोधक हाव की चर्चा प्रायः नहीं की गयी है—केशव के आधार पर श्र चलकर पद्माकर[१] रसलीन और आचार्य भिखारी दास ने भी अपने-अपने ग्रन्थो बोधक हाव की चर्चा की है। केशव ने बोधक हाव की चर्चा इस प्रकार की है—

गूढ़ भाव को बोध जहँ, केसव औरहि होइ।[२]
तासों बोधक हाव सब, कहत सयाने लोइ ॥५४

आचार्य भिखारी दास ने 'रस सारांश' में बोधक को क्रिया चातुर्य की संज्ञा दी है।

(२) तोष

आचार्य तोष को अधिकांश विद्वानों ने कवि ही माना है। मिश्र बंधुओं ने तोष को कवि के साथ-साथ आचार्य की कोटि में भी रखा है। उन्होंने उनके काव्यांगो के विश्लेषण विषयक महत्व की भूरिशः श्लाघा की है।[३] तोष के नाम के सम्बन्ध मे हिन्दी के विद्वानो में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इन्हें तोष निधि लिखा है,[४] जब कि अन्य विद्वानों ने तोष और तोष निधि को पृथक् कवि माना है। नवीन कवि कृत 'प्रबोध सुधाकर' में भी तोष और तोष निधि नामक दो कवियों के अस्तित्व को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया हैं।[५] 'सुधाकर' में स्पष्टरूपेण लिखा हुआ है कि 'तोष लखनऊ वारे' तथा 'तोषनिधि कपिला वारे।'[६] इस

---

* By the writers on poetics in the Riti period of Hindi literature, though this number was reduced to even ten, twelve or thirteen, yet some of them recognised a new Sattivika Alankar by the name of Bodhaka. P.154–Psychological Studies in Rasa.
—Dr. Rakesh.

१ जगद्विनोद (पद्माकर ग्रन्थावली), पृ० ४६६
२. रसिक प्रिया—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ११७
३. मिश्रबन्धु विनोद—द्वितीय भाग, द्वि० स०, पृ० ४१३
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २८२
५ साहित्य समालोचक, त्रैमासिक, भाग १, अंक ३, पृ० २२०
६. स्वर्गीय डा० भवानी शंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त नवीन कवि कृत सुधासर की हस्तलिखित प्रति के आधार पर

दृष्टि से आचार्य शुक्ल द्वारा दिया हुआ तोषनिधि नाम सर्वथा भ्रमात्मक है और 'सुधानिधि' के रचयिता तोष कवि से भिन्न प्रतीत होता है। तोष और तोषनिधि की प्राप्त रचनाओं से इन दोनों कवियों के भिन्नत्व का प्रमाण स्वतः मिल जाता है। तोष कवि का एकमात्र ग्रन्थ ,सुधानिधि' काशी के भारत जीवन प्रेस से सन् १८९२ मे प्रकाशित हो चुका है। तोष ने यों अपने 'सुधानिधि' ग्रन्थ में नवरसों का विश्लेषण किया है, किन्तु शृंगार एवं नायिका भेद की तुलना में शृंगारेतर रसों का विवेचन उन्होंने अति सूक्ष्म और सामान्य ढंग से किया है। सच तो यह है कि 'सुधानिधि' शृंगार एवं नायिका भेद निरूपण से सम्बन्धित एक उत्कृष्ट रीति ग्रन्थ है।

तोष ने रस विवेचन के सम्बन्ध में प्रथमतः चार प्रकार के शृंगार का उल्लेख करने के अनन्तर नवरस का वर्णन किया है।[1] यद्यपि तोष ने रस विवेचन में संस्कृत के नाट्यशास्त्र (भरत मुनि), रसमंजरी (भानुभट्ट), शृंगार प्रकाश (भोज), रसार्णव सुधाकर (शिंगभूपाल), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ), रसगंगाधर (जगन्नाथ) आदि ग्रन्थो से पूर्ण सहायता ली है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सुधानिधि के सभी लक्ष्य एव लक्षण संस्कृत के उक्त ग्रन्थों से लिए गए हैं।

रस विवेचन के अन्तर्गत कविवर तोष ने कुछ नूतन दृष्टि का भी उपयोगकिया है। भले ही, उनकी रस विवेचन विषयक ऐसी मान्यता अधिक समीचीन न हो। शृंगारेतर रसों के निरूपण में उन्होंने वात्सल्य और भक्तिरस को करुण[2] और शान्त रस[3] में सन्निविष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। तोष ने वात्सल्य का स्थायीभाव दया माना है और शान्त का स्थायी भाव भक्ति। इसी आधार पर इन्होंने वात्सल्य और भक्ति को क्रमशः करुणा और शान्तरस के कटघरे में बन्द करना चाहा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने प्रत्येक रस के प्रच्छन्न, प्रकाश तथा भूत, भविष्य और वर्तमान भेदों को भी माना है।[4] इन भेदों के लक्षण और उदाहरणों का उल्लेख नहीं किया गया है। ग्रन्थ विस्तार के भय से केवल इन भेदों की स्थिति का संकेत मात्र कर दिया है। प्रच्छन्न और प्रकाश-भेदों की कल्पना तोष ने केशव के आधार पर की है।

---

१. सुधानिधि, छं० सं० ४४५, पृ० १५१
२. थाई भाव जहाँ दया होत कौन हू भाइ।
तहाँ कहत वात्सल्य रस, करुना रसहि जनाइ॥ सुधानिधि, छं० सं० ५३८ पृ० १७९
३ गुरु विप्र को सुरन की भक्ति दया अधिकार।
धर्मकथा हरि को भजन, रस सांतहि को चार॥ सुधानिधि, पृ० १७९
४ सुधानिधि छ स० ५४० पृ० १७९

यह कहा जा चुका है कि कविवर तोष ने 'सुधानिधि' ग्रन्थ में अन्य रसों की तुलना में श्रृंगार का विशद एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। और उसे चार भागों मे विभाजित किया है—संयोग, वियोग, सामान्य तथा मिश्रित। संयोग और वियोग का विवेचन तो रस शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रायः किया गया है, किन्तु सामान्य और मिश्रित शृंगार का निरूपण सर्वथा मौलिक है। सामान्य और मिश्रित शृंगार से इनका क्या तात्पर्य है, इसे समझ लेना उचित होगा। कविवर तोष के अनुसार सामान्य शृंगार के अन्तर्गत नायिका की प्रेम क्रीड़ा और उसकी चेष्टाओं का समावेश किया जाता है और इस प्रकार की प्रेम चेष्टाओं को दूसरे शब्दों में अनुभाव की संज्ञा दी गई है।[1] अतः सामान्य शृंगार शृंगारिक अनुभावों से परस्पर सम्पृक्त है। इसी क्रम में कविवर तोष ने हावों की विवेचना की है। हावों का विवेचन साहित्य दर्पण और रसमंजरी से मिलता है।

मिश्रित शृंगार से तोष का तात्पर्य है, संयोग में वियोग का मिश्रण और वियोग मे संयोग का मिश्रण। इस दृष्टि से मिश्रित शृंगार परम्परा से सर्वथा भिन्न और नूतन है। तोष की यह कल्पना साधार है, क्योंकि संयोग में वियोग और वियोग मे संयोग की स्थितियाँ प्रायः अनुभव की जाती हैं। संयोग शृंगार के निरूपण में कविवर तोष ने अपनी अधिक व्यापक एवं गम्भीर दृष्टि का परिचय दिया है। इन्होंने मिलन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार संयोग शृंगार की इयत्ता को अधिक विस्तृत बनाने की चेष्टा की है। रीति युग के बहुत थोड़े कवियों ने इस प्रकार की मिलन-स्थितियों की कल्पना की है। मिलन की भिन्न-भिन्न स्थितियों और स्थान का उल्लेख तोष ने इस प्रकार किया है—धाइ के घर का मिलन, सूने सदन का मिलन, जल विहार का मिलन, भय का मिलन, माइके का मिलन, वर्षा का मिलन आदि।[2] वियोग शृंगार के चार भेदों का निरूपण साहित्य दर्पण और रसमंजरी के आधार पर किया गया है, इसमें किसी भी प्रकार की नूतनता नहीं है।

कविवर तोष ने 'सुधानिधि' ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद का निरूपण विस्तार-पूर्वक किया है। प्रारम्भ में इन्होंने स्वकीया, परकीया और सामान्या का विवेचन किया है। पुनः स्वकीया का निरूपण करते हुए कविवर तोष ने इसे मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नामक तीन भेदों में विभाजित किया है। इसके अनन्तर स्वकीया के कई अवान्तर भेदों की चर्चा की गयी है।

स्वकीया के पश्चात् परकीया का निरूपण अपेक्षाकृत अधिक विस्तार पूर्वक किया गया है। इनके भेदों की चर्चा करते हुए प्रथमतः इसे तीन भागों में बांटा गया है—

१. सुधानिधि, तोष, पृ० ११८
२. सुधानिधि—तोष, पृ० ११४, ११५

१. दृष्टि ज्येष्ठा
२. असाध्या
३. साध्या।

पुन असाध्या को कई भागों में विभाजित किया गया है, यथा—गुरुजन भीता, दूती वर्जिता, धर्म सभीता, अतिकाँता और खलधिष्ठिता।[1] इसी प्रकार साध्या परकीया के भी कई भेदों का उल्लेख किया गया है, यथा—वृद्ध वधू, बाल वधू, रोगी वधू, ग्राम वधू आदि।[2] इसके अतिरिक्त विवाह के आधार पर ऊढ़ा और अनूढ़ा नामक अन्य दो भेदों का वर्गीकरण किया गया है। इसके पश्चात् परकीया के अन्य कई भेदो की गणना की गयी हैं, जिनमें कुछ तो नवीन भेदों के रूप में अभिहित किये जाते हैं। यथा—उद्‌बुद्धा और उद्‌बोधिता। किन्तु नूतन खोजों के आधार पर अब यह प्रमाणित हो चुका है कि उद्‌बुद्धा और उद्‌बोधिता नायिकाएँ अकबर साह कृत 'शृंगार मंजरी' से ली गयी हैं। उसमें इन नायिकाओं का स्पष्ट कथन किया गया हैं।[3]

तोष ने आगे परकीया नायिका को प्रकृति के आधार पर छः मुख्य भागों में बाँटा है—

१. गुप्ता
२. विदग्धा
३. मुदिता
४. लक्षिता
५. कुलटा
६. अनुशयाना।

इन मुख्य भेदों को मिलाकर इस प्रकार परकीया के कुल १३ भेदों की चर्चा कविवर तोष ने अपने ग्रन्थ में की है।[4]

धनंजय[5] और विश्वनाथ[6] ने परकीया के केवल दो भेदों का उल्लेख किया है—

---

१. सुधानिधि छं० सं० ८१, ८२, पृ० २७
२ ,, ,, ८९ पृ३ ३०
३. शृंगार मंजरी—सं डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २५, २६
४ परकीया की प्रकृति पुनि, सुकवित छविध बखानि।
तिनको तेरह भेद है, उदाहरण मैं जानि॥
५. दशरूपक—धनंजय, टीकाकार—भोलाशंकर व्यास पृ० १११
६ साहित्य दर्पण टी० शालग्राम शास्त्री पृ० ७७ तृतीय परिच्छेद चतुर्थ

१. कन्या

२. विवाहिता।

रसमंजरीकार ने अवश्य परकीया के छः भेदों और उसके उपभेदों का उल्लेख किया है, लेकिन तोषकृत परकीया नायिका के समस्त भेदोपभेदों की दृष्टि से रसमंजरी कार के प्रयास नगण्य हैं।

इसी प्रकार मध्या धीरा और प्रौढ़ा अधीरा नायिका के लक्षण संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए लक्षणों से पूर्णतया नहीं मिलते । ये लक्षण तोष के अपने हैं। भले ही तोष संस्कृत ग्रन्थों से प्रभावित हों, लेकिन यह निश्चित है कि उन्होंने अपने लक्षण देते समय इन ग्रन्थों का अन्धानुसरण कथमपि नहीं किया।

तोष ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखियों और दूतियों का उल्लेख किया है। इन्होंने दूतियों की गणना करते समय एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। यद्यपि यह प्रभाव कामशास्त्रीय ग्रन्थों और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' का हो सकता है, लेकिन दूतियों में इन्होंने उन्हीं दूतियों की चर्चा नहीं की जो उक्त ग्रन्थों में परिगणित है, बल्कि हलवाइन, चुरिहारिन, पटइनि, कोइरिन आदि कुछ नवीन दूतियों की भी चर्चा की है। वस्तुतः सखियों और दूतियों का उल्लेख उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करना बहुत समीचीन नहीं है, क्योंकि परम्परा ने इन्हें महत्व नहीं दिया और वैसे भी इन्हें नायिका की सहायिका रूप में ही ग्रहण करना चाहिए, उद्दीपन विभाव के रूप मे नहीं।

तोष ने नायक का लक्षण देते समय दशरूपक और साहित्य दर्पण में दिये गये लक्षणों से पार्थक्य अवश्य रखा है, क्योंकि तोष द्वारा नायक के सम्बन्ध में प्रयुक्त कई विशेषताएँ उक्त ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न हैं। तोष द्वारा निरूपित शठनायक का लक्षण सस्कृत ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलता।

(२) देव

देवकृत रस निरूपक ग्रन्थों में भाव विलास और भवानी विलास का विशेष उल्लेख किया जाता है। भाव विलास में रस निरूपण की दृष्टि से शृंगार और उसके अन्तर्गत नायिका-भेद वर्णन के साथ-साथ कुछ मुख्य अलंकारों का भी वर्णन किया गया है। इसमें शृंगारेतर रसों की चर्चा बिल्कुल नहीं की गई, केवल प्रकारान्तर से शृंगार का ही बहुविधि विवेचन किया गया है।

भवानी विलास में अवश्य शृंगार और नायिका भेद के अलावा शृंगारेतर रसों का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है यह ग्रन्थ रस निरूपण की दृष्टि से भाव

विलास की तुलना में अधिक प्रौढ़ एवं गम्भीर है। इसका एक संस्करण सन् १८९३ मे और द्वितीय संस्करण सन् १९०० में भारत जीवन प्रेस, काशी से निकल चुका है। ऐसा प्रतीत होता है कि भवानी विलास देव की प्रौढ़ वय की रचना है, जब कि कवि की प्रतिभा पूर्णरूपेण परिपक्वावस्था को प्राप्त हो चुकी थी, क्योंकि रसशास्त्रीय एव नायिका भेद विषयक विवेचन के साथ ही साथ इसमें कवित्व सौन्दर्य का भी सम्यक् उन्मेष हुआ है।

देव के रस विवेचन पर हिन्दी के प्रथम आचार्य केशवदास और संस्कृत के रसनिरूपक श्री भानुदत्त भट्ट का स्पष्ट प्रभाव है। भाव विलास और रस तरंगिणी की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा यह प्रभाव आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सम्यक् रूपेण प्रदर्शित किया है।[1] इसके पूर्व मिश्रबन्धुओं ने देव की रस मीमांसा विषयक कतिपय नूतन स्थापनाओं की घोषणा जोरदार शब्दों में की थी, किन्तु आचार्य मिश्र की छानबीन के परिणामस्वरूप अब उक्त मान्यताएँ असिद्ध हो चुकी हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि देव के रस विवेचन में संस्कृत आचार्यों की कोरी अनुकृति एव छायामात्र ही है। देव की विस्तारप्रियता एवं विवेच्य विषयों का अत्यधिक उपबृंहण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वे संस्कृत काव्यशास्त्र की निर्दिष्ट पगडंडियो पर ही चलने वाले न थे, बल्कि नूतन सरणि एवं नव्य मान्यताओं की ग्रन्थि में भी उलझे रहे। यद्यपि डा० नगेन्द्र आदि रीति काव्य के पण्डितों ने देव की इस नवीनता को निराधार बतलाया है और उनके भेदोपभेद की मनोवृत्ति को सर्वथा निरर्थक ठहराया है,[2] फिर भी हिन्दी काव्य शास्त्र की परम्परा में इन आचार्यों का योगदान और उसका महत्व सर्वथा त्याज्य तथा उपेक्षणीय नहीं है। इसके वांछनीय एव स्पृहणीय महत्व के प्रतिपादन की अपेक्षा अभी बनी हुई है।

डा० नगेन्द्र ने रसों के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से देव की दो स्थापनाओ का उल्लेख किया है—१–मुख्य रस केवल चार हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स तथा शांत को छोड़कर शेष रसों का जन्म इन्हीं से होता है। २–नौरसो मे तीन मुख्य हैं—शृंगार, वीर और शान्त। शेष छ; रस इन्हीं तीनों पर आश्रित हैं।[3]

वस्तुतः पहली स्थापना का मुख्य आधार नाट्यशास्त्र बतलाया गया है, जिसके आधार पर सामान्यतया देव ने शब्द रसायन में इसका उल्लेख किया है, किन्तु दूसरी स्थापना की चर्चा उन्होंने भवानी विलास के आधार पर की है।[4] डा० भगीरथ मिश्र

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग, पृ० ४९३
२ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता–डा० नगेन्द्र, पृ० १४२
३ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पृ० १३६ १३७
४ भवानी विलास–देव पृ० १०८

ने देव की स्थापना को नवीन और मनोवैज्ञानिक माना है।[1]

शृंगारेतर रसों के विवेचन में देव ने सर्वप्रथम करुण रस के पाँच भेदों का उल्लेख किया है—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण।[2] इन के औचित्य के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने सन्देह प्रकट किया है और इसे देव की किसी मौलिक सूझ के रूप में स्वीकार नहीं किया।[3] देव के प्रथम चार भेदों का मनोवैज्ञानिक आधार न होने के कारण डा० नगेन्द्र को यह वर्गीकरण मान्य नहीं है, किन्तु सुख करुण की नवीनता को डा० नगेन्द्र ने कियदंश में स्वीकार किया है। कियदंश में इसलिए स्वीकार किया गया है, क्योंकि इसके लक्षण के अनुरूप लक्ष्य के न होने से इसकी व्याख्या सटीक नहीं हो पाती।

इसी प्रकार शान्त रस के देव ने मूलतः दो भेद किए हैं—१–शरण्य, २–शुद्ध शान्त। पुनः शरण्य के तीन मुख्य भेद कर डाले गये हैं—१–प्रेम भक्ति, २–शुद्ध भक्ति, ३–शुद्ध प्रेम।[4] डा० नगेन्द्र ने देव के इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में आपत्ति प्रकट की है। उनके अनुसार प्रेम भक्ति और शुद्ध प्रेम तो शम के अन्तर्गत किसी भी रूप में नहीं आ सकते। वे तो शृंगार के अन्तर्गत आते हैं।[5] प्रेम भक्ति आदि के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के विचार हैं कि ये समस्त भेद भक्ति ग्रन्थों से लिए गये हैं।[6] किन्तु हिन्दी में इनका वर्गीकरण सर्वप्रथम देव ने ही किया। संस्कृत के रसग्रन्थों और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इन भेदों की चर्चा प्रायः नहीं की गई। धनंजय, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि ने भी इस पर किसी भी प्रकार का विचार नहीं किया। धनंजय ने तो शान्तरस को इसलिए नहीं ग्रहण किया, क्योंकि नाटक में शान्तरस को मान्यता नहीं मिली है।[7] रसतरंगिणीकार ने शान्तरस को स्पष्टतया नवां रस माना है[8] तथा विश्वनाथ ने रसविवेचन के प्रसंग में शान्तरस की चर्चा तो की है, किन्तु देव की भाँति इतने भेदों का वर्णन नहीं किया है।[9] अन्य रसों का

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास–डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १००, प्र० स०
२. करुन अति करुन अरु महाकरुण लघु करुण होत
   एक कहत हैं पाँच यों दुख मैं सुखहिं सजोत ॥–भवानी विलास–देव, पृ० ११३
३. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता–डा० नगेन्द्र, पृ० १३३, १३४
४. भवानी विलास—देव छं०सं० १० ११ १२ पृ० १०३
५ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० १३४

स्थिति की स्पष्ट घोषणा की है। किन्तु वास्तव में अपार्थिव तत्व की आड़ में उनका यह पार्थिक श्रृंगार का ही समर्थन था। दूसरे शब्दों में आचार्य देव मूलतः लौकिक श्रृंगार के ही गायक थे। और उस युग में इनकी तुलना में श्रृंगार के ऐसे जबरदस्त गायक बहुत कम ही मिल पाते हैं। स्वयं डा० नगेन्द्र ने भी इनके विस्तृत श्रृंगार-विवेचन को रीति काल के अन्य कवियों की तुलना में अप्रतिम माना है।[1]

देव का नायक-नायिका भेद विवेचन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और मौलिक है। यद्यपि देव में भी परिपाटी बद्धता का अभाव नहीं है, लेकिन इस विषय पर जितना जमकर इन्होंने लिखा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यों नायक-नायिका भेद से सम्बन्धित इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु उनमें मुख्य ग्रन्थ भाव विलास भवानी विलास, रस विलास, सुखसागर तरंग, कुशल विलास, सुजान विनोद आदि हैं। यहां हम भाव विलास और भवानी विलास के आधार पर यह निरूपित करने का प्रयास करेंगे कि देव ने नायक-नायिका भेद के संदर्भ में किस निष्ठा के साथ इसके शास्त्रीय विवेचन में अपनी रुचि प्रदर्शित की है।

देव ने भावविलास में परिपाटी के अनुसार नायक के तो केवल चार भेदो—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—की ही चर्चा की है, लेकिन नायिका भेद के संदर्भ मे ३८४ भेदों का संकेत किया है।[2]

भवानी विलास नायिका भेद निरूपण की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ कृति है। डा० नगेन्द्र ने इसके उत्कृष्ट एवं सरस उदाहरणों को 'रस विलास' की तुलना मे हलका माना है। मेरे विचार से डा० नगेन्द्र के इस कथन में अधिक बल नही हैं, क्योंकि भवानी विलास की अधिकांश रचनायें रस विलास से अधिक सरस और उत्तम है। मिश्रबन्धुओं ने भी न जाने क्यों रसविलास की अधिक श्लाघा की है।[3] हम भवानी विलास की उत्कृष्ट रचनाओं का परीक्षण रीतिकाव्य के कवित्व-सौन्दर्य का विवेचन करते समय करेंगे।

भवानी विलास में सर्वप्रथम नायिका भेद का विस्तार किया गया है। इसमे जाति एवं अंश के भेद के आधार पर नायिकाओं का वर्गीकरण सर्वथा नूतन दृष्टि से किया गया है। अंश भेद के आधार पर नायिकाओं का वर्गीकरण किसी भी आचार्य ने नहीं किया। प्राचीन ग्रन्थों में उक्त वर्गीकरण का संकेत भले ही मिल जाय, लेकिन लक्ष्य एवं लक्षणों का इतना विस्तार सर्वथा अनुपलब्ध है।

भवानी विलास के तृतीय विलास के अन्तर्गत अंश भेद के आधार पर स्वकीया

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० ६०

२ भाव विलास ४ ६७

३ हिन्दी मिश्रबन्धु, पृ० २८२ पचम

नायिका का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। देव ने अंश भेद के अनुसार स्वकीया को पाँच भागों में विभाजित किया है[1]—

१. देवी (७ वर्ष तक), २. देव गंधर्वी (७ से १४ वर्ष तक), ३. गन्धर्वी (१४ से २१ वर्ष तक), ४. गन्धर्वी मानुषी (२१ से २८ वर्ष तक), ५. शुद्ध मानुषी (२८ से ३५ वर्ष तक)।

इनके सापेक्षिक महत्व का भी प्रतिपादन किया गया है—१. देवी १०॥ वर्ष तक पूजनीया होती है, २. गन्धर्वी को १०॥ वर्ष से २४॥ वर्ष तक भोग की दृष्टि से महत्व दिया गया है और २४॥ से ३५ वर्ष तक गन्धर्वी को सुख सन्तान की दृष्टि से उपयोगी माना गया है।

रस विलास में देव ने प्रकृति, सत्व और देश भेद के आधार पर इसका नूतन वर्गीकरण किया है। किन्तु इस वर्गीकरण की मौलिकता और औचित्य के सम्बन्ध मे डा० नगेन्द्र ने सन्देह प्रकट किया है। और भेदोपभेद के इस जाल को सर्वथा निरर्थक बतलाया है। उनके अनुसार प्रकृति, सत्व, अंश और देश भेद अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं, किन्तु ये चारों भेद—क्रम सर्वथा मौलिक नहीं है। इन्होंने इन भेदों के मूल उत्स के सम्बन्ध में आयुर्वेद तथा कामशास्त्रीय ग्रन्थों की ओर संकेत किया है और देश भेद का सम्बन्ध मम्मट कृत काव्य प्रकाश से जोड़ा है।[2] डा० नगेन्द्र के इस कथन से हम सहमत नहीं हैं, क्योंकि आयुर्वेद और कामशास्त्रीय ग्रन्थों में जिस प्रकार का संकेत है, वह देव के विवेचन से सर्वथा भिन्न है। फिर संकेत के ही आधार पर इन्हें नायिका-भेद के ग्रन्थों में अन्तर्भूत करना अपने आप में देव का यह मौलिक प्रयत्न था, क्योंकि देव से पूर्व संस्कृत अथवा हिन्दी नायिका भेद ग्रन्थों में इस प्रकार का वर्णन प्रायः नहीं मिलता। हाँ, इसके औचित्य के सम्बन्ध में मतभेद होना अवश्यम्भावी है।

—नायिका भेद के वर्गीकरण की नूतन संगतियाँ

आचार्य देव ने नायिका भेद वर्गीकरण के सन्दर्भ में कुछ नवीन ढंग से इसकी संगतियाँ बैठाने का प्रबल प्रयास किया है। भवानी विलास में इन संगतियों के दो रूप हैं—प्रथम के अन्तर्गत पूर्वानुराग, प्रथम संयोग और सुख भोग आता है, जिसके अन्तर्गत क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के विभिन्न भेदों को अन्तर्भूत किया गया है और द्वितीय के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के क्रमशः काम की दस दशाएँ, दस अवस्थाएँ एवं दस हावों का वर्णन किया गया है।[3] प्रथम संगति के अन्तर्गत जिन नायिकाओं का

---

१. भवानी विलास—तृतीय विलास, पृ० २४

२. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १४७

३ मुग्ध तिया की दस दसा कही पूर्व अनुराग।
मध्यानि की वरनत सुनहु सभाग भवानी विलास पृ० ७०

वर्गीकरण किया गया है, उनका विवरण इस प्रकार है[१]—

(i) पूर्वानुराग[२]	(ii) प्रथम संयोग[३]	(iii) सुख भोग[४]
मुग्धा वयस् सन्धि	मुग्धा—सलज्जरति	मध्या—१. प्रगल्भ वचना
''—नवल बधू	मध्या—रूढ़ यौवना	२. विचित्र सुरता
''—नव यौवना	मध्या—प्रगट मदना	प्रौढ़ा—लब्धापति
''—नवल अनंगा		''—रति कोविदा
		''—वश वल्लभा
		''—सविभ्रमा

दूसरी संगति का उल्लेख यों किया गया है[५]—

(i) मुग्धा के अन्तर्गत अभिलाष आदि दस कामदशाओं का वर्णन ।

(ii) मध्या के अन्तर्गत स्वाधीनपतिका आदि दस अवस्थाओं का वर्णन ।

(iii) प्रौढ़ा के अन्तर्गत लीला, विलास आदि दसहावों का वर्णन

यद्यपि स्वकीया के इन तेरह भेदों (५ मुग्धा, ४ मध्या और ४ प्रौढ़ा के भेद) का मूलाधार रुद्रभट कृत श्रृंगार तिलक है, जहाँ से केशव और देव दोनों आचार्यों ने इन्हें ग्रहण किया है, किन्तु इन भेदों का ऐसा वर्गीकरण श्रृंगार तिलक आदि ग्रन्थों में नहीं मिलता। देव ने यह वर्गीकरण अपने ढंग से किया है, यही इनकी मौलिकता है। देव के इस वर्गीकरण की मौलिकता को स्वीकार करते हुए भी आज डा० नगेन्द्र जैसे देव काव्य के विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। डा० नगेन्द्र ने देव की इन संगतियों की पूर्ण परीक्षा की है और अपने परीक्षण के उपरान्त उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष भी निकाले हैं। उनके अनुसार प्रथम संगति के अन्तर्गत मुग्धा के चारों भेदों में पूर्वानुराग मानना सर्वथा असंगत है। कारण यह है कि मुग्धा भय और लाज के कारण सुरति का पूर्ण सुख तो नहीं प्राप्त कर पाती, किन्तु उसमें मिलन का पूर्ण अभाव नहीं रहता। इसके पश्चात् दूसरी संगति के अन्तर्गत मुग्धा की दस दशाओं का समावेश किया गया है, जो कि पूर्वानुराग में इन का अंतर्भाव जरा असंगत लगता है। इसी प्रकार दस अवस्थाओं के मध्य प्रौढ़ा को वंचित करना भी ठीक नहीं मालूम होता और प्रौढ़ा के

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १४८
२. चारि भेद लों मुग्ध पिय पूर्वनुराग वियोग।—भवानी विलास, पृ० ३६
३. रति सलज्ज द्वै भेद मधि मध्या प्रथम संजोग—भवानी विलास, पृ० ३६
४. मध्याउत्तर भेद द्वै अरु प्रौढ़ा सुख भोग।
रसवियोग क्रम ते तहाँ मान प्रथम संयोग॥ भ० वि०, पृ० ३६
५. दशा अवस्था हाव दस यद्यपि सकल तियानि।
तदपि सुकवि क्रमते कहत मुग्ध मध्य प्रौढानि भवानी विलास पृ० ७०

अन्तर्गत विभ्रम, किल्किंचित, विलास, लीला आदि हावों का उल्लेख अधिक औचित्य-पूर्ण नहीं कहा जा सकता, इन्हें मुग्धा और मध्या में ही सम्मिलित करना चाहिए।[1]

डा० नगेन्द्र के उपर्युक्त कथन से मेरा थोड़ा सा मतभेद पूर्वानुराग के अन्तर्गत मुग्धा नायिका की स्थिति के सम्बन्ध में है। वस्तुतः मनःस्थिति के न मिलने के कारण नायक और नायिका का संयोगावस्था में भी वियोग की सीमा प्रायः बनी रहती है। फिर मुग्धा का मिलन बहुत उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द भाव से इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि उसमें भय और लज्जा का अवरोध निरन्तर बना रहता है। इस कारण देव द्वारा मुग्धा के चारों भेदों का पूर्वानुराग वियोग के अन्तर्गत सम्मिलिति किया जाना सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। डा० नगेन्द्र की अन्य आपत्तियाँ पूर्ण तर्कसंगत हैं। नायक भेद का विवेचन परम्परानुसार किया गया है और उसमें किसी भी प्रकार की नवीनता नहीं है।

(४) *भिखारीदास*

आचार्य दास का एक मात्र नवरस निरूपक ग्रन्थ रस सारांश है। इस ग्रन्थ की रचना सं० १७९१ में हुई थी।[2] इस ग्रन्थ की एक मुद्रित प्रति सन् १८९१ ई० में गुलशन अहमदी प्रेस, प्रतापगढ़ से लीथो में छपी थी। वह प्रति सम्प्रति अप्राप्य है। एक नूतन संस्करण कुछ समय पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा 'भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम भाग' के अन्तर्गत सुसम्पादित होकर नागरी प्रचारिणी काशी से प्रकाशित हुआ है।

रस सारांश में नवरसों का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त शैली में किया गया है। 'सारांश' शब्द भी इसके संक्षिप्तीकरण की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है। इस ग्रन्थ में प्रायः दोहों की अधिकता है। अन्य छन्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। मिश्र बन्धुओं ने इसी ग्रन्थ में निरूपित दस अधिक हावों का भी उल्लेख किया है और इसे अन्य कवियों की तुलना में मौलिक माना है।[3]

आचार्य दास ने इस ग्रन्थ में शृंगारेतर रसों की चर्चा बहुत चलते ढंग से की है। हाँ, शृंगार निरूपण में इन्होंने अवश्य कुछ प्रतिभा प्रदर्शित की है। इस ग्रन्थ के विवेच्य विषयों के आधार ग्रन्थ काव्य प्रकाश, दशरूपक, रसमंजरी, रसगंगाधर तथा शृंगार-तिलक आदि हैं। इन आधार ग्रन्थों को सर्वत्र महत्व नहीं दिया गया है, क्योंकि विवेचन इन्होंने अपने ढंग से किया है। आचार्य दास ने शृंगारेतर रसों के अनन्तर शृंगारादि भेद और व्यभिचारी भाव आदि का इसमें विस्तार के साथ वर्णन किया है। शृंगारादि

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १८८
२. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम भाग, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ८५
३. मिश्रबन्धु विनोद दूसरा भाग द्वि० सं० पृ० ६३५

के बहु भेदों का संकेत इन्होंने अपने काव्य निर्णय में भी किया है। रस सारांश मे श्रृंगारेतर रसों में केवल वीर रस के आलम्बन-भेद से सत्यवीर, दयावीर, रणवीर, और दानवीर जैसे चार भेदों की उद्भावना की है।[१] श्रृंगारेतर अन्य रसों के विवेचन मे न तो उनके भेदोपभेद का ही उपबृंहण है और न प्रतिपादन शैली में ही किसी प्रकार की मौलिकता लक्षित होती है।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि आचार्य दास ने रस साराश मे श्रृंगार रस की अपेक्षाकृत अधिक विवेचना की है और इस दिशा में कतिपय मौलिक तथ्यों का भी प्रतिपादन किया है। यही नहीं, रस सारांश में प्रारम्भ से ही श्रृंगार का निरूपण हुआ है और उसके भेदोपभेद के आधार पर वर्गीकरण का नूतन प्रयास किया गया है।

श्रृंगार निरूपण में आचार्य दास ने पर्याप्त पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। रस सारांश में विवेचित तथ्यों के आधार पर इसका सहज उद्घाटन किया जा सकता है। आचार्य दास ने प्रथमतः परम्परानुसार श्रृंगार को मुख्य दो भागों में विभाजित किया है—

१. संयोग श्रृंगार, २. वियोग श्रृंगार।

पुनः इनके दो-दो और भेद कर डाले हैं—

१. सम श्रृंगार, २. मिश्रित श्रृंगार।

सम श्रृंगार से दास का अभिप्राय है—जहाँ नायक अथवा नायिका का संयोगात्मक अथवा वियोगात्मक वर्णन किया जाय।[२] मिश्रित श्रृंगार से अभिप्राय है—जहाँ संयोग मे वियोग और वियोग में संयोग का वर्णन किया जाय।[३] संयोग और वियोग श्रृंगार के सम्बन्ध में संस्कृत में पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रस गंगाधर ग्रन्थ में सम्यक् रूपेण विचार किया है। उन्होंने संयोग और वियोग की स्थितियां अन्तःकरण की प्रवृत्ति के अनुसार मानी हैं। उनके अनुसार एक ही सेज पर पड़े हुए नायक और नायिका यदि परस्पर रूठे हुए हैं तो यहां मिश्रित श्रृंगार (संयोग में वियोग) कदापि न होगा। स्पष्ट ही विप्रलम्भ श्रृंगार होगा। इसी प्रकार संयोगावस्था की भी स्थिति समझनी चाहिए।[४] आचार्य दास ने मिश्रित (संयोग में वियोग) के उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० ६६, सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ३४५
३. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ६१
४. रस गंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ प्रथम अ० पृ० ४१

१. संयोग में वियोग—सौतुख सपने देखि सुनि, प्रिय बिछुरन की बात।
सुख ही में दुख को उदय, दम्पति हूँ ह्वै जात ।।४२०।।

२. वियोग में संयोग—पत्री सगुन संदेस लखि, पिय बस्तुनि को पाइ।
अनुरागिनी वियोग में, हर्षोदय ह्वै जाइ ।।४२३।।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार दूसरे उदाहरण में मिश्रित शृंगार न होकर संयोग शृंगार होगा, किन्तु प्रथम उदाहरण को वियोग शृंगार के अन्तर्गत रखना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष और स्वप्न में प्रिय विछुडने की बात देख एवं सुनकर दम्पत्ति सुख में ही दुःख का अनुभव कर सकते हैं। अतः इस दृष्टि से यहाँ संयोग में वियोग की ही स्थिति कही जा सकती है। शुद्ध वियोग शृंगार नहीं कहा जा सकता। आचार्य दास की यह धारणा मौलिक होने के साथ-साथ जगन्नाथ की एतद्विषयक धारणा से कहीं अधिक व्यापक है।[1]

आचार्य दास ने शृंगार की सीमा यहीं नहीं समाप्त की, अपितु उसके परिविस्तार को उत्तरोत्तर संवर्धित करने की पूर्ण सक्रियता दिखायी है। इस दृष्टि से इन्होंने संयोग शृंगार के दो मुख्य भेदों का उल्लेख किया है—

१. संयोग शृंगार, २. सामान्य शृंगार।

जहाँ दम्पति मिलकर बिहार करते हैं, वहाँ संयोग शृंगार होता है और जहाँ हाव, हेला आदि अनुभावों के माध्यम से नायक-नायिका के सौन्दर्य-वैविध्य का वर्णन होता है, वहाँ सामान्य शृंगार होता हैं।[2] संयोग शृंगार के अन्तर्गत संयोग संकेत का वर्णन किया गया है और संयोग संकेत को लेकर सूने सदन का मिलन और 'क्रिया चातुरी' का उल्लेख किया गया है। यह बतलाया जा चुका है कि सामान्य शृंगार के अन्तर्गत हाव, हेला और अनुभाव का वर्णन होता है। इसके अतिरिक्त विहार से सम्बन्धित सयोग शृंगार को जन्य-जनकता के आधार पर दो मुख्य भागों में विभाजित किया गया है—

१. नायक जन्य शृंगार, २. नायिका जन्य शृंगार।[3]

आचार्य दास ने अन्य हिन्दी आचार्यों की तुलना में दस अधिक हावों का कथन किया है—वे दस अधिक हाव इस प्रकार हैं—मुग्ध, बोधन, तपन, चकित, हसित, कुतूहल, उद्दीपक, केलि, विक्षेप और मद।[4]

---

१. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ३४६
२. मिलि बिहरें दंपति जहाँ, सो संजोग सिगारु।
भिन्न भिन्न छबि बरनिये, सो सामान्य विचारु ॥ २८४
—भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम भाग, पृ० ४२
३. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्र० खं०, पृष्ठ ६४
४ " " " पृष्ठ ४६

रस सारांश में आचार्य दास ने विप्रलम्भ शृंगार के चार भेदों—मान, पूर्वानुराग, प्रवास और करुण का निरूपण विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण के आधार पर किया है।[१] किन्तु विश्वनाथ के करुण विप्रलम्भ और आचार्य दास के 'करुण हेतुक' में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ पं० विश्वनाथ नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर इसी देह से पुनः मिलन की आशा को करुण विप्रलम्भ मानते हैं,[२] वहाँ आचार्य दास ने निराशा से उद्भूत ग्लानि के कारण मृत्यु की इच्छा में करुण-विप्रलम्भ की स्थिति मानी है।[३]

विप्रलम्भ शृंगार निरूपण के अनन्तर दास ने २२ दोहों में 'शृंगार-नियम-कथन' शीर्षक के अन्तर्गत शृंगार रस विषयक सामग्री की एक लम्बी सूची दी है, जो दास के शृंगार निरूपण की सूक्ष्म एवं गम्भीर प्रवृत्ति का परिणाम है। इस सूची में कई महत्वपूर्ण सूचनाओं की ओर इंगित किया गया है।

शृंगार निर्णय की भाँति रस सारांश में निरूपित नायक-नायिका-भेद का आधार संस्कृत में लिखित भानुमिश्र कृत रसमंजरी है। फिर भी आचार्य दास ने रसमंजरी में उल्लिखित सभी भेदों को ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण किया, अपितु उनका वर्गीकरण उन्होंने अपने ढंग से किया है। कुछ लोगों का कथन है कि दास के रस सारांश में कथित नायक नायिका-भेद रस मंजरी से भिन्न होते हुए भी पूर्ववर्ती हिन्दी परम्परा से सर्वथा भिन्न नहीं है।[४] किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या दास ने वर्गीकरण की वही प्रक्रिया अपनायी है जो पूर्ववर्ती हिन्दी नायक-नायिका-भेद के आचार्यों में मिलती है? इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि समस्त रीति परम्परा में आचार्य दास ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने नायक-नायिका भेद के क्रमबद्ध विवेचन में अपना पूर्ण पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। यही नहीं, शृङ्गार निर्णय के अन्तर्गत वर्गीकरण का अधिक श्लाघ्य प्रयास किया गया है। हम शृंगार निर्णय का विवेचन करते समय इस तथ्य पर सम्यक् रूपेण विचार करेंगे। यहां हम स्पष्ट करेंगे कि दास ने रसमंजरी की तुलना में रस सारांश में किन नूतन भेदों की उद्भावना की है। सर्वप्रथम आचार्य दास की नवीनता का दर्शन हमें उनकी परकीया नायिका के प्रकृति भेदों में होता है। उन्होंने परकीया लक्षिता के दो भेदों का उल्लेख किया है—१. सुरति लक्षिता, २ हेतु

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्र०खंड, पृष्ठ ५३
२. यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुण विप्रलम्भाख्यः ॥२०९—साहित्य दर्पण, टी० शालग्राम शास्त्री, पृ० ११३
३. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्र० खण्ड, पृ० ६०
४. हिन्दी काव्य शास्त्र में रस सिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी. पृ० ३१०

लक्षिता ।[1] रस मंजरी में लक्षिता के भेदों की चर्चा नहीं हुई है ।[2] हां, यह अवश्य खटकता है कि रस सारांश में इन भेदों के लक्षण नहीं दिए गए हैं । केवल उदाहरणों से जो लक्षण परिलक्षित होते हैं वे शास्त्रीय दृष्टि से चिंत्य हैं ।

पुनः भेद कथन के अन्तर्गत परकीया नायिका के कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता नामक भेद भी नवीन हैं ।[3] उद्बुद्धा और उद्बोधिता नामक भेद भी रस मजरी में नहीं मिलते, किन्तु इन भेदों का उल्लेख अकबर शाह कृत शृङ्गार मंजरी मे मिलता है ।[4] परकीया नायिका का विस्तार करते हुए आचार्य दास ने प्रथम इन्हें तीन भागों में विभाजित किया है—

१—असाध्या परकीया, २—साध्या परकीया, ३—दुःसाध्या परकीया ।

आचार्य दास के अनुसार असाध्या परकीया उसे कहते हैं जो पर पुरुष मिलन से वंचित रह जाती है । इसे कुछ लोग अधम स्वकीया भी कहते हैं ।[5] इस नायिका की चर्चा रसमंजरीकार ने नहीं की । असाध्या के पुनः पाँच भेदों का कथन इस प्रकार किया गया है—

१—गुरुजन भीता, २—दूती वर्जिता, ३—धर्म सभीता, ४—अति कान्त्या, ५—खल वेष्टिता ।

साध्या नायिका के अन्तर्गत वृद्ध वधू, बाल वधू एवं ग्राम वधू का उल्लेख हुआ है । आचार्य दास ने दुःसाध्या नायिका उस नायिका को बतलाया है, जिसे साम आदि नीतियों द्वारा बड़े यत्नपूर्वक पर पुरुष (उपपति) प्राप्त होता है ।[6] रस मंजरी में परकीया का इतना विस्तार लक्षित नहीं होता ।

—परकीया निरूपण में आचार्य दास की वर्गीकरण विषयक नूतन चेष्टा

आचार्य दास ने ही सर्वप्रथम परकीया के महत्व को स्वीकार किया और श्रीमानों के भवन में रहने वाली अन्य दाराओं को भी स्वकीया की कोटि में रखने का

१ भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम भाग—रस सारांश, १५,१६

२ रसमंजरी; पृ० ३२

३ भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० १७

४. शृंगार मंजरी—सं० डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २५

५. जार मिलन सों बचि रहै, ताहि कहत कवि लोइ ।
कोऊ असाध्या परकीया, अधम सुकीया कोइ ।। दास ग्रं० प्र० भाग, पृ० ११

६ बड़े जतन जारहि मिलै दुहसाध्या है सोइ ।
उपाय सब याम सामित होइ ७० दासग्र प्रथम भाग पृ० १३

सफल प्रयास किया।[१] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य दास के इस परकीया प्रेम की प्रचुरता का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"हिन्दी काव्य क्षेत्र में इन्हें परकीया प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधा-कृष्ण का नाम आने से देव काव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दास जी ने स्वकीया का लक्षण कुछ अधिक व्यापक करना चाहा।[२]"

इस प्रकार आचार्य दास ने परकीया की इयत्ता को अन्य आचार्यों की तुलना मे अधिक गहराई के साथ ग्रहण किया और परकीया के गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता और मुदिता आदि भेदों को 'त्रपा' और हास्य रस के संयोग से स्वकीया में भी परिकल्पित किया।[३] वास्तव में स्वकीया के अन्तर्गत परकीया के इन भेदों का समावेश दास की मौलिक स्थापना थी। यही नहीं, इन्होंने स्वकीया नायिका के मुग्धादिक भेदों का भी समावेश किया है। रस सारांश में तो इसकी मात्र चर्चा ही की गयी है, किन्तु शृंगार निर्णय में परकीया के मुग्धादिक भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।[४] निश्चय ही, इस विषय पर न तो किसी संस्कृत आचार्य ने विचार किया और न हिन्दी आचार्यो मे ही किसी ने ऐसी उद्भावना की है।

रस सारांश में दूतियों के निरूपण में भानुदत्त की रसमंजरी की तुलना मे पर्याप्त अन्तर है। इन्होंने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत चन्द्रमा, पुष्प आदि के साथ दूती ओर सखी का भी वर्णन किया है। उद्दीपन बिभाव के अन्तर्गत सखी और दूती का इस प्रकार का विस्तार रसमंजरी में नहीं हुआ है। वहाँ अति संक्षेप में इसकी चर्चा की गयी है। आचार्य दास ने सर्वप्रथम सखी के भेदों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार सखी तीन प्रकार की होती है—

१. अन्तर्वर्तिनी, २. विदग्धा, ३. सहचरी।[५]

इसके अतिरिक्त जातियों के आधार पर सखियों के मालिन, चितेरिन, बरइन, पटइन, सोनारिन आदि बृहत् भेदों का उल्लेख किया गया है। इन्हें आचार्य दास ने दूती के अन्तर्गत रखा है।

---

१. शृंगार निर्णय—सं० रामकृष्ण वर्मा, पृ० २२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २७८
३. गुप्त विदग्धा लक्षिता, मुदिता तिय को भाइ।
किये बनै सुकियाहु में त्रपा हास्यरस पाइ॥ दास० ग्र०, प्र० भाग, पृ० ६३
४. त्योंही परकीयाहु में, है मुग्धादिक कर्म।
जैसे अस्त्र कोऊ गहै, क्षत्रि जाति को धर्म॥ .. .. ..
५ दास ग्र० प्रथम भाग पृ० ३३

दूतियों का वर्णन करते हुए आचार्य दास ने इन्हें उत्तम, मध्यम और अधम तीन भागों में विभाजित किया है। इसके अतिरिक्त एक बान दूती का भी उन्होंने उल्लेख किया है। बान दूती के तीन भेद किए गए हैं—

१. हित, २. हिताहित, ३. अहित।[१]

यद्यपि इनके लक्षणों पर विस्तार पूर्वक विचार नहीं किया गया है। फिर भी रस मंजरी की तुलना में निश्चय ही दास की ऐसी कल्पना श्लाध्य है।

नायक का वर्णन पारम्परिक दृष्टि से ही किया गया है। नायक वर्णन में उसके पीठमर्द, विट, चेट तथा विदूषक[२] आदि के भेद रसमंजरी और साहित्य दर्पण के आधार पर है, किन्तु उनकी तुलना में दास के लक्षण अधिक शुद्ध एवं स्पष्ट नहीं है।

(५) *रसलीन*

मुसलमान कवि आचार्यों में रसलीन का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख हिन्दी के इतिहासकारों ने किया है—अंग दर्पण, रस प्रबोध और नायिका भेद। अंगदपर्ण नखशिख विषयक एक छोटा सा-ग्रन्थ है, जो काशी के भारत जीवन प्रेस से पं० नकछेदी तिवारी द्वारा संपादित होकर मुद्रित हो चुका है। इसका तृतीय संस्करण सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ लोकप्रियता की दृष्टि से 'रस प्रबोध' की तुलना में श्रेष्ठ माना जाता है।[३] एफ० ई० की ने तो अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में मात्र अंग दर्पण की ही चर्चा की है, 'रस प्रबोध' का नाम तक नहीं लिया।[४] इससे स्पष्ट है कि 'रसप्रबोध' का अपेक्षाकृत उचित मूल्यांकन न हो सका। ठाकुर शिव सिंह 'सरोज' ने इसे एक अलंकार ग्रन्थ माना है,[५] लेकिन इस ग्रन्थ में अलंकार विषय का कहीं उल्लेख नहीं हुआ। वास्तव में 'रसप्रबोध' रस निरूपण विषय का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें १५५ दोहों के द्वारा रस, भाव, नायिका भेद, षट् ऋतु तथा बारहमासा आदि का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रसलीन का विश्वास है कि इस छोटे से रस ग्रन्थ को भली भाँति पढ़ लेने पर रसज्ञान-प्राप्ति के लिए अन्य ग्रन्थों की आवश्यकता न पड़ेगी।[६]

---

१. दास ग्रं०, प्रथम भाग, पृ० ३४, ३५
२. " " पृ० २८
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २८६
४. He wrote several works on poetics which include a 'Nakh Sikh' called 'Ang Darpan'—A history of Hindi Literature. P. 48 (1920)—F.E.Key.
५ शिवसिंह सरोज, पृ० ४८२ सप्तम संस्करण, सन् १९२६
६ बाँचि आदि ते अन्त लौं यह समुझै जो कोई
ताहि और रस ग्रंथ की फरि चाह नहि होइ रस प्रबोध रसलीन पृ० १

रस प्रबोध में वर्णित रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति प्रायः संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर है, किन्तु इस पर आचार्य भिखारीदास का भी प्रभाव कम लक्षित नहीं होता । फिर भी रसों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रसलीन की धारणा सर्वथा मौलिक है । इन्होंने रसों की उत्पत्ति के तीन कारण—दर्शन, श्रवण तथा स्मरण माने हैं जो अन्य आचार्यों के विवेचन में प्रायः नहीं मिलते । रस प्रबोध में इन कारणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।

अन्य हिन्दी आचार्यों की भाँति रसलीन ने भी शृंगारेतर रसों के निरूपण में अधिक रूचि प्रदर्शित नहीं की है; केवल परम्परा पालन का आग्रह इनमें भी है ।

संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति के कारण हास्य रसों के छः भेदों के स्थान पर इन्होंने केवल तीन ही भेद ही माने हैं । इसके अतिरिक्त ग्वाल आदि की भांति वात्सल्य रस का वर्णन भी इन्होंने किया है । लेकिन शृंगार को छोड़कर अन्य रसों के वर्णन में इनकी चित्तवृत्ति रमी नहीं । हाँ, प्रत्येक रस के प्रच्छन्न, प्रकाश, भूत, भविष्य, वर्तमान, विशेष, सामान्य रूप इनकी मौलिक उद्भावना में परिगणित किये जाते हैं ।*

केशव आदि की भाँति रसलीन ने भी शृंगार रस को रसराज के रूप में स्वीकार किया है । इसका कारण देते हुए रसलीन ने स्पष्टतः माना है कि शृंगार रस के अन्तर्गत अन्य रस तथा सभी संचारी भाव आदि अन्तर्मुक्त हो जाते हैं ।[1] इन्होंने अन्य आचार्यों की भाँति शृंगार का देवता श्रीकृष्ण माना है और कृष्ण के गौर वर्ण होने के कारण शृंगार का भी वर्ण मौर (श्याम) कहा है । शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है । संयोग शृंगार के वर्णन के अनन्तर वियोग शृंगार की दस दशाओं का विधिपूर्वक उल्लेख हुआ है । संयोग शृंगार के अन्तर्गत षड् ऋतुओं का वर्णन हुआ है और वियोग के प्रसंग में बारहमासा का ।

---

*. यद्यपि प्रछन्न प्रकाश भेद संस्कृत के भोज और हिन्दी के केशव आदि में मिल जाते हैं, परन्तु भूत, वर्तमान और भविष्य आदि की कल्पना निश्चय ही नूतन है । रस प्रबोध में इसकी चर्चा इस प्रकार हुई हैं—

> सबै प्रछिन्न प्रकाश है, वहै प्रकट उद्दोत ।
> भूत भविष्य वर्तमान पुनि भयो होइगो होत ।।१०९२।।
> सब विशेष सामान्य है, लक्षन सकल विशेखि ।
> होइ कछू कुल लछन ते सों समान्य अबरेखि ।।१०९३।।

१. अरु व्यभिचारी सकल रस, याही में ते होत ।
याहू ते सब रमन में यह उदोत ४१ रसप्रबोध नवलकिशोर प्रेस मे सन् १८९० मे मुद्रित

वस्तुतः शृंगार रस के अन्तर्गत रसलीन ने यदि अधिक जमकर और निष्ठा-पूर्वक किसी का वर्णन किया है तो नायक-नायिका भेद का। मैं समझता हूं कि समस्त रीतिकाल में आचार्य देव, भिखारीदास और रसलीन ही ऐसे कवि हैं, जिन्होंने संस्कृत के रसमंजरी और साहित्य दर्पण का अनुसरण करते हुए भी इस विषय के प्रतिपादन में पूर्ण मौलिकता प्रदर्शित की है। इसमें रसलीन का विवेचन आचार्य भिखारीदास को छोड़कर नितान्त नूतन और पाण्डित्यपूर्ण है। नायक-नायिका भेद के प्रसंग में नाना प्रकार के नवीन उपभेदों एवं वैज्ञानिक क्रम विवेचन में रसलीन की समता के आचार्य प्रायः कम मिलते हैं।

रसलीन का नायक-नायिका भेद आचार्य भिखारीदास द्वारा निरूपित नायक-नायिका भेद से पर्याप्त प्रभावित है। प्रकारान्तर से वही वर्गीकरण इनका भी है जो आचार्य दास का है। परकीया नायिका के जिन तीन भेदों—साध्या, असाध्या और सुखसाध्या—का वर्णन दास ने किया है, वही भेद रसलीन के भी हैं। दास की तुलना ने रसलीन ने सुखसाध्या के अनेक भेदों की परिकल्पना की है, यथा—वृद्धवधू, नपुंसकवधू, विधवा वधू, गुनीवधू, गुनरिझवती, सेवक वधू, निरंकुशा, परासक्त पुरुष की स्त्री तथा रोगी वधू।[1] वास्तव में रसलीन की दृष्टि इस विषय को जितना विस्तार देने में लगी है, उतनी शास्त्रीय व्यवस्था देने में नहीं। डा० नगेन्द्र ने रस-लीन की इस विस्तार-प्रियता की प्रवृत्ति की अधिक सराहना न करते हुए भी इनके द्वारा विवेचित 'साध्या' आदि नायिकाओं के सामाजिक महत्व को स्वीकार किया है।[2]

रसलीन ने अपने रस प्रबोध ग्रन्थ में अवस्थानुसार नायिकाओं को एक निश्चित क्रम के अन्तर्गत रखा है। रीति आचार्यों में उनकी यह सबसे बड़ी देन है। संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र विवेचन के सन्दर्भ में अष्ट नायिकाओं की गणना की है। उनके अनन्तर होने वाले धनंजय, विश्वनाथ एवं भानुदत्त आदि एवं इनका अनुसरण करने वाले ब्रजभाषा कवियों ने मात्र उक्त आठ नायिकाओं का ही उल्लेख अपने रीतिग्रन्थों में किया है। हाँ, कृपाराम, मतिराम और पद्माकर ने प्रवत्स्यत्प्रेयसी एवं आगतपतिका लिखकर यह संख्या दस तक पूरी कर दी। इधर आचार्य दास और रसलीन ने आगच्छत्पतिका नामक एक नूतन नायिका का समावेश करके कुल संख्या आठ से ग्यारह तक पहुंचा दी है। किन्तु मूलतः आठ नायिकाएँ ही मानी गयी हैं। शेष नायिकाएँ इन्हीं के अन्तर्गत रखी गयी हैं।[3] कुछ आचार्यों ने आगच्छत्पतिका नामक नायिका को पृथक् रूप में स्वीकार नहीं किया। अतः ग्यारह के

---

१. रस प्रबोध—रसलीन, पृ० १८

२ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० १६३

३ साहित्य का नायिका भेद श्री मीतल पृ० १६०

स्थान पर कुल संख्या दस ही मानी गई। आचार्य रसलीन ने मनः स्थिति के अनुसार जिन नायिकाओं को क्रमशः वर्णित किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—स्वाधीन पतिका, २—वासक सज्जा, ३—उत्कंठिता, ४—अभिसारिका, ५—विप्रलब्धा, ६—खंडिता, ७—कलहांतरिता, ८—प्रवत्स्यत्प्रेयसी, ९—प्रोषितपतिका, १०—आगच्छत्पतिका, ११—आगत्पतिका।[1]

आचार्य दास की भाँति रसलीन ने भी परकीया नायिका का वर्णन विस्तार-पूर्वक किया है। लेकिन दास की तुलना में कहीं-कहीं इनकी नूतन दृष्टि भी लक्षित हुई है, यथा-इन्होंने परकीया के ऊढ़ा एवं अनूढ़ा भेदों के अन्तर्गत 'अद्भूता' एव 'उद्भूदिता' नामक नवीन भेदों की कल्पना की है।[2] इसके अनन्तर अवस्था-भेद से परकीया के षट् भेदों का वर्णन किया गया है। इन (षट् भेदों) के भी उपभेदो के विश्लेषण में रसलीन ने अधिक रुचि प्रदर्शित की है, यथा—वचनविदग्धा नायिका और स्वयं दूतिका में इन्होंने अन्तर नहीं माना। इनके अनुसार वचन विदग्धा और स्वयंदूती का एक ही स्थान है, अतः दोनों में पार्थक्य दिखाना अति कठिन है। रसलीन के अनुसार इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अन्य कवियों ने दूसरे भेद (स्वयं दूती) को स्थान नहीं दिया।[3] पुनः क्रियाविदग्धा के पतिवंचिता तथा दूती वंचिता नामक दो अन्य भेदों की कल्पना की गई है।[4] लक्षिता के 'हेतुलक्षिता' 'सुरति लक्षिता, और 'प्रकास लक्षिता' नामक तीन भेद किए गए हैं।[5] इनमें 'प्रकासलक्षिता भेद आचार्य भिखारी-दास की तुलना में नूतन कहा जा सकता है, क्योंकि रस सारांश में केवल दो भेदों—सुरति लक्षिता और हेतुलक्षिता—का ही निरूपण हुआ है। इसके पश्चात् अनुशयना के मुख्य तीन भेदों का कथन किया गया है और इनके भी उपभेदों का उल्लेख यथाप्रसंग हुआ है।[6] मौलिकता की दृष्टि से आचार्य रसलीन के द्वारा निरूपित अनुशयना के तृतीय भेद के अन्तर्गत 'प्रथम भेद स्वैनधिष्ठित संकेत स्थलरचनानुगवन' तथा 'द्वितीय भेद अस्थानधिष्ठज्ञ संकेत वर्णाविनुगवननष्टमाना अनुसयना' परिगणित किये जा सकते हैं।

---

१. रस प्रबोध, पृ० ४२, ४३ भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८९५ में मुद्रित।

२. रस प्रबोध, पृ० २८

३. घर है वचन विदग्ध अरु, स्वयं दूति को एक।
याते है इन दुहन मैं करिबों कठिन विवेक॥
यही बात को समुझि कै, कवि अपने मन माँहि।
जो राखत है एक को, दूजी राखत नाहि॥—रसप्रबोध, पृ० ३०

४. रसप्रबोध, पृ० ३२

५. ,, पृ० ३२, ३३

६ रस प्रबोध पृ० २२ २३ प्रस का

डा० नगेन्द्र ने हिन्दी रीति आचार्यों द्वारा मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के किए गए अवान्तर भेदों की मौलिकता के प्रति संदेह प्रकट किया है। उनके अनुसार ये सभी अवान्तर भेद संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में मिल जाते ह।[1] इस सम्बन्ध में मेरी धारणा यह है कि सब के सब मुग्धा आदि के अवान्तर भेद सस्कृत रीति ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलते, यथा—रसलीन के द्वारा उल्लिखित स्वाधीन पतिका के अन्तर्गत मुग्धा के पाँच भेदों में 'सैसव यौवना' नितान्त मौलिक है। इसी प्रकार सामान्या में रसलीन ने चार भेद किए हैं—१–स्वतंत्र सामान्या, २–जननी अधीना सामान्या, ३–नेमता सामान्या, ४–प्रेम दुःखिता सामान्या। ये चारों भेद विश्वनाथ, भानु आदि आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलते। यद्यपि सामान्या के भेदो की कल्पना रसलीन से भी पूर्व कुमार मणि ने 'रसिक रसाल' में की है,[2] किन्तु वहाँ केवल तीन भेद ही—स्वतन्त्रा, जनन्याअधीना तथा नियमिता—मिलते हैं तथा प्रेम दु खिता नामक चतुर्थ भेद का उल्लेख नहीं हुआ है।

रसलीन ने दशा के अनुसार नायिकाओं के तीन भेद किए हैं—

१—अन्य सुरति दुःखिता, २—गर्विता, ३—मानिनी।

रसलीन के अनुसार इन्हें प्राचीन आचार्यों ने पृथक् वर्ग में न मानकर समस्त नायिकाओं के अन्तर्गत माना है, किन्तु नवीन आचार्यों ने इन्हें एक पृथक् वर्ग में रखा है।[3] यद्यपि नवीन आचार्यों ने यह भी अनुमान लगाया है कि अन्य सुरति दुःखिता का समावेश खण्डिता के अन्तर्गत हो जाता है और गर्विता तथा मानिनी का स्वाधीन गतिका के अन्तर्गत। फिर भी अष्टनायिका भेद से इन्हें भिन्न ठहराया गया है।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि रसलीन ने प्राचीन एवं नवीन दृष्टिकोणों का सम्यक्-रूपेण अनुशीलन किया था और नायिका भेद के विभिन्न वर्गों से वे पूर्ण परिचित थे। अत' इसमें सन्देह नहीं कि उनके द्वारा विवेचित नायिका भेद पर्याप्त ठोस और गम्भीर है तथा इस विषय की उनकी पुष्ट धारणा का वह पूर्ण समर्थन करता है।

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० १६२
२. रसिक रसाल, पृ० ६०
३. अन्य सुरति दुःखिता बहुरि तीन गर्वीता आनि।
और मानिनी नेम बिनु, सकल तियन में जानि॥
पराचीन मति माहि ये भेद गने नहि जात।
करे नवीनन काटि कै, यह विधि सो अविदात ॥३०८॥ रसप्रबोध, पृ० ३६
४. अन्य सुरति दुखित कहीं, खण्डिता ते यह जान।
स्वाधीन पतिका ते कही, भेद गर्विता मान॥
मानिनि को कढ़ि मान ते तिहूं भेद तब ल्याइ।
अष्ट नायिका भेद ते भिन्न दियो ठहराइ॥ रस प्रबोध पृ० ३६

इसके अनन्तर रसलीन ने पतिदु:खिता विषयक कुछ नवीन भेदों का उल्लेख किया है, जो पारम्परिक दृष्टि से सर्वथा मौलिक माना जाता है। पतिदु:खितायें तीन मानी गई हैं—

१—गूढ़ पतिदु:खिता, २—बालपतिदु:खिता, ३—वृद्ध पतिदु:खिता।

रसलीन ने रसानुभूति की दृष्टि से उन नायिकाओं में दोष मानते हुए भी प्रकारान्तर से इनका पूर्ण समर्थन किया है और इनकी मान्यता की उद्घोषणा इस आधार पर की है कि यदि इन नायिकाओं में रसाभास की कोई स्थिति संभाव्य है तो यही स्थिति मुग्धा और कुलटा के विषय में भी पायी जा सकती है।[1]

यद्यपि नायक भेद निरूपण में रसलीन की दृष्टि नायिका भेद की तुलना मे परिमित है,[2] फिर भी कुल मिलाकर इन्होंने २४ नायक भेदों का उल्लेख किया है।[2] रसलीन से भी बढ़कर नायक भेद का विस्तार रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य कवि सेवक ने अपने वाग्विलास नामक ग्रन्थ में किया है।[3]

संस्कृत रीति ग्रन्थों में नायक भेद का इतना विशद विवेचन उपलब्ध नही होता। साहित्य दर्पण, रस मंजरी और दशरूपक में नायक भेद की चर्चा संक्षिप्त रूप मे की गई है। रसलीन ने नायक के मुख्य तीन भेद किए हैं—

१—पति, २—उपपति, ३—वैसिक।

इनमें पति के अनुकूल आदि चार भेद तो संस्कृत और हिन्दी रीति ग्रन्थों के आधार पर लिये गये हैं, किन्तु उपपति के गूढ़ लक्षण और आरूढ़ लक्षण भेद अवश्य प्रचलित परिपाटी से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार वैसिक के प्रथम दो भेदों—

अनुरक्त और मत्त—का वर्णन हुआ है।

पुन: मत्त के भी तीन भेद कर डाले गए हैं—

१—काममत्त, २—सुरामत्त, ३—धनमत्त।

ये भी नूतन प्रतीत होते है। कुछ लोगों ने नायक-भेद २२४ माने हैं, जो स्पष्टत: गलत मालूम होते है।[4] क्योंकि रसलीन ने ३२४ नायक भेदों की गणना इस प्रकार की है—चार प्रकार के पति, तीन उपपति (गूढ़, मूढ़, आरूढ़) और दो वैसिक (अनुरक्त, मत्त)

---

१. इन भेदन में जो कोऊ रसाभास विख्यात।
मुग्धा कुल्टा हू विषे सो गुण पायौ जात ॥१४२॥ रसप्रबोध, पृ० १२

२. जैसी बरनी नायिका तैसे नायक नाहिं।
जो बरनन में उचित है, तेई बरनै जाहि ॥५६५॥—रसप्रबोध, पृ० ७२

३. 'वाग्विलास' की अपूर्ण हस्तलिखित प्रति से (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्राप्त)

४ हिन्दी काव्य शास्त्र मे रस सिद्धान्त—डा० चौधरी पृ० ३११

लेकर कुल नौ भेद हुए तथा प्रत्येक के उत्तमादि तीन भेद लेकर सत्ताइस भेद हो गए। पुनः धीर ललितादि के चारों भेदों के गुणन से १०८ भेद हुए और इस प्रकार दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य मिलाकर कुल नायक भेद की संख्या ३२४ तक आसानी से पहुँच जाती है।[1]

(६) *रघुनाथ*

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कविवर रघुनाथ का रचना-काल संवत १७६० से १८१० तक माना है। मिश्रबन्धुओं ने उनके काव्य कलाधर, रसिक मोहन, जगत मोहन और इश्क महोत्सव नामक चार ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[2] इनमें काव्य कलाधर और रसिक मोहन दोनों ही रीति ग्रन्थ माने जाते हैं। काव्य कलाधर, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से मुद्रित हो चुका है। मेरे पास काव्य कलाधर की जो मुद्रित प्रति है, उसका प्रथम पृष्ठ (कवर पेज) खंडित है। इस कारण इसके प्रकाशन की निश्चित तिथि ज्ञात न हो सकी। पुस्तक से ऐसा अनुमान होता है कि यह पर्याप्त जीर्ण है और कम से कम ७०–८० वर्ष पूर्व छपी होगी। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इसमें भाव और रस का सक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् नायक-नायिका भेद का विस्तृत निरूपण किया गया है।

काव्य कलाधर ग्रन्थ में कुल १५ मयूष हैं। १४ मयूषों में नायक-नायिका भेद का कथन है और अन्तिम मयूष के अन्तर्गत शृंगार तथा शृंगारेतर रसों का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। यों शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से तो इसका महत्व नगण्य है, किन्तु उदाहरणों की चारुता और सरसता की दृष्टि से इसके अधिकांश पद निश्चय ही मौलिक हैं।

रसों का विवेचन करते समय कविवर रघुनाथ ने नवरसों का नामोल्लेख कतिपय दोहों में किया है।[3]

इनके रस विवेचन की एक मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ अन्य कवियों ने पहले शृंगार और नायक-नायिका भेद कथन के पश्चात् शृंगारेतर रसों की चर्चा की है, वहाँ कविवर रघुनाथ ने इस परम्परा से हटकर नवरसों का कथन एक ही स्थान पर किया है। यही कारण है कि काव्य कलाधर के अन्तिम मयूष में सर्वप्रथम रस विवेचन के सन्दर्भ में शृंगार का वर्णन किया गया है और तदनन्तर अन्य रसों का सक्षिप्त विवरण दिया गया है। पन्द्रहवें मयूष में रस-स्वरूप का विवेचन प्रायः

---

१. गने सकल जब भेद यह दिव्या-दिव्य मैं जात।
तब चौबिस और तीनि सैं सब नायक ठहरात ॥५६४॥—रस प्रबोध, पृ० ७२

२ मिश्र बन्धु विनोद—द्वितीय भाग द्वि०स० पृ० ६५५

३ काव्य पृ० १४१

सामान्य ढंग से किया गया है। पुनः भाव निरूपण करते समय रस शास्त्र में परिगणित सभी संचारियों का कथन है। शृंगारेतर रसों के वर्णन में किसी प्रकार की मौलिकता नही मिलती।

रघुनाथ ने शृंगार और नायक-नायिका भेद के कथन में अधिक जम कर विचार किया है। ऐसे स्थल बहुत कम हैं, जहाँ विवेच्य विषय में अस्पष्टता एवं दुर्बोधता का समावेश हुआ हो। लक्षण लक्ष्य अंश के बहुत कुछ अनुरूप हैं।

यों कहने के लिए भले ही इसे नवरस निरूपक ग्रन्थ मान लिया जाय, लेकिन प्रधानता शृंगार और नायक-नायिका भेद की ही है। शृंगार की महत्ता का उल्लेख भी रघुनाथ ने यथास्थल किया है।

इस ग्रन्थ में नायिका भेद निरूपण में मौलिक अंश बहुत कम हैं। फिर भी अभिसारिका कथन में कुछ नवीन भेदों की कल्पना की गई है, यथा—प्रेमाभिसारिका, और गर्वाभिसारिका[1] जैसे भेद नवीन प्रतीत होते हैं। कविवर रघुनाथ ने दूती और सखी के सम्बन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया है। काव्य कलाधर का द्वितीय मयूष केवल दूती निरूपण में ही समाप्त हुआ है। लगता है इस पर दास के 'रस सारांश' का अधिक प्रभाव है, क्योंकि इसमें भी मालिनि, तमोलिन, चिरीमारिनि, नाइन आदि का कथन हुआ है।

काव्य कलाधर का सबसे अधिक मौलिक अंश है नायक भेद। रीति कवियो द्वारा नायक भेद पर प्रायः बहुत कम विचार किया गया है, यदि किसी ने विचार भी किया है तो उसके नायक भेद में न तो अधिक गहराई है और न उस ओर जमकर निरूपण करने की सच्ची निष्ठा। परिणाम यह हुआ कि नायक भेद प्रायः स्थूल एव सामान्य विषय मात्र ही रह गया। रघुनाथ के अतिरिक्त नायक भेद पर जम कर विचार करने वालों में रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य सेवक हैं, जिन्होंने 'वाग्विलास' मे इस पर कुछ अधिक दृष्टि गड़ाई है। नायक भेद का निरूपण पूरे पाँच मयूषों मे (१०वें से लेकर १४वें तक) किया गया है। दसवें मयूष में नायक भेदों की एक क्रम-बद्ध सूची दी गयी है। इस सूची के अनुसार नायक तीन प्रकार के होते हैं—पति, उपपति, वैसिक और गुण के अनुसार चार भेद हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ठ। पुनः स्वभाव के अनुसार नायक के चार भेद किये गये हैं—(१) धीर ललित, (२) धीर शान्त, (३) धीरोदात्त, (४) धीरोद्धात। इस प्रकार ११ वें मयूष में विस्तार-पूर्वक इन नायकों का लक्षणोदाहरण सहित विचार किया गया है। १३ वें मयूष में गुप्तादिक परकीया नायिका की भाँति उपपति नायक के भेदों का कथन है। इसे

---

१ काव्य कलाधर पृ० ७५

स्वकीया के अन्तर्गत वर्णन करना कवि ने उचित नहीं समझा।[१] १४ वें मयूष मे खडिता भेद को छोड़कर दस विध नायकों की चर्चा की है।[२] नायक के दस अवस्था-भेदों के बाद उसका अभिलाषादि दस दशाओं का वर्णन किया गया है। इस प्रकार नायक भेद बड़े विस्तार से हुआ है। कुछ आलोचक नायक भेद का कथन अधिक औचित्यपूर्ण नहीं मानते, किन्तु मेरे विचार से शृंगारिक परिवेश में नायक भेद कथन अधिक असंगत एवं अनौचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः इस दिशा में रघुनाथ के नायक भेदोपभेद की कल्पना निस्संदेह श्लाध्य है।

(७) *शिवनाथ*

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों में शिवनाथ द्विवेदी का भी नामोल्लेख हुआ है, किन्तु इनके सम्बन्ध में शिवसिंह सरोजकार, डा० ग्रियर्सन एवं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ग्रन्थों में कुछ भी चर्चा नहीं हुई है। हाँ, डा० ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में एक अन्य शिवनाथ की बात लिखी है जो कि राजा जगत सिंह बुन्देला के दरबार में गया था और 'रस रंजन' नामक एक काव्य ग्रन्थ की रचना की थी।[३]

शिवनाथ द्विवेदी का उल्लेख सर्वप्रथम मिश्र बन्धु महोदयों ने अपने 'मिश्र बन्धु विनोद' के द्वितीय भाग में किया।[४] मिश्र बन्धुओं ने शिवनाथ द्विवेदी के प्रसिद्ध रस ग्रन्थ 'रस वृष्टि' का उल्लेख करते हुए लिखा है—"शिवनाथ ने ७५ पृष्ठों का यह बड़ा ग्रन्थ बनाया है, जिसमें रस भेद, भाव भेद और नखशिख के वर्णन हुए हैं"।[५] इस ग्रन्थ की हस्तलिखित एवं मुद्रित दोनों प्रकार की प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा काशी की 'खोज रिपोर्ट' के अन्तर्गत हुआ है।[६] इसकी मुद्रित प्रति का प्रथम संस्करण कब निकला था, ज्ञात नहीं। रस वृष्टि का द्वितीय संस्करण उदयनाथ कवीन्द्र कृत रस चन्द्रोदय के साथ

---

१. गुप्तादिक परकियन के भेद कहे कवि लोग।
उपपति माहि बखानिबो है सुकविन के योग ॥४॥—काव्य कलाधर, पृ० ९५

२. स्वाधीन पतिका आदि दे कहीं नायिका जौन।
नायक वर्णन करत है बिना खंडिता तौन॥ —वही, पृ० ९५

3. He attended the court of Raja Jagat Singh Bundela, the son of Chattrasal, of Panna and was the author of a work on poetry entitled 'Ras Ranjan'.
—The Modern Vernacular Literature of Hindusthan, p. 64

४. मिश्र बन्धु विनोद, द्वितीय भाग, द्वि० सं०, पृ० ७५२

५. वही, पृ० ७५३

६ खोज रिपोर्ट नागरी प्रचारिणी सभा काशी सन १९२३ ई० पृ० १३६१

लखनऊ के मुन्शी नवलकिशोर प्रेस से सन् १८८२ ई० के नवम्बर मास में प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति यह मुद्रित प्रति अलभ्य है। इसके द्वितीय संस्करण की एक प्रति अति जीर्णावस्था में प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में वर्तमान है।

रस वृष्टि जैसा कि नाम से स्पष्ट है—एक रस शास्त्रीय ग्रन्थ है, फिर भी प्रधानता शृंगार की ही है। इसमें कवि का उद्देश्य राधाकृष्ण का शृंगारिक चित्रण करना है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कवि शिवनाथ ने रस वृष्टि नामक ग्रन्थ की रचना की है।[1] इस ग्रन्थ में इन्होंने शृंगार के केवल संयोग और वियोग नामक दो भेदों की ही चर्चा की है। उनके अन्य अवान्तर भेदों का नाम तक नहीं लिया। यहाँ तक कि शृंगार के स्थायी भाव का भी कुछ पता नहीं है। हाँ, शृंगार की तुलना में हास्य रस के स्थायी भाव की चर्चा अवश्य की गयी है।

रस वृष्टि में यदि कहीं मौलिकता का कुछ अंश है तो वह छठें रहस्य में। छठा रहस्य नायिका के 'मान' से सम्बन्धित है। इसमें मान के लघु, मध्यम, गुरु और सामान्य भेदों के साथ बतरस, प्रणति आदि का भी विवरण प्राप्त होता है, जो निश्चय ही मौलिक है।

रस वृष्टि के द्वितीय रहस्य में परम्परा पालन के आग्रह से नायकों का संक्षिप्त वर्णन है। उनके सम्बन्ध में दिये गए उदाहरण भी कम सरस हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिवनाथ का यह ग्रन्थ एक आचार्य की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा से सर्वथा अछूता है। रस शास्त्र एवं नायक-नायिका भेद के प्रतिपादन के लिए जिस गहराई और विवेक की अपेक्षा होती है, उसका इसमें बहुत कुछ अभाव है।

(८) *पद्माकर*

रीति परम्परा के अन्तिम कवि आचार्यों में पद्माकर का स्थान अप्रतिम है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पद्माकर के काव्य की भूरिशः श्लाघा की है। शुक्ल जी के अनुसार रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा पूर्ण उत्कर्ष को पहुँच कर फिर ह्रासोन्मुख हुई।[2]

यद्यपि पद्माकर ने रीति की प्रचलित परम्परा के अनुसार रस, अलंकार आदि विषयों के शास्त्रीय विवेचन के लिये पद्माभरण और जगद्विनोद नामक दो रीति ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु मुख्यतया वे अपनी मधुर कल्पना तथा मूर्त भाव-विधान

---

१. सब मिलि मोहि कृपा करौ, देहु विमल हिय दृष्टि।
राधा हरि शृंगार सुख कियो चहौं रस वृष्टि॥
छन्द संख्या २, पृ० ३९

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, परिवर्द्धित संस्करण, पृ० ३०७

करने वाली स्निग्ध एवं कोमल अभिव्यंजना के ही कारण अधिक प्रसिद्ध हैं। जगद्विनोद पद्माकर कृत एक रस और नायक-नायिका भेद विषयक लोकप्रिय ग्रन्थ के रूप में अभिहित होता है। लोकप्रियता की दृष्टि से इसका वही स्थान है, जो स्थान मतिराम कृत रसराज का है।

जगद्विनोद में कहने के लिए तो नवरसों का विवेचन हुआ है, किन्तु शृंगार रस को छोड़कर अन्य रसों के विवेचन में कवि ने बहुत कम ध्यान दिया है।

पद्माकर ने अपने जगद्विनोद में नायक-नायिका भेद का विवेचन संस्कृत के भानुदत्त कृत रस मंजरी के आधार पर किया है। रस मंजरी की तुलना में इनका वर्णन अति संक्षिप्त है और वैसी प्रौढ़ता और गम्भीरता भी नहीं है, जिसकी सराहना नायिका भेद के प्रायः मान्य आचार्यों द्वारा की जाती है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इसके अधिकांश उदाहरण मौलिक हैं और अपनी सरसता में बेजोड़ हैं। इन उदाहरणों की मौलिकता के सम्बन्ध में आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का विचार है—

"पद्माकर ने उदाहरण अधिकांश मौलिक रखे हैं। साहित्य दर्पण या प्राचीन संस्कृत काव्य ग्रन्थों के चार-पाँच उदाहरण इन्होंने अनुवाद करके भी रखे हैं। इन्होंने कम से कम उदाहरण के लिये किसी का अन्धानुकरण नहीं किया। जो लोग लोकोक्ति, मुहावरा या एकाध शब्द के साम्य पर ही नकल या चोरी का फैसला सुना देते हैं उन्हे साहित्य शास्त्र में कुछ समक्ष खर्च करने की आवश्यकता है"।[1]

पद्माकर ने नायिकाओं का वर्गीकरण स्वकीया से ही प्रारम्भ किया है। मतिराम की तुलना में पद्माकर ने प्रौढ़ा के दो और भेदों—रति प्रीता और आनन्द सम्मोहिता—का कथन किया है।[2] परकीया का निरूपण संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। इस प्रकार पद्माकर ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए अपने विषय को अति विशद एवं व्यापक बनाने का पूर्ण प्रयास किया है, फिर भी इनके वर्गीकरण और शास्त्रीय विवेचन में पर्याप्त अपूर्णता लक्षित होती है। इसकी आलोचना पं० किशोरीदास वाजपेयी ने भी की है।[3] उदाहरणार्थ वाजपेयी जी के अनुसार कवि ने मध्या धीरा का लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु मध्या धीरा के लक्षण विषयक भ्रान्तियों का निराकरण बहुत पहले आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कर दिया था।[4]

---

१. पद्माकर पंचामृत—आमुख भाग, पृ० ५२, ५३ सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

२. पद्माकर और उनका युग—डा० व्रजनारायण सिंह, पृ० २६२

३ साहित्य समालोचक पदमाकरांक—किशोरीदास वाजपेयी

४ पचामृत आमुख भाग पृ० ५३ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

यह कहा जा चुका है कि पद्माकर ने नायिकाओं के लक्षण 'रस मंजरी' के आधार पर दिये हैं, किन्तु कहीं-कहीं उन्हें अपने ढंग से संशोधित कर दिया है, यथा-स्वकीया नायिका का लक्षण रस मंजरीकार ने इस प्रकार दिया है—

तत्र स्वामिन्येवाऽनुरक्तास्वीया ।[१]

अर्थात् अपने स्वामी में अनुरक्त रहने वाली नायिका स्वकीया होती है। अब पद्माकर कृत स्वकीया का लक्षण देखें—

निज पति ही के प्रेम मय, जाको मन बच काय ।
कहत स्वकीया ताहि सों, लज्जा सील सुभाय ।।[२]

इस लक्षण में स्पष्ट है कि पद्माकर ने भानुदत्त कृत लक्षण का विस्तार अपनी समझ के अनुसार किया है। इसमें 'मन, बच, काय' और 'लज्जा, सील सुभाय' को जोड़कर निश्चय ही पद्माकर ने स्वकीया की प्रकृति और गुणों का स्पष्ट चित्र दे दिया है।

पद्माकर का नायक भेद यद्यपि रस मंजरी से पूर्ण प्रभावित है, लेकिन नायक के जो लक्षण साहित्य दर्पण आदि ग्रन्थों में दिये गये हैं, लगता है, पद्माकर उससे सहमत नहीं हैं। इसी से इनका लक्षण परम्परा से जरा भिन्न है। पद्माकर के अनुसार नायक का लक्षण इस प्रकार है—

सुन्दर गुन मन्दिर जुवा, जुवति बिलोकें जाहि ।
कविता राग रसज्ञ जो नायक कहिए ताहि ।।२८१।।[३]

इसके पश्चात् उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखा, सखी, दूती आदि के वर्णन परम्पराविहित हैं, इनमें मौलिकता का अभाव है।

(६) *बेनी प्रवीन*

बेनी प्रवीन रीति-परम्परा के उन अन्तिम कवियों में थे, जिनकी काव्य-माधुरी का प्रभाव ब्रजभाषा-काव्य रसिकों पर बहुत काल तक बना रहा। इनकी तीन कृतियों—(१) शृंगार भूषण, (२) नवरस तरंग, (३) नानाराव प्रकाश—का उल्लेख हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में हुआ है। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में मात्र नवरस तरंग ही है। अन्य कृतियाँ अनुलब्ध हैं। नवरस तरंग बेनी प्रवीन की अति लोकप्रिय रचना के रूप में मान्य है। इसका एक अच्छा संस्करण ब्रजभाषा साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान प० कृष्णविहारी मिश्र ने सन् १६२५ ई० में प्रस्तुत किया था।

यों 'नवरस तरंग' नाम से नवरस निरूपक ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु इसमें प्रधानता शृंगार एवं नायक-नायिका भेद की ही है। अन्य रसों का विवेचन अति

---

१. रस मंजरी—भानुदत्त, पृ० ५
२. पद्माकर ग्रन्थावली—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ८२
३ पद्माकर ग्रन्थावली पृ० १४२

सामान्य रूप में हुआ है। इस ग्रन्थ में कुल ५३४ छन्द हैं और ७२ पृष्ठ हैं। लक्ष्य अशों का उल्लेख प्राय: कवित्त और सवैयों में हुआ है, और लक्षण दोहे और बरवै छन्द में दिये गये हैं।

शृंगारेतर रसों का विवेचन अति संक्षिप्त शैली में हुआ है। इसके विवेचन का ढंग पद्माकर कृत जगद्विनोद से बहुत भिन्न नहीं है। वीर रस को छोड़ कर अन्य शृंगारेतर रसों के भेद नहीं दिये गए। इन शृंगारेतर रसों के लक्षण प्राय: सरल और सुबोध हैं। पद्माकर की भाँति बेनी प्रवीन के भी लक्षण अधिक प्रांजल और स्पष्ट हैं। इससे अनावश्यक दुरूहता और स्पष्टता का बहुत अंशों में परिहार हो गया है। इसके अतिरिक्त कुछ रसों का शृंगार मिश्रित वर्णन किया गया है, यथा—शृंगार मिश्रित करुण रस, शृंगार मिश्रित वीर रस और शृंगार मिश्रित रौद्र रस। इन शृंगा-रेतर रसों के शास्त्रीय विवेचन में ऐसा लगता है कि कवि की दृष्टि अधिक जमी नहीं, केवल स्थूल विश्लेषण तक ही सीमित रही।

जिस प्रकार रसों के विवेचन करते समय बेनी प्रवीन ने बारम्बार भरत का नाम लिया है, उस प्रकार शृंगार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद के कथन में अपने किसी आधार ग्रन्थ की चर्चा नहीं की। लेकिन देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके नायक-नायिका भेद का भी वही क्रम है जो मतिराम और पद्माकर आदि कवियों का है।

नायक के भेद परम्पराविहित हैं। केवल उदाहरणों में मौलिकता अवश्य है। दास आदि की भाँति इन्होंने भी कई जातियों की स्त्रियों को दूती रूप में प्रस्तुत किया।[१] शृंगार रस के स्वरूपांकन में केशव की रसिक प्रिया का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने भी नव रसों में शृंगार के देवता ब्रजराज की व्याप्ति का वर्णन किया है।[२]

निष्कर्षत: बेनी प्रवीन का यह ग्रन्थ शृंगार और नायक-नायिका भेद तथा उनके सरस उदाहरणों की दृष्टि से वस्तुत: अधिक नूतन और हृदयग्राही है।

(१०) चन्द्रशेखर

रस एवं नायक-नायिका निरूपक आचार्यों में चन्द्रशेखर का स्थान पद्माकर की कोटि का माना जाता है। उनकी एकमात्र रस निरूपक रचना रसिक विनोद है। इसके अतिरिक्त इनकी और भी रचनाओं का उल्लेख हिन्दी के इतिहासकारों ने

---

१ नवरस तरंग, पृ० ३९, ४०

२. नवरस में ब्रजराज नित, कहत सुकवि प्राचीन।
सो नवरस सुनि रीझि हैं- नवल कृष्न परवीन ॥

तरग छ० स० २८ पृ० ३

किया है, किन्तु ये रचनाएँ रीतिबद्ध श्रेणी में प्रायः नहीं आती। हाँ, उनमें से केवल 'नख शिख' नामक रचना रीति शैली में परिगणित होती है। नख शिख बहुत पूर्व काशी के भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हो चुका है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का विचार है कि रसिक विनोद हस्तलिखित रूप में ही है। यह बड़ा ग्रन्थ है, इसका परिमाण श्लोकों में ११८० है।[१] लेकिन रसिक विनोद भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८६४ में मुद्रित हो चुका है। इसका सम्पादन ब्रजभाषा के प्रसिद्ध विद्वान बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने किया था।

रसिक विनोद में पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी ने रस—विशेषतया शृंगार रस और नायक-नायिका भेद—का वर्णन किया है और पुस्तक के अन्त में शृंगारेतर रसों का भी उल्लेख है। इसमें यों तो नवरस कथन का स्पष्ट शब्दों में संकेत है।[२] परन्तु प्रधानता नायक-नायिका भेद की ही है। रसिक विनोद नाम भी शृंगारिकता की ओर स्पष्टतया इंगित कर रहा है। रसिक विनोद के आधारभूत ग्रन्थ कौन-कौन से हैं, यह अधिक स्पष्ट नहीं है, क्योंकि चन्द्रशेखर ने केवल 'भरत पंथ' की ही चर्चा की है, अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में वे प्रायः मौन हैं। अनुमान से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी के कई ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया होगा, लेकिन प्रधानता भानु की रस तरंगिणी और रस मंजरी की ही है। वैसे पद्माकर का प्रभाव और उनके नायक-नायिका भेद विवेचन का भी क्रम कम लक्षित नहीं होता।

पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी ने रस-स्वरूप के विवेचन में भानु कृत रस तरंगिणी एवं भरत कृत नाट्य शास्त्र का आश्रय लिया है। रस-स्वरूप के विवेचन के सन्दर्भ में किसी मौलिक तत्व का आभास नहीं मिलता, केवल परम्परागत सिद्धान्तों का प्रकारान्तर से संकेत किया गया है। कहीं-कहीं भरत आदि से संकेत पाकर विवेच्य विषय को मौलिक रूप देने का प्रयास भी किया है। उदाहरण के लिये अनुभाव के लक्षण देने में उन्होंने भरत का आधार ग्रहण किया है, लेकिन उनके लक्षणों को अपने ढंग से अधिक स्पष्ट किया है।[३] शृंगारेतर रसों का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र के आधार पर होते हुए भी इन्होंने शान्त नामक नवें रस का भी वर्णन किया है। शृंगा-

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग, पृ० ७५७

२. रसिक विनोद, पृ० ६७, छं० सं० ७४५, भारत जीवन प्रेस, काशी में सन् १८६४ में मुद्रित

३. उर मत थाई भाव को, जातें अनुभव होइ।
ताहि कहत अनुभाव हैं, भरत मतो कबि जोइ ॥२७२॥
बैन नैन अरु अंग सब, मन विकार अनुकूल।
ईहा प्रगटत आपनी सो अनुभव को मूल ॥२७३॥—रसिक विनोद पृ० ५८

रेतर रसों के लक्षण यत्र-तत्र भरत से भिन्न हैं, और कुछ स्थलों पर उनके लक्षण—निरूपण में इन्होंने संस्कृत के अन्य मान्य आचार्यों को आधार बनाया है, कहीं अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति का भी परिचय दिया है। अन्य रसों का उल्लेख अति संक्षेप में हुआ है। अन्य रसों में हास्य और वीर रस के भेद प्रायः नहीं दिये गये।

अन्य रसों की तुलना में शृंगार और उसके भेदों का विवेचन अधिक गम्भीरता से किया गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य भी शृंगारान्तर्गत नायक-नायिका भेद कथन है। हाँ, संक्षेप में अन्य रसों के लक्षण एवं लक्ष्य का भी ध्यान दिया गया है।[1] संयोग शृंगारान्तर्गत दस हावों का निरूपण तो परम्परागत है, लेकिन कुट्टमित और मोट्टाइत जैसे हावों के उदाहरण अधिक सरस एवं मौलिक है। नायक-नायिका भेद का विश्लेषण रस मंजरी एवं जगद्विनोद के आधार पर किया गया है।

सखी और दूतियों का वर्णन दास की भाँति अति विस्तृत नहीं है, बहुत ही संक्षिप्त है किन्तु स्थल-स्थल पर इनके उदाहरण बहुत ही सरस हैं और लक्षणों के सर्वथा अनुरूप हैं। यदि चन्द्रशेखर का अनुसरण अन्य आचार्यों ने किया होता तो निश्चय ही व्रजभाषा में भी इस विषय के विवेचन में त्रुटियाँ सम्भव न होतीं और विषय की अस्पष्टता का प्रायः अभाव होता।

(११) ग्वाल

रीति परम्परा के अन्तिम कवि आचार्यों में ग्वाल, नन्दराम और लछिराम का नामोल्लेख किया गया है। ग्वाल तक आते-आते रीति परिपाटी की रचनाएँ निःशेष होने लगी थीं तथा सेवक कवि का वाग्विलास रीति-काव्य-चेतना का वह निर्वाणोन्मुख दीपक था, जिसके पश्चात् रीतिकाल की अबाध परम्परा का वैसा आलोक पुनः देखने को न मिला।

ग्वाल के यों तो कई ग्रन्थों की चर्चा इतिहासकारों ने की है, किन्तु उनके मुख्य रीति ग्रन्थ चार माने गये हैं—

(१) रसिकानन्द (सं० १८७९), (२) रस रंग (सं० १९०४),
(३) साहित्यानन्द (रचना काल अज्ञात), (४) अलंकार भ्रम भंजन (लिपि काल सं० १९२२)।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं का भी उल्लेख हुआ है, जिनमें कवि दर्पन, कवि हृदय विनोद, जमुना लहरी तथा नख शिख प्रमुख है। इनमें कवि हृदय विनोद, यमुना लहरी तथा नख शिख नामक ग्रन्थ मुद्रित हो चुके

---

१ तब शेखर मन में कह्यो महाराज के हेत।
ग्रन्थ नायिका भेद को रचिये रसनि समेत रसिक विनोद पृ० ५

किया है, किन्तु ये रचनाएँ रीतिबद्ध श्रेणी में प्रायः नहीं आती। हाँ, उनमें से केवल 'नख शिख' नामक रचना रीति शैली में परिगणित होती है। नख शिख बहुत पूर्व काशी के भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हो चुका है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का विचार है कि रसिक विनोद हस्तलिखित रूप में ही है। यह बड़ा ग्रन्थ है, इसका परिमाण श्लोकों में ११८० है।[1] लेकिन रसिक विनोद भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८९४ में मुद्रित हो चुका है। इसका सम्पादन ब्रजभाषा के प्रसिद्ध विद्वान बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने किया था।

रसिक विनोद में पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी ने रस—विशेषतया शृंगार रस और नायक-नायिका भेद—का वर्णन किया है और पुस्तक के अन्त में शृंगारेतर रसों का भी उल्लेख है। इसमें यों तो नवरस कथन का स्पष्ट शब्दों में संकेत है।[2] परन्तु प्रधानता नायक-नायिका भेद की ही है। रसिक विनोद नाम भी शृंगारिकता की ओर स्पष्टतया इंगित कर रहा है। रसिक विनोद के आधारभूत ग्रन्थ कौन-कौन से हैं, यह अधिक स्पष्ट नहीं है, क्योंकि चन्द्रशेखर ने केवल 'भरत पंथ' की ही चर्चा की है, अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में वे प्रायः मौन हैं। अनुमान से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी के कई ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया होगा, लेकिन प्रधानता भानु की रस तरंगिणी और रस मंजरी की ही है। वैसे पद्माकर का प्रभाव और उनके नायक-नायिका भेद विवेचन का भी कम कम लक्षित नहीं होता।

पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी ने रस-स्वरूप के विवेचन में भानु कृत रस तरंगिणी एवं भरत कृत नाट्य शास्त्र का आश्रय लिया है। रस-स्वरूप के विवेचन के सन्दर्भ में किसी मौलिक तत्व का आभास नहीं मिलता, केवल परम्परागत सिद्धान्तों का प्रकारान्तर से संकेत किया गया है। कहीं-कहीं भरत आदि से संकेत पाकर विवेच्य विषय को मौलिक रूप देने का प्रयास भी किया है। उदाहरण के लिये अनुभाव के लक्षण देने में उन्होंने भरत का आधार ग्रहण किया है, लेकिन उनके लक्षणों को अपने ढंग से अधिक स्पष्ट किया है।[3] शृंगारेतर रसों का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र के आधार पर होते हुए भी इन्होंने शान्त नामक नवें रस का भी वर्णन किया है। शृंगा-

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग, पृ० ७५७

२. रसिक विनोद, पृ० ६७, छं० सं० ७४५, भारत जीवन प्रेस, काशी में सन् १८९४ में मुद्रित

३. उर गत थाई भाव को, जातें अनुभव होइ।
ताहि कहत अनुभाव हैं, भरत मतो कबि जोइ ॥२७२॥
बैन नैन अरु अंग सब, मन विकार अनुकूल।
ईहा प्रगटत आपनो सो अनुभव को मूल २७३ रसिक विनोद पृ० ५४

रेतर रसों के लक्षण यत्र-तत्र भरत से भिन्न हैं, और कुछ स्थलों पर उनके लक्षण—निरूपण में इन्होंने संस्कृत के अन्य मान्य आचार्यों को आधार बनाया है, कहीं अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति का भी परिचय दिया है। अन्य रसों का उल्लेख अति संक्षेप मे हुआ है। अन्य रसों में हास्य और वीर रस के भेद प्रायः नहीं दिये गये।

अन्य रसों की तुलना में शृंगार और उसके भेदों का विवेचन अधिक गम्भीरता से किया गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य भी शृंगारान्तर्गत नायक-नायिका भेद कथन है। हाँ, संक्षेप में अन्य रसों के लक्षण एवं लक्ष्य का भी ध्यान दिया गया है।[1] संयोग शृंगारान्तर्गत दस हावों का निरूपण तो परम्परागत है, लेकिन कुट्टमित और मोट्टाइत जैसे हावों के उदाहरण अधिक सरस एवं मौलिक है। नायक-नायिका भेद का विश्लेषण रस मंजरी एवं जगद्विनोद के आधार पर किया गया है।

सखी और दूतियों का वर्णन दास की भाँति अति विस्तृत नहीं है, बहुत ही सक्षिप्त है किन्तु स्थल-स्थल पर इनके उदाहरण बहुत ही सरस हैं और लक्षणों के सर्वथा अनुरूप हैं। यदि चन्द्रशेखर का अनुसरण अन्य आचार्यों ने किया होता तो निश्चय ही व्रजभाषा में भी इस विषय के विवेचन में त्रुटियाँ सम्भव न होतीं और विषय की अस्पष्टता का प्रायः अभाव होता।

(११) ग्वाल

रीति परम्परा के अन्तिम कवि आचार्यों में ग्वाल, नन्दराम और लछिराम का नामोल्लेख किया गया है। ग्वाल तक आते-आते रीति परिपाटी की रचनाएँ निःशेष होने लगी थीं तथा सेवक कवि का वाग्विलास रीति-काव्य-चेतना का वह निर्वाणोन्मुख दीपक था, जिसके पश्चात् रीतिकाल की अबाध परम्परा का वैसा आलोक पुनः देखने को न मिला।

ग्वाल के यों तो कई ग्रन्थों की चर्चा इतिहासकारों ने की है, किन्तु उनके मुख्य रीति ग्रन्थ चार माने गये हैं—

(१) रसिकानन्द (सं० १८७९), (२) रस रंग (सं० १९०४),
(३) साहित्यानन्द (रचना काल अज्ञात), (४) अलंकार भ्रम भंजन (लिपि काल सं० १९२२)।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं का भी उल्लेख हुआ है, जिनमें कवि दर्पन, कवि हृदय विनोद, जमुना लहरी तथा नख शिख प्रमुख हैं। इनमें कवि हृदय विनोद, यमुना लहरी तथा नख शिख नामक ग्रन्थ मुद्रित हो चुके

---

१. तब शेखर मन में कह्यो महाराज के हेत।
ग्रन्थ नायिका भेद को रचिये रसनि समेत रसिक विनोद पृ० ५

हैं। ग्वाल कृत कविहृदयविनोद की एक जीर्ण प्रति उपलब्ध है, जो बहुत पहले मथुरा के किसी प्रेस से लीथो में मुद्रित हुई थी। जमुना लहरी काशी के भारत जीवन प्रेस तथा लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से छप चुकी है। नवलकिशोर प्रेस से इसका तृतीय संस्करण सं० १९४५ में छपा था। नख शिख का प्रथम संस्करण लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद से सन् १९०३ में मुद्रित हो चुका है। कवि दर्पण हस्तलिखित रूप में प्राप्त है। इसकी एक अपूर्ण प्रति श्री प्रभुदयाल मीतल ने स्वर्गीय नवनीत चतुर्वेदी के पास देखी थी।[1] इस ग्रन्थ की रचना सं० १८९१ के आश्विन मास की विजया दशमी रविवार को हुई थी।

ग्वाल के उपलब्ध एवं अनुपलब्ध ग्रन्थों की विस्तृत समीक्षा ब्रजभाषा के प्रसिद्ध विद्वान् श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'ब्रज भारती' के एक लेख में की थी।[2] उस समीक्षा से ग्वाल के सम्बन्ध में कई ज्ञातव्य एवं तथ्यपूर्ण बातें प्रकाश में आयी थीं। इसके पूर्व की ग्वाल विषयक सूचनाएं बहुत अपूर्ण हैं। इतिहासकारों ने इनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो विवरण दिये हैं, उनसे स्पष्ट है कि ग्वाल के सम्बन्ध में उनकी जानकारी अधिक नहीं थी। यथा, श्री एफ० ई० की महोदय ने ग्वाल की एकमात्र रचना जमुना लहरी का ही उल्लेख किया है, अन्य ग्रन्थों की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की।[3] मिश्र बन्धुओं ने भी उनके अधिकांश ग्रन्थों को नहीं देखा था। रीति ग्रन्थों में उन्होंने केवल रस रंग और नख शिख की ही चर्चा की है।[4] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनके किसी रीति ग्रन्थ की विस्तृत समीक्षा नहीं लिखी तथा रस रंग जैसे प्रसिद्ध रस एवं नायक-नायिका भेद के ग्रन्थ का मात्र संकेत करके वे मौन रह गये।[5]

ग्वाल वस्तुतः कवि की अपेक्षा आचार्य रूप में अधिक अभिहित किये गए हैं। उन्होंने अन्य हिन्दी रीति आचार्यों की तुलना में अपने रीति ग्रन्थों की रचना में प्रभूत संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों का आलोड़न किया था। इस सम्बन्ध में ब्रज-भाषा साहित्य मर्मज्ञ आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के विचार द्रष्टव्य हैं—"ग्वाल कवि ने रीति ग्रन्थों के लिये संस्कृत का पर्याप्त वाङ्मय आलोड़ित किया था। कवि रूप में ग्वाल कवि का महत्व चाहे उतना न हो, पर रीति ग्रन्थकार के रूप में उनका पूरा महत्व माना जाता चाहिए। हिन्दी रीति शास्त्र की परम्परा में संस्कृत

---

१. ग्वाल कवि—सं० प्रभुदयाल मीतल, भूमिका भाग, पृ० ५६
२. 'ब्रजभारती' में प्रकाशित ग्वाल कवि के ग्रन्थों की समीक्षा, अंक ४, वर्ष ११, फाल्गुन संवत् २०१० विक्रमी
३. ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर—एफ० ई० की सन् १९२० में प्रकाशित, पृष्ठ ९६
४. मिश्र बन्धु विनोद—द्वितीय भाग पृ० ९१३ द्वि० सं०
५ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य पं० शुक्ल पृ० ३१३

आधार ग्रन्थों का कदाचित् सबसे अधिक आलोड़न करने वाले ये ही हुए हैं।"[1]

ग्वाल कृत रस रंग रस एवं नायक-नायिका भेद के ग्रन्थों में अत्युत्कृष्ट माना जाता है। यह ग्रन्थ अद्यावधि मुद्रण का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सका। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न स्थानों में उपलब्ध है। इनमें मुख्य जिन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख विद्वानों ने किया है, उनका विवरण इस प्रकार है—

१—याज्ञिक संग्रहालय, काशी नागरी प्रचारिणी की प्रति—इसका लिपि-काल संवत् १६२२ दिया गया है।[2]

२—कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा की प्रति—इस प्रति को श्री प्रभुदयाल मीतल ने देखा था। उनके अनुसार इस प्रति को श्री पोद्दार जी ने अपने हाथ से मार्गशीर्ष संवत् १६६० में किसी अन्य प्रति से लिपिबद्ध किया था।[3]

३—नवनीत पुस्तकालय, मथुरा की प्रति—इस प्रति का उल्लेख ब्रजभाषा-विद् पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा ने किया है।[4]

यह ग्रन्थ ग्वाल जी की प्रौढ़ावस्था में लिखा गया था और रसरीति के ग्रन्थो मे मतिराम कृत रसराज और पद्माकर कृत जगद्विनोद की टक्कर का है।[5] याज्ञिक सग्रहालय काशी नागरी प्रचारिणी में मुझे इसका जो हस्तलेख देखने को मिला है, उसके अनुसार इसमें कुल आठ उमंगे और १५३ पृष्ठ हैं। प्रारम्भिक सात उमंगो मे शृंगार एवं नायक-नायिका भेद का विस्तृत विवेचन है और अन्तिम उमंग में शृंगारेतर रसों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। ग्रन्थ वस्तुतः अति वृहत् है। यों नाम से तो ऐसा आभास अवश्य मिलता है कि इसमें नवरसों का संगोपांग विवेचन होगा, किन्तु प्रधानता शृंगार की ही है।

इसके प्रथम अध्याय में भाव-भेद का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसका आधार भानुदत्त कृत 'रस तरंगिणी' है। 'रस तरंगिणी' का आभार ग्वाल ने स्वय स्वीकार किया है—

---

१. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), पृ० ३३४

२ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १८४—इस प्रति को डा० भगीरथ मिश्र ने डा० भवानी शंकर याज्ञिक, लखनऊ से प्राप्त किया था। सम्प्रति यह प्रति काशी नागरी प्रचारिणी के याज्ञिक संग्रहालय में सुरक्षित है। हमें नागरी प्रचारिणी के उक्त याज्ञिक संग्रहालय में यह प्रति देखने को मिली।

३ 'ब्रजभारती' में प्रकाशित श्री प्रभुदयाल मीतल के 'ग्वाल कवि के ग्रन्थों की समीक्षा' शीर्षक लेख से—वर्ष ११ अंक ४ सं० २०१० वि०।

४ रीति शास्त्र—पं० चतुर्वेदी पृ० ६३

५ प्रभुदयाल मीतल का लेख वर्ष ११ अंक ४ स० २०१० वि०

और इस प्रकार चालीस भाव हुए।"[1] आगे डा० मिश्र ने उनकी नवीनता तो स्वीकार की है, लेकिन तथ्य की दृष्टि से इन पर सन्देह प्रकट किया है।[2]

यह कहा जा चुका है कि ग्वाल पर देव और रस तरंगिणीकार दोनों का पर्याप्त प्रभाव है। सत्य तो यह है कि आचार्य देव रस तरंगिणीकार से सम्यक् रूपेण प्रभावित हैं और इस कारण उन्होंने रस की दो कोटियाँ मानी हैं—

(१) लौकिक, (२) अलौकिक।[3]

इन दोनों भेदों की चर्चा रस तरंगिणीकार ने भी की है।[4] देव ने तो चुपचाप वहीं से यह सामग्री उठा ली है। देव ने पुनः लौकिक और अलौकिक के अवान्तर भेद किये हैं। इन्होंने नयनादि इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले लौकिक रस और मन से सम्बन्ध रखने वाले अलौकिक रस भी माने हैं और इसके अनन्तर अलौकिक के तीन भेद किये हैं—

(१) स्वापनिक, (२) मानोरथिक, (३) आपनायिक।[5]

किन्तु इन्होंने देव के इस वर्गीकरण से अपना पूर्ण मतभेद प्रकट किया है। फलत ग्वाल ने देव के विरुद्ध काव्यरसों को अलौकिक माना है और देव ने जहाँ नवरसों की गणना लौकिक रस के अन्तर्गत की है, वहाँ ग्वाल ने स्पष्टतः नवरसों को अलौकिक रस के औपनयिक भेद के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस दृष्टि से ग्वाल ने न केवल यह मतभेद देव के प्रति प्रकट किया है, अपितु विचारों का यह वैभिन्न रस तरंगिणीकार की ओर भी स्पष्ट रूपेण इंगित कर रहा है। इस प्रकार ग्वाल ने रस को ब्रह्मानन्द के समान स्वीकार किया है और स्पष्ट ही पूर्ववर्ती रस शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति विरोध प्रकट करते हुए अपनी इस नूतन उद्भावना का पूर्ण समर्थन किया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि ग्वाल ने अलौकिक रस को तीन भागों में बाँटा है—

(१) स्वाप्निक, (२) मानोरथिक, (३) औपनायनिक।

इसमें स्वाप्निक और मानोरथिक को विचार मात्र माना है और औपनायनिक को नवरसों का मूल स्वीकार करते हुए इसे प्रत्यक्ष अनुभूति की कोटि में रखा है।

'रस रंग' की आठवीं उमंग में शृंगारेतर रसों का वर्णन हुआ है। शृंगारेतर रसों के विवेचन में ग्वाल ने उतनी रुचि नहीं प्रदर्शित की, जितनी शृंगार एवं नायक-नायिका भेद कथन में। फिर भी अन्य आचार्यों की तुलना में कुछ रसों के स्वनिष्ठ

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, प्र० सं०, पृ० १८५
२. वही, पृ० १८६
३. भाव विलास—सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ६५
४. स च रसोद्विविधः-लौकिकोऽलौकिकश्चेति—रस तरंगिणी–षष्ठः तरंग, पृ० १२१ खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई का संस्करण।
५. भाव विलास पृ० ६५

भानुदत्त जू ने लिख्यौ रस तरंगिणी माहि।
नूतन इक औरौ बनत छल संचारी याहि ।।[१]

इनके ग्रन्थों को–विशेषकर 'रस रंग' को–देखने से विदित होता है कि इन पर पूर्ववर्ती रीति आचार्य केशवदास और देव का भी अमिट प्रभाव है। फिर भी इनके जैसा विशद एवं गम्भीर विवेचन देव को छोड़कर केशवदास ने भी नहीं किया। विवेचन की ऐसी प्रौढ़ता कम देखने को मिलती है। रस-स्वरूप का विश्लेषण करते समय ग्वाल ने उसके अवयवों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। यह कहा जा चुका है कि ग्वाल पर देव का प्रभाव किसी भी प्रकार कम नहीं है। इसी से देव की भाँति रस-स्वरूप का विवेचन करते समय इन्होंने भी कुछ मौलिक चिन्तना से काम लिया है और पारम्परिक दृष्टिकोण का सर्वत्र अन्धानुकरण नहीं किया। इसके प्रथम अध्याय में इन्होंने भाव, विभाव, स्थायी, अनुभाव, सात्विक एवं संचारी भावों का वर्णन यथा-स्थल तर्क-पद्धति एवं प्रश्नोत्तर प्रक्रिया से किया है। यह विधि रीति काव्य की विशाल परम्परा में बहुत कम मिलती है। कवि ग्वाल की इस तर्क-पद्धति का एक नमूना लें —कवि के अनुसार रस की निष्पत्ति सदा भावों से होती है, इस कारण प्रथम भावों का उल्लेख किया जाता है।[२]

भावों के विश्लेषण के सन्दर्भ में कवि ग्वाल ने आचार्य देव की भाँति सात्विक भावों को अनुभावों में परिगणित न करके संचारी भावों के अन्तर्गत माना है और इसी से देव के कायिक और मानसिक संचारी की भांति[३] इन्होंने भी 'तनज' और 'मनज' संचारी भाव माने हैं। चूंकि सात्विक भाव शरीर से उत्पन्न होते हैं, इस कारण उन्हें मनज या मानसिक कहा गया है। सात्विक भावों के कथन में कवि ग्वाल ने कुछ नवीनता प्रदर्शित की है। इस सम्बन्ध में काव्य शास्त्र के मान्य विद्वान डा० भगीरथ मिश्र का विचार है—

"सात्विक भावों के प्रसंग में ग्वाल ने एक नवीनता रक्खी है। उनका कथन है कि पाँच ज्ञान इन्द्रियों में से प्रत्येक आठ सात्विक भावों को प्रकट कर सकता है

---

१ रसरंग—ग्वाल—याज्ञिक संग्रह की हस्तलिखित प्रति, क्रमांक ९८।५२, प्रथम उमंग, पृ० १८९

२ बरनन करि है रसन को, रस भावनते होत।
याते आदिहु भाव को लक्ष न करत उदोत ।।
—रस रंग, प्रथम उमंग, छंद सं० ८

३. सात्विक होत शरीर तें, ताही ते सारीर।
अन्तर उपजैं आन्तरिक, तें तेतिस कहि धीर ।।
भाव विलास सं० चतुर्वेदी पृ० २८

और इस प्रकार चालीस भाव हुए।"[1] आगे डा० मिश्र ने उनकी नवीनता तो स्वीकार की है, लेकिन तथ्य की दृष्टि से इन पर सन्देह प्रकट किया है।[2]

यह कहा जा चुका है कि ग्वाल पर देव और रस तरंगिणीकार दोनों का पर्याप्त प्रभाव है। सत्य तो यह है कि आचार्य देव रस तरंगिणीकार से सम्यक् रूपेण प्रभावित हैं और इस कारण उन्होंने रस की दो कोटियाँ मानी हैं—

(१) लौकिक, (२) अलौकिक।[3]

इन दोनों भेदों की चर्चा रस तरंगिणीकार ने भी की है।[4] देव ने तो चुपचाप वहीं से यह सामग्री उठा ली है। देव ने पुनः लौकिक और अलौकिक के अवान्तर भेद किये हैं। इन्होंने नयनादि इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले लौकिक रस और मन से सम्बन्ध रखने वाले अलौकिक रस भी माने हैं और इसके अनन्तर अलौकिक के तीन भेद किये है—

(१) स्वापनिक, (२) मानोरथिक, (३) आपनायिक।[5]

किन्तु इन्होंने देव के इस वर्गीकरण से अपना पूर्ण मतभेद प्रकट किया है। फलत. ग्वाल ने देव के विरुद्ध काव्यरसों को अलौकिक माना है और देव ने जहाँ नवरसों की गणना लौकिक रस के अन्तर्गत की है, वहाँ ग्वाल ने स्पष्टतः नवरसों को अलौकिक रस के औपनयिक भेद के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस दृष्टि से ग्वाल ने न केवल यह मतभेद देव के प्रति प्रकट किया है, अपितु विचारों का यह वैभिन्न रस तरंगिणी-कार की ओर भी स्पष्ट रूपेण इंगित कर रहा है। इस प्रकार ग्वाल ने रस को ब्रह्मा-नन्द के समान स्वीकार किया है और स्पष्ट ही पूर्ववर्ती रस शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति विरोध प्रकट करते हुए अपनी इस नूतन उद्भावना का पूर्ण समर्थन किया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि ग्वाल ने अलौकिक रस को तीन भागों में बाँटा है—

(१) स्वाप्निक, (२) मानोरथिक, (३) औपनायनिक।

इसमें स्वाप्निक और मानोरथिक को विचार मात्र माना है और औपनायनिक को नवरसों का मूल स्वीकार करते हुए इसे प्रत्यक्ष अनुभूति की कोटि में रखा है।

'रस रंग' की आठवीं उमंग में शृंगारेतर रसों का वर्णन हुआ है। शृंगारेतर रसो के विवेचन में ग्वाल ने उतनी रुचि नहीं प्रदर्शित की, जितनी शृंगार एवं नायक-नायिका भेद कथन में। फिर भी अन्य आचार्यों की तुलना में कुछ रसों के स्वनिष्ठ

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, प्र० सं०, पृ० १८५
२ वही, पृ० १८६
३ भाव विलास—सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ६५
४. स च रसोद्विविधः-लौकिकोऽलौकिकश्चेति—रस तरंगिणी—षष्ठः तरंग, पृ० १२१ खेमराज श्रीकृष्णदास- बम्बई का संस्करण।
५ भाव विलास पृ० ६५

एवं परनिष्ठ भेद आपके रस विवेचन की एक मुख्य विशेषता है। हिन्दी मे इस प्रकार का प्रयास प्रायः नहीं हुआ। हाँ, 'रस तरंगिणी' में भानु ने उन भेदो का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है और ग्वाल ने भी इन भेदों का कथन उसी के आधार पर किया है।

शृंगारेतर रसों में विशद विवेचन का प्रायः अभाव है, किन्तु शान्त रस का विश्लेषण कुछ अधिक विस्तार के साथ किया गया है।

'रस रंग' की छठवीं उमंग में संयोग और वियोग शृंगार का विस्तृत विवेचन है। शृंगार की व्याप्ति की जैसी गम्भीर चिन्तना संस्कृत आचार्यों ने प्रस्तुत की है, उस तुलना में तो ग्वाल का प्रयास प्रायः नगण्य है। फिर भी पद्यमय शैली में प्रतिपाद्य विषय का जैसा सुग्राह्य स्वरूप विवेचित किया गया है, वह निश्चय ही संस्कृत मे 'कारिका' आदि की सहायता से आलोचित एवं प्रतिपादित विषय से अधिक महत्व-पूर्ण है। उदाहरण के लिए ग्वाल ने शृंगार के स्वरूप-प्रतिपादन में 'शृंगार' शब्द के प्रत्येक अक्षर का कथन किया है। ग्वाल कवि ने 'रस रंग' के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय में नायिका भेद का वर्णन किया है। पंचम अध्याय में सखी और दूती का कथन है। इसके सप्तम अध्याय में नायक भेद, सखा तथा उद्दीपन विभाव के अन्त-र्गत षट् ऋतुओं का वर्णन है। यह अध्याय पर्याप्त बड़ा है।

नायिका भेद का कथन पारम्परिक दृष्टि से किया गया है। इसमें ग्वाल की नतन दृष्टि का अभाव है। ग्वाल ने भी केशव आदि की भाँति काम शास्त्रीय ग्रन्थो मे उल्लिखित नायिकाओं का उल्लेख किया है। ग्वाल के नायिका भेद के मूलाधार ग्रन्थ संस्कृत की 'रस मंजरी' और हिन्दी के 'जगद्विनोद' जैसे ग्रन्थ हैं। स्थल-स्थल पर इनका प्रभाव पूर्णतया लक्षित होता है।

नायक भेद के वर्णन में अवश्य मौलिकता प्रदर्शित की गयी है। इन्होंने काम शास्त्रीय नायिकाओं की भाँति पांचाल बखान, दत्त, कुचमार और भद्र नामक चार भेदो की चर्चा की हैं।[१] इनके चिह्न पद्मिनी आदि नायिकाओं के से हैं। इन भेदो की चर्चा अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थ में कदाचित् नहीं की गयी। हिन्दी में नायक-भेद का इतना विस्तार कम मिलता है। हाँ, रीति परम्परा के अन्तिम कवि सेवक ने अपने 'वाग्विलास' में इस विषय पर अवश्य रुचि दिखायी है।[२] आचार्य पं० विश्वनाथ

---

१ नायक हूं चौ जाति के, इक पांचाल बखान।
दत्त कूर्च मार जु कहौं, बहुरि भद्र पहिचान॥
पदमिन आदिक जिन्हें सम, चिन्ह उच्च जिय जान।
और सबै लक्षन वही, क्रमते करौं मिलान॥ रस रंग, सप्तम उमंग, छं०सं० १

२. वाग्विलास—हस्तलिखित प्रति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय से प्राप्त खंडित प्रति के आधार पर

प्रसाद मिश्र ने जात्यनुसार किये गए नायक भेद को साहित्यिक गाम्भीर्य एवं मर्यादा के सर्वथा अनुपयुक्त समझा है और पद्मिनी आदि नायिकाओं की भाँति नायक के पाचाल आदि भेद अनावश्यक बतलाये हैं।[1]

नायक भेद के अनन्तर सखाओं का वर्णन है, जिसमें परम्परा पालन की ही प्रवृत्ति मुख्य है।

(ग) सर्वाङ्ग या विविधांग निरूपक आचार्य

यद्यपि सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों ने मुख्यतया शृंगार एवं नायक-नायिका भेद का ही कथन किया है, किन्तु इन आचार्यों ने सदैव काव्यांगों के निरूपण की मर्यादा को दृढ़तापूर्वक बनाये रखा। इनके ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि एक सर्वाङ्ग निरूपक आचार्य में जैसी गम्भीरता एवं विवेकशीलता अपेक्षित है, उसका उनमें सर्वथा अभाव नहीं है। यहाँ हम सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों द्वारा निरूपित केवल नवरस और नायक-नायिका भेद के उन अंशों का उल्लेख करेंगे, जिनमें किसी न किसी प्रकार के मौलिक विवेचन का प्रयास लक्षित होता है। इस सन्दर्भ में रीति परम्परा के केवल मुख्य-मुख्य आचार्यों का ही विचार किया जायगा।

(१) *चिन्तामणि*

आचार्य चिन्तामणि का उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। यहाँ केवल उनके द्वारा विवेचित शृंगारेतर रस एवं नायक-नायिका भेद का कथन अपेक्षित है। अन्य आचार्यों की भाँति आचार्य चिन्तामणि की रस विवेचन विषयक दृष्टि अधिक व्यापक नहीं है। इन्होंने भी परम्परा-पालन की दृष्टि से शृंगारेतर रसों का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया है। हाँ, शृंगार रस के स्वरूप तथा उसके सागोपांग कथन मे इनकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। आचार्य चिन्तामणि ने अपने सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ में 'कविकुलकल्पतरु' के अष्टम अध्याय में शृंगारेतर रसों का वर्णन किया है। रसों के विवेचन में विद्यानाथ कृत प्रतापरुद्र यशोभूषण, विश्वनाथ के साहित्य दर्पण और मम्मट के काव्य प्रकाश तथा धनन्जय कृत 'दश रूपक' से पूर्ण सहायता ली गयी है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आचार्य चिन्तामणि ने इन ग्रन्थों का कोरा अनुवाद प्रस्तुत किया है, अपितु परम्परागत समस्त शास्त्रीय मान्यताओं का क्रमबद्ध विवेचन अपने ढंग से और सर्वथा स्वतन्त्ररूपेण किया है तथा उपरोक्त जिन ग्रन्थों की जहाँ आवश्यकता हुई, उनका उपयोग तदनुसार सूक्ष्म रीति से किया गया।

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत—शृंगार काल—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ५४५

आचार्य चिन्तामणि ने शृंगारेतर अन्य आठ रसों का निरूपण प्रायः विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' के आधार पर किया है। इन आठ रसों के विवेचन पर विद्यानाथ कृत प्रताप रुद्र यशोभूषण का प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता।

आचार्य चिन्तामणि ने शृंगार रस के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों के निरूपण में अधिक रुचि एवं अनुराग प्रदर्शित किया है। 'कविकुलकल्पतरु' का अधिकाश कलेवर शृंगार निरूपण एवं उसके भेदोपभेद कथन में लगाया गया है। शृंगार निरूपण के सन्दर्भ में कुछ मौलिक तथ्यों का भी समावेश किया गया है जो निश्चय ही इनकी मौलिक चिन्तना का परिचायक है। डा० सत्यदेव चौधरी ने इनके रस निरूपण की मौलिकता का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"चिन्तामणि का यह प्रकरण यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों से संकलित सामग्री पर आधारित है, तो भी कुछ एक स्थलों पर उनका मौलिक विवेचन स्पष्ट झलकता है। उदाहरणार्थ, हाव, भावादि सत्वज अलंकारों को उन्होंने अनुभाव के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। विद्यानाथ सम्मत अनुभाव के चार भेदों में से तीन भेदों की अस्वीकृति इनकी सूक्ष्म प्रतिभा की परिचायक है। मद और भरण नामक संचारियों के लक्षण नवीन हैं। अपने प्रकार के प्रथम हिन्दी आचार्य का रस और ध्वनि के पारस्परिक सम्बन्ध पर विवेचन प्रस्तुत करते हुए रस को ध्वनि का अंग मानना तथा उसे व्यंजनाश्रित घोषित करना उनके प्रौढ़ आचार्यत्व का द्योतक है।"[१]

वस्तुतः आचार्य चिन्तामणि की रस विशेषकर शृंगार रस की विवेचना बड़ी प्रौढ एवं व्यवस्थित है। इन्होंने उन तथ्यों का समावेश कथमपि नहीं किया, जिनसे इनके किसी विषय के अन्धानुकरण किये जाने का आभास मिल सके। यथा, 'मद' सचारी के निरूपण में धनन्जय[२] और विश्वनाथ[३] आदि ने उसे मदिरा के मदोत्पादन रूप में ही सीमित रखा, इधर आचार्य चिन्तामणि ने इस परिभाषा का परिशोधन अपनी दृष्टि से किया जो अधिक उत्तम है। इन्होंने मद को केवल मदिरा अर्थ मे अभिहित न करके धन, विद्या, रूप, यौवन को भी 'मद' की संज्ञा दे दी।[४] यही नही मद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे मद के व्यापक स्वरूप का बोध आसानी से हो जाता है —

---

१. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० २६८
२. दशरूपक—धनन्जय टी० डा० भोलाशंकर व्यास, पृ० २०३। ४।२१
३ साहित्य दर्पण, टी० शालिग्राम शास्त्री, पृ० ६६
४. धन विद्या रूपोद्भव आसव जोबन जात।
उपजत है मद भाव तित कढवि अलसगत बात ॥

पृ० १६५ छ० स० ५२

रूप छकी जोबन छकी, मदन छकी मृदु बानि।
प्रेम छकी आसव छकी, भई छबिनि की खानि ॥६।५३

इसी प्रकार 'मरण' के निरूपण में आचार्य चिन्तामणि ने पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। क्योंकि हिन्दी में चिन्तामणि से पूर्व आचार्य केशवदास ने भी इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विचार नहीं किया। इधर संस्कृत आचार्यों में धनंजय[1] और विद्यानाथ ने 'मरण' के सम्बन्ध में केवल यही बताया है कि यह अनर्थसूचक है तथा इसका वर्णन वर्जित है और अधिक विवेचना इस सम्बन्ध में प्रायः नहीं की गयी। हाँ, विश्वनाथ ने कुछ विस्तारपूर्वक इसका कथन किया है।[2] लेकिन उनका वर्णन आचार्य चिन्तामणि से बहुत कुछ भिन्न है और उसमें वैसी साहित्यिक दृष्टि का प्रायः अभाव है। आचार्य चिन्तामणि ने 'मरण' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

प्रान त्याग कहियत मरन सुतौ प्रगट जग माहि।
संग्रामादिक छोड़ कै, और वरन वै नाहि ॥६।४९
जो वह कबहूं बनिये, तौ ताको उद्योग।
शृंगारादि प्रबन्ध मैं मरन न बरनत जोग ॥६।५०

इससे स्पष्ट है कि 'मरण' का वर्णन युद्ध के प्रसंग में—वीर रसान्तर्गत करना ही अधिक औचित्यपूर्ण है। शृंगारादि प्रसंग के अन्तर्गत इसका वर्णन कथमपि नहीं करना चाहिये।

'कवि कुल कल्पतरु' के पंचम प्रकरण में नायिका-भेद का कथन हुआ है। पंचम प्रकरण कुछ बड़ा है। इसके दो तिहाई भाग में नायिका भेद-निरूपण है और एक तिहाई भाग में नायक भेद का उल्लेख किया गया है।

आचार्य चिन्तामणि ने नायिका भेद का निरूपण बहुत विस्तारपूर्वक किया है। इसके लक्षण एवं लक्ष्य दोनों अंश अति उत्कृष्ट हैं। इस विषय को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दी में केशवदास से लेकर मतिराम तक नायिका भेद का विकास किस रूप में हुआ और किस प्रकार 'रसिक प्रिया' और 'रसराज' के मध्य 'कवि कुल कल्प तरु' में निरूपित नायिका भेद की विकासोन्मुखी स्थिति स्पष्ट होती रही।

यद्यपि आचार्य चिन्तामणि ने अपने नायक-नायिका भेद निरूपण में विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' से अधिक लाभ उठाया है और इस प्रसंग को उन्होंने विश्वनाथ की भाँति रस विवेचन के अन्तर्गत निरूपित किया है, किन्तु नायक-नायिका भेद का सैद्धान्तिक विवेचन भानु कृत 'रस मंजरी' के आधार पर किया है, क्योंकि नायक एवं

---

१ मरण सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते—दशरूपक धनंजय पृ० २०२
२ साहित्य दर्पण—टी० शास्त्री पृ० ९९ चतुर्थ

नायिकाओं का वर्गीकरण वहुत कुछ 'रस मंजरी' से ही मेल खाता है।

हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य चिन्तामणि ने जाति के आधार पर नायिकाओं का तीन भागों में विभाजित किया—

(१) दिव्या, (२) अदिव्या, (३) दिव्यादिव्य।[१]

यद्यपि आचार्य चिन्तामणि के ग्रन्थ का आधार 'रस मंजरी' है, फिर भी रस-मंजरी में 'दिव्यादि' भेदों को महत्व नहीं दिया गया।[२] भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल दिव्या की चर्चा की है,[३] इसके अन्य भेद उसमें अनुल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त भानुदत्त के समकालीन संस्कृत के श्रीकृष्ण कवि ने भी इन भेदों का कथन किया है,[४] किन्तु संस्कृत के अन्य किसी भी काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ में इनका वर्णन नहीं हुआ है। इस दृष्टि से चिन्तामणि का यह वर्गीकरण हिन्दी नायिका भेद की परम्परा मे एक नूतन उद्भावना के रूप में परिगणित है।

चिन्तामणि ने 'दिव्या' को देवतिया, 'अदिव्या' को 'नारी' और 'दिव्यादिव्या' को भूमण्डल पर अवतरित 'अमरनारि' के रूप में अभिहित किया है।[५]

इसी प्रकार इन्होंने मुग्धा के ६ भेद मध्या, प्रगल्भा के चार-चार भेद करके[६] हिन्दी नायिका-भेद परम्परा के अन्तर्गत एक नवीन श्रृंखला जोड़ी और केशव द्वारा उपेक्षित सामान्या नायिका को इन्होंने नायिका-भेद के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान दिया। नायिका भेद के अन्य वर्गीकरण परम्परा से भिन्न नहीं हैं।

नायक भेद का वर्गीकरण दो दृष्टियों से हुआ है—

१—नाटक एवं प्रबन्ध विधान की दृष्टि से, २—शृंगार रस की दृष्टि से। प्रथम के अन्तर्गत नायक के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर ललित तथा धीर प्रशान्त नामक चार भेद किये गए हैं[७] और शृंगार रस की दृष्टि से नायक के अनुकूल दक्षिण धृष्ट और शठ भेद किये गये हैं।[८] प्रथम वर्गीकरण के आधार ग्रन्थ विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' और धनंजय कृत 'दशरूपक' प्रतीत होते हैं। और दूसरे वर्गीकरण के

---

१. दिव्य अदिव्य कहै सुकवि, दिव्यादिव्य बिचारि।
त्रिविध नायिका जगत में, ग्रन्थन बद्ध निहारि॥—कविकुल कल्पतरु, पृ० ९९
२. रस मंजरी—पृ० ४७
३. नाट्य शास्त्र—भरत २४।७, ८
४ हिन्दी काव्य शास्त्र में रस सिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी, पृ० ३००
५. कविकुलकल्पतरु, पृ० ९९५।७२
६. वही, पृ० १०१, ५।८२, पृ० १०५, १०६
७. वही, ५।२, ३, पृ० १४४
८ वही ५ १० ११ पृ० १४६

आधार ग्रन्थ 'रस मंजरी' आदि हैं, जिनमें शृंगार एवं नायक-नायिका भेद विषय की प्रधानता है।

(२) *कुलपति मिश्र*

आचार्य कुलपति मिश्र का एकमात्र सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'रस रहस्य' है, जिसमें अन्य काव्यांगों का निरूपण करते समय प्रसंगवश रसों का भी विवेचन प्रस्तुत हुआ है। यह ग्रन्थ चूंकि मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा गया है। अत. मम्मट की भाँति आपने भी रस के अवयवों के लक्षण और उदाहरण देने के अनन्तर इस विषय को सीमित कर दिया है। यद्यपि आपके इस ग्रन्थ पर विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का भी प्रभाव है, लेकिन काव्यांग निरूपण की पद्धति पूर्णतया मम्मट के ढग की है। इसी से इन्होंने शृंगार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद जैसे महत्वपूर्ण विषय का कथन बिलकुल नहीं किया। क्योंकि आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में नायक-नायिका भेद की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। फिर भी भरत सूत्र का संकेत और अभिनव गुप्ताचार्य का रस-स्वरूप निरूपण में उल्लेख महत्वपूर्ण है।

आचार्य कुलपति मिश्र ने मम्मट और धनंजय की भाँति नाट्य शास्त्र मे उल्लिखित आठ रसों के महत्व को स्वीकार किया है; नाटक के अनुसार नवें रस (शान्त रस) के महत्व को इन्होंने स्वीकार नहीं किया।[१] कुलपति मिश्र के अनुसार शान्त रस का महत्व केवल काव्य में ही स्वीकार किया जाना चाहिये, नाटक में इसकी उपादेयता नगण्य है।

इनके रस विवेचन के अन्तर्गत युद्ध वीर रस का रौद्र रस के साथ जो पार्थक्य स्पष्ट किया गया है, वह अधिक विवेकपूर्ण है। यथा, इन्होंने स्पष्टतः बताया है कि युद्ध वीर रस के अन्तर्गत विवेक नष्ट नहीं होता, इसके विपरीत रौद्र रस के अन्तर्गत विवेक नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती।[२]

आचार्य कुलपति ने ही सर्वप्रथम हिन्दी रस शास्त्रीय परम्परा में शान्त रस का सम्यक विश्लेषण किया और नाटक और काव्य के अनुसार उसकी सापेक्षिक स्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश डाला। इस दृष्टि से आचार्य कुलपति का यह मौलिक प्रयास था।

---

१. पहिलो रस सिंगार पुनि, हास्यरु करुन बखानि।
रौद्रोवीर भयानकौ, और बीभत्सहि जानि ॥३७॥
अद्भुत सो मिलि आठ यह, रस नाटक में होत।
शान्ति सहित नौ कवित में, कविकुल कहत उदोत ।।३८॥—रस रहस्य, पृ० १९

२. समता की सुधि है जहाँ सुहै युद्ध उत्साह।
जहाँ भूलै सुधि सम असम सो है क्रोध प्रवाह रस रहस्य पृ० २५

'रस रहस्य' में आचार्य कुलपति ने यों तो शृंगार रस के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का वर्णन किया है। किन्तु उनके स्वरूप का विशद उद्घाटन प्रायः नहीं किया। हाँ, यह अवश्य है कि इन्होंने चिन्तामणि और केशवदास की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार और करुण के अन्तर को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है।[1]

(२) देव

देवकृत उपलब्ध ग्रन्थों में 'शब्द रसायन' एक महत्त्वपूर्ण सर्वाङ्ग निरूपक कृति है। इस ग्रन्थ में विषयों का प्रतिपादन बड़ी विशदता के साथ किया गया है, फिर भी यत्र-तत्र विषय अधिक अस्पष्ट रह गये हैं। कारण यह है कि जिनकी विवेचना प्रौढ़ गद्य में भी प्रायः नहीं हो पाती, उन्हें पद्य-शैली में ढालना कहाँ तक सम्भव है? यों विद्वानों ने उसे देव के प्रौढ़ ग्रन्थों में परिगणित किया है।

अन्य आचार्यों की तुलना में इस ग्रन्थ में आचार्य देव की रस विषयक मान्यतायें निश्चय ही मौलिक हैं। यद्यपि रस-स्वरूप के शास्त्रीय विवेचन में हमें वह गम्भीरता इनमें नहीं मिलती जो संस्कृत आचार्यों में पायी जाती है, फिर भी हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा में देव की रस विषयक धारणायें अपना दृढ़ स्थान रखती हैं, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

देव ने 'शब्द रसायन' के तृतीय प्रकाश में रस लक्षण, रस भेद, रस भाव नाम, रस की उत्पत्ति आदि का सम्यक् रूपेण विचार किया है और इसके चतुर्थ प्रकाश में शृंगारेतर रसों का वर्णन किया गया है।

रस भेद का निरूपण करते हुए आचार्य देव ने लिखा है कि प्राचीन दृष्टि से आचार्यों ने रस की संख्या नव मानी है और नवीन दृष्टि के समर्थकों ने काव्य में मुख्य तीन रसों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है।[2] अन्य रसों को इन्हीं तीन मुख्य रसों में अन्तर्भूत कर दिया गया है। वस्तुतः देव ने रस भेद विषयक ऐसी धारणा 'भवानी विलास' में भी व्यक्त की है, जिसकी पुनरावृत्ति 'शब्द रसायन' में भी हुई है।

देव की रस भेद विषयक दूसरी दृष्टि बहुत कुछ इस शास्त्रीय परम्परा की अनुगत है। इन्होंने भी अन्य आचार्यों की भाँति 'काव्य रस' और नाट्य रस की दृष्टि से रसों की संख्या क्रमशः नवं एवं आठ मानी है।[3] इस ग्रन्थ में रसों का विवेचन

---

१. जहाँ आस है मिलन की, सो वियोग शृंगार।
जहाँ मिलन की आस नहीं, ताही करुण विचार ॥५२॥—रस रहस्य, पृ० २१

२ सो रस नव विधि बिबुध कवि, बरनत मत प्राचीन।
नव्य काव्य विधि भाव्य रस, ताही त्रिबिधि नवीन ॥

—शब्द रसायन तृतीय प्रकाश पृ० २८

३ शब्द तृतीय प्रकाश पृ० २८ २९

अत्यन्त संयमित एवं व्यवस्थित ढंग से किया गया है और भेदोपभेद की वैसी प्रवृत्ति इसमे लक्षित नहीं होती, जैसी इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों–भाव विलास तथा भवानी विलास–मे दृष्टिगत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि देव ने उन्हें अनावश्यक समझ कर इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया, क्योंकि भाव विलास में किये गए रस के लौकिक एवं अलौकिक भेद आदि इसमें नहीं पाये जाते। इस ग्रन्थ में विवेचित रसों की दूसरी विशेषता यह है कि प्रथमतः इन्होंने शृंगार के स्वरूप का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है और इसके बाद शृंगारेतर रसों का विषय अलग से उठाया है। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि देव भी शृंगार रस के प्रबल प्रतिपोषक हैं और उसके वैशद्यपूर्ण निरूपण मे इनकी चित्तवृत्ति अधिक रमी है।

यद्यपि अन्य रसों के प्रतिपादन में किसी उल्लेखनीय मौलिकता का दर्शन तो नही होता, किन्तु फिर भी परम्परा की स्वीकृत मान्यताओं का यत्किंचित् प्रतिवाद भी किया गया है। यथा, संस्कृत के मान्य रस शास्त्रियों ने हास्यरस के षट् भेद माने है, किन्तु देव ने इन्हें केवल तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम—के ही अन्तर्गत सपिंडित किया और अधिक भेदोपभेद की उन्होंने अपेक्षा नहीं समझी। पुनः उत्तम, मध्यम और अधम हास्य की व्याख्या करते हुए देव ने लिखा है कि अधम प्राणी अशिष्ट हास्य शायद ठहाका को पसन्द करते हैं, मध्यम प्राणी अर्द्ध प्रस्फुटित स्वरो मे हँसे जाने वाले हास्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु उत्तम जन विनीत हास्य कदाचित् ईषद् मुस्कान को अधिक महत्व देते हैं।[1] 'रस तरंगिणीकार' की भाँति इन्होंने हास्य के स्वनिष्ठ एवं परनिष्ठ आदि भेदों को स्वीकार नहीं किया।[2] अन्य रसों के भेदो मे भी बहुत कुछ नवीनता प्रदर्शन की प्रवृत्ति लक्षित होती है, यथा—करुण रस के देव ने पाँच भेद किए हैं—करुण, अति करुण, महाकरुण, लघुकरुण तथा सुख करुण[3] इनमें प्रथम चार भेदों के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है—

"इनमें पहले चार भेद तो स्पष्टतः करुणा की मात्रा के अनुपात पर आश्रित है, अन्तिम में करुणा का सुख में पर्यवसान हो जाता है। पहले चार भेदों का प्रस्तार तो किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रित न होने के कारण व्यर्थ प्रयत्न मात्र है, सुख करुण में अवश्य नवीनता है।"[4] इसके पश्चात् डा० नगेन्द्र ने 'सुख करुण' के

---

१. लीलादिक ते भेष अरु, बचन जहाँ विपरीत।
अधिक, अधम, मधि, मध्य जन, उत्तम हँसत बिनीत।
—शब्द रसायन, च० प्र० पृ० ३[illegible]

२. रस तरंगिणी—सप्तमस्तरंगः, पृ० १४५—खेमराज श्रीकृष्णदास का संस्करण सं० १६७१

३. शब्द रसायन—चतुर्थ प्रकाश, पृ० ३८

४ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० १३

सम्बन्ध में विशेष विचार किया है और निष्कर्ष रूप में 'सुख करुण' के लक्षण एवं लक्ष्य अंश में साम्य का अभाव माना है, क्योंकि देव द्वारा दिये गए इसके लक्षण लक्ष्य अंश से पूरी तरह मेल नहीं खाते। आचार्य देव ने सुख करुण की परिभाषा देते हुए लिखा है—"जहाँ दुःख में सुख का योग हो उसे सुख करुण कहा जाता है।"[1] इस दृष्टि से मनोवैज्ञानिक सुख करुण के रस भेद की स्थिति तो स्वीकार करेंगे, लेकिन इसे करुण रस में रखना सम्भवतः उचित नहीं समझेंगे।

देव द्वारा किये गये करुण रस के ये पाँचों भेद 'रस तरंगिणी', 'साहित्य दर्पण' तथा 'दशरूपक' आदि किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में नहीं मिलते। अतः यह कहना कि देव आदि हिन्दी आचार्यों ने रस शास्त्रीय विवेचन में सब का सब संस्कृत ग्रन्थों से ही ग्रहण किया है और उनमें मौलिक उद्भावना की—भले ही ऐसी उद्भावनाओं का पुष्ट आधार न हो—कमी थी, सर्वथा अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत तथा शान्त रस के भेद नहीं किये गये। इनके निरूपण में किसी मौलिक तथ्य की उपलब्धि नहीं होती। हाँ, वीभत्स रस के जुगुप्सा भाव के कवि ने दो भेद माने हैं—(१) घृणा, (२) ग्लानि।[2] इन भेदों में घृणा को तो रस शास्त्रीय परम्परा में स्वीकार किया गया है, लेकिन ग्लानि को प्रायः नहीं माना गया। यद्यपि कुछ आचार्यों ने इसे ग्रहण किया है, किन्तु परम्परा ग्लानि द्वारा वीभत्स का रस परिपाक नहीं मानती।[3] वस्तुतः घृणा का सम्बन्ध शरीर से है और ग्लानि का मन से। अतः एक का आलम्बन स्थूल माना गया है और दूसरे का सूक्ष्म।[4]

रीति युग की मुख्य दो प्रवृत्तियों—शृंगारवाद तथा अलंकारवाद में देव शृंगारवाद के प्रबल पोषक थे। उन्होंने अपने रीति ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर शृंगार-वाद की व्याप्ति और उसकी महत्ता का गुणगान मुक्त कण्ठ से किया है, इस तथ्य को रीति काव्य के प्रायः सभी अध्येता स्वीकार करते हैं। शृंगार के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों की तुलना में देव की दृष्टि बड़ी व्यापक एवं मौलिक थी। मेरी धारणा है कि हिन्दी के आचार्य केशवदास और संस्कृत के भोज जैसे मान्य विद्वानों से भी अपेक्षा-

---

१ एक कहत हैं पाँच ये, दुख में सुखहि समेत।—शब्द रसायन, पृ० ३८

२. वस्तु घिनौनी देखि सुनि, घिन उपजै जिय मांहि।
घिन बाढ़ै वीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जांहि।
निंद्य कर्म करि निंद्य गति, सुनै की देखै कोय।
तन संकोच, मन संभ्रमन, द्विविध जुगुप्सा होय॥

—शब्द रसायन, च० प्र०, पृ० ४३, ४४

३ रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० ६७

४ चिन्तामणि प्रथम भाग आचार्य शुक्ल डा० नगेन्द्र पृ० १३४

कृत देव की शृंगार विषयक मान्यतायें अधिक गम्भीर एवं उदात्त थीं। शृंगार के सम्बन्ध में आचार्य देव ने अपनी मौलिक धारणा इस प्रकार व्यक्त की है—

निर्मल शुद्ध सिंगार रस, देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिवस न पावत अन्त।[1]

यत्र-तत्र भोज की शृंगार विषयक धारणा का भी समर्थन किया गया है।[2]

'शब्द रसायन' के षष्ठ प्रकाश में देव ने शृंगार रस एवं नायक-नायिका भेद का निरूपण रुचिपूर्वक किया है। प्रारम्भ में देव ने शृंगार की विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन किया है। तदनन्तर इन्होंने शृंगार के संयोग तथा वियोग पक्ष का उल्लेख करते हुए अन्य रसों को क्रमशः इन्हीं के अन्तर्गत रखने का सुन्दर प्रयास किया है। देव के अनुसार हास्य, वीर और अद्भुत रस संयोग शृंगार में अन्तर्भूत होते है और करुणा, रौद्र तथा भयानक विप्रलम्भ शृंगार के अंगी बताये गये हैं। इनके अलावा वीभत्स और शान्त रस को दोनों (संयोग और वियोग) में रखा गया है।[3] देव ने शृगारेतर रसों का यह वर्गीकरण अपने ढंग से किया है और इस प्रकार पूर्ववर्ती परम्परा से कुछ अर्थों में अपना मतभेद प्रकट किया है। यहीं नहीं, देव ने अपने शब्दो मे स्पष्ट घोषित किया है कि इस सूक्ष्म रीति को वे ही रसज्ञ जानते हैं, जिन्हें अन्य रसों का पूर्ण अनुभव है।

रीति काव्य के मान्य विद्वान डा० नगेन्द्र ने देव के इस वर्गीकरण को अधिक सगत नहीं ठहराया और देव से पूर्व संस्कृत एवं हिन्दी आचार्यों के वर्गीकरण को इस सन्दर्भ में बार-बार स्मरण किया है। यही नहीं, वीभत्स को संयोग और वियोग दोनों के अन्तर्गत रखना उन्हें अच्छा नहीं प्रतीत होता। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो तर्क दिये हैं, वे ठीक मालूम पड़ते हैं। हम डा० नगेन्द्र के उक्त तर्क से पूर्ण सहमत हैं कि वीभत्स तो एकान्त कटु अनुभव है, अतः इसको उभय रूप कैसे माना जा सकता है ? हाँ, शान्त रस में मधुर एवं कटु दोनों का समन्वय है, इस कारण इसे तो संयोग और वियोग

---

१. शब्द रसायन—तृतीय प्रकाश, पृ० ३२

२ वही, पृ० ३०

३ सो संजोग वियोग भेद, शृंगार दुविध कहु,
हास्य, वीर, अद्भुत संयोग के, संग अंग लहु।
अरु करुना रौद्र भयान भये, तीनौं वियोग अँग,
रस वीभत्सऽरु साँत होत, दोऊ दुहून संग॥
यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिनके अनुभव सब रसनि।
नवहू सुभाव भावानि सहित रहत मध्य शृंगार तनि॥

शब्द रसायन षष्ठ प्रकाश पृ० ५८

मे रखा जा सकता है, लेकिन बीभत्स के सम्बन्ध में यही स्थिति नहीं रह पाती।[१] फिर भी देव का यह वर्गीकरण सर्वथा निर्भ्रान्त न होते हुए भी हिन्दी में एक स्तुत्य प्रयास था और पूर्ववर्ती परम्परा का स्पष्टतः अतिक्रमण था।

श्रृंगार निरूपण के पश्चात् शब्द रसायन के षष्ठ प्रकाश में नायक-नायिका भेद का उल्लेख किया गया है। शब्द रसायन में निरूपित नायक-नायिका भेद निश्चय ही कई दृष्टियों से मौलिक तथा नूतन कहा जा सकता है। इसमें अन्य आचार्यों की तरह नायक-नायिका भेद के विविध वर्गीकरण का प्रयास बिलकुल नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में नायिका भेद विवेचन का ढंग परिपाटी से सर्वथा भिन्न है। हाँ, सकेत रूप में वय की दृष्टि से १२ प्रकार की नायिकाओं का और अवस्थानुसार ८ नायिकाओं का उल्लेख है। आचार्य देव ने नायिका भेद का निरूपण प्रचलित परिपाटी के अनुसार भाव के अन्तर्गत नहीं किया, अपितु श्रृंगार के वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लक्षक तथा व्यंग्य-व्यंजक पात्रों के रूप में किया है। इस दृष्टि से देव के नायक-नायिका भेद के दो मुख्य आधार दृष्टिगत होते हैं—

१—नायक-नायिका भेद का कथन शब्दार्थ विवेचन के रूप में।

२—त्रिविध नायिकाओं का कथन रसाभिव्यक्ति के अंग रूप में।

वस्तुतः आचार्य देव ने अपने प्रथम आधार के सम्बन्ध में एक दोहा उद्धृत किया है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन।[२]

उपर्युक्त दोहे को लेकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने देव के 'व्यंजना' विषयक दृष्टिकोण पर बड़ी कड़ी टीका की थी[३] और उनके अनन्तर देव के इस सिद्धान्त का बहुत अधिक ऊहा-पोह हिन्दी काव्य शास्त्र के रामदहिन मिश्र जैसे विद्वानों ने किया था। किन्तु वास्तविकता यह थी कि यह दोहा आचार्य शुक्ल ने मिश्र बन्धुओं द्वारा सम्पादित 'देवसुधा' की भूमिका में संगृहीत 'साहित्य' शीर्षक दोहों में से लिया था।[४] वहा निश्चय ही जिस सन्दर्भ में यह दोहा उद्धृत हुआ है, व्यंजना विषयक भ्रम का उत्पन्न हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। इस तथ्य को सम्यक् रूपेण प्रकाश में लाने का समस्त श्रेय आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को है, जिन्होंने शब्द रसायन के नायक-नायिका भेद निरूपण के सन्दर्भ में उद्धृत इस दोहे के वास्तविक अर्थ पर पूर्ण विचार आचार्य शुक्ल जी के जीवन-काल में ही किया था। इस सम्बन्ध में इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग' में एक लेख भी लिखा

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १३८
२ शब्द रसायन, षष्ठ प्रकाश, पृ० ७२
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० २६६
४ देवसुधा—सं० मिश्रबन्धु पृ० ११ दो० सं० १० प्र०

है। अत: अब यह भ्रम नहीं रहा कि उपर्युक्त दोहे में अभिधा आदि शब्द शक्तियों का विवेचन किया गया है, वरन उसमें क्रमश: शुद्ध स्वभाव स्वकीया, गर्व स्वभाव स्वकीया और शुद्ध परकीया का वर्णन हुआ है। दूसरे शब्दों में देव ने अपने इस नवीन दृष्टि-कोण को एक दोहे द्वारा और अधिक स्पष्ट किया—

स्वीय मुग्ध मूरति सुधा, प्रौढ़ सितापैसिक्त।
परकीया कर्कस सिता, मरिच परिचयनि तिक्त॥[1]

देव ने इस दृष्टि से स्वकीया मुग्धा को अभिधा स्वकीया, प्रौढ़ा को लक्षणा और पर-कीया को व्यंजना की अभिधा दी है, जो सहसा प्रसंग पर विचार न करके देखने वालो के लिए अवश्य ही चक्कर में डालने वाला सिद्धान्त है। इस दृष्टि से साहित्य मे स्वकीया का उल्लेख स्पष्टतया करना चाहिए, क्योंकि वह आदर्श नायिका मानी गई है और उसके चरित्र और स्वभाव आदि का अंकन रसास्वादन की दृष्टि से सुधोपम भी है। इधर प्रौढ़ा में वैसा रसास्वादन सम्भव नहीं, इसी से देव ने उसके आनन्द को सिता (चीनी) मिश्रित दुग्ध तक ही सीमित रखा। अतएव इस नायिका का कथन लक्ष्य रूप में होना चाहिए। इसके विपरीत परकीया को 'रस कुटिल' समझ कर उसको मिर्च मिश्रित सिता माना, जिसका आस्वादन निश्चय ही तिक्त एवं तीखा होता है, अत: उसका उल्लेख व्यंग्य अथवा उपलक्षण रूप में करना चाहिए। अब प्राय. स्पष्ट हो गया है कि नवीन आचार्यों द्वारा किये गये इस उलटी बात के कथन में क्या रहस्य है, यह बात शायद इसीलिये उलटी मालूम होती रही कि प्राचीन आचार्यों से यह सिद्धान्त मेल नहीं खाता।

प्राचीन आचार्यों ने शब्द-शक्ति-विवेचन के सन्दर्भ में व्यंजना को उत्तम काव्य, लक्षणा को मध्यम और अभिधा को अधम माना है। शब्द शक्ति के इस सिद्धान्त का नायिका भेद के प्रसंग में नवीन आचार्यों ने इसे उलटा करके माना है।[2]

आचार्य देव ने इस सिद्धान्त की अपनी पद्यबद्ध व्याख्या में और अधिक विस्तार किया है। वहाँ नायक-नायिका का कथन शब्द रूप में—वाचक, लक्षक तथा व्यजक रूप में और सखा-सखी, गुरुजन आदि उपदेशी—उनके सहायकों—को क्रमश अर्थ रूप में—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ रूप में—माना गया है। देव की व्याख्या इस प्रकार है—

सुद्ध स्वभाव स्वकीया, वाचक को आधार।
पति अनुकूल, सखी, गुरु, विद्या सिल्प प्रकार॥

---

१ शब्द रसायन—षष्ठ प्रकाश. पृ० ७२

२ हिन्दी साहित्य का अतीत द्वितीय भाग प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ५००

पीठ मर्द, नरमनि, सचिव, दूती गुरुजन धाइ ।
उपदेशी कुल धर्म को, वाच्य अर्थ समुहाइ ।।[१]

देव के नायिका भेद निरूपण का दूसरा आधार रसाभिव्यक्ति के अंग संचारी, सात्विक तथा अनुभाव आदि हैं । इनका उल्लेख शब्दार्थ के साथ ही किया गया है ।[२] इन्हें आचार्य देव ने क्रमशः 'वाच्य वाचक भेद', 'अथ गर्वस्वकीय रसभाव', 'अथ शुद्ध परकीया रसभाव' शीर्षक से दिखाया है ।[३]

(४) *कुमार मणि*

कुमार मणि ने अपने प्रसिद्ध सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'रसिक रसाल' के तृतीय एवं चतुर्थ उल्लास में रस और भाव व्यंग्य निरूपण और पंचम उल्लास में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद निरूपण किया है । इस ग्रन्थ का मूलाधार आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' और कुछ अंशों में विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' बताया जाता हैं । यद्यपि ग्रन्थ में वैसी उल्लेखनीय मौलिकता तो नहीं है, तथापि यत्र-तत्र कुछ नवीन उद्भावना के कण अवश्य मिल जाते हैं ।

शृंगारेतर रसों के विवेचन में प्रायः परम्परानुमोदित तथ्यों का उपयोग हुआ है, उसमें मौलिकता की गुंजाइश बहुत कम है । हाँ, यत्र-तत्र इनकी प्रतिपादन-शैली अवश्य महत्वपूर्ण है, यथा—स्थायी भाव विवेचन के सन्दर्भ में इन्होंने उसे रस से सम्बद्ध करने के लिये माला और सूत्र की सर्वथा नूतन उपमा दी है ।[४]

इन्होंने शृंगारेतर रसों की संख्या दस मानी है । नव रस तो वे ही हैं, जिन्हें रस शास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है, दसवां रस इन्होंने वात्सल्य को माना है । अन्य रसों के स्थायी भाव का लक्षण देते हुए वात्सल्य के स्थायी भाव का

---

१. शब्द रसायन, षष्ठ प्रकाश, पृ० ६०

२. शब्द अर्थ नव रसन के, नाना पात्र विभेद ।
नवरस में शृंगार के, बरनत अखिल अखेद ।
है नायक अरु नायिका, पात्रा सुरस सिंगार ।
ताहू सूक्ष्म रीति सों, कहत विशेष पुकार ।

—शब्द रसायन, षष्ठ प्रकाश, पृ० ५६

३. शब्द रसायन, षष्ठ प्रकाश, पृ० ६८, ६९, ७०

४. माला मधि ज्यों सूत्र त्यों विभावादि में आनि ।
आदि, अन्त, रस माह, थिर थाई भाव बखानि ।। ३ ।।

रसिक रसाल चतुर्थ उल्लास पृ० ३५

भी लक्षण दिया गया है ।[1]

शृंगार निरूपण में 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का प्रभाव पूर्णतया लक्षित होता है । 'रसिक रसाल' के तृतीय उल्लास में शृंगार के दो भेद संयोग एवं वियोग परम्परानुसार किये गए हैं । पुनः 'काव्य प्रकाश' की भाँति विप्रलम्भ शृंगार के भेदों का कथन किया गया है और अन्य आचार्यों की भाँति इन्होंने वियोग की दस दशाओं का वर्णन अपने ढंग से किया है ।

यद्यपि कुमार मणि ने नायक-नायिका भेद का कथन आलम्बन विभाव के ही अन्तर्गत किया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्होंने अन्य शृंगारेतर रसों के विभावों की उपेक्षा की है । सत्य तो यह है कि जहाँ हिन्दी के अन्य आचार्यों ने शृंगार को छोड़कर अन्य रसों के विभाव वर्णन में प्रायः जी चुराया है, वहाँ कुमार मणि ने इनके कथन में अपनी अगाध निष्ठा का परिचय दिया है ।

इन्होंने यों तो नायिका भेद निरूपण में 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' से ही अधिक सहायता ली है, किन्तु इस पर भानु कृत 'रस मंजरी' का भी यत्र-तत्र प्रभाव है तथा हिन्दी के आचार्य केशवदास की भी यत्किंचित छाया दृष्टिगत होती है । इन ग्रन्थों का अवलम्बन ग्रहण करने पर भी इनके वर्गीकरण में कहीं-कहीं नवीनता अवश्य लक्षित होती है, यथा— मध्या नायिका के उन्नत यौवना, उन्नत कामा और लघु लज्जा नामक भेद नवीन है ।[2] इसके अतिरिक्त प्रौढ़ा नायिका के अधिक कामा सकल तारुण्या, रति मोहिनी तथा विविध भावभेद भी अन्यत्र देखने को नहीं मिले ।[3] सामान्या नायिका के भेद अकबर शाह कृत 'शृंगार मंजरी' के आधार पर है और इनकी चर्चा रसलीन के रस प्रबोध में भी भली भाँति हुई है । नवीनता प्रदर्शन का आग्रह इनमें इतना अधिक था कि मुग्धा के सात उपभेद कर डाले गये हैं—नवमदना, नवयौवना, लज्जा-वती, भूषण रुचि, रति वामा, वयः सन्धि और विश्रुब्ध नवोढ़ा ।[4] इनमें 'भूषण रुचि' की नूतनता तो असंदिग्ध प्रतीत होती है । इसी प्रकार अभिसारिका के पाँच उपभेद किये गए हैं—ज्योत्स्नाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, वर्षाभिसारिका, व्याजाभिसारिका और नवोढ़ाभिसारिका ।[5] इनमें वर्षाभिसारिका और व्याजाभिसारिका नूतन प्रतीत

---

१. छोह भरी मुख तोतरी सुन बतियाँ लखि केलि ।
सुत-सनेह वतसल रसहिं थाई आनन्द वेलि ।।१५।।
—रसिक रसाल, चतुर्थ उल्लास, पृ० ४०

२. रसिक रसाल—कुमार मणि, पंचम उल्लास, पृ० ७६

३. रसिक रसाल—कुमार मणि, पंचम उल्लास, पृ० ८०, ८१, ८२

४ वही पृ० ७५ ७८

५ वही पृ० १०४ १०६

होती है। व्याजाभिसारिका के उदाहरण से स्पष्ट है कि नायिका शंकर जी पर जल चढाने के बहाने निकुंज में कृष्ण से मिलन हेतु प्रस्थान करती है।

नायक भेद में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती। हाँ, शठ नायक के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद कुछ लोगों ने नूतन प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की है,[1] किन्तु नायक के ये भेद हमें केशव कृत रसिक प्रिया में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। अत इनकी मौलिकता असिद्ध हो जाती है।[2]

(५) *श्रीपति*

काव्य शास्त्र के दशांग निरूपक आचार्यों में श्रीपति का स्थान बहुत महत्व का माना जाता है। यों इनके कई ग्रन्थों की चर्चा इतिहासकारों ने की है, किन्तु इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति काव्य सरोज है। इस ग्रन्थ को अद्यावधि मुद्रण का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। हमें इसकी हस्तलिखित प्रति स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र के सुपुत्र स्व० डा० बृजकिशोर मिश्र से मिली थी।[3]

आचार्य श्रीपति केवल काव्य शास्त्र में ही निष्णात नहीं थे, प्रत्युत उन्हें एक सफल आलोचक की असामान्य प्रतिभा भी मिली थी। इन्होंने काव्य सरोज में 'दोष निरूपण' के सन्दर्भ में सेनापति, केशव और ब्रह्म आदि कवियों की भी रचनायें उद्धृत की है, जिन्हें दोष निरूपण के क्रम में उल्लिखित किया जायगा।

आचार्य श्रीपति ने काव्य सरोज के तेरहवें एवं चौदहवें दल में क्रमशः भावो तथा रसों का विवेचन किया है। तेरहवें दल के आरम्भ में इन्होंने रस के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता वनिता, छवि नहीं, रस बिनु तदपि प्रवीन ॥[4]

इससे स्पष्ट है कि इन्होंने काव्य में रस का होना अति अनिवार्य माना है। इनके रस निरूपण का आधार भरत कृत नाट्य शास्त्र और मम्मट कृत काव्य प्रकाश मालूम होता है। आचार्य श्रीपति ने रसों के विवेचन के पूर्व भावों के सम्बन्ध में सम्यक रूपण विचार किया हैं। इन्होंने भरत मुनि के अनुसार भावों को रसों के कारण रूप मे अभिहित किया है और रसों के अनुकूल विकार को भाव की संज्ञा दी है। ये विकार

१. हिन्दी काव्य शास्त्र में रस सिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी, पृ० ३९९
२. रसिक प्रिया—द्वितीय प्रभाव
३ काव्य सरोज की हस्तलिखित प्रति में कुल ६४ पृष्ठ है। लिखावट अति स्पष्ट एवं सुन्दर है। प्रतिलिपि करने की तिथि अज्ञात है, किन्तु अनुमानतः इसकी प्रतिलिपि का समय १९वीं शताब्दी प्रतीत होती है।
४ काव्य सरोज हस्तलिखित तेरहवा दल प्रथम छन्द।

दो प्रकार के होते हैं—१—आन्तर, २—शारीर।

आन्तर भाव के अन्तर्गत इन्होंने स्थायी और संचारी भावों को परिगणित किया है।[1] भावों और विभावों आदि का विवेचन आचार्य श्रीपति ने भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार किया है। विभाव का निरूपण करते समय इस तथ्य की ओर इन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट संकेत किया है—

जो रस को उपजाइ कै, भावित करै विशेष।
तासों कहै विभाव कवि, श्रीपति नर मुनि लेख।[2]

आचार्य श्रीपति के संचारी भावों और अनुभावों के वर्णन में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती, केवल परम्परा का पालन परिलक्षित होता है। हाँ, विभावों और स्थायी भावों के वर्णन के सन्दर्भ में प्रत्येक रस का उल्लेख अवश्य किया है तथा इस विषय को इन्होंने अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक निरूपित किया है। फिर भी शृंगार तथा शृंगारेतर रसों के विवेचन में किसी प्रकार की नूतनता की झलक नहीं मिलती।

(६) *सोमनाथ*

आचार्य सोमनाथ का रस निरूपण संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट कृत काव्य प्रकाश और भानु कृत रस तरंगिणी से पूर्णतया प्रभावित है। रस निरूपक इनके दो ग्रन्थ माने जाते हैं—

१—रस पीयूष निधि। २—शृंगार विलास।

'रस पीयूष निधि' के सातवें तरंग से लेकर १८ वें तरंग तक असंलक्ष्य क्रम ध्वनि के अन्तर्गत इन्होंने रस निरूपण किया है।

शृंगार विलास इनकी कोई स्वतन्त्र एवं मौलिक कृति नहीं है, वरन् रस पीयूष निधि में निरूपित नायक-नायिका भेद का यत्किंचित् परिवर्धन एवं संशोधन करके इसे एक नये ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सोमनाथ के शृंगारेतर रसों के विवेचन में कहीं-कहीं पर्याप्त प्रौढ़ता है और आवश्यकतानुसार विवादास्पद विषयों के स्पष्टीकरण के लिए ब्रजभाषा गद्य का भी सहारा लिया गया है। शृंगारेतर रसों पर मम्मट के अतिरिक्त भानु और विश्वनाथ का प्रभाव पूर्णतया स्पष्ट है, यथा—शृंगारेतर रसों में इन्होंने हास्य और वीर के भेद भानु कृत रस तरंगिणी के आधार पर किये हैं, किन्तु रौद्र और युद्ध वीर का जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह विश्वनाथ और भानु से सर्वथा भिन्न है। इन्हीं कारणों से इनके आचार्यत्व का लोहा किसी सीमा तक मानना पड़ता है। रौद्र और युद्ध वीर का अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य सोमनाथ लिखते हैं—

---

१ काव्य सरोज श्रीपति १३वां दल छन्द सं० [illegible]
२ काव्य सरोज श्रीपति १८वां दल छन्द सं० [illegible]

होती है। व्याजाभिसारिका के उदाहरण से स्पष्ट है कि नायिका शंकर जी पर जल चढ़ाने के बहाने निकुंज में कृष्ण से मिलन हेतु प्रस्थान करती है।

नायक भेद में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती। हाँ, शठ नायक के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद कुछ लोगों ने नूतन प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की है,[1] किन्तु नायक के ये भेद हमें केशव कृत रसिक प्रिया में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। अत इनकी मौलिकता असिद्ध हो जाती है।[2]

(५) *श्रीपति*

काव्य शास्त्र के दशांग निरूपक आचार्यों में श्रीपति का स्थान बहुत महत्व का माना जाता है। यों इनके कई ग्रन्थों की चर्चा इतिहासकारों ने की है, किन्तु इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति काव्य सरोज है। इस ग्रन्थ को अद्यावधि मुद्रण का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। हमें इसकी हस्तलिखित प्रति स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र के सुपुत्र स्व० डा० बृजकिशोर मिश्र से मिली थी।[3]

आचार्य श्रीपति केवल काव्य शास्त्र में ही निष्णात नहीं थे, प्रत्युत उन्हें एक सफल आलोचक की असामान्य प्रतिभा भी मिली थी। इन्होंने काव्य सरोज में 'दोष निरूपण' के सन्दर्भ में सेनापति, केशव और ब्रह्म आदि कवियों की भी रचनायें उद्धृत की है, जिन्हें दोष निरूपण के क्रम में उल्लिखित किया जायगा।

आचार्य श्रीपति ने काव्य सरोज के तेरहवें एवं चौदहवें दल में क्रमशः भावों तथा रसों का विवेचन किया है। तेरहवें दल के आरम्भ में इन्होंने रस के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

> यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
> कविता बनिता, छवि नहीं, रस बिनु तदपि प्रवीन ॥[4]

इससे स्पष्ट है कि इन्होंने काव्य में रस का होना अति अनिवार्य माना है। इनके रस निरूपण का आधार भरत कृत नाट्य शास्त्र और मम्मट कृत काव्य प्रकाश मालूम होता है। आचार्य श्रीपति ने रसों के विवेचन के पूर्व भावों के सम्बन्ध में सम्यक रूपेण विचार किया हैं। इन्होंने भरत मुनि के अनुसार भावों को रसों के कारण रूप मे अभिहित किया है और रसों के अनुकूल विकार को भाव की संज्ञा दी है। ये विकार

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र में रस सिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी, पृ० ३९९
२. रसिक प्रिया—द्वितीय प्रभाव
३ काव्य सरोज की हस्तलिखित प्रति में कुल ६४ पृष्ठ है। लिखावट अति स्पष्ट एवं सुन्दर है। प्रतिलिपि करने की तिथि अज्ञात है, किन्तु अनुमानतः इसकी प्रतिलिपि का समय १९वीं शताब्दी प्रतीत होती है।
४ काव्य सरोज हस्तलिखित तेरहवां दल प्रथम छन्द

दो प्रकार के होते हैं—१—आन्तर, २—शारीर।

आन्तर भाव के अन्तर्गत इन्होंने स्थायी और संचारी भावों को परिगणित किया है।[1] भावों और विभावों आदि का विवेचन आचार्य श्रीपति ने भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार किया है। विभाव का निरूपण करते समय इस तथ्य की ओर इन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट संकेत किया है—

जो रस को उपजाइ कैं, भावित करै विशेष।
तासों कहै विभाव कवि, श्रीपति नर मुनि लेख।[2]

आचार्य श्रीपति के संचारी भावों और अनुभावों के वर्णन में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती, केवल परम्परा का पालन परिलक्षित होता है। हाँ, विभावों और स्थायी भावों के वर्णन के सन्दर्भ में प्रत्येक रस का उल्लेख अवश्य किया है तथा इस विषय को इन्होंने अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक निरूपित किया है। फिर भी शृंगार तथा शृंगारेतर रसों के विवेचन में किसी प्रकार की नूतनता की झलक नहीं मिलती।

(६) *सोमनाथ*

आचार्य सोमनाथ का रस निरूपण संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट कृत काव्य प्रकाश और भानु कृत रस तरंगिणी से पूर्णतया प्रभावित है। रस निरूपक इनके दो ग्रन्थ माने जाते हैं—

१—रस पीयूष निधि। २—शृंगार विलास।

'रस पीयूष निधि' के सातवें तरंग से लेकर १८ वें तरंग तक असंलक्ष्य क्रम ध्वनि के अन्तर्गत इन्होंने रस निरूपण किया है।

शृंगार विलास इनकी कोई स्वतन्त्र एवं मौलिक कृति नहीं है, वरन् रस पीयूष निधि में निरूपित नायक-नायिका भेद का यत्किंचित् परिवर्धन एवं संशोधन करके इसे एक नये ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सोमनाथ के शृंगारेतर रसों के विवेचन में कहीं-कहीं पर्याप्त प्रौढ़ता है और आवश्यकतानुसार विवादास्पद विषयों के स्पष्टीकरण के लिए ब्रजभाषा गद्य का भी सहारा लिया गया है। शृंगारेतर रसों पर मम्मट के अतिरिक्त भानु और विश्वनाथ का प्रभाव पूर्णतया स्पष्ट है, यथा—शृंगारेतर रसों में इन्होंने हास्य और वीर के भेद भानु कृत रस तरंगिणी के आधार पर किये हैं, किन्तु रौद्र और युद्ध वीर का जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह विश्वनाथ और भानु से सर्वथा भिन्न है। इन्हीं कारणों से इनके आचार्यत्व का लोहा किसी सीमा तक मानना पड़ता है। रौद्र और युद्ध वीर का अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य सोमनाथ लिखते हैं—

---

१ काव्य सरोज श्रीपति १३वां दल छन्द सं० २ ३ ४ ६ १०
२ काव्य सरोज श्रीपति १४वा दल छन्द सं० २

"रौद्र रस में क्रोध की प्रधानता करिकै झूठ सत्य बचन बकिबे को विचार नहीं, और युद्ध वीर में आप समर्थता के वचन प्रमाण हैं।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि रौद्र रस में व्यक्ति क्रोध के उन्माद में झूठ सत्य जो चाहता है बकता रहता है, लेकिन वीर रस में आत्म संयम एवं विवेक से काम लिया जाता है, यों ही प्रलाप का वहाँ कुछ भी महत्व नहीं, किन्तु विश्वनाथ ने इन दोनों का अन्तर नेत्र और मुख की लालिमा के आधार पर स्पष्ट किया है।[2]

अन्य आचार्यों की भाँति सोमनाथ ने भी शृंगार को रसराज के रूप में अभिहित किया है।[3] इन्होंने शृंगार के रस राजत्व प्रमाणित करने में वैसी चेष्टा नहीं की, जैसी केशव और देव आदि आचार्यों द्वारा की गयी है। अतः शृंगार के वैशद्यपूर्ण निरूपण की दृष्टि से यह विषय अछूता ही रहा, इस पर अधिक जम कर विचार नहीं किया गया, यथा—शृंगार के संयोग और वियोग नामक दो भेदों का उल्लेख करते समय वियोग शृंगार के केवल पूर्वानुरागहेतुक भेद की ही चर्चा चलते ढंग से कर दी गयी, उसके मान, प्रवास और करुण हेतुक आदि का कथन नहीं किया गया। हाँ, पूर्वानुरागहेतुक में दस दशाओं का वर्णन अवश्य हुआ है।[4]

जहाँ तक नायक-नायिका भेद का सम्बन्ध है, उस पर भानु की रस मंजरी की स्पष्ट छाप है, इस तथ्य को संकेतित किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त इनके नायिका भेद पर आचार्य केशवदास और आचार्य चिन्तामणि का भी प्रभाव कम नहीं है। इन्होंने आचार्य केशवदास की भाँति काम शास्त्रीय नायिकाओं का उल्लेख करने के साथ ही आचार्य चिन्तामणि द्वारा कवि कुल कल्प तरु में जात्यनुसार कथित दिव्या आदि नायिकाओं के सम्बन्ध में पूर्णतया विचार किया है। अन्य वर्गीकरण रस मंजरी के अनुसार है।

यद्यपि नायक भेद का विवेचन रस मंजरी पर आधारित है, लेकिन इस सम्बन्ध में यत्किंचित् मौलिकता का भी आभास मिलता है, यथा—रस मंजरी में उल्लिखित 'मानी' नायक के कारणों का संकेत नहीं किया गया है। इधर आचार्य सोमनाथ ने मानी नायक के कारणों की सम्यक रूपेण विवेचना की है। सोमनाथ के अनुसार जिस नायक को अपनी सुन्दरता पर गर्व होता है, उसे रूप मानी कहा जाता

---

१. रस पीयूष निधि, हस्तलिखित प्रति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
२. रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्ध वीरतः ॥२३१॥
—साहित्य दर्पण, वि० टी०, पृ० ११७
३. नवरस को पति सरस अति, रस सिंगार पहिचाहि।—रस पीयूष निधि ८।१
४ रस पीयूष निधि १२ ८ ६

है ।[1] इस दृष्टि से आचार्य सोमनाथ की मानी नायक विषयक धारणा रस मंजरीकार से अधिक उत्कृष्ट और स्पष्ट है ।

(७) *भिखारीदास*

आचार्य दास की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। यहाँ केवल उनके सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ में विवेचित रस एवं नायक-नायिका भेद के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा। आचार्य दास के सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थों में एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' है। काव्य निर्णय में नायक-नायिका भेद छोड़ कर शेष काव्यांगों पर पूर्ण विचार किया गया है। प्रौढ़ता की दृष्टि से यह ग्रन्थ आचार्य चिन्तामणि कृत कवि कुलकल्पतरु, देव कृत शब्द रसायन और आचार्य श्रीपति कृत काव्य सरोज से कम महत्वपूर्ण नहीं है। हमारे विचार से हिन्दी के विविधांग निरूपक ग्रन्थों में जितनी अधिक लोकप्रियता काव्य निर्णय को मिली है, शायद ही किसी ग्रन्थ को मिली हो। इसके विषय क्रम की वैज्ञानिकता, विषय विवेचन की पूर्णता तथा उदाहरणों की स्पष्टता आदि के सम्बन्ध में रीति साहित्य के मान्य विद्वान् डा० भगीरथ मिश्र ने भूरिशः श्लाघा की है।[2]

अन्य काव्यांगों के साथ ही काव्य निर्णय के चतुर्थ उल्लास में रसांगों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रसांगों के अन्तर्गत स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव का सामान्य परिचय दिया गया है। इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती।

आचार्य दास के रस विवेचन का आधार यों तो मम्मट कृत काव्य प्रकाश एवं धनंजय कृत दशरूपक है, किन्तु भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में निरूपित रसों का भी अमिट प्रभाव है। भरत की भाँति आचार्य दास ने भी काव्य निर्णय में पहले आठ रसों के स्थायी भावों की चर्चा की है।[3] किन्तु अन्त में शान्त रस के सम्बन्ध मे विचार करते हुए लिखा है कि नाटक में भरत मुनि ने आठ रसों का वर्णन किया है, पर अन्यत्र लोगों द्वारा नवें रस शान्त को भी स्वीकार किया गया है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य दास को भी यह रस स्वीकार नहीं है, क्योंकि काव्य निर्णय मे

---

१ सुन्दरता को मान अति, जाके मन में होय।
ताहि रूप मानी कहत, नायक पंडित लोय ॥—रस पीयूष निधि १३।२०

२ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र, प्र० सं०, पृ० १४५

३ काव्य निर्णय—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, द्वि० सं०, चं० ३, पृ० ६७

४. नाटक में रस आठ ही, कहे भरत रिषि राइ।
अँनत नवम रस सांत. किय तहं निरबेदै थाइ ॥

निणय च० ३ पृ० ९४

आठ रसों की चर्चा कर लेने के उपरान्त उन्होंने तैंतीस संचारियों की चर्चा की है और फिर इस रस के सम्बन्ध में पृथक् से विचार किया है। दास जी के शृंगारेतर रसो के विवेचन में किसी उल्लेखनीय मौलिकता का दर्शन नहीं होता, केवल प्रचलित परिपाटी का ही अनुगमन किया गया है।

'काव्य निर्णय' में शृंगार रस पर उतना विचार नहीं किया गया जितना शृंगार, निर्णय एवं रस सारांश में किया गया है। वस्तुतः 'काव्य निर्णय' शृंगार रस निरूपक ग्रन्थ है भी नहीं। अतः इस रस के उपबृंहण एवं स्पृहणीय महत्व का प्रतिपादन काव्यांग निरूपण के प्रसंग में बहुत सम्भव भी नहीं था, क्योंकि रीति परम्परा मे शृंगार और नायक-नायिका भेद अपने आप में एक विशद एवं व्यापक विवेच्य विषय के रूप में ग्रहण किया गया है। यही कारण है कि आचार्य दास ने इसके महत्व को स्वीकार करते हुए इसे 'शृंगार निर्णय' जैसे ग्रन्थ में प्रतिपादित करना अधिक उचित समझा।

यद्यपि 'काव्य निर्णय' में शृंगार रस का वर्णन अति संक्षिप्त रीति से हुआ है, किन्तु कुछ तथ्यों के प्रकाशन के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि नितान्त मौलिक और सार ग्राहिणी प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए इन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि शृंगार रस के विभावों—आलम्बन और उद्दीपन—को तो किसी सीमा तक परि-मित किया जा सकता है, लेकिन अन्य रसों के विभावों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की नियमबद्धता (सीमा) सम्भव नहीं। अपनी इस धारणा की परिपुष्टि के लिये उन्होंने एक दोहा उद्धृत किया है—

सिंह विभाव भयानक हूँ, रुद्र बीर हू होइ।
ऐसी सामिल रीति में, नेम कहै क्यों कोइ ॥[1]

अर्थात् सिंह भयानक रस का आलम्बन है, लेकिन वही रौद्र और वीर रस का भी आलम्बन हो सकता है। अतः शृंगारेतर रसों के आलम्बन विभाव को सीमित नही किया जा सकता। शृंगार रस के आलम्बन और उद्दीपन के सम्बन्ध में दास का मत विचारणीय है। उनके अनुसार शृंगार रस के आलम्बन विभाव नायक और नायिका है और चन्द, सुमन, सखी, दूती आदि उसके उद्दीपन विभाव, जिन्हें अन्य रसों के विभाव रूप में परिगणित नहीं किया जा सकता।[2]

---

१. काव्य निर्णय—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी

२. जानों नायक-नायिका रस सिंगार विभाव।
चन्द सुमन सखि दूतिका, रागादिको बनाव ॥
औरनि के न विभाव में, प्रगटि कहे एहि काज।
सब के निरे विभाव हैं औरों है बहु साज ॥

निर्णय च० उ० पृ० ७४

(८) प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थों में काव्य विलास का नामोल्लेख हुआ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी में उपलब्ध है। हमारे विवेचन का आधार उक्त काशी नागरी प्रचारिणी वाली प्रति है। काव्य विलास के अतिरिक्त इनका अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है जो संवत् १९५७ में भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित हो चुका है। मिश्र बन्धुओं ने प्रौढ़ता और उत्तमता की दृष्टि से काव्य विलास की गणना उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों में की है।[१]

समस्त रीतिकाल में प्रताप साहि ही ऐसे समर्थ आचार्य थे, जिन्होंने मम्मट कृत काव्य प्रकाश के आधार पर भरत सूत्र का उपबृंहण करने वाले चार आचार्यों भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के क्रमशः आरोपवादी, अनुमितिवादी, भोगवादी और अभिव्यक्तिवादी विचारों का संक्षिप्त उल्लेख किया है। यद्यपि रसाभिव्यक्ति विषयक ऐसे गूढ़ और गम्भीर सिद्धान्त अधिक स्पष्ट न हो सके. फिर भी ऐसे जटिल एवं दुर्बोध विषयों में ऐसी गहरी पैठ इनकी शास्त्र निष्ठ प्रतिभा का एक ज्वलन्त प्रमाण है। अपने विषय के स्पष्ट प्रतिपादन के लिए इन्होंने संस्कृत आचार्यों की भाँति कारिका वृत्ति शैली अपनायी है। संस्कृत में इसके अतिरिक्त दो अन्य प्रतिपादन शैलियाँ बतायी गयी हैं[२]—

(क) पद्यात्मक शैली, (ख) सूत्र वृत्ति शैली।

इस दृष्टि से रीतिकाल में प्रायः पद्यात्मक शैली का ही अधिकाधिक प्रयोग हुआ है, किन्तु जहाँ तक सूत्रवृत्ति शैली का सम्बन्ध है—हिन्दी में इस शैली द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इस ग्रन्थ में आचार्य प्रतापसाहि ने जिस कारिका वृत्ति शैली को ग्रहण किया है, उसका निर्वाह प्रौढ़ गद्य, भाव के कारण प्राय नही हो सका। परिणाम स्वरूप अपेक्षित एवं व्याख्येय अंश का प्रतिपादन प्रायः अस्पष्ट ही बना रहा और स्थान-स्थान पर पर्याप्त शिथिलता आ गयी है।

काव्य विलास में रस-स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य प्रतापसाहि ने स्पष्ट शब्दों में भरत सूत्रों की व्याख्या करने वाले चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।[३]

दूसरे शब्दों में भट्टलोल्लट विभाव (अनुकार्य और अनुकर्ता) के ज्ञान से रसानुभूति मानते हैं, शंकुक अनुमान द्वारा तथा भट्टनायक ओज द्वारा और अभिनव गुप्त व्यंजना द्वारा रस प्रतीति स्वीकार करते हैं। अब इन चारों सिद्धान्तों का पृथक्-

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, द्वि० भाग, पृ० ९२३, द्वि० सं०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास- षष्ठ भाग सं० डा० नगेन्द्र. पृ० २९३

३ काव्य विलास ३ १५ १६

पृथक् विचार कर लेना उचित होगा। सर्वप्रथम प्रतापसाहि भट्टलोल्लट का मत उद्धत करते हुए लिखते हैं—

जहाँ परस्पर होत रस विवाद सम्बन्ध।
सो विभाव के ज्ञान ते, जानो रस सम्बन्ध ॥[१]

अर्थात् रस स्वरूप विषयक विवाद होने पर विभाव (अनुभाव और अनुकर्ता) द्वारा रस सम्बन्ध प्रतिपादित करना चाहिए। यद्यपि रस विषय का यह सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में ही द्योतित है, फिर भी हिन्दी रीति काव्य की पद्य-शैली में कथित इस अपूर्ण विवेचन को भी महत्व देना पड़ता है। इसके उपरान्त उन्होंने शंकुक की रस स्वरूप विषयक मान्यताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

विभावादि थाई जहाँ दो धन मिलि जहं होइ।
अनुनायक सायक कहत, रस सम्बन्ध सु सोइ ॥
जह विभाव परमर्षते, जो रस कहियत होइ।
सो अनुमित रस जानिये कहत सुकवि सब कोइ ॥[२]

इसमें शंकुक ने बताया है कि रस निष्पत्ति विभावादि और स्थायी भाव आदि के परस्पर अनुमान जन्य-संयोग पर आश्रित है और अनुमान का आधार परामर्श है।

अब भट्ट नायक का मत लीजिये—

विभावादि संयोग ते भोगक भोगि बखानि।
जहाँ होइ सम्बन्ध, यह तहाँ सरस पहिचानि ॥
जहाँ विभाव भावान्त तें, साम्यभाव व्यापार।
सो भोगी रस जानिये, मम्मट मत निरधार ॥[३]

इसमें रस निष्पत्ति विभावादि और स्थायी भाव के भोज्य-भोजक संयोग पर आधारित है। इसके पश्चात् यह स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया गया है कि जहाँ भावान्त से साम्य (साधारणीकरण) भाव होता है, वहाँ भोग व्यापार से रस की निष्पत्ति होती। अन्त में अभिनव गुप्त के मत का कथन हुआ है—

चर्वनाजन्य ते रस जहाँ, व्यक्ति होइ जेहि ठौर।
कह्यो व्यंजना हेत सो कहत सुकवि शिर मौर ॥[४]

अर्थात् जहाँ चर्वणा द्वारा रस की निष्पत्ति होती है, और जिसका कारण व्यंजना व्यापार है। इस प्रकार रसाभिव्यक्ति के इन चार सिद्धान्तों का उल्लेख प्रतापसाहि ने अपनी सांकेतिक शैली द्वारा प्रस्तुत किया है। निश्चय ही प्रतापसाहि द्वारा कथित रस सिद्धान्त की ये गूढ़ मान्यतायें अपने आप में सर्वथा मौलिक हैं; क्योंकि इनका विवेचन

---

१. काव्य विलास—हस्तलिखित ३।१७
२ काव्य विलास—हस्तलिखित ३ २३ १८
३. काव्य विलास ३।२४,१६
४ काव्य विलास १३ २०

इन्होंने अपनी प्रक्रिया से किया है। काव्य विलास में श्रृंगारेतर रसों का कथन नहीं हुआ, केवल श्रृंगार का ही वर्णन हुआ है, किन्तु श्रृंगाररस के विवेचन में प्रायः मौलिक दृष्टि का अभाव है। श्रृंगारेतर रसों का कथन सम्भवतः इनकी अनुलब्ध रचना रस चन्द्रिका में हुआ है, जिसका संकेत काव्य विलास में एक स्थल पर इस प्रकार किया गया है—अग्रे हास्यरस वर्णनम् रस चन्द्रिकायां। इति रस ध्वनि।२।६१ (वृत्ति)।

(घ) श्रृङ्गार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक आचार्य

(१) नायिका भेद की पृष्ठभूमि

रीतिकाल में श्रृंगार और नायक-नायिका भेद विषय को लेकर लिखे जाने वाले ग्रन्थों की संख्या अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक है। रीति युग वस्तुतः प्रवृत्ति की दृष्टि से श्रृंगारिक युग था और नायक-नायिका भेद का परिविस्तार श्रृंगारिक प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर ही किया गया। इसी से रीति साहित्य के कुछ मनीषियों ने इस युग को श्रृंगार काल की अभिधा से मंडित करना, अधिक तर्क संगत समझा।[1] इधर नायक-नायिका भेद और श्रृंगार का निरूपण करने वाले रीति काव्य के कुछ मर्मज्ञ पंडितों ने रस-निरूपक ग्रन्थों का वर्गीकरण करते समय नायक-नायिका भेद और श्रृंगार रस निरूपण की दो पृथक् कोटियाँ स्वीकार की हैं। मेरी दृष्टि में रीति काल में निरूपित नायक-नायिका भेद श्रृंगारिक परिवेश से कथमपि पृथक् नहीं स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः नायिका भेद का विवेचन श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव के ही अन्तर्गत किया गया है और जिन ग्रन्थों में प्रत्यक्षतः श्रृंगार का शास्त्रीय विवेचन नहीं मिलता, उनमें भी परोक्षतः श्रृंगार की व्याप्ति अवश्य है, क्योंकि श्रृंगार और नायक-नायिका भेद की स्थिति परस्पर असम्पृक्त नहीं है; इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पूर्णतया स्पष्ट है। इस दृष्टि से रस विवेचन के अन्तर्गत श्रृंगार रस निरूपक ग्रन्थों और नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थों की दो भिन्न कोटियाँ निर्धारित करना अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं प्रतीत होता। इस सम्बन्ध में रीति साहित्य के मान्य विद्वान डा० भगीरथ मिश्र का मत है—

'जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रस के भीतर श्रृंगार और उसके भीतर नायिका भेद का वर्णन इन ग्रन्थों में आ ही जाता है, अतः इन ग्रन्थों के एक दूसरे से नितान्त भिन्न वर्ग स्थापित नहीं किये जा सकते। परन्तु अध्ययन की सुविधा और एक दृष्टि मे देख लेने के उद्देश्य से इन ग्रन्थों के तीन वर्ग किये जा सकते हैं'—

---

१ हिन्दी साहित्य का अतीत द्वितीय भाग आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ३६१

(क) प्रथम वर्ग—समस्त रसों का निरूपण करने वाले ग्रन्थ
(ख) द्वितीय वर्ग—केवल शृंगार रस का निरूपण करने वाले ग्रन्थ
(ग) तृतीय वर्ग—केवल नायिका भेद पर लिखे गये ग्रन्थ ।[1]

वास्तव में डा० मिश्र का यह वर्गीकरण इतना स्थूल है कि कथित वर्गों में तद्विषयक ग्रन्थ पूर्णतया अन्तर्भुक्त नहीं हो पाते । उदाहरण के लिये देव कृत 'भवानी विलास' को ही ले लें । इसे डा० मिश्र ने शृंगार निरूपक ग्रन्थों की श्रेणी में रखा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि इसमें शृंगार और नायक-नायिका भेद निरूपण के साथ ही शृंगारेतर रसों का भी कथन है । इसी प्रकार कृपाराम की 'हित तरंगिणी' को नायिका भेद निरूपक वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है और मतिराम कृत 'रसराज' और सुन्दर के 'सुन्दर शृंगार' को शृंगारिक वर्ग के अन्तर्गत, किन्तु मूलतः इन तीनों ग्रन्थों में शृंगार और नायक-नायिका भेद निरूपण न्युनाधिक रूप में हुआ अवश्य है । हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'हित तरंगिणी' में शृंगार के अन्तर्गत हाव आदि के निरूपण पर उतना विचार नहीं हुआ जितना 'रसराज' जैसे ग्रन्थों में हुआ है ।

मेरी दृष्टि में शृंगार और नायक-नायिका भेद के पृथक् वर्ग बनाने की अपेक्षा इसलिये हुई कि रीति युग में उपलब्ध होने वाले शृंगार और नायक-नायिका भेद विषयक ग्रन्थ तीन प्रकार के मिलते हैं—

(१) वे ग्रन्थ जिनमें लक्ष्य एवं लक्षण बद्धता है और जिनमें शास्त्रीय विवेचन की प्रधानता है ।
(२) वे ग्रन्थ जिनमें मात्र लक्ष्य बद्धता है और जिनका मूल्य शास्त्रीय दृष्टि से नगण्य है ।
(३) वे ग्रन्थ जिनमें लक्ष्य लक्षण बद्धता तो है, किन्तु जिनमें शास्त्रीय विवेचन की प्रौढ़ता का नितान्त अभाव है ।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों में—सुन्दर कृत 'सुन्दर शृंगार' कृपाराम की 'हित तरंगिणी' मतिराम का 'रसराज' मोहनलाल का 'शृङ्गार सागर' सुखदेव मिश्र कृत 'शृंगार लता' और सोमनाथ का 'शृंगार विलास' आदि मुख्य हैं ।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत सूरदास की 'साहित्य लहरी' रहीम का 'बरवै नायिका भेद' प्रताप साहि कृत 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' कालिदास कृत 'बधू विनोद' आदि कहे जाते हैं । किन्तु रीति युग में इस प्रकार के ग्रन्थ अत्यल्प हैं ।

तृतीय वर्ग के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों में नन्ददास कृत 'रस मंजरी' है जिसका लक्ष्य सामान्य दृष्टि से सुबोध एवं प्रांजल शैली में नायक-नायिका भेद कथन है । जिस प्रकार अलंकार निरूपक ग्रन्थों में जसवन्त सिंह कृत 'भाषा भूषण' की चर्चा

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास भाग—सं० डा० नगेन्द्र पृ० ३८६

इस दृष्टि से की जाती है कि यह ग्रन्थ अलंकार शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए अति उपादेय प्रमाणित हुआ है, क्योंकि इसकी शैली की प्राञ्जलता के कारण पाठकों को अलंकार विषयक जानकारी में अधिक सुविधा प्राप्त होती रही है। इसप्रकार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद की सरल विवेचन शैली में उपलब्ध नन्ददास कृत 'रस मंजरी' का भी महत्व अक्षुण्ण है।

—नायक-नायिका भेद निरूपण की परम्परा

वस्तुतः नायक-नायिका भेद निरूपण की चर्चा करते हुए रीति काव्य के विद्वानों ने इसके तीन मुख्य स्रोतों की चर्चा की है—

(१) भरत का नाट्य शास्त्र, (२) वात्स्यायन कृत कामसूत्र, (३) संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ

नायक-नायिका भेद के इन तीन मुख्य स्रोतों के अतिरिक्त डा० राकेश ने एक चौथे स्रोत के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान किया है। डा० राकेश के अनुसार नायक-नायिका भेद का चौथा उत्स कुछ पौराणिक ग्रन्थ हैं, जिनमें हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त मुख्य हैं।[१] इधर डा० सत्यदेव चौधरी ने अपने शोध प्रबन्ध में डा० राकेश द्वारा उल्लिखित नायिका भेद के इस चौथे स्रोत को असंगत बताया है और उसके अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों की प्राचीनता के प्रति सन्देह प्रकट किया है। उनके अनुसार इन पुराणों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता असिद्ध है, क्योंकि ये पुराण इतने प्राचीन नहीं है, जितने प्राचीन माने जाते हैं। डा० राकेश ने इन पुराणों का समय भरत के नाट्य शास्त्र के पूर्व माना है।[२]

भरत के नाट्य शास्त्र (समय ईस्वी सन् के आरम्भ के आस पास) के २४वें अध्याय में स्त्री-पुरुष-संयोग के स्वरूप-निरूपण के अनन्तर नायक-नायिका भेद का कथन है।[३] नायक-नायिका भेद का यह वर्णन नाट्य शास्त्र के सन्दर्भ में हुआ है। अतः इसमें नायक-नायिका भेद विवेचन का स्वरूप अत्यन्त संकुचित है। नाट्य शास्त्र मे नायक-नायिका भेद का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है—

नायक भेद का वर्गीकरण

(१) प्रकृति के आधार पर—उत्तम, मध्यम और अधम[४]

(२) शील के आधार पर—धीरोदात्त आदि चार भेद,[५]

---

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४०३ २. रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ३७१ ३. नाट्य शास्त्र—भरत २४।९२ ४. नाट्य शास्त्र—३४।२ ५ नाट्य शास्त्र ३४।१७

(३) नारी विषयक रति सम्बन्ध को लेकर पाँच भेद—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और सम्प्रवृद्ध,[1]

(४) नायिका द्वारा नायक को प्रेम तथा क्रोध भाव में सम्बोधन किये जाने के कारण इसके सात भेद किये गये हैं—

(i) क्रोधावेश जन्य सम्बोधन के आधार पर—दुश्शील, दुराचार, शठ, वाम, विरूपक, निर्लज्ज और निष्ठुर।[2]

(ii) स्नेहावेशजन्य सम्बोधन के आधार पर—प्रिय, कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित और नन्दन।[3]

नायिका भेद का वर्गीकरण निम्नलिखित आधार पर हुआ है—

(१) लौकिक और अलौकिक जातियों के शील को दृष्टि में रखते हुए नायिका के २१ भेद किये गए हैं।[4]

(२) सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से नारी के तीन भेद किये गये हैं—
(१) बाह्या, (२) आभ्यन्तर, (३) बाह्याभ्यन्तर।[5]

(३) वियोग एवं संयोग की अवस्थानुसार आठ भेद—
(१) वासक सज्जा, (२) विरहोत्कण्ठिता, (३) स्वाधीन पतिका, (४) कलहान्तरिता, (५) खण्डिता, (६) विप्रलब्धा, (७) प्रोषित भर्तृका (८) अभिसारिका।[6]

—कामशास्त्र में निरूपित नायक-नायिका भेद

कामशास्त्र के मुख्य चार ग्रन्थों की चर्चा की गयी है—

(१) कामसूत्र—वात्स्यायन (२) रति रहस्य—कक्कोक (३) अनंगरंग—महाकवि कल्याण मल्ल (४) पंच सायक—ज्योतिरीश्वर

कामशास्त्र में नायिका भेद का निरूपण प्रायः तीन दृष्टियों से किया गया है—

(१) शारीरिक गठन एवं अंग विन्यास की दृष्टि से, (२) स्वभाव और मानसिक आवेश की दृष्टि से। (३) यौन-वासना (कामेच्छा) की दृष्टि से।

इन्हीं विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए नायिकाओं को चार भागों में विभाजित किया गया है—

(१) पद्मिनी, (२) चित्रिणी, (३) शंखिनी, (४) हस्तिनी।

इसके अतिरिक्त नायक और नायिका को मिलाने वाले दूत और दूती का भी कथन हुआ है, जिसका समावेश हिन्दी नायक-नायिका भेद की परम्परा में दास जैसे आचार्यों

---

१. नाट्य शास्त्र—२५।५४। २. नाट्य शास्त्र—२४।२९३। ३. नाट्य शास्त्र—२४।२९२
४. नाट्य शास्त्र—२४।२९२। ५ नाट्य शास्त्र २४।१४२। ६ नाट्य शास्त्र २४ २०३

ने अपने ग्रन्थों में किया है। कामसूत्र में कर्मानुसार भी नायिकाओं का विभाजन हुआ है। इस दृष्टि से उन्हें अधोलिखित तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(१) कन्या, (२) पुर्नभू, (३) वैश्या।[१]

इसी प्रकार कामसूत्रकार ने नायक भेद भी किये हैं—(१) पति रूप में, (२) वह जो विशेष प्रयोजन के लिए गुप्त सम्बन्ध रखता है।

इन दोनों के न्यूनाधिक गुण और दोषों के अनुसार उत्तम, मध्यम और नीच नायक माने गये हैं।[२]

काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका भेद निरूपण

काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम नायक-नायिका भेद का निरूपण शृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत अग्निपुराण में हुआ है। यद्यपि इस ग्रन्थ मे नायिका भेद का विवेचन अत्यन्त संक्षेप में किया गया है। लेकिन फिर भी इसमे पर्याप्त मौलिकता है। अग्निपुराण के पश्चात् संस्कृत के अन्य काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो मे भी नायिका भेद का निरूपण आलम्बन विभाव के अन्तर्गत किया गया और शनै शनै: नाट्य शास्त्र और कामशास्त्र की विशेषताओं का भी समावेश नायक-नायिका भेद वर्णन के सन्दर्भ में होने लगा।

जिन संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में नायक-नायिका भेद का वर्णन हुआ है, उनकी एक बृहत् सूची नीचे दी जा रही है, जिससे आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इन ग्रन्थों में इस विषय का क्रमिक विकास किस प्रकार से होता रहा। यह सूची नवीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक लिखे जाने वाले ग्रन्थों के सम्बन्ध मे है—

काव्यालंकार—रुद्रट (९वीं शताब्दी)।

शृंगार तिलक—रुद्रभट्ट (११वीं शताब्दी)।

दशरूपक—धनंजय (११वीं शताब्दी)।

सरस्वती कण्ठाभरण और शृंगार प्रकाश—भोज (११वीं शताब्दी)।

साहित्य दर्पण—विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी)।

रस मंजरी—भानु (१४वीं शताब्दी)।

उज्ज्वल नीलमणि—रूप गोस्वामी (१६वीं शताब्दी।

उज्ज्वल नीलमणि के अनन्तर दो ग्रन्थ इस विषय के और मिलते हैं—

(१) अलंकार शेषर—केशव मिश्र (१६वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध)।

(२) साहित्यसार—अच्युत शर्मा (सं० १८३१)।

---

१ कामसूत्र-वात्स्यायन जयमंगला टीका सं० देवदत्त शास्त्री ५।३५

२ कामसूत्र जयमंगला टीका स० देवदत्त शास्त्री ५ २८

इसमें उक्त विषय का प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है, इस दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है।

इन समस्त संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित नायक-नायिका भेद विषय को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया गया है[1]—

(i) **शृङ्गार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद**—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थों की चर्चा की गयी है—

(१) काव्यालंकार—रुद्रट। (२) सरस्वती कण्ठाभरण और शृंगार प्रकाश—भोज। (३) साहित्य दर्पण—विश्वनाथ। इसके अतिरिक्त शारदा तनय, शिंग भूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय, केशव मिश्र आदि भी आते हैं।

(ii) **केवल नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ**—

(१) रस मंजरी—भानु, (२) उज्ज्वल नीलमणि—रूपगोस्वामी, (६) शृंगार मंजरी—सन्त अकबर साह

सम्भवतः इसी वर्गीकरण के आधार पर ही हिन्दी रीति परम्परा के अन्तर्गत आने वाले शृंगार और नायक-नायिका भेद को दो प्रमुख कोटियों में विभाजित किया गया है। संस्कृत में शृंगार और नायक-नायिका भेद की पृथक्ता भले ही स्पष्ट हो, किन्तु हिन्दी में ऐसी विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती। वहाँ शृंगार और नायक-नायिका भेद की अन्योन्याश्रित स्थिति सर्वथा स्पष्ट है।

संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में भरत के नाट्य शास्त्र की अपेक्षा धनंजय कृत दशरूपक में नायक-नायिका भेद का व्यवस्थित एवं प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत हुआ है। धनंजय ने नायिकाओं के धीरादि और वयभेद की विस्तृत चर्चा दशरूपक में की है और वयभेद के आधार पर निम्नलिखित भेदों की कल्पना की—

(क) **मुग्धा**—(१) वयोमुग्धा, (२) काममुग्धा, (३) रतवामा, (४) कोपमृदु।[2]
(ख) **मध्या**—(१) यौवनवती, (२) कामवती, (३) मोहान्तसुरत क्षमा।[3]
(ग) **प्रगल्भा**—(१) गाढ़यौवना, (२) भावप्रगल्भा, (३) रतप्रगल्भा।[4]

इस विषय पर धनंजय से भी अधिक गम्भीर एवं सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले आचार्यों में विश्वनाथ का नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। उन्होंने मुग्धा, मध्या

---

१. रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ३७०
२. मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि—दशरूपक—धनंजय, द्वि०प्र०, पृ० ९९
३. मध्योद्यद्यौवनानङ्गा० मोहान्तसुरतक्षमा।१६।—दशरूपक धनंजय, द्वि० प्र०, पृ० १०२ डा० भोलाशंकर व्यास, द्वि० सं०
४. यौवनान्धा स्मरोन्मत्ताप्रगल्भा दयितांगके।
विलीयमाने— द्वि० प्र० पृ० १०६

और प्रौढ़ा के सूक्ष्म भेदोपभेदों में अपनी पूर्ण रुचि दिखायी है और नायिका के अलकारों की संख्या १८ तक पहुंचा दी है।[1] इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र और केशव मिश्र की भी चर्चा की जाती है। इन आचार्यों ने रस विवेचन के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद की विस्तृत विवेचना की है, लेकिन नायिका भेद की अबाध परम्परा को पुरस्सर करने वाले ग्रन्थों में मुख्य रुद्रभट्ट का 'शृंगार तिलक' माना जाता है। वस्तुतः संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसी के अन्तर्गत शृंगार रस को महत्व देते हुए उसके विशद विवेचन का प्रयास किया गया और नायक-नायिका भेद, कामदशा, मान मोचन आदि के सम्बन्ध में पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। शृंगार तिलक के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ भोज कृत शृंगार प्रकाश है। इस ग्रन्थ में शृंगार का सांगोपांग विवेचन किया गया है और इसका मूलाधार अग्निपुराण बतलाया जाता है। डा० वी० राघवन ने अपने शोध प्रबन्ध 'भोज का शृंगार प्रकाश' में भोज की शृंगारिक मान्यताओं और तद्विषयक उसकी मौलिक धारणाओं का विस्तृत परिचय दिया है। 'सरस्वती कण्ठाभरण भोज के शृंगार प्रकाश से पूर्व की रचना है, इसीलिये उसमें अपेक्षाकृत प्रौढ़ता का अभाव है, किन्तु शृंगार प्रकाश में रसों के सम्बन्ध में—विशेषकर शृंगार के सम्बन्ध में—भोज की व्यवस्थित एवं प्रौढ़ चिन्तना का स्वरूप अति स्पष्ट है।[2]

शृंगार प्रकाश के पश्चात संस्कृत में कई महत्वपूर्ण शृंगारिक ग्रन्थ देखने को मिले, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। फिर भी इस दिशा में भानु कृत रस मजरी का विस्तृत उल्लेख यहाँ नितान्त अपेक्षित है। रस मंजरी में शृंगार एवं नायक-नायिका भेद का कथन अति ललित शैली में हुआ है। यों भानु ने रस मंजरी के अतिरिक्त रस विषयक एक अन्य ग्रन्थ रस तरंगिणी की भी चर्चा की है, लेकिन उस ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं किया गया। यद्यपि रस मंजरी का प्रौढ़ काव्य शास्त्रीय दृष्टि से कुछ भी महत्व नहीं है, फिर भी विवेचन की सरलता और शैलीगत प्रांजलता की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय है। रस मंजरी के नाम से तो यह स्पष्ट आभास मिलता है कि इसमें नवरसों का निरूपण किया गया होगा, किन्तु यह बात उसे देखने से सर्वथा असत्य प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें मात्र शृंगार रसान्तर्गत नायक-नायिका भेद का कथन हुआ है और सत्य तो यह है कि रस मंजरी के आधे से अधिक भाग में नायिका भेद और सखी निरूपण आदि

---

१ रीति काव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, प्र० सं०, पृ० १३५

२ The S.K.A. is the earlier work of Bhoja in Alankar. The Sr. Pra. followed as an amplification and also as a more systematic exposition of the original ideas of Bhoja on various subjects, notably Rasa. —Bhoja's Sringar Prakash. p. 409 (1963)
Dr V Raghvan

का विस्तार है और शेषांश नायक भेद और विप्रलम्भ श्रृंगार की दस दशाओं आदि मे समाप्त हुआ है ।[1]

—भानुदत्त का हिन्दी नायक-नायिका भेद विषयक साहित्य पर प्रभाव

रीति साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में भानुकृत रस तरंगिणी और रस मंजरी का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। कारण यह है कि रसों के निरूपण में इनकी रस तरंगिणी तथा श्रृंगार और नायक-नायिका भेद कथन में रस मंजरी का अमिट प्रभाव लक्षित होता है। रीतिकाल का कदाचित् कोई भी ऐसा कवि न होगा, जिसने इस ग्रन्थ का अवलम्ब न ग्रहण किया हो और यत्र-तत्र परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष इनका उल्लेख न किया हो। उपलब्ध जिन रीति ग्रन्थों में इनका आधार लिया गया है, उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—हित तरंगिणी (कृपाराम), रस मंजरी (नन्ददास), कविकुलकल्पतरु (चिन्तामणि), रसराज (मतिराम), भाव-विलास (देव), रस प्रबोध (रसलीन), नव रस तरंग (बेनी प्रवीन), जगद्विनोद (पद्माकर), रसरंग (ग्वाल), श्रृंगार दर्पण (नन्दराम), महेश्वर विलास (लछिराम) आदि।

कृष्ण काव्य की परम्परा और नायक-नायिका भेद—यों कृष्ण चरित का उल्लेख हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में तो हुआ था, किन्तु इसकी परम्परा श्रृंगारिक मुक्तकों में भी उत्तरोत्तर मिलती रही और ११ वीं शताब्दी से लेकर १५ वी शताब्दी तक जि न भक्ति मूलक श्रृंगारिक मुक्तक पदों की उपलब्धि हुई है, उनमे कृष्ण केलि की व्याप्ति स्थान-स्थान पर है। इन उपलब्ध रचनाओं का विवरण इस प्रकार है—(१) उमाशंकर की बंगला रचनाएँ ११ वीं शताब्दी

(२) जयदेव कृत गीत गोविन्द १२ वीं शताब्दी

(३) चण्डीदास की रचनाएँ १४ वीं शताब्दी

(४) विद्यापति के पद १५ वीं शताब्दी

इस कृष्ण काव्य की परम्परा को नायक-नायिका भेद की शास्त्रीय धारा से सम्बद्ध करने वाली एक महत्वपूर्ण रचना रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' है जिसका रचना काल १६ वीं शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ में प्रथम बार कृष्ण, राधा और गोपियों को नायक-नायिका रूप में अभिहित किया गया। यद्यपि इस ग्रन्थ के शास्त्रीय

---

1. The Ras Manjari, much smaller work, devotes more than half of itself to the Nayika and her companions, and applied the rest to the Sringar Nayaka and the ten stages of Vipralambha Sringar. —History of Sanskrit Poetics Vol II p 266 (II ed) Dr S K De

विवेचन का प्रभाव तो रीतिकालीन कवियों पर प्रत्यक्षतः नहीं पड़ा, फिर भी राधा-कृष्ण के सामान्य नायक-नायिका के रूप में ग्रहण करने की परोक्ष प्रेरणा इस ग्रन्थ से उन्हें अवश्य मिली होगी ; इस सत्य की उपेक्षा कथमपि नहीं की जा सकती। रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' की प्रायः तीन मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है—

(१) इसमें सामान्या नायिका का कथन नहीं हुआ है।

(२) मुग्धा, प्रगल्भा भेदों का परकीया के भी अन्तर्गत कथन हुआ है।

(३) गोपियों को विविध नायिकाओं के रूप में कल्पित किया गया है।[१]

वास्तव में यह सत्य है कि हिन्दी रीति परम्परा के आचार्य लक्षणांश को ग्रहण करने मे भानु की रस मंजरी से अधिक प्रभावित हैं, लेकिन लक्ष्यांश ग्रहण में रस मंजरी की अपेक्षा उज्ज्वल नीलमणि का ही प्रभाव स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में डा० सत्यदेव चौधरी का विचार है—

"हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य नायक-नायिका भेद के लक्षण पक्ष में भानु मिश्र के रस मंजरी ग्रन्थ से प्रायः प्रभावित हैं और लक्ष्य पक्ष में रूप गोस्वामी के इस ग्रन्थ से। इन्होंने उदाहरण निर्माण के लिए प्रायः रूप गोस्वामी के समान ही गोपी कृष्ण को नायक-नायिका भेद का माध्यम बनाया है और उसी में ही इस ग्रन्थ का गौरव निहित है।"[२]

(ङ) हिन्दी का नायक-नायिका भेद

ऊपर के विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट हो चुका है कि भानुदत्त तक नायक-नायिका भेद का रूप और उसके विकास क्रम की दिशा सुनिश्चित हो चुकी थी। और यह भी पूर्ण रूपेण सत्य है कि शृंगार का प्राधान्य संस्कृत साहित्य के पतन-काल से ही विशेष हो चला था। इस तथ्य का वास्तविक दर्शन प्राकृत और अपभ्रंश में मिलने वाली शृंगारिक रचनाओं से भी भली भाँति हो जाता है, फिर मुसलमानों के साम्राज्य ने भी शृंगारिक भावों की अभिवृद्धि में पूर्ण सहायता पहुंचाई।[३] यही नहीं संस्कृत मे अधिकांश नायिका भेद ग्रन्थों का निर्माण मुसलमानी शासन-काल से ही आरम्भ होता है।[४] ऐसी स्थिति में हिन्दी रीति परम्परा के अन्तर्गत नायिका भेद लिखने

१ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में डा० राकेश द्वारा लिखित ब्रजभाषा साहित्य मे नायिका भेद शीर्षक लेख से, पृ० ४०७

२ रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ३८४

३ पद्माकर पंचामृत—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—आमुख भाग. पृ० ४८

४ बिहारी पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ४६ च० सं०

वालों के लिए इस विषय के विस्तार और विशदीकरण के लिये पर्याप्त उपयुक्त वातावरण था। यद्यपि इनके नायिका भेद का वर्गीकरण कहीं-कहीं पूर्णतया अवैज्ञानिक प्रमाणित हुआ है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इस विषय में इन आचार्यों की अगाढ रागात्मकता तथा अतल गहराई तक जाकर सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना प्रवण चित्रों की अवतारणा इनकी असामान्य दृष्टि की ही परिचायक है और इस दिशा में इनका अभिनिवेश संस्कृत कवियों से भी कहीं गम्भीर प्रमाणित हुआ है। हमारे इस कथन की पुष्टि डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के इस विचार से भी हो जाती है—

"नायिका भेद कथन ने हिन्दी साहित्य को विपुल सामग्री उपलब्ध की। उसके नैतिक स्तर के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो, परन्तु इस बात से सभी सहमत है कि इसके द्वारा प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। इस क्षेत्र में हिन्दी के कविगण अपने अग्रज संस्कृत आचार्य कवियों से भी बढ़ गये हैं। हिन्दी साहित्य का यह अग काव्य सौन्दर्य और काव्य परिमाण दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं विकसित है।"[1] इस विषय की श्लाधा करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "हिन्दी का नायिका भेद संस्कृत की तुलना में अधिक व्यवस्थित एव विस्तृत है। उनके अनुसार यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से मान्य है निरूपण की दृष्टि से नहीं।[2]"

यद्यपि हिन्दी का समस्त नायिका भेद विषयक साहित्य संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का ही विशेष रूप से अनुगत रहा है, फिर भी उस पर फारसी साहित्य की शृंगारिक परम्परा का भी प्रभाव है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार हिन्दी नायिका भेद की परम्परा में परकीया नायिका का प्रेम फारसी साहित्य के प्रभाव के ही कारण आया है।[3] इसके साथ ही रीति कवियों द्वारा वर्णित नख-शिख काव्य पर भी फारसी का प्रचुर प्रभाव है। लेकिन विशेषता यह है कि हिन्दी के इन रीति आचार्यों ने फारसी वर्णन प्रणाली को उसी रूप में ग्रहण न करके अपने ढंग से और सर्वथा भारतीय परम्परा के मेल में ग्रहण किया है।

हम शृंगार एवं नायक-नायिका भेद के उन मुख्य आचार्यों का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने इस साहित्य के विकास एवं श्रीवृद्धि के प्रति सतत जागरूक रह कर नायिका भेद की पुष्ट परम्परा को अप्रतिहत गति से पुरस्सर किया।

---

१. रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन—भूमिका भाग—डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ० १३
२. रीति काव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र. पृ० १६२
३ बिहारी　　　पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ४८ च० स०

(१) कृपाराम

रीतिकाल के प्रथम शृंगार एवं नायक-नायिका भेद विवेचक आचार्यों में कृपाराम का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। कृपाराम की प्रसिद्ध रचना हित तरंगिणी सं० १६५२ में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा सम्पादित होकर काशी के भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हो चुकी है। हमारे विवेचन का आधार वही मुद्रित प्रति है। कृपाराम के अन्य समकालीन शृंगार एवं नायक-नायिका भेद के आचार्यों में नन्ददास, सूरदास, रहीम तथा सुन्दर कवि की गणना होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कृपाराम का समय रीति प्रस्तावना युग के नाम से प्रख्यात है, क्योंकि यह ऐसा काल था जब भक्ति युगीन प्रवृत्तियों का प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीण हो रहा था और शृंगारिक प्रवृत्तियों का वैकासिक क्षेत्र निरन्तर तैयार हो रहा था तथा अब शृंगार भक्ति एवं अध्यात्म के बन्द कठघरे से निकल कर पूर्णतया लौकिक धरातल पर अपना चरण जमा रहा था।

हित तरंगिणी की प्रामाणिमता अब संदिग्ध मानी जाती है, इस सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। यह ग्रन्थ रस मंजरी और भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। यों इसमें रस मंजरीकार की चर्चा तो स्पष्टतः नहीं की गई, पर भरत का नामोल्लेख यथा स्थल अवश्य हुआ है।[१] ऐसा अनुमान है कि इस ग्रन्थ के पूर्व शृंगार काव्य की एक पुष्ट परम्परा रही होगी, क्योंकि कृपाराम ने एक स्थल पर लिखा है कि अन्य कवि शृंगार रस का वर्णन बड़े छन्दो में करते रहे हैं, लेकिन मैंने दोहों में सुकर समझ कर इसका वर्णन किया है।[२]

मिश्र बन्धुओं ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि इसमें रस का विषय विस्तार पूर्वक और मनोहर छन्दों द्वारा कहा गया है।[३] समझ में नहीं आता कि रसों से मिश्र बन्धुओं का क्या अभिप्राय था और उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है? यों रस तरंगिणी के विवेच्य विषय को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि उसमें अन्य रसों का उल्लेख कहीं नहीं किया गया, केवल शृंगार रस का सामान्य विवेचन करने के पश्चात् नायक-नायिका भेद का विशद निरूपण है। नायिका भेद की दृष्टि से तो यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण माना ही जाता है, किन्तु रीति परम्परा का प्रवर्तन करने वाले केशव जैसे आचार्य के पथ-निर्माण में भी इसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है।[४] अभी तक रीति काव्य के विद्वान प्रायः यही सिद्ध करते

१ हित तरंगिणी प्रथम तरंग छ०सं० ३५ । २ हित तरंगिणी प्रथम तरंग छ०सं० ४

चले आ रहे हैं कि कृपाराम की 'हित तरंगिणी' की रचना बहुत कुछ भानु कृत 'रस मंजरी' के आधार पर हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि 'हित तरंगिणी' पर रस मंजरी का प्रभाव असंदिग्ध रूप में है, लेकिन नायिका भेद विवेचन करते समय कृपाराम ने कहीं-कहीं अपने चिन्तन से भी काम लिया है और रस मंजरी में विवेचित नायिका भेद को छोड़ कर नायिकाओं का वर्गीकरण अपने ढंग से किया है। इस कथन की पुष्टि के लिए दोनों का तुलनात्मक विश्लेषण अपेक्षित है।

रस मंजरी एवं हित तरंगिणी में वर्णित नायिकाएँ

(१) कृपाराम ने मुग्धा नवोढ़ा के ललिता, वयःसन्धि, उदित यौवना प्रभेदों की नूतन कल्पना की है और इधर रस मंजरी में कथित अंकुरित यौवना मुग्धा के प्रभेद स्वरूप अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना नायिकाएँ मानी जाती हैं।[1] हित तरंगिणी में ये दोनों भेद पृथक् रूप में वर्णित हैं।

(२) रस मंजरी में स्वकीया नायिका के ज्येष्ठा, कनिष्ठा के धीरादिक भेद वर्णित हैं,[2] किन्तु हित तरंगिणी में ज्येष्ठा, कनिष्ठा के अतिरिक्त उसके एक अन्य भेद समस्नेहिका (समहिता) का भी उल्लेख हुआ है।[3]

(३) भानु ने परकीया के परोढ़ा और कन्यका नामक दो भेद किए हैं।[4] पर हित तरंगिणीकार ने अनूढ़ा और परोढ़ा का कथन परप्रिया तथा परविवाहिता[5] के प्रभेद के साथ किया है। रस मंजरीकार ने परोढ़ा नायिका के षट् भेदों[6] की कल्पना की है, परन्तु कृपाराम ने परकीया नायिका के सात भेदों का वर्णन किया है, जिसमें स्वयं दूती[7] नायिका सर्वथा नूतन भेद के रूप में अभिहित है। इसी प्रकार परकीया नायिका के लक्षिता नामक भेद के तीन उपभेद किये हैं—

(१) क्रिया लक्षिता, (२) वचन लक्षिता, (३) प्रत्यक्ष लक्षिता।[8]

रस मंजरी में लक्षिता नायिका के ये उपभेद नहीं मिलते। भानु ने गुप्ता नायिका के तीन भेद किये हैं—

(१) भूत गुप्ता, (२) वर्तमान गुप्ता, (३) भविष्य गुप्ता।[9]

इधर कृपाराम ने इन भेदों की संख्या पाँच तक पहुँचा दी है और उनके नाम इस प्रकार बताये हैं—

(१) भूत गुप्ता, (२) भविष्य गुप्ता, (३) भूत भविष्य मिश्रित गुप्ता,

---

१. तत्रांकुरित यौवना मुग्धा। सा च—अज्ञात यौवना इति यौवना च। रस मंजरी टी० बदरीनाथ शर्मा, पृ० ८। २. रस मंजरी, पृ० २४। ३. हित तरंगिणी २।६६। ४ रस मंजरी पृ० २८। ५ हित तरंगिणी ३।१४ १५। ६ रस मंजरी पृ० २९। ७ हित तरंगिणी ३ ३१ ८ हित तरंगिणी ३ १९ २० २४ ९ रस मंजरी ३०

(४) वर्तमान सुरति गोपना, (५) ध्वनि गोपना ।[1]

(४) कृपाराम ने परकीया नायिका के अन्तर्गत रति प्रीता एवं आनन्द-मत्ता नामक भेदों की कल्पना की है। भानु की रस मंजरी में हमें ये दोनों भेद नहीं मिलते ।[2]

(५) इसी प्रकार सामान्या नायिका के भेदों का भी विस्तार हिततरंगिणी मे किया गया है, इसके विपरीत रस मंजरी में इसके भेद नहीं मिलते। हिततरंगिणी मे कथित सामान्या के भेद इस प्रकार हैं—(१) मुग्धा—अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, नवोढा, विश्रब्ध नवोढ़ा। (२) मध्या। (३) प्रौढ़ा ।[3]

(६) भानु ने धीरादिक भेदों की कल्पना केवल ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा स्वकीया मे ही की है, किन्तु कृपाराम ने परकीया और सामान्या में भी इन्हें स्वीकार किया है ।[4]

(७) गर्विता के रस मंजरी में केवल दो ही भेद उल्लिखित हैं—(१) सौन्दर्य गर्विता' (२) रूप गर्विता।
किन्तु हित तरंगिणी में वक्रोक्ति एवं सरलोक्ति गर्विता भी मानी गयी हैं और इन दोनों के पुनः रूप, गुण एवं प्रेम नामक तीन-तीन उपभेद किये गये हैं, जिन्हें स्वकीया और परकीया दोनों के अन्तर्गत रखा गया है ।[5]

(८) रस मंजरी और हित तरंगिणी में दस नायिकाओं का कथन है। यद्यपि रस मंजरी में दस नायिकाओं का संकेत अवश्य है, परन्तु उनका स्पष्टतः कथन नहीं किया गया।

इस प्रकार के तुलनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट है कि कृपाराम का नायिका भेद विवेचन प्रायः मौलिक है और जो विद्वान इसे संस्कृत की 'रस मंजरी' की मात्र अनुकृति मानते हैं, वे भ्रम में हैं। वस्तुतः कृपाराम ने अपने इस वर्गीकरण के द्वारा एक स्वतन्त्र चिन्तन और नूतन दृष्टि का परिचय दिया है। यही नहीं ऐसा अनुमान किया जाता है कि 'शृंगार मंजरी' के कर्ता ने इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ा होगा और परोक्षतः इससे लाभ भी उठाया होगा।

२—सूरदास

सूरदास की गणना रीति प्रस्तावना काल के भक्त कवियों में होती है। इनकी प्रसिद्ध रीति रचना 'साहित्य लहरी' कही जाती है, जिसमें नायिका भेद का कथन

---

१. हित तरंगिणी ३।५५, ५६, ५७, ५८, ५९। २. हित तरंगिणी ३।६१, ६२, ६३।
३ हित तरंगिणी ४ ६ ७ ८ १०। ४ हित तरंगिणी ५।६५- ६८।
५ हित तरंगिणी पृ० ४३ ४५

हुआ है। साहित्य लहरी मुद्रित हो चुकी है। इसके दो संस्करण हमारे देखने में आये हैं। एक संस्करण नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ का है, जिसकी टीका ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि सूरदास ने लिखी थी और दूसरा संस्करण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित होकर सन् १८९२ ई० में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति दोनों संस्करण अप्राप्य हैं। हमारे अध्ययन का आधार खड्गविलास प्रेस वाला संस्करण है।

सूरदास की इस रचना की प्रामाणिकता अब प्रायः संदिग्ध मानी जाती है।[१] लेकिन इसे सूर कृत सिद्ध करने वाले आचार्यों के कथन में भी पर्याप्त बल है।[२] सूरदास की यह रचना कूटशैली में लिखी गयी है, इस कारण आवश्यकता से अधिक इसमे चमत्कारातिशयता की प्रधानता है। यों 'साहित्य लहरी' का विवेच्य विषय नायिका भेद है, लेकिन इसमें अलंकार और रस का भी कथन हुआ है। इस ग्रन्थ के गूढ़ एव गम्भीर पदों से पूर्णतया स्पष्ट है कि कवि की प्रवृत्ति बहुत अधिक साहित्यिक है, जिसमें भक्ति तत्व की सहज तरलता प्रायः लुप्त सी हो गयी है और स्थल-स्थल पर कलात्मक सजगता स्वतः प्रस्फुटित हो उठी है।

इस ग्रन्थ में शृंगार के वैशद्यपूर्ण निरूपण का प्रयास प्रायः नहीं किया गया। यों शृंगार की व्याप्ति भले ही प्रत्येक पद में हो, पर उसके शास्त्रीय रूप की प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक श्लाघ्य नहीं है। जहाँ तक संचारी भावों का सम्बन्ध है, इसमें केवल २७ संचारियों का कथन है और विबोध, अवहित्था, मति, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क नामक संचारियों का उल्लेख नहीं हुआ।

नायिका भेद की चर्चा श्लिष्ट एवं संकेत प्रणाली से हुई है तथा जिस क्रम से नायिकाओं का कथन हुआ है, वह इस प्रकार है—स्वकीया, मुग्धा, अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, प्रौढ़ा, धीरा, धीराधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, परकीया ऊढ़ा, परकीया अनूढ़ा, गुप्ता, वचन विदग्ध, क्रिया विदग्धता, लक्षिता, मुदिता, अनुशयना, अन्य सयोग दुखिता, प्रेम गर्विता, रूप गर्विता, मानवती, प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासक सज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, गच्छत पतिका और आगत पतिका।[३]

मौलिकता की दृष्टि से इसमें दो तथ्य अधिक स्पष्ट हैं—

(१) प्रथम बार भक्ति के परिवेश में नायिका भेद का निरूपण किया गया।
(२) प्रथम बार कूट शैली में अलंकार तथा संचारी भाव आदि का विवेचन किया गया।

---

१. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ९६
२ सूर सौरभ प्रथम भाग डा० मुंशीराम शर्मा पृ० ३२
३ साहित्य लहरी १ से २९ पद तक प्र० स० सन् १८९२ ई०

३—नन्ददास

सूरदास की भाँति नन्ददास की भी चर्चा शृंगार एवं नायक-नायिका भेद विवेचन के सन्दर्भ में की जाती है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ सूर की दृष्टि लक्षणों की अपेक्षा लक्ष्य पर अधिक टिकी रही, वहाँ नन्ददास जी ने लक्ष्य एव लक्षण दोनों तत्वों पर पूर्ण विचार किया है। यही कारण है कि उनकी प्रसिद्ध कृनि 'रस मंजरी' जो कि भानु कृत 'रस मंजरी' से बहुत कुछ प्रभावित है लक्ष्य ओर लक्षणों की दृष्टि से अनुपम कृति मानी जाती है। इस ग्रन्थ में प्रथम बार गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है।

नन्ददास ने 'रस मंजरी' की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है कि नायिका भेद को जाने बिना प्रेम तत्व का परिचय नहीं हो सकता। अत: इसमें नायिका भेद के माध्यम से प्रेम तत्व का विवेचन किया गया है और इस ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा एक ऐसे मित्र से मिली थी, जिसने कभी नायिका भेद नहीं सुना था।[1]

इस ग्रन्थ में शृंगार के सांगोपांग विवेचन का अभाव है। कवि की दृष्टि केवल सामान्य दृष्टि से नायिका भेद विवेचन में अधिक गयी है। इसमें प्रथमत: नायिकाओं के तीन भेद किये गये हैं—

(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) सामान्या।

फिर इन तीनों में इन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नामक भेदों की चर्चा की है। इसके पश्चात् मुग्धा के दो भेद किये गये हैं—

(१) नवोढ़ा, (२) विश्रब्ध नवोढ़ा।

लेकिन वर्गीकरण का यह क्रम भानु कृत रसमंजरी से कुछ भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि भानु ने केवल स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेद किये और स्वकीया मुग्धा को दो भागों में बाँटा है—

(१) अज्ञात यौवना, (२) ज्ञात यौवना।

किन्तु नन्ददास ने स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीनों के उक्त भेद स्वीकार किये हैं। इसके पश्चात् इन्होंने मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा नामक तीन भेद किये हैं। नन्ददास जी ने मुग्धा नायिका के अन्तर्गत इन भेदों का स्वीकार नहीं किया, इसके कारणों पर विचार करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार किसी वृक्ष के अंकुर में दल, फल तथा पुष्प इत्यादि दृष्टिगत नहीं होते, उसी प्रकार मुग्धा

---

१. एक मित्र हम सों, अस गुन्यो। मैं नायिका भेद नहि सुन्यौ॥
जब लग इनके भेद न जानै तब लग प्रेम तत्व न पहिचानै॥
रस मजरी ग्रन्थावली पृ० १४४ १४५

नायिका में भी लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं होते, वस्तुतः नन्ददास का यह विवेचन सर्वथा मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है।[1]

'रस मंजरी' में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-प्रेम के आधार पर नायक को चार भागों में विभाजित किया गया है—धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल किन्तु भानु की रस मंजरी में जिन पति, उपपति, वैशिक तथा उत्तम, मध्यम, अधम नायकों का वर्णन है, उन्हें नन्ददास ने छोड़ दिया है। यह सब होते हुए भी इस ग्रन्थ में कुछ उल्लेखनीय मौलिक तत्त्व अवश्य हैं, यथा—

(१) नायिकाओं और उदाहरणों को एक साथ ऐसी स्पष्टता से रखा गया है, कि उसके समझने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

(२) नायिका भेद के माध्यम से अनाविल प्रेम तत्व का परिचय कराया गया है।

४—*रहीम*

रहीम की एकमात्र रीति-रचना बरवै नायिका भेद है। यह ग्रन्थ जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, बरवै छन्द में लिखा गया है और इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य रीति आचार्यों के नायिका भेद की रचना की भाषा ब्रजभाषा है, वहाँ इसकी भाषा अवधी है। बरवै जैसे छोटे से छन्द में ढली हुई यह रचना वास्तव में पारम्परिक दृष्टि से सर्वथा मौलिक है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसका महत्व नगण्य है, लेकिन लक्ष्यबद्ध रचना की सहज सरसता के विचार से यह कृति अपने आप में अनूठी है। इस रचना का महत्व इसी से आंका जा सकता है कि इनके पश्चात् आने वाले मतिराम जैसे कई नायिका भेद के आचार्यों ने इनसे पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। कहीं-कहीं तो उनके उदाहरणों में काफी साम्य भी मिलता है।

इस ग्रन्थ में कुल ११६ बरवै हैं, जिनमें ६५ बरवै छन्दों में नायिका भेद का कथन है, शेष बरवों में नायक भेद तथा सखी आदि का संक्षिप्त निरूपण है। रहीम के इस ग्रन्थ में नायिका भेद का वही वर्गीकरण है, जो सामान्यतया अन्य रीति आचार्यों का है। बरवै नायिका भेद में प्रथम स्वकीया का वर्णन है और उसके मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा का उल्लेख करके मुग्धा के अज्ञात और ज्ञात यौवना के नवोढ़ा और विप्रलब्ध नवोढ़ा का कथन किया गया है।[2]

परकीया नायिका के ऊढ़ा एवं अनूढ़ा भेदों का उल्लेख है और पुनः परकीया के गुप्तादिक भेद-प्रभेद का ललित वर्णन हुआ है। परकीया के पश्चात् गणिका का

---

१ रस मंजरी नन्ददास ग्रन्थावली पृ० १४७

२ रहीम रत्नावली—स० प० याज्ञिक तृ० स० पृ० ४० ४३

कथन हुआ है ।[1]

नायक भेद के सन्दर्भ में रहीम ने पति, उपपति और वैसिक की चर्चा की है। पति नायक के अनुकूलादि चार भेद किये गये हैं। इसके अलावा प्रोषित, मानी, वचन चतुर और क्रिया चतुर नायक भी समाविष्ट किये गये है।

सखी और सखीजन कर्म के अन्तर्गत मण्डन, शिक्षा उपालम्भ और परिहास का सरस वर्णन है।[2]

निष्कर्षत: इस ग्रन्थ में मौलिकता की दृष्टि से दो तथ्य उपलब्ध होते हैं—

(१) प्रथम बार अवधी भाषा में बरवै छन्द का प्रयोग किया गया और इस लोकप्रिय छन्द में नायक-नायिका भेद की रचना की गई जिसकी परम्परा आगे तो नहीं चली, किन्तु बरवै छन्द का प्रयोग बेनी प्रवीन जैसे कवियों ने किया अवश्य।

(२) लोकतत्व समन्वित यह प्रथम रचना थी, जिसमें प्रांजल शैली का उत्कृष्ट नमूना देखने को मिला।

५—*कविराज सुन्दर*

रीति प्रस्तावना-काल के प्रसिद्ध कवि सुन्दर कविराज शाहजहाँ के दरबारी कवि कहे जाते है।[3] इनकी मुख्य शृंगारिक रचना 'सुन्दर शृंगार' है जिसका प्रणयन इन्होंने सं० १६८८ में कार्तिक सुदी षष्ठी, गुरुवार को किया था।[4] इस ग्रन्थ की दो मुद्रित प्रतियाँ हमें देखने को मिली हैं—प्रथम प्रति काशी के लाइट प्रेस से पं० गोपीनाथ पाठक द्वारा सन् १८६५ ई० में लीथो में प्रकाशित हुई थी। मुद्रित प्रतियो मे कदाचित् इतनी प्राचीन प्रति दूसरी नहीं है। दूसरी प्रति भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८९० में प्रकाशित हुई थी। सम्प्रति दोनों प्रतियाँ अप्राप्य हैं। हमारे विवेचन का आधार लाइट प्रेस वाली प्रति है।

---

१. वही, पृ० ४७–४८

२. रहीम रत्नावली, पृ० ५८, ६२

3. The poet enjoyed the favour of the emperor Shah Jahan, who adorned him with the name of Kavi Raj (King of Poets) later on with that of Maha Kavi Raja (great King of poets).
—A Sketch of Hindi Literature. p. 67 (1918)—Greaves.

४. संवत सोरह सै सरस बीते अट्टासीति।
कातिक सुदि षष्ठी गुरुहिं रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति।
—सुन्दर शृंगार, पृ० ३, इस ग्रन्थ के अन्त में रचना तिथि सं० १६६८ दी गई है

हिन्दी के शृंगारिक काव्य परम्परा में सुन्दर शृंगार की महत्ता स्वीकार की गयी है। लाला सीताराम बी० ए० ने इस ग्रन्थ को साहित्य शास्त्र के उत्कृष्ट ग्रन्थों में परिगणित किया है। सुन्दर को उन्होंने प्राचीन कवियों में माना है और उनके सुन्दर शृंगार को उच्चकोटि के शृंगारिक काव्यों में अन्तर्भूत किया है—वे सुन्दर कविराज के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"ही इज वन आव दि अर्लियस्ट राइटर्स आन साहित्य एण्ड हिज वर्क द 'सुन्दर शृंगार' इज कंसीडर्ड ऐन अथार्टी आन द सब्जेक्ट।[1]"

कविराज सुन्दर ने यों तो शृंगार का यथेष्ट निरूपण नहीं किया, लेकिन शृंगार के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद के कथन में उनकी दृष्टि अधिक टिकी है। इन्होंने शृंगार को समस्त रसों का सार माना है, इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम 'सुन्दर शृंगार' रखा है।[2] 'अथ सिंगार रसान्तर्गत नायिका भेद कथन' शीर्षक के अन्तर्गत आपने नवरसों में शृंगार को श्रेष्ठ माना है और शृंगार रस से श्रेष्ठ नायिका को मानते हुए[3] उसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि नायक-नायिका भेद के सन्दर्भ में शृंगार के वैविध्य पूर्ण चित्रण का सुन्दर ने सफल प्रयास किया है। फिर भी शृंगार के निरूपण में भोज के शृंगार प्रकाश जैसी शास्त्र निष्ठ प्रतिभा का दर्शन उनके इस ग्रन्थ में नहीं होता। हाँ, शृंगारिक निरूपण की उपादेयता को दृष्टि में रखते हुए चिन्तामणि ने 'शृंगार मंजरी' में इससे पूर्ण सहायता ली है। शृंगार रस के वर्णन में इन्होंने पारस्परिक दृष्टि ग्रहण की है और अति प्रचलित रीत्यनुसार शृंगार के दो भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—का उल्लेख किया है। चूँकि यह ग्रन्थ समय की दृष्टि से केशव और चिन्तामणि त्रिपाठी के मध्य निर्मित हुआ था अतः इस पर शृंगार और नायक-नायिका भेद का भी प्रभाव तत्र-तत्र लक्षित होता है। केशव की भाँति इन्होंने भी काम शास्त्रीय नायिकाओं का समावेश इस ग्रन्थ में किया है।[4]

संयोग शृंगार के अन्तर्गत १६ हावों की चर्चा की गई है, किन्तु केशव के 'बोध' हाव का कथन इसमें नहीं हुआ है, केशव की तुलना में इस ग्रन्थ में तीन हावों—तपन, मौग्ध और हाव—[5] की संख्या अधिक है। इसमें आठ सात्विक भावों की चर्चा है।[6] विप्रलम्भ शृंगार विवेचन में किसी प्रकार की उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है, फिर भी परम्परागत मान्यताओं को ज्यों का त्यों ग्रहण करने का आग्रह उसमें नहीं है यथा, विरह की दस दशाओं में आपने केवल नव दशाओं को ग्रहण किया, दसवीं

---

1. Selections from Hindi Literature. Book V. p.p.32.
२. सुन्दर शृंगार, पृ० २। ४. सुन्दर शृंगार, पृ० ४४। ५. वही, पृ० ७०,७२,७३
३ सुन्दर शृंगार पृ० ३ छ० स० १७ ६ वहीं पृ० ६७

दशा मृत्यु को औचित्यपूर्ण न होने के कारण त्याग दिया।[1] इसके अलावा इसमें उद्दीपन का भी विस्तृत वर्णन हुआ है।

६—*आचार्य चिन्तामणि*

आचार्य चिन्तामणि के सम्प्रति तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) कविकुलकल्पतरु, (२) पिंगल, (३) शृंगार मंजरी।

इनमें शृंगार मंजरी अभी तक अनुपलब्ध रचना थी। इसे प्रकाश में लाने का श्रेय डा० राघवन तथा डा० भगीरथ मिश्र को है। कहा जाता है कि यह पुस्तक पहले तेलगू में लिखी गयी थी और इसके लिखने की प्रेरणा अकबर साहि से मिली थी। बाद में किसी संस्कृत विद्वान ने इसे तेलगू से संस्कृत में अनूदित कर डाला।[2] डा० राघवन ने हैदराबाद पुरातत्व विभाग से सम्पादित करके संस्कृत 'शृंगार मंजरी' प्रकाशित करवा दी। इधर दतिया में रीति काव्य के पंडित डा० भगीरथ मिश्र को शृगार मंजरी की एक हस्तलिखित प्रति देखने को मिली, जिसका लक्ष्य तथा लक्षण अंश ब्रजभाषा के दोहे, कवित्त और सवैयों में था और वृत्ति भाग ब्रजभाषा गद्य में। ग्रन्थ के देखने से उन्हें स्पष्टतया ज्ञात हुआ कि इसके ब्रजभाषा रूपान्तरकार रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी हैं। सन् १९५६ में डा० मिश्र ने हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सुसम्पादित करके उक्त पुस्तक प्रकाशित करवा दी।

'शृंगार मंजरी' शृंगार एवं नायक-नायिका भेद ग्रन्थों में अत्यन्त प्रौढ़ रचना मानी जाती है। यद्यपि इस ग्रन्थ की ब्रजभाषा गद्य में व्याख्या लिखते समय कई ग्रन्थो की सहायता का स्पष्ट उल्लेख है। फिर भी विवेचन ही नहीं, इसके सरस उदाहरण भी वस्तुतः नितान्त मौलिक हैं और इन लक्ष्यांशों पर आचार्य चिन्तामणि की स्पष्ट छाप है।

यों 'शृंगार मंजरी' में अनेक संस्कृत ग्रन्थों के ग्रहण किये जाने का उल्लेख है, किन्तु दो ग्रन्थ हिन्दी के भी उल्लिखित हैं—

(१) रसिक प्रिया, (२) सुन्दर शृंगार।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का ब्रजभाषा रूपान्तर प्रस्तुत करते समय आचार्य चिन्तामणि ने केवल संस्कृत काव्य शास्त्र की प्रौढ़ चिन्तन परम्परा का ही उपयोग नही किया, अपितु हिन्दी काव्य शास्त्रीय धारणाओं के विनियोग को भी अपेक्षित समझा। अतः हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा के सम्यक् विवेचन, आलोचन तथा उसकी बहुविध मान्यताओं के पूर्ण परिचय के लिये मात्र संस्कृत रीति ग्रन्थो के

---

१. सुन्दर शृंगार, पृ० ७७

२ शृंगार मंजरी—सं० डा० भगीरथ मिश्र भूमिका भाग पृ० १३

द्वार खटखटाने से काम न चलेगा, बल्कि हिन्दी रीति ग्रन्थों में व्यक्त आचार्यों के गूढ एवं गम्भीर विचारों को भी समझना होगा। आज हिन्दी रीति ग्रन्थों के संक्षिप्त लक्षणों से अभिज्ञ न होने के कारण न जाने कितने दोष उन पर बलात् मढ़े जा रहे है। हमने दास आदि पर लगाये गये ऐसे कितने आरोपों पर गत पृष्ठों में विचार किया है। इस सन्दर्भ में सम्प्रति आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी का यह विचार द्रष्टव्य है—

'हिन्दी के इस काल के आचार्यों के ग्रन्थों पर वृत्ति लिखी जानी चाहिये। इन आचार्यों ने बहुत कुछ संस्कृत से लिया है और बहुत विचार पूर्वक उसमें कहीं-कहीं उचित परिवर्तन भी कर दिये हैं।[1]' वास्तव में वृत्ति के अभाव में इनकी व्याख्याओ मे जो कहीं-कहीं भ्रम परिलक्षित होता है, वह नितान्त स्वाभाविक है, फिर भी आचार्य चिन्तामणि सर्वप्रथम हिन्दी रीति ग्रन्थों की सुदीर्घ एवं विशाल परम्परा में ऐसे प्रौढ व्रजभाषा गद्य के प्रयोग द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि यदि इनके जैसा अन्य आचार्यो ने भी इस मार्ग का अनुसरण किया होता तो आज हिन्दी रीति ग्रन्थों की आलोचना करने वाले विद्वानों के स्वर में इतना बल न होता।

'शृंगार मंजरी' में प्रयुक्त ब्रजभाषा गद्य के एक नमूने से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी कि चिन्तामणि केवल रूपान्तरकार ही न थे, वरन् नायिका भेद के विवादास्पद स्थलों पर उन्होंने अपनी पूर्ण तर्क संगत विवेचना भी प्रस्तुत की है, यथा—मध्या, नायिका की चर्चा करते हुए आप लिखते हैं:—

"रस मंजरीकार अति विश्रब्ध नवोढ़ा, मध्या को भेद लिख्यो है। सो युक्त नाहीं। जो नवोढ़ात्व मुग्धा ही हैं अरु अति विश्रब्धत्व प्रगल्भा ही मैं होतु हैं यामैं दोऊ नाहीं तो मध्या अति विश्रब्ध नवोढ़ा कैसे होइ आदि।[2]" नायिका भेद का सर्वाङ्ग पूर्ण यह ग्रन्थ रस मंजरी से अधिक प्रभावित है। लक्षण भी उससे अधिक मेल खाते हैं। जहाँ तक इस ग्रन्थ की मौलिकता का प्रश्न है, निष्कर्षतः हमें तीन तथ्य इस सम्बन्ध में मिलते हैं—

(१) संस्कृत रस मंजरी के उदाहरणों के स्थान पर अपने सरस एवं मौलिक उदाहरणों का प्रयोग।

(२) संस्कृत काव्य शास्त्र की भाँति तर्क-वितर्क खंडन-मंडन प्रणाली का उपयोग।

(३) हिन्दी रीति परम्परा में सर्व प्रथम इस प्रकार के प्रौढ़ एवं परिष्कृत ब्रजभाषा गद्य का विनियोग।

---

१. कला, कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र, पृ० २५१, द्वि० सं०

२ शृंगार मंजरी—सं० डा० भगीरथ मिश्र पृ० १२

७—*मतिराम*

रीतिकाल के प्रमुख कवि मतिराम का लोकप्रियता की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। इनके चार उपलब्ध ग्रन्थों की चर्चा की जाती है–(१) रसराज, (२) ललित ललाम, (३) मतिराम सतसई, (४) अलंकार पंचाशिका। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम ग्रन्थावली के अन्तर्गत इनके तीन मुख्य ग्रन्थों को सं० १९८३ विक्रमी में प्रकाशित किया था। अलंकार पंचाशिका और छन्द सार संग्रह नामक ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं। इधर नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा स्वर्गीय प० वृजकिशोर मिश्र के सम्पादकत्व में मतिराम की जो ग्रन्थावली प्रकाशित हुई है, उसमें इनकी एक अप्रकाशित रचना 'फूल मंजरी' का भी प्रकाशन हुआ है।

उक्त ग्रन्थों में 'रसराज'* शृंगार एवं नायक नायिका भेद विषयक ग्रन्थो मे एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। लोकप्रियता की दृष्टि से हिन्दी रीति ग्रन्थो में जो स्थान पद्माकर कृत जगद्विनोद का है, वही स्थान मतिराम कृत रसराज का। अपनी सहज सरसता, भावना की नैसर्गिक मसृणता तथा मादक रसग्राहिता की दृष्टि से यह कृति वास्तव में अप्रतिभ है। यद्यपि शास्त्रीय निरूपण की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्व सर्वथा नगण्य है, लेकिन लक्ष्यांशों की प्रभविष्णुता में इसकी मौलिकता पूर्ण तथा असंदिग्ध है।

'रसराज' नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें शृंगार को ही एकमात्र श्रेष्ट रस माना गया है। यों 'रसराज' में विवेचित नायक नायिका भेद तथा शृंगार निरूपण का आधारभूत ग्रन्थ भानु कृत 'रस मंजरी' है, लेकिन रसराज शृंगार को ही एकमात्र रस मानने की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत में तो अग्नि पुराणकार और शृंगार प्रकाशकार यही एक काव्य रस स्वीकार करते हैं और यही धारणा रुद्रभट्ट और भानु की भी है।[1] इस ग्रन्थ में शृंगार निरूपण का स्वरूप बहुत व्यापक नहीं है। केवल सामान्य ढंग से इसे प्रतिपादित किया गया है। हिन्दी के अन्य आचार्यों की भाँति इन्होंने भी शृंगार को मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया है—

---

* इसकी सबसे प्राचीन प्रति लाइट प्रेस, बनारस से सं० १९२५ में निकली थी।

1. This is clearly expressed in the attitude of the author of Agnipurana and of Bhoja, who accepts only one poetic Rasa; theerotic. In the same way, Rudra Bhatta declares—'Sringaro Nayako rasah' (1-20) and Bhanu Bhatta appears to take it for granted that Sringar occupies an honoured place among all the rasas.

—History of Sanskrit poetics. p. 268 (II Ed.)—S. K. De.

२ मतिराम स० कृष्णबिहारी मिश्र प्र० स० पृ० ७२

(१) संयोग शृंगार, (२) वियोग शृंगार।

पुनः संयोग शृंगार के अन्तर्गत दस हावों का वर्णन किया गया है।[२] यद्यपि हावों के विवेचन में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती, किन्तु लक्षण और लक्ष्य दोनों ही अंश अधिक स्पष्ट एव सुग्राह्य हैं। इसके पश्चात् वियोग शृंगार का निरूपण किया गया है। इसमें केवल तीन भेदों का उल्लेख है—(१) पूर्वानुराग, (२) मान, (३) प्रवास। चौथे भेद करुण की चर्चा नहीं की गयी। शायद 'करुण' को अमांगलिक समझने के कारण काव्य में इसे स्थान नहीं दिया गया। प्रवास कथन करने के पश्चात् कवि ने अवस्थाओं का वर्णन किया है और दसवीं अवस्था (मृत्यु) का कथन नहीं किया। कदाचित् मृत्यु का वर्णन काव्योचित सरसता के अनुकूल न होने के कारण नहीं किया गया।

नायक-नायिका भेद का विवेचन भानु कृत 'रस मंजरी' के आधार पर है। अन्य कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित नहीं होता। 'रस मंजरी' और 'रसराज' की तुलना मे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ग्रन्थों में विवेचन की विधि प्रायः समान है। हाँ, लक्षणो मे यत्किंचित् परिवर्तन अवश्य हुआ है। नायक भेद भी पारम्परिक दृष्टि से किया गया है। उसके विवेचन में किसी भी प्रकार की मौलिकता नहीं मिलती।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनके शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला को सीधी और सरल बताया है और भारतीय जीवन से लिये गये इनके मर्मस्पर्शी चित्रों की भूरिशः श्लाघा की है।[१]

स्वयं मिश्र बन्धु महोदयों ने मतिराम द्वारा कथित जृम्भा नामक नवें सात्विक भाव को नूतन जैसे माना है और 'रसराज' के प्रसाद गुण की वास्तविक सराहना की है।[२] मतिराम ने यों आठ सात्विक भावों की चर्चा की है, किन्तु 'जृम्भा' का उल्लेख पृथक् से किया है और उसके सम्बन्ध में मतिराम ने लिखा है कि 'जृम्भा' को कविगण नवां सात्विक भाव कहते हैं और यह आलस्य आदि से उत्पन्न होता है।[३] जो भी हो, मतिराम की यह दृष्टि अपनी है।

८—आचार्य देव

आचार्य देव के शृंगार एवं नायक-नायिका भेद विषयक ग्रन्थों में 'रस विलास' और सुख सागर तरंग की गणना की जाती है। ये दोनों ग्रन्थ मुद्रित हो चुके है। 'रस विलास' का मुद्रण सन् १६०० में काशी के भारत जीवन प्रेस से हुआ था और

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५३

२. हिन्दी नवरत्न—मिश्र बन्धु, पृ० ४३८

३ मतिराम ग्रन्थावली पृ० ७१

'सुखसागर तरंग' मिश्र बन्धुओ के पिता पं० बालदत्त मिश्र द्वारा सम्पादित होकर जनवरी सन् १८९८ ई० में अयोध्या से प्रकाशित हुआ था। आज दोनों ही ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

—रस विलास में विवेचित शृङ्गार एवं नायक-नायिका भेद

'रस विलास' में देव ने नायक भेद को छोड़कर शृंगार एवं नायिका भेद का वैशद्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। डा० नगेन्द्र ने 'रस विलास' के नामकरण के औचित्य पर विचार करते हुए लिखा है—'रस विलास भी जैसा कि इसके नाम से भासित है रस का ग्रन्थ नहीं है। उसका सम्पूर्ण कलेवर नायिका भेद को ही अर्पित है।'[1] वस्तुतः 'रस' शब्द रीतिकाल में शृंगार का पर्याय बन चुका था, इस कारण उस युग के कितने ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें 'रस' शब्द शृंगार का ही द्योतन करता है। रीतिकाल के अतिरिक्त संस्कृत के भोज आदि आचार्यों ने भी रस को शृंगार के ही अर्थ मे ग्रहण किया है। स्वतः भानु ने भी अपनी शृंगार परक रचना का नामकरण 'रस मंजरी' किया है। मिश्र बन्धुओं ने इस ग्रन्थ की भूरिशः प्रशंसा की है[2] तथा डा० नगेन्द्र ने इसे नारी के विभिन्न भेदों और हाव-भावों का एक कोष माना है।[3]

यद्यपि इस ग्रन्थ में रीति विवेचन की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ता नहीं है, किन्तु इसमें विषय विस्तार का आग्रह इतना अधिक है कि उसके कारण हिन्दी ही नहीं, संस्कृत के भी आचार्य अपेक्षाकृत ठहर नहीं पाते। देव की इस विस्तार प्रियता की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र जैसे आचार्यों ने पूर्ण विचार किया है और देव द्वारा उदभावित ऐसी नूतन दृष्टि को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना। मेरे विचार से संस्कृत काव्य शास्त्र की प्रौढ़ एवं पुष्ट परम्परा की तुलना में देव का यह मौलिक योगदान असामान्य महत्व का है।

'रस विलास' में कुल सात विलास हैं, जिनमें नायिका भेद के विविध रूपो के चित्रण का गम्भीर प्रयास हुआ है। प्रारम्भ में देव ने कामिनी के षट् भेदों का वर्णन किया है।[4] वे षट् भेद इस प्रकार हैं—(१) नागरी, (२) पुरवासिनी, (३) ग्रामीण, (४) वनवासिनी, (५) सैन्या, (६) पथिक वधू।

आचार्य देव ने इन षट् भेदों के आधार पर नाना जातियों की नायिकाएँ वर्णित की हैं। इन जातियों में चूहरी (भंगिन) से लेकर ऋषि पत्नी तक का

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, प्र० सं०, पृ० ५०। २. हिन्दी नवरत्न—मिश्र बन्धु, पृ० २८२।
३. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, प्र० सं०, पृ० ५१ ४ रस विलास प्रथम वि० पृ० २

उल्लेख हुआ है। इन जातियों की नायिकाओं का वर्णन देव ने पृथक् रूप से 'जाति विलास' नामक ग्रन्थ में भी किया है। देव को भिन्न-भिन्न जातियों की नायिकाओं के वर्णन करने की यह प्रेरणा कदाचित् रहीम कवि के 'नगर शोभा' ग्रन्थ से मिली है और रहीम को इन जातियों की स्त्रियों के वर्णन की बात कदाचित् अकबर के मीना बाजार से सूझी हो।[1] जो भी हो, इतना तो सत्य है कि आचार्य देव की यह कल्पना नायिका भेद के क्षेत्र में एक मौलिक चेष्टा थी, जिसकी अवतारणा उस युग के किसी भी आचार्य ने नहीं की। हिन्दी के कुछ आचार्यों ने जाति भेद के आधार पर नायिकाओं के विस्तार को पचड़ा मानते हुए इसके औचित्य पर सन्देह प्रकट किया है।[2] मेरे विचार से देव की दृष्टि जातियों के उपबृंहण पर उतनी नहीं टिकी, जितनी नायिकाओं की साज-सज्जा और अलंकृति पर, क्योंकि जातियों के माध्यम से एक ओर उनकी कल्पना शक्ति का उन्मेष और दूसरी ओर उनकी रस ग्राहिणी प्रतिभा का चरम विकास समवेत रूप में लक्षित हुआ है। अतः जातियों की दृष्टि से किये गये इन भेदों को बहुत उपेक्षित दृष्टि से देखना उचित प्रतीत नहीं होता।

आचार्य देव ने रस विलास के तीन विलासों में क्रमशः नागरी (देवल, रावल नागरी, नगर नागरी) जौहरनि छीपनि आदि। पुरवासिन (ब्राह्मणी, राजपूतानी, खत्रानी आदि) ग्रामीण (अहीरिनी, काछिन आदि) बनवासिनी (मुनितिय, व्याध वधू भीलनी आदि) सैन्या (वृषली, वैश्या मुकेरिन आदि) और पथिक बधू (बनजारिन, जोगिन नटी आदि) का विस्तृत वर्णन किया है। यही नहीं, तृतीय विलास के अन्त में देव की धारणा है कि जाति, कर्म तथा गुण के आधार पर नारियों के और भी अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं, किन्तु विस्तार भय से इनके केवल संक्षिप्त भेदों की ही चर्चा की गयी है।[3]

'रस विलास' के चतुर्थ विलास में देव ने अष्टांगवती नायिका का वर्णन किया है। उसके आठों अंगों का संकेत इस प्रकार है—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव तथा भूषण।[4] यौवन वर्णन के अन्तर्गत 'ज्ञात यौवना' का निरूपण है, जो प्रचलित परिपाटी से सर्वथा भिन्न है। देव के अतिरिक्त संस्कृत एवं हिन्दी के अन्य रीति आचार्यों ने इसका वर्णन सदैव स्वकीया मुग्धा के अन्तर्गत किया है। लेकिन यहाँ देव

---

१. रहीम रत्नावली—सं० पं० मायाशंकर याज्ञिक, तृतीय संस्करण, पृ० १६

२. पद्माकर पंचामृत—आमुख, पृ० ५० सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

३. जाति करम गुन अगनपन, नारि अनेक प्रकार।
तातैं में सूछम कही, कछू बुद्धि अनुसार ॥३७॥
—रस विलास, तृतीय वि०, पृ० ३४

४. रस विलास—च० सं० पृ० ३५

ने उस पद्धति का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् प्रेम की दो अवस्थाओं का उल्लेख है—संयोग और वियोग। इसे सहसा देखने से आश्चर्य अवश्य होता है, किन्तु जब देव स्वतः इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

> एक बार जद्यपि कह्यौ, मति प्राचीन प्रकास।
> भाव सहित सिंगार रस, रचि कै भाव विलास ॥३९॥
> रस विलास रचि ग्रन्थ सो, कहत दूसरी बार।
> वही नायिका भेद सब, सुनहु नवीन प्रकार ॥४०॥[1]

तो उनकी इस परिपाटी विभिन्नता का निराकरण आसानी से हो जाता है और देव द्वारा निरूपित नायिका भेद का वह वर्गीकरण प्रायः मौलिक रूप में गृहीत होता है।

'रस विलास' के पंचम विलास में आचार्य देव ने आठ नायिकाओं के सम्बन्ध मे विचार करते हुए लिखा है कि उन्हीं के भेदोपभेद से नायिकाओं के अनन्त भेद हो जाते हैं।[2] इसके पश्चात् कामशास्त्र के आधार पर, पद्मिनी, चित्रिनी, संखिनी और हस्तिनी नामक चार भेदों का कथन किया है। ये भेद पारम्परिक दृष्टि से ही किये गये हैं, इनमें उदाहरणों की दृष्टि से भले ही सरसता हो, लेकिन लक्षण पुराने ही है।

पुनः कर्मभेद के आधार पर देव ने तीन नायिकाओं—(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) सामान्या—वर्णित की हैं और सत, रज, तम गुणों के आधार पर तीन नायिकाएँ मानी गयी हैं।[3] तथा देशादि बधू के अन्तर्गत विभिन्न देशों की मगध बधू, पाटल बधू, उत्कल बधू आदि नायिकाओं का काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से हृदयग्राही चित्रण किया है।

इस ग्रन्थ के षष्ठ विलास में अवस्थानुसार आठ नायिकाएँ कही गयी हैं, जिनमे प्रवत्स्यत भर्तृका को नवीं नायिका माना गया है और वयक्रम से मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेद किये गये हैं। इसके अनन्तर देव ने वैद्यक में वर्णित वात, पित्त और कफ के आधार पर प्रकृत्यनुसार तीन प्रकार की नायिकाएँ मानी है।[4] नायिका भेद के क्षेत्र में देव की यह स्थापना नूतन मानी गयी है, यद्यपि इसकी संगति के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपनी अस्वीकृत व्यक्त की है। सत्व के आधार पर आचार्य देव ९ प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं। वे नव सत्व इस प्रकार हैं—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि और काग।[5]

अपने अन्तिम विलास में देव ने संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत केवल दस हावों का उल्लेख किया है। यों देव इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे कि इन दस हावों से भी

---

१. रस विलास—च० वि०, पृ० ४६।
२ रस विनास—प० वि० पृ० ४७।
३ रस विलास प० वि० पृ० ५१ ५२
४. रस विलास—षष्ठ वि०, पृ० ७५।
५ रस विलास षष्ठ वि० पृ० ७७।

अधिक हाव संयोगावास्था में उत्पन्न हो सकते हैं।[1] वियोग श्रृंगार के निरूपण में देव ने पर्याप्त पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। इन्होंने परम्परागत काम की दस दशाओं का वर्णन उसी रूप में नहीं प्रस्तुत किया, जैसा कि रीतिकाल के तथा संस्कृत साहित्य के अन्य आचार्यों ने किया है, वरन् उसके भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा इस प्रकार की है—

(१) अभिलाष—श्रवणाभिलाष, उत्कण्ठाभिलाष तथा प्रेमाभिलाष।
(२) चिन्ता—गुप्त चिन्ता, संकल्प चिन्ता, विकल्प चिन्ता।
(३) स्मरण—अश्रु स्मरण, स्वेद स्मरण, रोमांच स्मरण, स्तम्भ स्मरण, सुरभंग स्मरण, कम्प स्मरण, वैवर्ण्य स्मरण, प्रलय स्मरण।
(४) गुण कथन—हर्ष, ईर्ष्या, विमोह तथा अपस्मार।
(५) उद्वेग—वस्तु उद्वेग, देश उद्वेग, काल उद्वेग।
(६) प्रलाप—ज्ञान प्रलाप, वैराग्य प्रलाप, उपदेश प्रलाप, प्रेम प्रलाप, संशय प्रलाप, विभ्रम प्रलाप, निश्चय प्रलाप।
(७) उन्माद—मदनोन्माद, मोहोन्माद, विस्मरणोन्माद, विक्षेपोन्माद, वियोगोन्माद।
(८) व्याधि—संताप व्याधि, ताप व्याधि, पश्चाताप व्याधि।
(९) भरण।
(१०) जड़ता।

निष्कर्ष रूप में 'रस विलास' के मौलिक तत्वों का विश्लेषण तीन दृष्टियों से किया जा सकता है।

(१) मान्य परिपाटी से भिन्न नायिका भेद का वर्गीकरण।
(२) काव्य शास्त्र, वैद्यक और कामशास्त्रीय बातों का समन्वय।
(३) वियोग श्रृंगार की दस दशाओं का भेदोपभेद सहित निरूपण।

सुखसागर तरंग में वर्णित शृङ्गार और नायक-नायिका भेद

देव के ग्रन्थों में सुखसागर तरंग उनका अन्तिम ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ को देव ने पिहानी के अकबर अली खाँ को समर्पित किया है। ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि यह एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसे आचार्य देव ने अष्टयाम जाति विलास, रस विलास और भाव विलास आदि ग्रन्थों के उत्कृष्ट छन्दों को संकलित करके प्रस्तुत किया था। देव के अन्य ग्रन्थों की तुलना में यह एक अत्यन्त

---

१. हाव भाव संजोग में, उपजत और अनेक।
तिनमै सूक्षम सार, गहि दश विधि बरनत एक॥

रस विलास सप्तम विलास पृ० ८७

प्रौढ रचना मानी जाती है, जिसकी प्रशंसा करते हुए देव काव्य के मान्य विद्वान डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"इस प्रकार सुखसागर तरंग को नायिका भेद का एक विश्व कोष समझना चाहिए। वास्तव में देव के सुन्दर छन्दों का उन्हीं के द्वारा चयन होने के कारण इस ग्रन्थ का महत्व और ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है।[1] देव मर्मज्ञ मिश्र बन्धु महोदयों ने इसकी प्रौढ़ता और उत्कृष्टता की अत्यधिक श्लाघा की है।[2]

आकार में यह ग्रन्थ देव के अन्य सभी ग्रन्थों से बड़ा है और छन्द संख्या की दृष्टि से इसमें कुल ८५६ छन्द हैं। इस ग्रन्थ की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लक्षणांशों की अपेक्षा लक्ष्यांश की प्रधानता है। शास्त्रीय विवेचन की गम्भीरता तो इसमें उतनी नहीं है, किन्तु विवेच्य विषयों का बड़ा व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध निरूपण किया गया है। पुनः शृंगार के स्वरूप का बड़ा व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और उसे समस्त रसों का सार माना गया है।[3] इसके पश्चात् शृंगार की महिमा का गान करते हुए देव ने लिखा है—वाणी का तत्व शृंगार है और शृंगार के मूलाधार राधा-कृष्ण (नायक-नायिका) हैं।[4]

आचार्य देव ने शृंगार को और व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करते हुए तथा उसके मूल कारणों पर सम्यक् विचार करते हुए लिखा है कि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और हाव शृंगार के कारण हैं तथा दम्पति में प्रथमतः श्रवण अथवा दर्शन द्वारा प्रेमांकुर रूप में स्थायी भाव उत्पन्न होता है। पुनः दो प्रकार के विभाव—(१) आलम्बन, (२) उद्दीपन। आठ प्रकार के सात्विक भाव, अनुभाव, तैंतीस संचारी और दस हाव ये क्रमशः रस परिपाक में पूर्ण सहयोग देते हैं अर्थात विभाव—आलम्बन, उद्दीपन—रस के पोषक अनुभाव रस के प्रकाशक (अनुभव कराने वाले) सात्विक भाव रस के विशेषक अर्थात् विशेष रूप से प्रकट करने वाले तथा संचारी भाव रस के विलासक अथवा रस को झलकाने वाले हैं।[5] रस विशेषकर शृंगार का यह स्वरूपोद्घाटन सर्वथा नवीन है। इसे देखने से यह नहीं प्रतीत होता कि इन आचार्यों में शास्त्र निष्ठ प्रतिभा का सर्वथा अभाव था, बल्कि ये अपने विषय में पूर्ण निष्णात थे। इसके पश्चात् षट् ऋतुओं और अष्टयाम का वर्णन है। अष्टयाम

---

१. रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० ३८

२. हिन्दी नवरत्न—मिश्र बन्धु, पृ० २६१

३. नौ रस सार शृंगार रस, तामें दम्पति सार।
दम्पति सम्पति नायिका नायक सुरति विहार ॥२॥—सुखसागर तरंग, पृ० १

४. बानी को सार बखान्यो शृंगार, शृंगार को सार किसोर किसोरी ॥१०॥
—सुखसागर तरंग पृ० ३

५ सुखसागर तरग—देव पृ० १३ छ० स० ३८

का यह प्रकरण तृतीय अध्याय तक चलता रहता है। अष्टयाम की यह परम्परा विलासी मुगलों के जीवन का एक सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। मेरी धारणा है कि शृंगार में अष्टयाम की कल्पना देव की अपनी है।* इसमें विलास के मादक एवं ऐन्द्रिय चित्रों की बड़ी सटीक अवतारणा की गयी है। सुखसागर तरंग के चौथे अध्याय में नायिका के अष्टांग की चर्चा करने के पश्चात् कामशास्त्रीय नायिकाओं का वर्णन है। पुन: नायिका भेद का सविस्तार अंकन है। नायिका भेद में किसी नवीन दृष्टिकोण की सूचना नहीं मिलती है। प्रथम वयभेद से अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना का कथन है, फिर नवल अनंगा नवोढ़ा, मुग्धा सलज्जा रति विश्रब्ध नवोढ़ा आदि का विस्तार है।

सुखसागर तरंग के सप्तम अध्याय में मुग्धा की दस दशा मध्या की दस अवस्था और प्रौढ़ा के दस हाव का वर्णन है। मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अनुसार दशा, अवस्था और हाव का विश्लेषण देव की एक व्यवस्थित विवेचन प्रणाली का सूचक है। नायक के प्रयास को लेकर देव ने प्रोषित पतिका नायिका के चार भेद किये हैं—(१) प्रवत्स्यतपतिका, (२) शुद्ध प्रोषितपतिका, (३) आगतपतिका, (४) गमनागमन।[१] चौथा भेद अन्यत्र देखने को नहीं मिला।

प्रौढ़ा नायिका के सन्दर्भ में लीलाहाव के देव ने तीन नूतन भेदों की कल्पना की है, जो इस प्रकार है—(१) प्रेम गर्व लीला, (२) पूर्वानुराग विरह लीला, (३) प्रवास ध्यान लीला।[२] ग्रन्थ के अन्त में नायक भेद का कथन है। मुग्धा स्वकीयानुकूल मध्या स्वकीयानुकूल और प्रौढ़ा स्वकीयानुकूल नायक की चर्चा करने के उपरान्त सब स्त्रियों से समान प्रेम करने वाले 'सकलस्त्री समस्नेह दक्षिण नायक' का वर्णन है और अन्त में नायक-सखा के विट आदि चारों भेद और मान लीला के बाद यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

६—*भिखारीदास*

आचार्य दास के शृंगार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ में शृंगार निर्णय का विशेष उल्लेख किया जाता है। इस ग्रन्थ में दास ने शृंगार और नायक-नायिका भेद का बड़ा ही सर्वाङ्ग पूर्ण एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यह क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन आचार्य देव की तुलना में अधिक महत्व का माना जाता

---

* अष्टयाम पर देव ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी जो इनकी प्रथम रचना मानी जाती है। यह पुस्तक भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित हो चुकी है।

१. सुखसागर तरंग, पृ० २३५, छं० सं० ७०४

२ सुखसागर तरग पृ० २३८ २३९

है। यहाँ हम दास के द्वारा विवेचित कुछ मौखिक तथ्यों के विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने शृंगार और नायिका भेद के क्षेत्र में किस प्रकार की मान्यताओं की प्रतिष्ठा की और अपनी नव मान्यताओं में उन्तु कितनी सफलता मिली।

आचार्य दास ने शृंगार निर्णय से पूर्व रस सारांश का प्रणयन किया था, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है। वस्तुतः रस सारांश की तुलना में शृंगार निर्णय एक प्रौढ़ एवं परिष्कृत (रिफाइण्ड) रचना मानी जाती है। इस ग्रन्थ में आचार्य दास ने अपनी बहुत-सी पूर्व मान्यताओं का संशोधन कर लिया है और पूर्वाग्रह से पृथक् होकर इसमें बहुत व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है, जिससे प्रतीत होता है कि इनमें रीतिकाल के केशव, देव, रसलीन जैसे आचार्यों को छोड कर पर्याप्त शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा थी। शृंगार निर्णय में इन्होंने शृंगार की उतनी विशद विवेचना नहीं की जितनी तदन्तर्गत निरूपित नायक-नायिका भेद में लक्षित होती है। इनके शृंगार निरूपण का आधार बहुत कुछ रस मंजरी और साहित्य दर्पण प्रतीत होता, लेकिन हिन्दी रीति ग्रन्थों का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पर सुन्दर, केशव और देव की छाया अधिक है। आचार्य दास ने सामान्यतया शृंगार को दो भागों में बाँटा है--(१) संयोग शृंगार, (२) वियोग शृंगार। इसके निरूपण में परिपाटी-पालन की ही प्रवृत्ति पाई जाती है, किसी मौलिक धारणा का परिचय नहीं मिलता। हाँ, इन्होंने संयोग शृंगार के अन्तर्गत १० हावों की बड़ी मधुर कल्पना की है और कौतूहल, विक्षेप तथा मुग्ध हाव तो हिन्दी में बहुत कम देखने को मिले हैं। अब वियोग शृंगार के भेदोपभेद को लें--आचार्य दास ने इन्हें चार भागों में बाँटा है--(१) पूर्वानुराग, (२) विरह, (३) मान, (४) प्रवास।

वियोग शृंगार के उपर्युक्त चारों भेद के अन्तर्गत दास ने दस दशाओं की स्थिति मानी है।[1] दस दशाओं का यह वर्गीकरण दास का अपना है। इसे उन्होंने पूर्व आचार्यों के कथित मार्ग से कुछ हटकर अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। नायक-नायिका भेद के निरूपण में अन्य आचार्यों की तुलना में दास को अधिक सफलता मिली है। डा० नगेन्द्र ने दास द्वारा विवेचित नायिका भेद की पर्याप्त सराहना की है। उनका कथन है कि दास ने काफी गम्भीरता से नायिका भेद की असंगतियों को सुलझाया है। उन्होंने गर्विता के भेदों को स्वतन्त्र न मानकर उसे स्वाधीन पतिका के अन्तर्गत, धीरा को खंडिता के अन्तर्गत और अन्यसंयोगदुखिता को उत्कंठिता के अन्तर्गत माना है।[2] वस्तुतः रसलीन और देव में जहाँ विस्तार प्रियता की मनोवृत्ति अधिक सजग है, वहाँ आचार्य दास में इस विषय को अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्र० खं०, पृ० १५५

२. रीति काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० १६३

बनाने की अपूर्व चेष्टा पायी जाती है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने दास की अपेक्षा रसलीन के नायिका भेद को अधिक वैज्ञानिक माना है।[1] किन्तु मेरे विचार से दास में विवेचन विषयक वैज्ञानिक क्रम का अभाव नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं रसलीन में विस्तारप्रियता और नवीनता की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि उसके कारण क्रमबद्ध (सिस्टेमेटिक) विश्लेषण में कुछ चूक भी गये हैं।

शृंगार निर्णय में आचार्य दास ने अवस्थानुसार नायिकाओं को दो वर्गों में अर्थात् संयोग शृंगार और वियोग शृंगार के अन्तर्गत विभाजित किया है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत जिन नायिकाओं को रखा है, वे इस प्रकार हैं—

१—**संयोग शृंगार**—(१) स्वाधीन पतिका[2]
(२) वासक सज्जा
(३) अभिसारिका

वियोग शृंगार में आने वाली नायिकाएँ इस प्रकार रखी गयी हैं—

२—**वियोग शृंगार**—(१) उत्कंठिता
(२) खंडिता
(३) कलहांतरिता
(४) विप्रलब्धा
(५) प्रोषित भर्तृका[3]

पुनः आचार्य दास ने स्वाधीन पतिका को तीन श्रेणियों में बाँटा है—

(१) रूप गर्विता
(२) गुण गर्विता
(३) प्रेम गर्विता[4]

डा० नगेन्द्र ने अन्यसंयोगदुखिता को उत्कंठिता के अन्तर्गत बताया है, जो स्पष्ट ही भ्रमात्मक प्रतीत होता है, क्योंकि आचार्य दास ने इसे उत्कंठिता के अन्तर्गत न रख कर विप्रलब्धा के अन्तर्गत रखा है।[5]

---

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद—प्रभुदयाल मीतल, पृ० १६१
२. भिखारीदास—प्र० खं०, छं० सं० १५१, १५२, पृ० १२१
३. बिरह हेत उत्कंठिता बहुरि खंडिता मानि।
कहि कलहंतरितानि पुनि गनौ विप्रलब्धानि ॥१६९॥
पाँचौ प्रोषित भर्तृका सुनौ सकल कवि राइ।
तिनके लच्छन लच्छ अब आछे कहौं बनाइ ॥१७०॥
—दास, ग्रं०, प्र० खण्ड, पृ० १२६
४ दास ग्रं० प्र० खण्ड पृ० १२२ १२३ ५ दास ग्रं० प्र० खं० पृ० १३१

परकीया नायिका के वर्गीकरण में भी बहुत कुछ मौलिकता दृष्टिगत होती है। रस सारांश में परकीया के जिन भेदों का उल्लेख इन्होंने किया है, उन्हें कुछ को आवश्यक समझ कर एक ही वर्ग में रखने का प्रयास किया गया है। इस तथ्य से पूर्ण परिचित होने के लिए हम परकीया नायिका के दोनों ग्रन्थों में किए गए वर्गीकरण को प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) रस सारांश	(२) शृङ्गार निर्णय[1]
(१) गुप्ता	(१) विदग्धा—इसके अन्तर्गत गुप्ता के तीनों भेद अन्तर्भूत कर लिये गये।
(२) विदग्धा	(२) लक्षिता
(३) कुलटा	(३) मुदिता
(४) मुदिता	(४) अनुशयना
(५) लक्षिता	
(६) अनुशयना	

इसमें कुलटा नायिका को सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से परित्यक्त कर दिया गया है। वास्तव में आचार्य दास ने अपनी पूर्व मान्यताओं को जहाँ अनौचित्यपूर्ण, असंगत और भ्रमात्मक समझा, उसे आगे चल कर छोड़ दिया। इसी से रस सारांश में कथित उक्त भेदों को शृंगार निर्णय में वे न रख सके।

डा० नगेन्द्र ने दास कृत परकीया के उद्बुद्धा और उद्बोधिता नायिका को नवीन माना है,[2] किन्तु ये दोनों ही भेद चिन्तामणि कृत शृंगार मंजरी में मिल जाते हैं, अतः दास की यह नवीनता अब संदिग्ध हो गई है।

आचार्य दास के नायिका भेद के अन्तर्गत एक अन्य नवीन उद्भावना की भी चर्चा की जाती है। वह नवीन उद्भावना यह है कि इन्होंने सभी रखेलियों को स्वाधीन पतिका के अन्तर्गत रख कर बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है[3] और इस प्रकार वे रसाभास के दोष से सर्वथा मुक्त हो गए हैं। यद्यपि आचार्य दास को यह संकेत आचार्य देव से ही मिला था, किन्तु इसे ग्राह्य बनाने का समस्त श्रेय आचार्य दास को ही है।

आचार्य दास ने परकीया के भेदोपभेद की उद्भावना में अधिक सफलता प्राप्त की है। दास के ही साथ परकीया के विस्तार करने वाले आचार्यों में रसलीन की भी गणना की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य दास को इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत बहुत बड़ी सफलता मिली है।

---

१ भि० दास ग्र०, प्र० खं०, रस सारांश, पृ० १४–१६

२ भि० दास ग्र० प्र० खं० छं० सं० ६ पृ० १११

३ रीति काव्य की भूमिका डा० नगेन्द्र पृ० १६३

अस्तु, दास की नायिका भेद के क्षेत्र में जो मौलिकता मिलती है, उसका निष्कर्ष यों है—

(क) वर्गीकरण के माध्यम से विवेचित नायिका भेद बहुत ही व्यवस्थित है।

(ख) दास जी की मान्यताओं में उत्तरोत्तर परिष्करण होता रहा, इस कारण तद्विषयक तर्क एवं धारणाएँ अधिक पुष्ट एवं साधार हैं।

(ग) रखेलियों को भी स्वकीया के अन्तर्गत रख कर उस क्षेत्र में निश्चय ही उन्होंने एक नवीन धारणा का परिचय दिया।

(घ) इनका जैसा वर्गीकरण न तो संस्कृत में हुआ है और न हिन्दी में।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि भिखारीदास के समय तक पूर्ण खण्डन मण्डन जैसी गद्य-शैली प्रचलित हो गई होती तो इनका स्थान निश्चय पूर्वक रीतिकाल के ही आचार्यों के मध्य नहीं, संस्कृत आचार्यों के बीच भी अप्रतिम होता और इनके आचार्यत्व का लोहा मम्मट, विश्वनाथ आदि की भाँति मानना पड़ता।

१०—उदयनाथ

कवीन्द्र उदयनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस चन्द्रोदय' अथवा विनोद चन्द्रोदय की रचना सं० १८०४ में की थी। इसमें मुख्यतया नायिका भेद का कथन हुआ है।

कवीन्द्र के कुछ फुटकल कवित्तों का एक हस्तलिखित संग्रह 'कवीन्द्र के कवित्त' नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पांडुलिपि विभाग में मौजूद है। 'रस चन्द्रोदय' की एक जीर्ण मुद्रित प्रति सम्मेलन के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह ग्रन्थ द्वितीय बार लखनऊ के मुंशी नवलकिशोर प्रेस से सन् १८८२ ई० के नवम्बर मास में शिवनाथ कवि के 'रस वृष्टि' के साथ निकला था। सम्प्रति इसकी प्रतियाँ अप्राप्य हैं।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य रसिक चकोरों को रस रीति का मार्ग प्रदर्शित करना है।[१]

रस चन्द्रोदय का मुख्य रूपेण विवेच्य विषय नायिका भेद है। इसमें प्रायः रस मंजरी की ही छाया दृष्टिगत होती है। किसी नूतन वर्गीकरण की चेष्टा नहीं की गयी। हाँ, अवस्थानुसार अष्ठ नायिकाओं का निरूपण स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अन्तर्गत तो किया ही गया, लेकिन इसका विस्तार परकीया और सामान्या के अन्तर्गत भी हुआ है। इस दृष्टि से कलहांतरिता, खंडिता, प्रोषित पतिका आदि के अवस्थानुसार पाँच-पाँच भेद हो गये हैं। वस्तुतः इस वर्गीकरण में

---

१. रसिक चकोरन को सदा, सूझि परै रस पथ।
तातें रच्यो कवीन्द्र यह रस चन्द्रोदय ग्रन्थ ३ रस चन्द्रोदय पृ० १

मौलिकता की दृष्टि उतनी नहीं है, जितनी सरस उदाहरणों द्वारा इस विषय को अधिकाधिक सुग्राह्य बनाने की। इसमें संयोग शृंगार के अन्तर्गत विलास आदि चेष्टाओं का मनोहारी वर्णन हुआ है। इनका वचन विदग्धा विषयक प्रसिद्ध छन्द व्यंजना के उत्कृष्ट उदाहरणों में गिना जाता है।[१]

११—प्रताप साहि

प्रताप साहि कृत व्यंग्यार्थ कौमुदी रीति युग की एक लक्ष्यबद्ध रचना है, जिसमें ललित छन्दों द्वारा नायक-नायिका भेद का निरूपण हुआ है। शैली की दृष्टि से इस रचना को हम सूर कृत 'साहित्य लहरी' की ही कोटि में रख सकते हैं जिसमे शास्त्रीय विवेचनगत प्रौढ़ता का बहुत अभाव है। इस ग्रन्थ का एक संस्करण भारत जीवन प्रेस, काशी से सं० १९५७ में निकला था और दूसरा सस्करण वाराणसी संस्कृत यन्त्रालय से।

इस ग्रन्थ में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, व्यंग्यार्थ की प्रधानता है। कवि ने प्रथमतः व्यंग्य से नायिका भेद का उल्लेख किया है : पुनः लक्षणा शक्ति पर विचार करते हुए अलंकारों का विश्लेषण किया है।[२] इस दृष्टि से इस ग्रन्थ में एक साथ ही नायिका भेद, शब्द शक्ति, और अलंकार तीनों का विवेचन किया गया है। हमे व्यंग्यार्थ कौमुदी के ढंग का ग्रन्थ न तो प्रताप साहि की पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा में दृष्टिगत हुआ और न संस्कृत की सुदीर्घ एवं विशाल काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो की परम्परा में ही ऐसा ग्रन्थ देखने को मिला। अतः पारम्परिक दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वथा मौलिक है, जिसकी परम्परा गुलाब कवि से आगे न बढ़ सकी।

व्यंग्यार्थ कौमुदी में शृंगार रस की व्यापक विवेचना का प्रयास नगण्य है। हाँ, नायक-नायिका भेद की दृष्टि से निश्चय ही इसका महत्व अक्षुण्य है। इसमें कवि का लक्ष्य सरस एवं भावपूर्ण उदाहरणों द्वारा समस्त मुख्य नायिकाओं का विश्लेषण करना है। कवि ने अन्य रीति कवियों की तुलना में सखी, दूती, दर्शन, दशा, हाव और भाव आदि की चर्चा इसलिए नहीं की कि उस विषय का वर्णन प्रायः सभी कवियो ने स्थल-स्थल पर किया है।[३] अतः उसी क्रम से बहुचर्चित विषय का प्रतिपादन इन्हे

---

१ रस चन्द्रोदय, छं० सं० १२, पृ० ८

२ कहीं व्यंग में नायिका पुनि लक्षणा विचार।
ता पाछें बरनन करौं अलंकार निरधार॥
—व्यंग्यार्थ कौमुदी, छ० सं० ६, पृ० २

३ सखि दूती दर्शन दशा हाव भाव बहु और।
यातें नहि बरनन करे बरने कवि सब ठौर कौमुदी पृ० ८४

अभीष्ट न था। इसी से इन्होंने नायिका भेद के क्षेत्र में अपनी एक नूतन दिशा का संकेत किया। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—(१) पद्यात्मक अंश जिसमें नायक-नायिका भेद का व्यंग्य गर्भित शैली में निरूपण है। (२) टीका अंश, जिसमें ब्रजभाषा गद्य में पद्यगत स्वारस्य, व्यंग्य, ध्वनि और अलंकार आदि का सूक्ष्म विश्लेषण है। प्रताप साहि ने नायिका भेद ग्रन्थों में नायिका के जो लक्षण बताये गए हैं, उनसे सर्वथा भिन्न लक्ष्य प्रस्तुत करते हुए रीतिकाल के मान्य आचार्यों से अपना मतभेद प्रकट किया है—प्रताप साहि के अनुसार नायिका का लक्षण इस प्रकार है—

जाहि लखें उपजै हिये, रति थाई मन माँहि।
ताहि बखानत नायिका कवि जन सुमति सराहि॥

अर्थात् जिसे देखने से हृदय में रति स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उसे कविगण अपनी बुद्धि से सराहते हुए नायिका की संज्ञा देते हैं।[1]

यों इन्होंने अपने नायिका भेद का विस्तार संस्कृत की 'रस मंजरी' के आधार पर किया है, किन्तु तदन्तर्गत उल्लिखित व्यंग्य, ध्वनि तथा लक्षणा आदि का विश्लेषण मम्मट कृत काव्य प्रकाश के अनुसार किया गया है। यही नहीं व्यंग्यार्थ आदि अतिशय गूढ़ एवं कठिन विषय से वे पूर्ण परिचित थे।[2]

नायिका भेद का इसमें क्रमबद्ध विवेचन है। प्रारम्भ में स्वकीया तथा मुग्धा भेद के अन्तर्गत ज्ञात और अज्ञात यौवना का वर्णन है। अज्ञात यौवना की सरसता और उसकी गूढ़ अर्थ व्यंजना के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है।[3] वस्तुतः काव्य रूढ़ियों के आधार पर प्रताप साहि ने कल्पना के जिन मधुर चित्रों को नये-नये सन्दर्भों में रखा है, उनमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। रीतिबद्ध कवियों में बहुत थोड़े कवि ऐसे हैं, जिन्हें इनकी जैसी काव्यगत सिद्धतता तथा मर्मज्ञता प्राप्त हो।

इसके पश्चात नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा तथा मध्या और प्रौढ़ा पर विचार किया गया है। पुनः मध्या और प्रौढ़ा के धीरादि का विवरण प्रस्तुत किया गया है और अन्त में ज्येष्ठा और कनिष्ठा के बाद स्वकीया के भेद समाप्त किये गये हैं। परकीया के गुप्तादिक षट् भेदों का उल्लेख तो प्राचीन ढंग का ही है, किन्तु कथन की सरसता के कारण बहुत कुछ पिष्टपेषित विषयों में भी नवीनता आ गयी है। यों अवस्थानुसार आठ नायिकाओं का वर्णन हुआ है किन्तु प्रवत्स्यत पतिका और आगत

---

१. व्यंग्यार्थ कौमुदी, पृ० २

२. व्यंग्य अर्थ अतिसै कठिन को कहि पावै पार।
मम्मट मत कछु समुझि चित कीनो मति अनुसार॥—व्यंग्यार्थ कौमुदी, पृ० ८४

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३१६

पतिका नामक दो अधिक नायिकाएँ भी अभिहित हैं। इन नायिकाओं में वासक सज्जा के दो भेदों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।[1]

(१) ऋतुकाल के स्नानोपरान्त पति की प्रतीक्षा करने वाली वासक सज्जा।

(२) प्रवास से लौटे हुए पति की प्रतीक्षा करने वाली वासक सज्जा।

ये भेद प्राचीन आचार्यों ने माने अवश्य हैं, क्योंकि इसकी और प्रताप साहि ने अपनी ब्रजभाषा गद्य की टीका में स्पष्टतः उल्लेख किया है। लेकिन हिन्दी में ही नहीं संस्कृत में भी इन भेदों का विवरण कम मिला है। स्वयं भानु ने अपने ग्रन्थ में वासक सज्जा का जो लक्षण दिया है, वह इस प्रकार है—"अद्य मे प्रियवासर इति निश्चित्य या सुरत सामग्री सज्जी करोति, सा वासक सज्जा। वासको वारः।"

अर्थात् 'आज मेरे प्रियतम के आने का दिन है' ऐसा निश्चय करके जो नायिका सम्भोग सामग्री सजाती है, उसे वासक सज्जा कहा जाता है।[2] हाँ, शृंगार मंजरी ग्रन्थ में अवश्य उसका थोड़ा सा संकेत मिला है। उसमें प्राचीन वासक सज्जा का लक्षण भी दिया गया है और अवसित प्रकास पतिका को वासकज्जा में अन्तर्भूत किया गया है।[3] फिर भी हिन्दी में वासक सज्जा पर इतना विचार प्रताप साहि को छोड़कर किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया।

संक्षेप में व्यंग्यार्थ कौमुदी विषयक मौलिकता का परीक्षण तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—

(१) हिन्दी की अधिकांश रीतिबद्ध रचनायें कथित पद्यबद्ध लक्षणों के आधार पर निर्मित हुई हैं, किन्तु व्यंग्यार्थ कौमुदी के लक्षणों का संकेत उसके लक्ष्यांशों के आधार पर किया गया है।

(२) सूर कृत 'साहित्य लहरी' में जहाँ लक्ष्यांशों की अन्तिम पंक्ति में लक्षणों का संकेत है, वहाँ इस परम्परा में होते हुए भी व्यंग्यार्थ कौमुदी की गणना प्रायः इनमें नहीं हो पाती। यद्यपि इसकी रचना-पद्धति 'साहित्य लहरी' की विवेचन-शैली से बहुत अधिक प्रभावित है।

(३) इसमें प्रथम बार व्यंग्यार्थ के माध्यम से नायिका-भेद का विवेचन हुआ है, 'साहित्य लहरी' में व्यंजना का कोई संकेत नहीं है और नायक भेद तथा नायिका भेद के साथ उसमें क्रमिक रूप से गम्भीर एवं मार्मिक गूढ़ार्थों का ऐसा प्रयास नहीं लक्षित होता।

---

१. व्यंग्यार्थ कौमुदी, पृ० ६५

२. रस मंजरी—भानु, पृ० ६८, टी० बदरीनाथ शर्मा

३ शृंगार मजरी पृ० २८

१२—सेवक

कवि सेवक के युग तक रीति काव्य-परम्परा अपनी अन्तिम सांस लेने लगी और शनैः शनैः हिन्दी काव्य का जागरण युग प्रतिष्ठित हो चला। कवि सेवक ने जिस समय अपनी प्रसिद्ध रीति रचना 'वाग्विलास' का प्रणयन किया, उस समय देश में अंग्रेजों की शासन सत्ता पूर्णतया जम चुकी थी और मल्का विक्टोरिया की शान्ति नीति और उसकी तेजस्विता की धाक सर्वत्र तथा सब लोगों पर छा चुकी थी।[1]

सेवक कृत प्रसिद्ध रीति ग्रन्थ 'वाग्विलास' शृंगार एवं नायक-नायिका भेद विषयक एक सर्वाङ्ग पूर्ण ग्रन्थ कहा जाता है। इस ग्रन्थ को सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण ने अपनी भूमिका के साथ सं० १९५५ में प्रकाशित किया था जो सम्प्रति अप्राप्य है। प्रयास करने पर भी हमें यह मुद्रित प्रति न मिल सकी। अतः हमें अपने अध्ययन का आधार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पाण्डुलिपि विभाग में प्राप्त 'वाग्विलास' की खण्डित प्रति को मानना पड़ा। 'वाग्विलास' की हस्तलिखित तथा खण्डित प्रति के प्रारम्भ के छः पत्र त्रुटित हैं और अन्त के पत्र 'हेला भाव' से आगे खण्डित हैं।[2] इस कारण इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल अज्ञात है। यों स्याही और लिखावट से प्रति की प्राचीनता के सम्बन्ध में अविश्वास नहीं किया जा सकता। आकार में यह ग्रन्थ बृहत् है और पृष्ठ संख्या की दृष्टि से इसमें कुल ३०२ पृष्ठ हैं। इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपि विभाग में सेवक के दो और ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें एक २३ पृष्ठों का नख-शिख है जो अपूर्ण है और दूसरा नायिका भेद है, जिसमें कुल १३७ पृष्ठ है और जिसका लिपि काल सं० १९३० है। यों देखने से इस ग्रन्थ की प्रति नई प्रतीत होती है। मिश्र बन्धु महोदयों ने इनके रचित 'पीपा प्रकाश' और 'ज्योतिष प्रकाश' नामक दो और ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है।[3]

'वाग्विलास' में शृंगार का व्यापक दृष्टि से विचार हुआ है। वास्तव में रीति परम्परा के अन्तिम ग्रन्थों में इस जोड़ का दूसरा ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला। उसमे कुल चार केदार (अध्याय) हैं, जिनमें क्रमशः दो केदारों में नृपयश, भाव तथा रस निरूपण के साथ ही तृतीय केदार में नायिका भेद का विशद विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

---

१. जबहिं आय अंगरेज प्रभु, हिन्द अमल करि लीन।
रह्यो न जुद्ध विकार कहुं, न्याव अदालत कीन ॥८४॥
श्रीमलिका विक्टोरिया छायो तेज ललाम।
समर कृपानादिकन, को रह्यो न अब कछु काम ॥८५॥
—वाग्विलास—प्रथम केदार, हस्तलिखित प्रति से।

२. वाग्विलास—सेवक राम, खण्डित प्रति से, छंद सं० २७२, चतुर्थ केदार

३ मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग पृ० १०४१ द्वि० स०

अन्य केदारों की तुलना में यह केदार कुछ बड़ा है, क्योंकि इसमें नायिका भेद की बारीकियों का बहुविध विचार किया गया है और यथा प्रसंग अपनी वार्ताओं द्वारा सेवक ने विवादास्पद एवं विचारणीय स्थलों की शंकाओं का जमकर निराकरण किया है। मैं समझता हूं कि 'वार्ता' के अन्तर्गत शास्त्रीय तथ्यों की गम्भीरता पर विचार करने वाला ग्रन्थ अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। प्रताप साहि कृत व्यंग्यार्थ कौमुदी में तथा गुलाब कवि के वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका में शास्त्रीय गाम्भीर्य का अभाव बहुत चिन्त्य है। सेवक ने अपनी वार्ता में यथास्थल छन्दों में पाये जाने वाले अलंकारो और ध्वनि, व्यंजना आदि के सम्बन्ध में भी सम्यक् रूपेण विचार किया है, यथा स्वकीया नायिका की बारीकियों का चित्रण करते हुए उक्त छन्द में प्राप्त अभिधा-मूलक व्यंग्य और परिसंख्या अलंकार का स्पष्ट संकेत किया है।[1] यद्यपि सेवक के नायिका भेद का आधार 'रस मंजरी' और 'साहित्य दर्पण' है, लेकिन इन ग्रन्थो मे इस विषय का उतना विस्तार लक्षित नहीं होता। यही नहीं सेवक द्वारा निरूपित नायक भेद का इतना विस्तार तो संस्कृत अथवा रघुनाथ को छोड़कर हिन्दी के किसी भी आचार्य ने नहीं किया। हिन्दी नायिका भेद के क्षेत्र में सेवक की यह सबसे बडी मौलिक देन थी, इसे मिश्र बन्धुओं ने भी स्वीकार किया है।[2] सेवक ने नायक भेद का विस्तार चतुर्थ केदार में किया है। पहले उन्होंने नायक के लक्षण दिए हैं, तदनन्तर उसके पति, उपपति और बेसिक नामक तीन भेदों का वर्णन किया है। सेवक ने पुन पति नायक के चार भेदों की चर्चा की है। वे चारों भेद इस प्रकार हैं—

(१) अनुकूल, (२) दक्षिण, (३) शठ, (४) धृष्ट।

इसके बाद सेवक ने इस तथ्य का भी विचार किया है कि इन चारों का अन्त-र्भाव पति और उपपति में कैसे हो सकता है? सेवक के अनुसार इन चारों का अन्त-र्भाव पति के अन्तर्गत तो हो सकता है, लेकिन उपपति (अदिव्य) में सम्भव नही। हा, उपपति में दिव्य नायक (हरि) के ही अन्तर्गत इसके समावेश किये जाने की सम्भावना की जा सकती है।[3] वस्तुतः नायिका भेद के अन्तर्गत दिव्य अदिव्य तथा दिव्यादिव्य नायिकाओं का तो कथन हुआ है, लेकिन दिव्यादि नायकों का उल्लेख सर्वप्रथम सेवक ने ही किया है। निश्चय ही, नायकों के इस प्रकार के वर्गीकरण में इनकी नवीन दृष्टि का अभास मिलता है। नायक भेद का और विस्तार करते हुए

---

१. वाग्विलास ३।५५, पृ० १०

२. मिश्रबन्धु विनोद—तृतीय भाग, पृ० १०४०, द्वि० सं०

३. पति में चारिहु उचित है, उपपति में हरि मांहि।
पै अदिव्य उपपति विषे भय बस बनिहैं नाहि।

स हस्तलिखित प्रति ४ २० पृ० १०४

नायक भेद के पश्चात् सेवक ने श्रवण, प्रत्यक्ष, स्वप्न और चित्र दर्शन का उल्लेख किया है और इस सन्दर्भ में स्पष्टतया कहा है कि जितनी नायिकायें और जितने नायक हैं, उतने दर्शन भी हो सकते हैं, हाँ, कहीं'कहीं बच (छूट) भी सकता है।[1] दर्शन के अनन्तर दूतियों का कथन हुआ है। दूतियों के कथन में एक विशेषता यह है कि आचार्य दास की भाँति इन्होंने भी नाइन-बारिन, कहारिन आदि जातियों को दूती रूप में प्रस्तुत किया है।

१३—गुलाब कवि

सेवक के पश्चात् रीति परम्परा के अन्तिम शृङ्गार एवं नायक-नायिका भेद लिखने वाले आचार्यों में गुलाब सिंह कविराव की गणना होती है। इनके पश्चात् पुन: रीति शृंगारिक काव्य धारा में वह प्रवेग नहीं रहा, जिस प्रवेग के कारण दो सौ वर्षों तक हिन्दी की स्फीत एवं पुष्ट रीति काव्य धारा उत्तरोत्तर स्पन्दित होती रही।

गुलाब सिंह बूंदी दरबार के राजकवि थे और नायक-नायिका भेद विषयक इनकी प्रसिद्ध रचना 'व्यंग्यार्थ चन्द्रिका' का प्रणयन बूंदी नरेश रामनरेश सिंह की आज्ञा से हुआ था।[2] इस ग्रन्थ की रचना सं० १६१६ में हुई थी।[3] अन्त: साक्ष्य के अनुसार पहले वृहद व्यंग्यार्थ चन्द्रिका ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ चन्द्रिका' के रूप में लिखा गया था, किन्तु सं० १६४८ में रामसिंह के पुत्र रघुवीर सिंह ने पुन: इन्हें आज्ञा दी कि व्यग्यार्थ विषयक उक्त ग्रन्थ में उदाहरण थोड़े हैं। अत: ग्रन्थ की पूर्णता के लिए उन स्थलों के भी उदाहरण बना दिये जायं जहाँ उपयुक्त उदाहरणों की कमी है।[4]

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके अन्य रीति ग्रन्थों में—बनिता भूषण, वृहद् बनिता भूषण, लक्षण कौमुदी तथा काव्य नियम आदि मुख्य हैं।[5] वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका, जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है, सं० १६५४ में भारत जीवन प्रेस काशी से लीथो में मुद्रित हुआ था। सम्प्रति इसकी प्रतियाँ अप्राप्य हैं।

इस ग्रन्थ में भी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' की भाँति शृंगार के वैविध्यपूर्ण निरूपण

---

१. वाग्विलास, ४।६६

२. आज्ञा राम उदार ने भान दान जुत दीन।
व्यंग्य अर्थ की चन्द्रिका, कवि गुलाब यह कीन ॥६॥
—वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका, पृ० २

३. वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका, पृ० २

४. वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका, पृ० २, छं० सं० ६

५ मिश्र बन्धु विनोद तृतीय भाग द्वि० सं० पृ० १०५५

के प्रति प्रायः उदासीनता प्रदर्शित की गयी है। किन्तु नायिका भेद की अपेक्षित विस्तार की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण रचना है। ग्रन्थ के आरम्भ में काम-शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित पद्मिनी आदि नायिकाओं का वर्णन है। पुनः रस मंजरी और 'साहित्य दर्पण' की भाँति नायिका भेद का विशद प्रतिपादन किया गया है। कहीं-कहीं कुछ नूतनता भी दृष्टिगत होती है, यथा हिन्दी और संस्कृत के आचार्यों ने जहाँ अवस्थानुसार आठ अथवा नौ नायिकाओं की चर्चा की है, वहाँ इस ग्रन्थ में द्वादश नायिकायें बतायी गयी हैं, जिनमें आठ नायिकाएँ तो परम्परागत ही हैं, लेकिन आगभिष्यति पतिका, अगत पतिका तथा पतिस्वाधीना नामक भेद और समाविष्ट किये गये हैं।[1]

निष्कर्ष रूप में इस ग्रन्थ में जो विशेषतायें परिलक्षित होती हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) यह ग्रन्थ व्यंग्यार्थ कौमुदी से इस अर्थ में अवश्य भिन्न है कि इसमें अपेक्षाकृत नायिका भेद और अलंकारों का बहुत विस्तृत एवं व्यवस्थित वर्णन हुआ है।

(२) इसमें कहीं-कहीं 'वचनिका' का भी प्रयोग हुआ है, लेकिन व्यंग्यार्थ कौमुदी की तुलना में इनकी वचनिका अधिक स्पष्ट नहीं है।

(३) यह ग्रन्थ लक्ष्य-लक्षण बद्ध रीति रचना है और प्रत्येक छन्द के पश्चात् पद्यबद्ध ब्रजभाषा टीका में नायिका और अलंकारों का स्पष्टीकरण है। ऐसी पद्धति देवकृत 'शब्द रसायन' में भी मिलती है, लेकिन इसकी टीका में जैसी स्पष्टता है, वैसी स्पष्टता उसमें नहीं दृष्टिगत होती।

(४) इस ग्रन्थ में व्यंग्यार्थ कौमुदी जैसे ललित उदाहरणों का अभाव है, यद्यपि मिश्रबन्धुओं ने इन्हें पद्माकर के समान माना है,[2] किन्तु मेरी दृष्टि में इनकी रचना में पद्माकर जैसी वर्णमैत्री तथा सहज मार्दव नहीं है।

(४) अलंकार निरूपक आचार्य

पूर्व पृष्ठों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी रीति काव्य धारा के अन्तर्गत मूलतः दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—

(१) शृंगारिक,　　(२) आलंकारिक।

इन्हीं दो विषयों की साधना में प्रायः समस्त रीति युग के कलाकार अबाध रूप में

---

१. बृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका—पृ० ५७- छं० सं० २८३

२ मिश्र बन्धु विनोद—तृतीय भाग पृ० १०५५ द्वि० स०

सजग रहे और इस प्रकार काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों के पोषण एवं सम्वर्धन मे अपनी प्रतिभा प्रगल्भता उत्तरोत्तर प्रदर्शित करते रहे। वस्तुत: शृंगार का उन्नयन एव विकास जहाँ एक ओर उस युग की ऐन्द्रिय अनुरक्ति का द्योतन करता है, वहीं आलंकारिक चमत्कार एवं काव्य के प्रति एक अतिशय अलंकृत दृष्टि उनकी सौन्दर्यानुभूति की स्पष्ट घोषणा करती है। डा० नगेन्द्र के अनुसार रीतिकाल अलंकार साहित्य का स्वर्ण युग (गोल्डेन एज) था। रीतिकालीन आचार्य भले ही रसवादी रहे हों या ध्वनिवादी। अलंकारों का जादू उन सब पर छाया रहा।[1] इस दृष्टि से चाहे लक्ष्यबद्ध रीति काव्य को ले लें और चाहे लक्ष्य-लक्षण बद्ध काव्य को। सब मे अलकार और शृंगार की व्याप्ति किसी न किसी रूप में अवश्य मिलेगी। फिर, अलकरण विहीन, रीति काव्य के अनावृत स्वरूप की कल्पना भी वैसे की जा सकती जहाँ कला का संभार और साज-सज्जा तत्कालीन काव्य का एक अनिवार्य और अपरिहार्य अंग वन चुकी थी। यहाँ हम रीति कवियों द्वारा विवेचित अलंकार विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करेंगे। और इस सम्बन्ध में अलंकार शास्त्र के विवेचन करने वाले उन मुख्य आचार्यों का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने किसी न किसी रूप में कुछ नवीन दृष्टियाँ दीं और संस्कृत की समृद्ध चिन्तन परम्परा में अपनी नूतन सरणि की प्रतिष्ठापना की।

प्राय: हिन्दी के अलंकार निरूपकों के सम्बन्ध में इसी मत को दुहराया जाता जाता है कि इनके अलंकार विषयक ग्रन्थ संस्कृत के चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, साहित्य दर्पण तथा रस गंगाधर आदि ग्रन्थों के अनुवाद मात्र हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन ग्रन्थों में केवल अनूदित अंशों की ही प्रधानता नहीं है, अपितु उनके लक्ष्य एव लक्षण दोनों ही अंश स्थल-स्थल पर संस्कृत अलंकार ग्रन्थों से बहुत कुछ भिन्न है। इन ग्रन्थों में निरूपण पद्धति और प्रतिपादन-प्रक्रिया केवल संस्कृत पद्धति या रीति से ही नहीं प्रस्तुत की गयी, बल्कि उनमें इनकी स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तना का भी आभास मिलता है। सुविधानुसार समस्त रीतिकाल के अलंकार निरूपक आचार्यों की मुख्यतया दो कोटियाँ बनायी जा सकती हैं—

(१) वे आचार्य जिन्होंने अन्य काव्यांगों के विवेचन सन्दर्भ में अलंकार निरूपण का भी प्रयास किया। ऐसे आचार्यों में केशवदास, आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, आचार्य भिखारीदास, लछिराम आदि आते हैं।

(२) वे आचार्य जिन्होंने मात्र अलंकारों का ही निरूपण किया और जो शुद्ध रूप में आलंकारिक थे। ऐसे आचार्यों में जसवन्त सिंह, दूलह, भूषन, बैरीसाल आदि आते हैं।

१ अलकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन भूमिका भाग

(क) सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों द्वारा किया गया अलंकार निरूपण

अलंकार निरूपण के सम्बन्ध में प्रथम हम सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थों में विवेचित इस विषय की चर्चा करेंगे और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि इन आचार्यो ने संस्कृत के अलंकार निरूपक आचार्यों से किस प्रकार अपनी पृथक् मान्यतायें स्थापित कीं और किस तरह संस्कृत के विकसित अलंकार शास्त्र की परम्परा में अपना मौलिक योगदान किया। अब हम सबसे पूर्व हिन्दी के प्रथम अलंकार निरूपक आचार्य केशवदास का विवेचन प्रस्तुत करेंगे, अलंकार निरूपक आचार्यों में केशवदास का नामोल्लेख सर्वप्रथम इसलिये होता है कि उनके पूर्व हमें किसी हिन्दी अलंकारशास्त्र के निरूपक आचार्य की कृति उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि पुष्य नामक अलंकारिक की चर्चा हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में यथा प्रसंग की है, किन्तु अद्यावधि उसका ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस कारण हिन्दी के प्रथम आचार्य केशव ही माने जायेंगे।

१—केशवदास

आचार्य केशवदास ने अलंकारों का निरूपण अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवि प्रिया' के अन्तर्गत किया है। केशवदास ने अपने अलंकार निरूपण के लिए सरल पद्धति अपनायी, क्योंकि उनका लक्ष्य सरल ढंग से सामान्य पाठकों को कवि शिक्षा देना था। इसी से उनके अलंकार विवेचन में संस्कृत की खण्डन-मण्डन प्रणाली का सर्वथा अभाव मिलता है। चूंकि केशव के समय तक संस्कृत काव्य शास्त्र में अलंकार विवेचन का गम्भीर प्रयास क्षीण हो चुका था और पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा के अन्तिम आचार्य थे, इसी कारण हिन्दी में काव्य शास्त्रीय दृष्टि से बहुत प्रौढ़ अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन न हो सका। केवल सामान्य दृष्टि परक विवेचना का ही प्रयास उत्तरोत्तर होता रहा।

इसमें सन्देह नहीं है कि आचार्य केशवदास सच्चे अर्थों में अलंकारवादी थे और संस्कृत के उन प्रसिद्ध आलंकारिक भामह, उद्‌भट एवं दण्डी के अनुगामी थे, जिनकी अलंकार शास्त्रीय परम्परा केशव के परवर्ती हिन्दी आचार्यों द्वारा मान्य नहीं हुई। यों आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल आदि मनीषियों द्वारा पदे-पदे इस मत का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया गया कि हिन्दी अलंकार क्षेत्र में संस्कृत की तुलना में कोई नूतन दिशा का संकेत नहीं किया गया, केवल बहुचर्चित विषय का ही पिष्ट-पेषण उत्तरोत्तर होता रहा, किन्तु हम ऐसे आलोचकों से पूर्ण रूपेण सहमत नहीं हैं। अतः इस सम्बन्ध में हम सर्वप्रथम आचार्य केशव के उन मौलिक तथ्यों के सम्बन्ध में विचार करेंगे जिनके मौलिक विवेचन को सदैव संदिग्ध दृष्टि से देखा गया।

आचार्य केशवदास ने कवि प्रिया में अलकारो का वर्गीकरण दो दृष्टियो से

किया है—(१) सामान्यालकार, (२) विशिष्टालंकार ।[1]

पाँचवें प्रभाव से लेकर आठवें प्रभाव तक सामान्यालंकार का विवेचन है और शेष प्रभावों में विशिष्टालंकारों की चर्चा की गयी है । सामान्यालंकार को मुख्य चार भागों में बाँटा गया है—(१) वर्ण (रंग ज्ञान), (२) वर्ण्य (आकार ज्ञान), (३) भूमि की प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान, (४) राजश्री (राजा सम्बन्धीं वस्तुओं का ज्ञान)[2] केशव के अनुसार काव्य के वास्तविक ज्ञान के लिए इन वस्तुओं को जानना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि बिना इन वस्तुओं की जानकारी के काव्य का स्वरूप प्राय: विकृत हो जाता है । इस कारण इन्हें अलंकारों की श्रेणी में परिगणित किया गया है । वस्तुत: इस प्रकार की उद्‌भावना केशव की मौलिकता की निर्देशक है । इस प्रकार का वर्गीकरण न तो संस्कृत में किया गया और न हिन्दी के ही किसी आचार्य ने ऐसे वर्गीकरण के सम्बन्ध में स्व धारणा व्यक्त की । इन्होंने समस्त कवि प्रौढोक्ति सिद्ध बातों को अलंकारों की कोटि में रख कर निश्चय ही अपनी नूतन दृष्टि का परिचय दिया । आधार भले ही 'काव्यकल्पलतावृति, काव्यमीमांसा', अलंकार शेखर का हो, किन्तु विवेचन की दृष्टि सर्वथा इनकी है ।

यों केशव ने विशिष्टालंकार के अन्तर्गत मुख्यतया ३७ अलंकारों का उल्लेख किया है, किन्तु अवान्तर भेदों के कारण उनकी संख्या सैंतीस से अधिक हो गई है । विशिष्टालंकारों का विवेचन कुल आठ प्रभावों में–नवें प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक—किया गया है । क्रमश: किन-किन प्रभावों में विशिष्टालंकारों का वर्णन किया गया है, उसकी सूची इस प्रकार है—

(१) स्वभाव से उत्प्रेक्षा अलंकार तक ९ वें प्रभाव में ।
(२) आक्षेप का वर्णन १० वें प्रभाव में ।
(३) क्रम से अपह्नुति तक ११ वें प्रभाव में ।
(४) उक्ति से युक्ति तक १२ वें प्रभाव में ।
(५) समाहित से परवृत तक १३ वें प्रभाव में ।
(६) उपमा का वर्णन १४ वें प्रभाव में ।
(७) यमक का वर्णन १५ वें प्रभाव में ।
(८) चित्रालंकार का वर्णन १६ वें प्रभाव में ।

---

१ कवि न कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप ।
एक कहैं साधारणै, एक विशिष्ट सरूप ।।—प्रिया प्रकाश
—टीकाकार, ला० भगवानदीन, पंचम प्रभाव, छन्द सं० २, प्र० सं०

१ सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास ।
वर्ण वर्ण्य भूराज श्री भूषण केशवदास ।।
प्रिया प्रकाश—पचम प्रकाश छ० स० ३

विशिष्टालंकारों के निरूपण में आचार्य केशव ने मुख्यतया दण्डी और यत्र-तत्र भोज, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों का आधार ग्रहण किया है, लेकिन कई स्थलों पर अलंकारों के भेद और उनके लक्षणों के सम्बन्ध में इनकी मौलिक धारणा का परिचय हमें मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ नवीन अलंकारों की भी कल्पना की गयी है, यथा—अमित, सुसिद्ध, विपरीत और अन्योक्ति। इन अलंकारों के सम्बन्ध में हमें पूर्ववर्ती संस्कृत अलंकार शास्त्र में किसी भी प्रकार की सूचना नहीं मिलती। इनमें से सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत अलंकारों की नूतनता को कुछ आधुनिक अलंकार शास्त्री स्वीकार करते हुए भी इनके महत्व को स्वीकार नहीं करते।[1] इन अलंकारों के अतिरिक्त अन्योक्ति का सर्वप्रथम इतना विस्तृत विवेचन हिन्दी अलंकार शास्त्र में केशव द्वारा ही किया गया। इसी प्रकार 'गणना' को अलंकार में अन्तर्मुक्त करने का समस्त श्रेय आचार्य केशवदास को ही है। संस्कृत मे गणना का उल्लेख चन्द्र, सूर्य, भूमि, वायु, द्वीप आदि से संवतों तथा छन्दों के लिए होता था।[2] आशिष अलंकार का केशव कृत विवेचन दण्डी आदि आचार्यों से सर्वथा भिन्न है। तुलनात्मक रूप से देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य केशव ने इस अलंकार के लक्षण देने में सर्वथा अपनी बुद्धि का उपयोग किया है, मात्र अन्धानुकरण का ही प्रयास नहीं है। केशव का प्रेमालंकार बिलकुल इनका है। दण्डी आदि की छाया किंचित भी लक्षित नहीं होती। आचार्य दण्डी ने प्रेमालंकार जैसा किसी अलंकार का निरूपण 'काव्यादर्श' में नहीं किया। हाँ, प्रेयस् नामक अलंकार की अवतारणा अवश्य हुई है, फिर भी प्रेयस् और प्रेमालंकार में किसी भी प्रकार का साम्य नहीं है। यद्यपि कुछ अलंकार शास्त्रियों ने प्रेयस् को प्रेमालंकार का आधार माना अवश्य है, किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों में बहुत मौलिक भेद है। केशव के अनुसार प्रेमालंकार वहाँ होता है, जहाँ कपट भाव बिलकुल नष्ट हो जाय और पूर्ण क्षेम (मंगल, सुख) उत्पन्न हो।[3] इसके विपरीत 'काव्यादर्श' में दण्डी ने प्रेयस् की जो परिभाषा दी है, वह इस प्रकार है—"प्रियतर आख्यान ही प्रेयस् है।[4]" लाला भगवानदीन के कथनानुसार अर्वाचीन विद्वान इस नाम का कोई अलंकार नही मानते।[5] जो भी हो, केशव के अनुसार इसे अलंकार की कोटि में रखना ही होगा। आचार्य केशव ने रूपक और दीपक अलंकार के कुछ नवीन भेदों की भी उद्भावना की है। रूपक के भेदों में अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक तथा रूपक रूपक नामक नये

---

१. काव्य कल्पद्रुम—द्वितीय भाग, लेखक—कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० ४२, तृ०सं०

२. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—डा० ओमप्रकाश शर्मा, पृ० ७०। ३. प्रिया प्रकाश—टी० लाला भगवानदीन, पृ० २४०, प्र० स०

४ काव्यादर्श—दण्डी पृ० १२४ ५ प्रिया प्रकाश पृ० ४०

भेद म परिगणित होते ह तथा दीपक के अन्तगत मणि दीपक नामक भेद नूतन बताया गया है ।[१] रूपक के उक्त भेदों की मौलिकता के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल सन्देह प्रकट करते हैं ।[२]

'कविप्रिया' के बारहवें प्रभाव में आचार्य केशव ने उक्ति अलंकार के पाँच भेदों की चर्चा की है—(१) वक्रोक्ति, (२) अन्योक्ति, (३) व्याधिकरणोक्ति, (४) विशेषोक्ति, (५) सहोक्ति[३], इनमें वक्रोक्ति का लक्षण पूर्ववर्ती संस्कृत तथा परवर्ती हिन्दी आचार्यों की तुलना में निश्चय ही अधिक व्यापक है ।[४] हिन्दी के अधिकाश आचार्यों ने वक्रोक्ति का कथन शब्दालंकार के अन्तर्गत किया है। यहाँ तक कि स्वय आचार्य भिखारीदास ने भी इसे शब्दालंकार के ही रूप में ग्रहण किया है ।[५] दण्डी के 'काव्यादर्श' में भी वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं है, अतः आचार्य केशव ने ही सर्वप्रथम इस अलंकार को शब्दालंकार के बन्द पिटारे से निकाल कर इसकी गणना अर्थालंकार म की और इसे व्यंग्य का पर्याय माना। 'व्याधिकरणोक्ति' को कुछ लोगों ने नया माना है, लेकिन इसका संकेत समुच्चय के प्रसंग में रुद्रट ने एक स्थल पर किया है ।[६]

चौदहवें प्रभाव में उपमा के २२ भेदों का वर्णन हुआ है, जिनमें से निम्नलिखित १५ भेद दण्डी के काव्यादर्श से लिये गए हैं—

(१) संशयोपमा, (२) हेतूपमा, (३) अभूतोपमा, (४) अदभुतोपमा, (५) विक्रियोपमा, (६) मोहोपमा, (७) नियमोपमा, (८) अतिशयोपमा, (९) उत्प्रेक्षोपमा, (१०) श्लेषोपमा, (११) धर्मोपमा, (१२) निर्णयोपमा, (१३) असम्भावितोपमा, (१४) विरोधोपमा, (१५) मालोपमा ।

शेष सात भेद इस प्रकार हैं—

दूषणोपमा, भूषणोपमा, परस्परोपमा, लाक्षणिकोपमा, गुणाधिकोपमा, संकीर्णोपमा, विपरीतोपमा ।

इन भेदों में केशव के द्वारा किये गये नामान्तरण की विशेषता स्पष्टतया मालूम होती है । स्वयं दण्डी ने केशव कृत नामों की तुलना में जिन इतर नामों की कल्पना की है,

---

१ प्रिया प्रकाश—तेरहवाँ प्रभाव, छ० सं० २२, पृ० ३३१

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य शुक्ल, संशोधित सं०, पृ० २३५—२३६

३ वक्र, अन्य, अधिकरण कहि, और विशेष समान ।
सहित सहोकति मैं कही, उक्ति सुपंच प्रमान ॥२॥—प्रिया प्रकाश, पृ० ३००

४ केशव सूधी बात में, बरणत टेढ़ो भाव ।
वक्रोकति तासों कहत, सही सबैं कविराव ॥१२।३

५. काव्य निर्णय २०।१४

६ व्याधिकरण वा यस्मिन गुणक्रिये ७ २७

उनमें नामानुरूपता का सर्वथा अभाव है और शास्त्रीय दृष्टि से उनके नाम अपेक्षाकृत अधिक चित्य हैं, यथा—दण्डी के निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, अन्योन्योपमा और समानोपमा से क्रमशः केशव के दूषणोपमा, भूषणोपमा, परस्परोपमा और लाक्षणिकोपमा नाम अधिक सुग्राह्य और शास्त्रीय हैं।

पन्द्रहवें और सोलहवें प्रभाव में क्रमशः यमक और चित्रालंकार का वर्णन है, जिनमें यमक का आधार तो दण्डी कृत काव्यादर्श है और उसमें किसी भी प्रकार की मौलिकता नहीं है। हाँ, चित्रालंकार में आचार्य केशव ने इसकी गहराई और काठिन्य के सम्बन्ध में विलेष प्रकाश डाला है। निष्कर्ष रूप में केशव की मौलिकता का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) हिन्दी काव्य शास्त्र के केशव प्रथम आचार्य हैं, तथा संस्कृत और हिन्दी का जितना प्रौढ़ ज्ञान इन्हें था, वह अन्यत्र प्रायः कम देखने को मिलता है।

(२) विशिष्टालंकार के विश्लेषण में इन्होंने कहीं-कहीं अपनी प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय दिया है, यथा—स्वभावोक्ति और युक्त के पार्थक्यकरण में इनका प्रयास श्लाघनीय है।

(३) कहीं-कहीं कुछ अलंकारों का विवेचन अधिक व्यापक रूप में किया गया है। उदाहरणार्थं, वक्रोक्ति, परिवृत्ति, व्याज स्तुति के स्वरूप-विश्लेषण में दण्डी आदि से इनकी पैठ अधिक प्रतीत होती है। यही नहीं, दीपक और व्यतिरेक आदि के भेदों में निश्चय ही नवीनता की झलक मिलती है। और कुछ अलंकारों के नाम अपने विवेकानुसार बदल दिये हैं।

(४) कुछ नवीन अलंकारों की भी इन्होंने उद्भावना की है, यथा—अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध तथा विपरीत। इस दृष्टि से संस्कृत काव्य शास्त्र की प्रौढ़ परम्परा में केशव की यह मौलिक देन है, इसमें दो मत नहीं है।

२—*चिन्तामणि*

आचार्य चिन्तामणि रीति परम्परा के प्रथम सर्वाङ्ग निरूपक आचार्य हैं, जिनके प्रवर्तित मार्ग का अनुसरण परवर्ती रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों ने किया। यद्यपि आचार्य केशव के अगाध एवं प्रौढ़ पाण्डित्य के समक्ष आचार्य चिन्तामणि का स्थान अति नगण्य और सामान्य है, फिर भी आचार्य केशव के निर्देशित पक्ष का अनुगत कदाचित् ही कोई मिले। इस दृष्टि से स्वयं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी केशव की अपेक्षा चिन्तामणि को अधिक महत्व दिया।

आचार्य चिन्तामणि ने अलंकारों का निरूपण अपने प्रसिद्ध सर्वाङ्ग निरूपक

ग्रन्थ 'कविकुल कल्पतरु' के द्वितीय एवं तृतीय प्रकरण में किया है। द्वितीय प्रकरण मे शब्दालंकारों का वर्णन है और तृतीय प्रकरण में मुख्य-मुख्य अर्थालंकारों का कथन है। यद्यपि अलंकारों के विवेचन में मुख्यतया आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' का आधार ग्रहण किया गया हैं, किन्तु यथा प्रसंग विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित का भी प्रभाव स्पष्ट है। आचार्य चिन्तामणि ने संस्कृत के जिन आचार्यों के मत को अधिक तथ्यपूर्ण और सारगर्भित समझा उनका आवश्यकतानुसार उपयोग और विनियोग भी किया है। इस दृष्टि से उनकी चयनवृत्ति सार ग्रहण और असार के त्याग मे अधिक कुशल प्रमाणित हुई है। कहीं-कहीं किन्हीं विशिष्ट सन्दर्भ में संस्कृत के मम्मट और विद्यानाथ आदि आचार्यों का नामोल्लेख भी किया गया है, यथा—उत्प्रेक्षा, विरोध, अतिशयोक्ति, समासोक्ति और परिसंख्या के प्रसंग में इन्होंने स्पष्टतया मम्मट और विद्यानाथ को स्मरण किया है और कहीं-कहीं नामोल्लेख तो नहीं किया गया, लेकिन उन आचार्यों का विशिष्ट प्रभाव स्पष्टतया लक्षित है, यथा—साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ द्वारा निरूपित उपमा, के श्रौती, आर्थी और मालोपमा भेद चिन्तामणि में भी ज्यो के त्यों मिलते हैं। कुछ अलंकारों के विश्लेषण में कुबलयानन्द का भी प्रभाव है।

यद्यपि आचार्य चिन्तामणि ने किसी नूतन अलंकार की उद्भावना नहीं की, फिर भी विद्यानाथ और आचार्य मम्मट जैसे काव्य शास्त्र के प्रौढ़ आचार्यों के सिद्धातो का विवेचन इन्होने हिन्दी भाषा में बड़े विवेक के साथ किया। यही नहीं, विषय के स्पष्टीकरण के लिए इन्होंने एक ही लक्षण के निमित्त आचार्य मम्मट और विद्यानाथ दोनों के ग्रन्थों से सहायता ली है। यथा—रूपक, समासोक्ति, दीपक तथा पर्यायोक्ति अलकारों की सुबोधिता के लिए मम्मट और विद्यानाथ दोनों के लक्षण साथ-साथ दिए गए हैं। अधिक स्पष्टता के लिए आचार्य चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत रूपक की ये परिभाषाएँ उद्धृत की जा रही हैं—

मम्मट सम्मत लक्षण—(१) जहं विषई अरु विखय को बरन्यौ होइ अभेद।
अलंकार रूपक तहाँ समझौ सुजन अखेद ।।७७।।

वद्यानाथ सम्मत लक्षण—(२) जो अतिरोहित विषय को उपकारक जो होइ।
विषयी सो रूपक बरन, यों बरनत कवि कोइ ।।७८।।[1]

आचार्य चिन्तामणि के विषय में कुछ निष्कर्ष यों है—

(१) संस्कृत ग्रन्थों का इन्होंने हिन्दी में सफलतापूर्वक अनुवाद किया है।

(२) संस्कृत के गम्भीर एवं गूढ़ आशयों को सरल एवं बोधगम्य बनाया है।

(३) विषय की गम्भीरता एवं विशालता को ग्रहण करने के लिए इन्होंने अपने अपूर्व साहस और दृढ़ता का परिचय दिया, क्योंकि भाषा मे

---

१ कविकुल पृ० ३२

मम्मट आदि आचार्यों के गम्भीर सिद्धान्तों का विवेचन भी निश्चय ही अपने आप में एक उपलब्धि है।

३—कुलपति

आचार्य कुलपति ने अपने सर्वाङ्ग निरूपक ग्रन्थ 'रस रहस्य' के सप्तम तथा अष्टम वृत्तान्तों में अलंकारों का वर्णन अत्यन्त विशद रूप में किया है। विषय की सुबोधिता एवं सुग्राह्यता के लिए गद्य में यथा स्थल टीका भी की है। जहाँ तक आधार ग्रहण का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ में प्रमुखतया मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' से सहायता ली गयी है। यों 'साहित्य दर्पण' का भी प्रभाव यत्र-तत्र लक्षित होता है, लेकिन विवेच्य विषय का मूलाधार काव्य प्रकाश ही है। पर साहित्य दर्पण में वह गाम्भीर्य दृष्टिगत नहीं होता। इसी कारण विषय के शास्त्रीय ऊहापोह से बचने के लिए यथास्थल साहित्य दर्पण से प्रभाव ग्रहण किया गया है।

–आचार्य मम्मट और कुलपति की विवेचनगत पृथक्ता

आचार्य कुलपति ने आचार्य मम्मट का पूर्ण आधार ग्रहण किया है, इसमें दो मत नहीं है, फिर भी किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर अपनी विवेचनगत पृथकता का भी संकेत स्पष्ट रूपेण किया है। इसकी पुष्टि कुछ उदाहरणों द्वारा सहज ही हो सकती है।

आचार्य मम्मट ने यमक और चित्रालंकारों को 'कष्ट काव्य' के अन्तर्गत परिगणित किया है, किन्तु तद्विषयक विशद विवेचना का उनमें बहुत कुछ अभाव है। इधर आचार्य कुलपति ने यमक और चित्रालंकारों का निरूपण करते समय श्लेष को भी इसी कोटि में माना है और स्पष्टतया इसका भी उल्लेख किया है कि इनसे रसानुभूति में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं मिलती।[१] कहीं-कहीं मम्मट द्वारा प्रस्तुत लक्षण को दुरूह और दुर्बोध समझ कर इन्होंने उसकी पद्यबद्ध सरल एवं स्पष्ट व्याख्या की है और लक्षण को ठीक मम्मटानुसार न रखकर कुछ अपनी ओर से भी जोड़-घटाव का प्रयास किया है, यथा—उपमा के सम्बन्ध में मम्मट कृत परिभाषा से कुलपति की परिभाषा मिला कर देखें तो दोनों में पूर्ण अन्तर प्रतीत होगा। उपमा के सम्बन्ध में मम्मट ने अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है—

साधर्म्य उपमा भेदे। काव्य प्रकाश १०।८७

कुलपति की परिभाषा इस प्रकार है—

---

१. जमक चित्र अरु श्लेष में, रस को नाहि हुलास।
याते याके स्वल्प ही बरनै भेद प्रकास॥ रस रहस्य पृ० ७८ छं० सं ४४

शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर।
नहिं कुलपति उपमान जेहि, सो उपमा सिर मौर ॥[१]

यह कहना कि आचार्य कुलपति ने मम्मट के प्रत्येक लक्षणांश को शब्दशः अनूदित करके रखा है, सर्वथा भ्रमात्मक होगा, क्योंकि कुलपति ने विवेचन करते समय सदैव तथ्यातथ्य पर जमकर विचार किया है और ग्रहणीय तत्वों का यथोचित स्व विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसकी पुष्टि के लिए पर्यायोक्ति, आक्षेप और द्वितीय उदात्त अलंकारों की काव्य प्रकाश में विवेचित उक्त अलंकारों से तुलना करके समझना बहुत आवश्यक है। कुलपति ने इन्हें बहुत ही सरल और सुबोध पद्धति से बताया है।[२]

अस्तु; सुबोधिता और सरल विवेचन शैली की दृष्टि से समस्त रीतिकाल के आचार्यों में कुलपति मिश्र का बहुत ऊँचा स्थान है तथा इनके सम्बन्ध में डा० सत्यदेव चौधरी का यह कथन द्रष्टव्य है—

"यदि किसी हिन्दी काव्य शास्त्रीय प्रकरण की उपादेयता की कसौटी यह समझी जाय कि संस्कृत ग्रन्थों की सहायता लिए बिना उसके द्वारा विषय का स्पष्टीकरण हो जाए तो कुलपति का यह प्रकरण इस कसौटी पर अधिकांशतः खरा उतरता है।[३]"

४—देव

आचार्य देव ने अलंकारों का निरूपण अपने दो प्रसिद्ध रीति ग्रन्थों—भाव विलास और शब्द रसायन—में किया है। भाव विलास में ३९ अलंकारों का विवेचन हुआ है और शब्द रसायन में ४० मुख्य अलंकारों का तथा ३० गौण अलंकारों का उल्लेख हुआ है। शब्द रसायन में अर्थालंकारों के साथ शब्दालंकारों का भी विवेचन है, किन्तु भाव विलास में शब्दालंकारों की चर्चा नहीं की गयी है।

—अलंकार के सम्बन्ध में देव का दृष्टिकोण

आचार्य देव ने काव्य में अलंकारों का स्थान पंचमाङ्ग के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार काव्य में रस, भाव, नायिका भेद और छन्द का महत्वपूर्ण स्थान है और अलंकार काव्य के पंचमांग रूप में अभिहित होते हैं।[४] इस दृष्टि से देव का दृष्टिकोण केशव से सर्वथा भिन्न है केशव ने जहाँ काव्य में अलं

कारों को सर्वोपरि स्थान दिया है, वहाँ देव इस पक्ष में नहीं है कि अलंकारों को रस की तुलना में प्रमुख स्थान दिया जाय। उन्होंने अलंकारों की उपादेयता सदैव इसी रूप में स्वीकार की है कि इनसे रसोत्कर्ष में पूर्ण सहायता मिलती है। देव वस्तुत रसवादी आचार्य थे। इस कारण उनकी रस ग्राहिता की प्रवृत्ति उनके अलंकार विवेचन के क्रम में स्पष्टतया परिलक्षित होती है। अपनी रसवादी दृष्टि के कारण उन्होंने समस्त अलंकारों में उपमा और स्वभावोक्ति को प्रथम स्थान दिया है।[1] इस तथ्य को रीति काव्य के आलोचक डा० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है।[2] देव की रसवादिता की दृष्टि अधिक व्यापक थी, इसी से जहाँ कहीं रसोत्कर्ष की इयत्ता का अतिक्रमण होता था, वहाँ उन्होंने स्पष्ट रूप में अपना विरोध प्रकट किया है, जैसे चित्रालंकार को उन्होंने हेय माना है, क्योंकि इसमें अर्थ की न्यूनता के कारण प्राय क्लिष्टता बढ़ जाती और रसानुभूति में पर्याप्त बाधा पहुंचती है। देव ने ऐसे काव्य को 'मृतक काव्य' की संज्ञा दी है।[3]

—देव का अलंकार विवेचन तथा उनकी मौलिक दृष्टि

आचार्य देव ने 'भाव विलास' में अलंकारों का जिस ढंग से विवेचन किया है, वह अधिक प्रौढ़ और व्यवस्थित नहीं है। हाँ, अलंकारों की विशद विवेचना का प्रयास 'शब्द रसायन' में अवश्य किया गया है। चूंकि शब्द रसायन देव की प्रौढ़ावस्था की कृति है, जब कि कवि की प्रतिभा विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी, इस कारण अपेक्षाकृत इसमें उनके प्रगाढ़ आचार्यत्व और पाण्डित्य का निदर्शन हमें सहज ही मिल जाता है। फिर भी, भाव विलास में कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं, जिन पर विचार करने की अपेक्षा है, जैसे आचार्य देव ने उस ग्रन्थ में समासोक्ति अलंकार को सब अलंकारों में शिरोमणि माना है।[4] अन्यत्र न तो संस्कृत में और न हिन्दी में ही उसे इस प्रकार का महत्व दिया गया।

चूंकि आचार्य देव उपमा के प्रबल प्रतिपोषक थे। इस कारण शब्द रसायन में बैर, प्रीति, मद, ईर्ष्या, क्रीड़ा, वचन-विलास, स्तुति, निन्दा आदि उपमा योग्य ३६ स्थलों की चर्चा की है।[5] देव की उपमा विषयक इस विस्तार प्रियता की प्रवृत्ति को

---

१. अलकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
   सकल अलंकारनि विषै, परसत प्रगट प्रभाव ॥—शब्द रसायन, पृ० ६४
२. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १५४
३. शब्द रसायन—देव, पृ० ६०
४. सुसमासोक्ति सो जानिये अलंकार सिर मौर।—भाव विलास पृ० १४७
५ सब्द रसायन—देव पृ० ६६ ६७

लक्षित करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि प्रीति, मद, ईर्ष्या आदि संचारियों तथा वैर आदि स्वभाव–वृत्तियों से उपमा का ग्रन्थि बन्धन निरर्थक है और उसको एक विफल वैचित्र्य प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या का जा सकता है।[1] यद्यपि डा० नगेन्द्र का यह विचार किसी सीमा तक ठीक एवं तर्क पुष्ट है, फिर भी देव की उपमा विषयक ऐसी प्रवृत्ति सर्वथा निराधार नहीं कही जा सकती। सत्य तो यह है कि आचार्य देव ने उपमा का यह विश्लेषण और वैशद्यपूर्ण विवेचन बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। इसके अनन्तर डा० नगेन्द्र ने देव की उपमा विषयक इस धारणा का भी खण्डन किया है, जिसमें उपमा को सब अलंकारों का मूल माना गया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार संस्कृत साहित्य शास्त्र में वामन ने सबसे पूर्व इस सिद्धान्त की घोषणा की थी और हिन्दी में देव से पूर्व भूषण भी उपमा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित कर चुके थे। किन्तु प्रश्न यह है कि उपमा विषयक यह सिद्धान्त वामन के परवर्ती आचार्यों द्वारा क्या उसी रूप में पल्लवित किया गया अथवा वामन की परवर्ती काव्य शास्त्रीय परम्परा में यह सर्वथा तिरोहित ही रहा ? जहाँ तक मेरी धारणा है देव का यह विवेचन मूलतः वामन से अनुप्राणित होते हुए भी बहुत कुछ उससे भिन्न है। ऐसा नहीं है कि वामन का यह सिद्धान्ततः अनुवाद है। संकेत ग्रहण करने मात्र से किसी भी मौलिक विवेचना के समक्ष प्रश्न वाचक चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। जहाँ तक भूषण की धारणा का प्रश्न है, वहाँ इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने उपमा की महत्ता और उसकी समस्त अलंकारों के मध्य उत्तमता तो स्वीकार की है, किन्तु अलंकारों में उपमा और स्वभावोक्ति की ऐसी व्याप्ति का संकेत उन्होंने कहीं नहीं किया। देव ने निश्चय ही अपने रसवादी दृष्टिकोण के कारण इस विषय का प्रौढ़ और सूक्ष्म विवेचन बहुत जम कर किया है और इस सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ भी स्थापित की हैं, जो कि पूर्ववर्ती संस्कृत एवं हिन्दी काव्य परम्पराओं से बहुत कुछ भिन्न हैं।

—नवीन अलंकारों की उद्भावना

'शब्द रसायन' में देव ने कुछ नवीन अलंकारों की भी उद्भावना की है, जिनमे गुणवत्, लेख, संकीर्ण और सिंहावलोकन की चर्चा की जाती है। गुणवत् का उल्लेख अन्य अलंकार ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसे आचार्य देव ने प्रत्यनीक का उल्टा माना है और इसकी परिभाषा में लिखा है—जहाँ गुणियों के सम्पर्क में निर्गुणी भी गुणों मे प्रवीण हो जाता है, वहाँ गुणवत् अलंकार होता है।[2] लेख में गुण का दोष और

---

१ देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १५६

२. गुनवत संग गुनीन के, निगुनी गुननि प्रवीन।
प्रत्यनीक उलटो गुनहि निगुन करै गुन हीन ॥ शब्द रसायन पृ० १२४

दोष का गुण रूप में कथन किया जाता है।[1] संकीर्ण में बहुलक्ष्यता का संकेत किया गया है। इस अलंकार का वर्णन विकल्प के विरोध रूप में किया गया है अर्थात् संकीर्ण की स्थिति विकल्प के सर्वथा विपरीत होती है।[2] सिंहावलोकन की परिभाषा तो नहीं दी गयी है, किन्तु उसके लक्षण का आभास लक्ष्यांश में मिल अवश्य जाता है। देव के पश्चात् आचार्य दास ने निश्चय ही सिंहावलोकन का यमक के एक भेद रूप में देव की अपेक्षा स्पष्ट विवेचन किया है और उसके लक्षण और लक्ष्य दोनों अंशों को स्पष्टतया व्यक्त किया है।

निष्कर्षतः अलङ्कारों के विवेचन में देव की दो प्रकार की मौलिक धारणाओं का आभास मिलता है—

(१) अलंकार के विवेचन में रसवादी दृष्टिकोण का अधिक आग्रह है। यहाँ तक कि सर्वथा चमत्कार मूलक अलंकारों—यमक और अनुप्रास—में भी रसवादिता की दृष्टि व्याप्त है।

(२) उपमा के भेदोपभेद विवेचन के साथ उसका मनोवैज्ञानिक आधार पर वैशद्यपूर्ण निरूपण किया गया है।

५—*कुमारमणि*

कुमार मणि ने 'रसिक रसाल' के सातवं उल्लास में क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकारों के निरूपण में इन्होंने मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के अतिरिक्त विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' और अप्पय दीक्षित के 'कुव-लयानन्द' से भी सहायता ली है। इनके अलंकार-विवेचन में किसी नूतन दृष्टि का आभास नहीं मिलता, केवल प्राचीन परम्पराओं का ही अनुसरण किया गया है। अतः मौलिकता की दृष्टि से इनके अलंकार-निरूपण का महत्व नगण्य है।

६—*श्रीपति*

आचार्य श्रीपति ने अपने 'काव्य सरोज' में क्रमशः दसवें और ग्यारहवें दल में शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का वर्णन किया है और बारहवें दल में केवल उपमा के ही विस्तार पूर्वक विवेचन का प्रयास किया गया है। उपमा के प्रसंग में आचार्य श्रीपति ने अपने एक अन्य ग्रन्थ 'कवि कल्पद्रुम' की भी चर्चा की है, जिसमें उन्होंने उपमा के ४० भेदों का सकेत किया है किन्तु 'काव्य सरोज' में उपमेयोपमा, प्रतीयोपमा, प्रकाशोपमा आदि ग्यारह भेदों की ही चर्चा की है। 'काव्य कल्पद्रुम' अद्यावधि अप्राप्त रचना है, अतः ऐसी स्थिति में उपमा विषयक उक्त ४० भेदों की

---

१ सब्द रसायन—देव पृ० १२४ २ शब्द रसायन—देव पृ० १२६

बात अधिक प्रामाणिकता के साथ नहीं कही जा सकती। मान्यवर डा० भगीरथ मिश्र ने आचार्य श्रीपति द्वारा शब्दालंकारों के अन्तर्गत निरूपित तत्पर और अतत्पर विधान–चित्र नामक दो ऐसे नवीन अलङ्कारों का उल्लेख किया है, जिनके लक्षण स्पष्ट नहीं हैं।[1] जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य श्रीपति ने अलङ्कारों के वर्गीकरण में अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय अवश्य दिया है, भले ही उनके अलंकारों का विवेचन अधिक अस्पष्ट और अशास्त्रीय हो गया हो।

७—*सोमनाथ*

आचार्य सोमनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस पीयूष निधि' की २१ वी और २२ वीं तरंग में क्रमश: शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। इन्होने शब्दालङ्कारों में वक्रोक्ति और अर्थालङ्कारों में उपमा को श्रेष्ठ माना हैं। विवेचन की स्पष्टता तथा सुबोधता की दृष्टि से इनके अलंकार निरूपण का महत्व भले स्वीकार कर लिया जाय, लेकिन पांडित्य और प्रौढ़ता की दृष्टि से उसका महत्व प्राय: नगण्य है। हाँ, यह अवश्य है कि कुवलयानन्द के पश्चात् हिन्दी में संकर और संसृष्टि की विशद विवेचना में ये अग्रगण्य माने जाते हैं।

८—*दास*

समस्त रीति काल में आचार्य कुलपति और आचार्य देव के पश्चात् आचार्य दास ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने अलङ्कारों के निरूपण में अपनी मौलिक विवेचना का पूर्ण परिचय दिया है। वस्तुत: 'काव्य निर्णय' में अन्य विषयों की अपेक्षा अलङ्कारों का बहुत ही वैज्ञानिक प्रतिपादन हुआ है। विवेचन की जैसी प्रौढ़ता और इस विषय के स्पष्टीकरण की जैसी गम्भीरता इन्होंने प्रकट की है, वह बहुत कम देखने को मिलती है।

—दास की मौलिक उद्भावनाएँ

आचार्य दास ने अपने 'काव्य निर्णय' में अलङ्कारों का निरूपण तीन स्थलों पर किया है। प्रथमत: तृतीय उल्लास में अलङ्कारों का संक्षिप्त उल्लेख है। फिर अष्टम से अष्टमदश उल्लासों में अर्थालंकारों का वर्णन हुआ है और बीसवें तथा इक्कीसवे उल्लासों में क्रमश: शब्दालंकारों और चित्रालंकारों का निरूपण किया गया है। इन अलकारों के विवेचन में आचार्य दास ने कहीं-कहीं निश्चय ही अपनी सूक्ष्म प्रतिभा और विवेक का नमूना प्रस्तुत किया है। यथा—इन्होंने कुछ अलंकारों के

१ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र पृ० १२३

साम्य और पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध के आधार पर उन्हें कुल ११ वर्गों में बाँटा है और इस प्रकार सर्व प्रथम हिन्दी में अलंकारों का ऐसा मौलिक एवं नूतन वर्गीकरण हमें हिन्दी अलंकार शास्त्रीय परम्परा में आचार्य दास में ही मिलता है। नीचे दास द्वारा ४४ अलंकारों की ११ वर्गों में प्रस्तुत एक सूची दी जा रही है—

(१) उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, तुल्योगिता।
(२) उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह।
(३) व्यतिरेक, रूपक।
(४) अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक।
(५) अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप।
(६) विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति।
(७) उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित।
(८) सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति।
(९) सूक्ष्म, परिकर।
(१०) स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर।
(११) यथासंख्य, एकावली, पर्याय।

यद्यपि आचार्य दास के इस वर्गीकरण को कुछ विद्वान युक्ति संगत नहीं मानते।[१] फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आचार्य दास द्वारा वर्गीकृत अलंकारों का यह विवेचन सर्वथा व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है। इनके वर्गीकरण की वैज्ञानिकता की श्लाघा स्वयं डा० रसाल[२] तथा डा० भगीरथ मिश्र ने भी की है।[३] यों भिखारीदास से पूर्व अलंकारों को वर्गीकरण का प्रयास संस्कृत आचार्य दण्डी, वामन, रुद्रट, रुय्यक तथा कुन्तल आदि द्वारा किया जा चुका था, किन्तु हिन्दी में आचार्य केशव दास, चिन्तामणि, कुलपति और देव आदि की तुलना में निश्चय ही आचार्य दास की यह सूझ सर्वथा मौलिक है, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं।

अर्थालङ्कारों में आचार्य दास ने केशव से भिन्न अपनी मौलिक चिन्तना का परिचय उपमालङ्कार के सन्दर्भ में दिया है। इनके अनुसार उपमेय और उपमान के विकार से उपमा के निम्न लिखित १२ भेद होते हैं—

(१) पूर्णोपमा, (२) लुप्तोपमा, (३) अन्वय, (४) उपमेयोपमा, (५) प्रतीप,

---

१. अलंकार मंजरी—कन्हैयालाल पोद्दार, भूमिका भाग
२. अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध), पृ० १३६
३ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृ० १४२

(६) श्रौती, (७) दृष्टान्त, (८) अर्थान्तरन्यास, (९) विकस्वर, (१०) निदर्शना, (११) तुल्योगिता, (१२) प्रतिवस्तूपमा ।[1] वस्तुतः उपमा का विश्लेषण अन्य संस्कृत आचार्यों ने भी किया है, किन्तु विकार के प्रयोग द्वारा आचार्य दास ने निश्चय ही उपमा विषयक अपनी नूतन धारणा व्यक्त की है। मेरे विचार से स्वयं अप्पय दीक्षित द्वारा विवेचित उपमा का शैलूषी रूप[2] यहाँ अधिक स्पष्ट और सुग्राह्य हो गया है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार के लक्षण में 'अत्यन्त सराहना' अंश और जोड़ कर उसे परम्परा से सर्वथा नूतन बनाया गया है। इस कारण पूर्ववर्ती और परवर्ती अलङ्कार शास्त्रियों द्वारा अतिशयोक्ति के दिये गये लक्षणों से यह भिन्न हो गया है।[3]

—दास के कुछ नवीन अलंकार

आचार्य दास ने कुछ नवीन अलङ्कारों की भी उद्भावना की है, जिनमे स्वगुण, रसनोपमा, देहरी दीपक, और सिंहावलोकन मुख्य हैं। वीप्सा का लक्षण देते हुए आचार्य दास ने लिखा है, "जहाँ अत्यन्त आदर के कारण एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति हो, वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।[4]" स्वगुण अलङ्कार न तो संस्कृत में मिला और न हिन्दी में ही। यह दास का अपना अलङ्कार है। इसका लक्षण दास ने यों दिया है—"जो अपने पूर्व रूप को पुनः ग्रहण करता है, उसे स्वगुण कहा जाता है।[5]" इस अलङ्कार का पार्थक्य तद्गुण और पूर्व रूप से स्वतः स्पष्ट है। तद्गुण अपने गुण को त्याग कर निकट का गुण ग्रहण कर लेता और पूर्व रूप वहाँ होता है जहाँ नष्ट होने के कारण मौजूद होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। यहाँ स्वगुण से इन दोनों का अन्तर पूर्णतया स्पष्ट है। इस दृष्टि से यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि आचार्य दास का स्वगुण तद्गुण से ही विकसित अलङ्कार है।[6] आचार्य दास की रसनोपमा,

---

१ काव्य निर्णय (भिखारीदास ग्रन्थावली द्वि० खं०)—सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ८।८

२. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्र भूमिका भेदात् ।
रजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदा चेतः ॥
—चित्र मीमांसा—अप्पय दीक्षित, पृ० ६

३. जहं अत्यन्त सराहिये, सो अति सयोक्ति कहंत ।—काव्य निर्णय ११।२

४. काव्य निर्णय १९।५२

५. पाए पूरब रूप फिरि, स्वगुन सुमति कहि देत ।—काव्य निर्णय १४।२८

६ रीति कालीन अलङ्कार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन डा० ओमप्रकाश शर्मा पृ० ११४

उपमा और एकावली का संकर है—

उपमा को एकावली को संकर जहं होइ ।
ताही को रसनोपमा, कहैं सुमति सब कोइ ॥—काव्य निर्णय

दास ने दीपक का एक अन्य भेद देहरी दीपक माना है जिसे अन्यत्र स्वीकार नहीं किया गया। देहरी दीपक की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"जहाँ एक ही पद आगे-पीछे दोनों ओर के अर्थ को प्रकट करता है, उसे देहरी दीपक अलङ्कार कहते हैं।[१] यद्यपि सिंहावलोकन की चर्चा यमक के एक भेद के रूप में आचार्य देव ने कर दी है, लेकिन दास ने उसका लक्षण लिखकर अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। दास के अनुसार जहाँ एक चरण के अन्तिम शब्द की आवृत्ति दूसरे चरण के आदि में होती है, वहाँ सिंहावलोकन यमक होता है।[२] इनके अतिरिक्त आचार्य दास ने मालोपमा, तद्गुण, अतद्गुण, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति (उपमातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षातिशयोक्ति) आदि के नूतन भेदों को भी प्रदर्शित किया है, जो इस दिशा में निश्चय ही उनकी मौलिक देन है।

—समानता के आधार पर निरूपित अलंकार

आचार्य दास ने विभिन्न अलङ्कारों की समानता का ध्यान रखते हुए उन्हें परस्पर अन्तर्भूत करने की भी सफल चेष्टा की है। यथा—लुप्तोत्प्रेक्षा की समानता काव्यलिंग में प्रदर्शित की गयी।[३] इसके पूर्व उस प्रकार की समानता किसी अन्य आचार्य ने नहीं दिखायी। भेदकातिशयोक्ति को आचार्य दास ने अनन्वय का व्यंग्य कहकर दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया।[४] इन दोनों में उपमेय की ही प्रमुखता व्यक्त की गयी है, पर अनन्वय में जहाँ उसे वाच्य रूप में अभिहित किया जाता है, वहाँ भेदकातिशयोक्ति में इसका कथन व्यंग्य द्वारा होता है। भेदकातिशयोक्ति का ऐसा निरूपण अन्यत्र नहीं किया गया। इसी प्रकार सूक्ष्म विहित आदि सूक्ष्म वर्ग के अलकारों को वस्तु व्यंग्यात्मक ध्वनि पर आश्रित बताया गया है।[५] व्याजास्तुति और

---

१. कव्य निर्णय १८।२७ २. काव्य निर्णय १९।६१

३. लुप्तोत्प्रेक्षा तिहि कहै, वाचक बिनु जो होइ ।
याकी विधि मिलि जाति है, काव्यलिंग में कोइ ॥—काव्य निर्णय ९।१७

४. अनन्वयहु की व्यंगि यह भेदकातिसय उक्ति ।
उतहि कियो थापित निरखि, परबीनन की जुक्ति ॥—काव्य निर्णय ११।५

५. सूछम पिहितो जुक्तिगनि, गूढ़ोत्तर गूढ़ोक्ति ।
मिथ्या व्यवसायो ललित, बिव्रतोक्ति व्याजोक्ति ॥१॥
परिकर परिकर अंकुरो. इग्यारह अवरेखि ॥
धुनि के भेदनि म इन्हैं वस्तु व्यजक लखि २ काव्य निणय १६ २

अप्रस्तुत प्रशंसा का कहा भिन्नता प्रकट की गया, कहीं एकत्व अप्रस्तुत प्रशंसा और अर्थान्तरन्यास में उल्लास की व्याप्ति भी स्पष्ट है।

—दास का तुक निर्णय

'काव्य निर्णय' के २२ वें उल्लास में अन्त्यानुप्रास के रूप में आचार्य दास ने 'तुक' का बड़ा ही विशद एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार भाषा (हिन्दी) वर्णन में तुक का विशेष महत्व है।[1] तुक के इन्होंने तीन मुख्य भेद किये हैं —

(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) अधम। इन तीनों के भी पुनः अवान्तर भेद किए गये हैं। चित्र द्वारा इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—
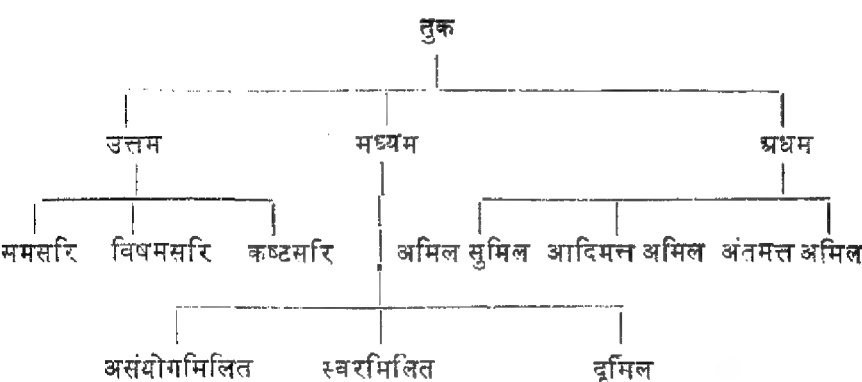
उर्दू में उल्लिखित 'रदीफ' की भाँति इन्होंने 'अन्य तुक' के अन्तर्गत तीन प्रकार की तुक मानी हैं—(१) वीप्सा, (२) यामकी, (३) लाटिया।[2] इनके तुक निर्णय की मौलिकता पर विचार करते हुए आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं—'इनका सबसे नया और मौलिक प्रयत्न तुक निर्णय के सम्बन्ध में दिखायी देता है। संस्कृत और प्राकृत में तुक की व्यवस्था नहीं थी। तुक का चलन अपभ्रंश से आरम्भ होता है और सभी देशी भाषाओं में पाया जाता है। पर तुक का जैसा विचार इन्होंने किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।[3]" वस्तुतः आचार्य दास ने तुक का यह शास्त्रीय विवेचन

---

१ भाषा बरनन में प्रथम, तुक चाहिए विसेषि।
उत्तम मध्यम अधम सो, तीन भाँति को लेखि ।।—काव्य निर्णय २२।१

२. काव्य निर्णय २२।१४

३. हिन्दी साहित्य का अतीत—द्वितीय भाग–आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४०६

हिन्दी भाषा की दृष्टि से किया है, इस कारण इनका यह प्रयास निश्चय ही मौलिक है, इसमें सन्देह नहीं।

निष्कर्ष—(१) कुवलयानन्द के ८ प्रमाण भेदों में उल्लिखित 'ऐतिह्य' नामक भेद को दास ने ग्रहण न करके 'आत्मतुष्टि' नामक भेद की कल्पना कर ली। चूंकि 'ऐतिह्य' प्रमाण का ही अंग है, इस कारण उसको स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया और आत्मतुष्टि की स्वतन्त्र शक्ति को पूर्णतया स्वीकार किया।

(२) आचार्य दास ने अलंकारों की परस्पर समानता के साथ ही उनके व्यंग्यात्मक सम्बन्ध की भी विवेचना की है।

(३) विरोधाभास और मुद्रा अलंकार को इन्होंने शब्दालंकार के अन्तर्गत परिगणित किया है, जब कि संस्कृत के आचार्यों ने प्रायः इन्हें अर्थालंकार में अन्तर्भूत किया है।

(४) कुवलयानन्द में चित्रोत्तर अलंकार को उत्तर का भेद स्वीकार करके उसे अर्थालंकार में स्थान दिया है। दास ने 'चित्र' के नाम से अभिहित करके उसे शब्दालंकार में परिगणित किया है। चूंकि इसमें अर्थगत चमत्कार की अपेक्षा शब्दगत चमत्कार अपेक्षाकृत अधिक है, इस कारण आचार्य दास ने इसे अर्थालंकार में समाविष्ट करना उचित नहीं समझा।

(५) तुक निर्णय आचार्य दास की मौलिकता का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

९—*प्रतापसाहि*

प्रताप साहि की दो प्रमुख कृतियों—'काव्य विलास' और 'व्यंग्यार्थ कौमुदी'—का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ हम उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित अलंकारों के सम्बन्ध में विचार करेंगे। प्रताप साहि की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' यों कहने के लिए तो एक व्यंग्य प्रधान काव्य है, पर व्यंग्य के साथ ही साथ इसमें नायक-नायिका भेद और अलंकारों का भी निरूपण हुआ है।[1] इस कारण इसे केवल अलंकार प्रधान ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें अलंकारों का उल्लेख प्रसंगतः टीका भाग में हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि नायक-नायिका भेद और व्यंग्यार्थ निरूपण के साथ अलंकारों के विवेचन की यह प्रणाली पूर्ववर्ती परम्परा से भिन्न अवश्य है।

निष्कर्ष—(१) इन्होंने अपने दूसरे ग्रन्थ 'काव्य विलास' में अलंकारों का

---

१. कहीं व्यंग्य तें नायिका, पुनि लक्षणा विचार।
ता पाछें बरनन करौं, अलंकार निरधार॥
—काव्यार्थ कौमुदी—प्रताप साहि छं० सं० ७ पृ० २

विवेचन अपेक्षाकृत अधिक शास्त्रीय पद्धति से किया है, किन्तु उसका भी आधार अधिकांशतः मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' है और यथास्थल अप्पय दीक्षित का भी प्रभाव कम नहीं है। अतः मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ की भी सराहना नहीं की जा सकती।

(ख) मात्र अलंकार निरूपक आचार्य

गत पृष्ठों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि रीतिकाल में अलंकार निरूपक आचार्यों के दो वर्ग थे। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत ऐसे आचार्यों की गणना की जाती है, जिन्होंने सर्वाङ्ग निरूपण के प्रसंग में अलंकारों का भी वर्णन किया है, किन्तु द्वितीय वर्ग के अलंकारिकों की चर्चा इस दृष्टि से की जाती है कि उन्होंने केवल अलकारों का ही विवेचन प्रस्तुत किया ; अन्य काव्यांगों को छोड़ दिया। अब हम केवल अलंकार निरूपक आचार्यों का उल्लेख करेंगे और यत्किंचित् इनके द्वारा प्रदर्शित अलकार विषयक मौलिक तथ्यों की विवेचना के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

मात्र अलंकार निरूपक आचार्यों के भी दो वर्ग सुविधानुसार बनाये जा सकते हैं—

(i) **व्यास शैली के आचार्य।** (ii) **संक्षिप्त शैली के आचार्य।**

व्यास शैली के आचार्यों के अन्तर्गत कवित्त, सवैया जैसे बड़े छन्दों में निरूपण करने वाले आचार्य आते हैं। संक्षिप्त शैली में दोहा जैसे छोटे छन्दों में निरूपण करने वाले आचार्य आते हैं। कवित्त-सवैया छन्दों में रचित अपने सरस उदाहरणों द्वारा अलकारों का विस्तृत एवं वैशद्यपूर्ण निरूपण करने वाले आलंकारिकों में मतिराम, भूषण, रघुनाथ, दूलह, लछिराम और गंगाराम आदि मुख्य हैं।

दोहा छन्द में निरूपण करने वाले अलंकार विवेचकों ने संस्कृत के 'चन्द्रलोक' और उसके अलंकार प्रकरण की टीका 'कुवलयानन्द' से पर्याप्त सहायता ली है। सच तो यह है कि रीतिकाल के अधिकांश आचार्य उपर्युक्त ग्रन्थ का ही आश्रय ग्रहण करके अपने अलंकार ग्रन्थों की रचना करते रहे। दोहा जैसे लघु छन्दों में निरूपण करने वाले इन आचार्यों को संक्षिप्त शैली के आचार्यों में परिगणित किया गया है। इस शैली के अन्तर्गत आने वाले आचार्यों में कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

जसवंत सिंह (भाषा भूषण), सूरति मिश्र (अलंकार माला), रसिक सुमति (अलंकार चन्द्रोदय), गुरुदत्त सिंह 'भूपति' (कण्ठाभरण) बैरीसाल (भाषा भरण), पद्माकर (पद्माभरण), ग्वाल (अलंकार भ्रम भंजन), ऋषिनाथ (अलंकार मणि मंजरी), रामसिंह (अलंकार दर्पण), ब्रह्मदत्त (दीप प्रकाश), गिरधरदास (भारती भूषण) आदि

व्यास शैली के आचार्य

१—मतिराम

'ललित ललाम' इनकी अलंकार विषयक एक प्रौढ़ रचना कही जाती है। इस ग्रन्थ पर कुवलयानन्द का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, क्योंकि इसका भी वही क्रम है जो कुवलयानन्द का है। पूरे ग्रन्थ को देखने से इसमें किसी भी प्रकार की मौलिक उद्भावना का आभास नहीं मिलता। हाँ, कतिपय अलंकारों का किंचित् नामान्तरण अवश्य किया गया है, यथा—कैतवापह्नुति, प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा, अन्योऽन्य तथा कारण माला का क्रमशः छलापह्नुति, गुप्तोत्प्रेक्षा, परस्पर, तथा हेतु माला नाम दे दिया गया है। इनके अतिरिक्त 'अलंकार पंचाशिका' नामक दूसरे अलंकार ग्रन्थ मे इन्होंने 'गुणवन्त' नामक एक नूतन अलंकार की कल्पना की है।[1]

२—भूषण

'शिवराज भूषण' अलंकार विषय की एक श्रेष्ठ रचना है। इसमें मुख्य-मुख्य सभी अलंकारों का उल्लेख हुआ है। इनके शिवराज भूषण में प्राप्त 'भाविक छवि' एक नया अलंकार-सा दिखायी पड़ता है। पर है वास्तव में संस्कृत ग्रन्थों मे के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप। 'भाविक' का सम्बन्ध कालगत दूरी से है, इसका देशगत से। बस इतना ही अन्तर है।[2] यद्यपि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल 'भाविक छवि' को नूतन अलंकार स्वीकार नहीं करते, फिर भी संस्कृत 'भाविक' का प्रवर्द्धित रूप वे मानते अवश्य हैं और पार्थक्य की दृष्टि से कालगत दूरी और देशगत दूरी की स्थिति भी स्पष्ट करते हैं। ऐसी दशा में इसे नये अलंकार के रूप में न ग्रहण करना अधिक उचित न होगा। मेरे विचार से भूषण ने कम से कम संस्कृत भाविक के समानान्तर एक अन्य अलंकार की कल्पना तो की, क्या यह कम महत्व की बात है कि जहाँ संस्कृत अलंकार शास्त्र की समृद्ध परम्परा ने हिन्दी अलंकार शास्त्र के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर रखा था, वहाँ भूषण जैसे अलंकार शास्त्र के मनीषियों ने संस्कृत अलंकारों से मिलते-जुलते कतिपय नवीन अलंकारों की उद्भावना करने का साहस तो किया।

३—रघुनाथ

इनकी एकमात्र आलंकारिक रचना 'रसिक मोहन' है जो नवलकिशोर प्रेस,

---

१ कछु सम्पत ही पाइके, लघु दीरघ ह्वै जात।
सो गुनवंत कहंत हैं, मंद मतन समुझात ॥२२॥—अलंकार पंचाशिका, पृ० ४०

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २३५

लखनऊ से सन् १८६० ई० में मुद्रित हो चुकी है। इसका एक अन्य संस्करण काशी के लाइट प्रेस से लीथो में सन् १८६५ ई० में प्रकाशित हुआ था, जो सम्प्रति अप्राप्य है।

इस ग्रन्थ में अलंकारों का बड़ा ही स्पष्ट एवं सुबोध वर्णन है और उदाहरण स्वरूप जो छन्द दिए गए हैं, वे अत्यन्त सरस और हृदयग्राही हैं। इसके प्रारम्भिक पृष्ठों में समस्त मुख्य अलंकारों की एक बृहत् सूची दे दी गयी है।[1] तदनन्तर क्रमश. उन कथित अलंकारों की विवेचना की गयी है। यद्यपि मौलिकता की दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक महत्व नहीं रखता, फिर भी विवेचनगत प्रांजलता की दृष्टि से इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस ग्रन्थ में एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि जहाँ कहीं श्लेष आदि अलंकारों के उदाहरण दुरूह एवं दुर्बोध हो गये हैं, वहाँ इन्होंने ब्रज-भाषा गद्य द्वारा उन्हें स्पष्ट करने का भी भरसक प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं नवीन अलकार भी रखे गये हैं; यथा, अत्युक्ति के सन्दर्भ में प्रेमात्युक्ति नामक अलंकार[2] इनकी मौलिक उद्भावना के अन्तर्गत परिगणित किया गया है, यद्यपि इस अलंकार की परिभाषा नहीं दी गयी।

४—दूलह

कवि दूलह कृत 'कविकुल कण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ अलंकार विषय की एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। इसमें अलंकार विषय का विवेचन कवित्त छन्द मे हुआ है। यह ग्रन्थ प्रथम बार जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा सम्पादित होकर काशी के भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हुआ था। सम्प्रति यह संस्करण अप्राप्य है। इसका अन्य सम्करण हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पं० शुकदेव बिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित होकर स० १९९२ में कवि कुटीर, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था।

इस ग्रन्थ में अलंकारों का जैसा स्पष्ट एवं प्रौढ़ विवेचन हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें लक्ष्य एवं लक्षण दोनों ही अंश अधिक बोधगम्य और सुलझे हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना ऐसे लोगों के लिए हुई हैं, जिन्हें अलंकार विषय का बोध नहीं है। कवि दूलह ने यह ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों के सम्यक् अनुशीलन के अनन्तर लिखा है और यथास्थल इसका संकेत भी किया है। जैसे उपमा अलंकार के निरूपण में इन्होंने चन्द्रालोक और कुबलयानन्द का उल्लेख किया है।[3] यद्यपि

---

१ रसिक मोहन—रघुनाथ, पृ० ३, ४, ५ नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८९० ई० में मुद्रित प्रति से।

२ रसिक मोहन—रघुनाथ, पृ० ८८ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८९० मे मुद्रित प्रति से।

३ कविकुल कण्ठाभरण—दूलह पृ० १५ छं० सं० ९

दूलह ने किसी नवीन अलंकार की उद्भावना तो नहीं की, फिर भी अलंकारों के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने में इस ग्रन्थ का महत्व मान्य है।

संक्षिप्त शैली के आचार्य

१—जसवन्त सिंह

जसवन्त सिंह का 'भाषा भूषण' संक्षिप्त शैली के अलंकार ग्रन्थों में अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है। इस ग्रन्थ के कई संस्करण हो चुके हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लक्ष्य और लक्षण की एक रूपता का पूर्ण ध्यान रखा गया है। यों इस ग्रन्थ पर मुख्यतया कुवलयानन्द का प्रभाव है, किन्तु मम्मट और विश्वनाथ का भी आधार यत्र-तत्र ग्रहण किया गया है। आचार्य केशव की भाँति इन्होंने भी सामान्य और विशिष्टालंकारों का संकेत किया है। लेकिन ग्रन्थ के विस्तार भय से केवल विशिष्टालंकारों के ही भेद बतलाये गए हैं।[1] 'भाषा भूषण' में यद्यपि किसी नूतन अलंकार की उद्भावना नहीं की गयी, किन्तु यमक को अनुप्रास के अन्तर्गत रखकर निश्चय ही इन्होंने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है।[2]

सूरति मिश्र कृत 'अलंकार माला' और रसिक सुमति कृत 'अलंकार चन्द्रोदय' जैसे ग्रन्थों में किसी प्रकार की मौलिक दृष्टि का आभास नहीं मिलता, केवल भाषा भूषण की पद्धति का सामान्य रूप में अनुसरण किया गया है। हाँ, वैरीसाल कृत भाषा भरण और पद्माकर कृत पद्माभरण में मौलिक चिन्तना का यत्किंचित् दर्शन अवश्य होता है।

२—वैरीसाल

इनकी प्रसिद्ध रचना 'भाषाभरण' है, जिसका प्रणयन 'कुवलयानन्द' और जसवन्त सिंह कृत 'भाषा भूषण' के आधार पर हुआ है। कुवलयानन्द से सहायता लिए जाने का स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में किया भी गया है।[3] यह ग्रन्थ अभी तक अमुद्रित है। बहुत पहले पं० कृष्णविहारी मिश्र ने इसे अपने समालोचक पत्र में

---

१. भाषा भूषण—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १६ अन्य प्रतियों में सामान्य और विशिष्टालंकार विषयक दोहे नहीं मिलते। केवल आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के ही संस्करण में इन दोहों का उल्लेख हुआ है।

२. भाषा भूषण—सं० बाबू ब्रजरत्नदास, पृ० २८, छं० सं० २०३

३. भाषा भरण—छं० सं० ४७०, नीलगाँव सीतापुर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से। इसमें प्रतिलिपि का समय सम्वत् १९३२ दिया गया है और पृष्ठ की दृष्टि से कुल ४६ पृष्ठ हैं

प्रकाशित किया था। वास्तव में यह ग्रन्थ भाषा भूषण की तुलना में अधिक प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है। विवेच्य विषय के प्रतिपादन में बहुत थोड़े ग्रन्थ इसकी तुलना में ठहर पाते हैं। विषय को सुग्राह्य बनाने के लिए यथास्थल गद्य का भी प्रयोग हुआ है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का मूलाधार 'कुबलयानन्द' है, फिर भी सर्वत्र उसी का आधार नहीं लिया गया, बल्कि यत्र-तत्र इसमें बैरीसाल की स्वतन्त्र उद्‌भावना का भी परिचय मिला है, यथा—कुबलयानन्द में उल्लिखित प्रमाणालंकारों के अलावा इन्होने पुराण प्रमाण, आगम प्रमाण, आचार प्रमाण और आत्मतुष्टि नामक चार अधिक अलकारों का कथन किया है। हाँ, यह अवश्य खटकता है कि उन अलंकारों के लक्षण न देकर केवल लक्ष्यांशों द्वारा हीं कथित विषय का द्योतन किया गया है।[1]

(३) पद्माकर

भाषा भरण के आधार पर लिखी गयी पद्‌माकर कृत 'पद्‌माभरण' पुस्तक भी लोकप्रियता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। बैरीसाल के अतिरिक्त इन पर मतिराम और जसवन्त सिंह का भी प्रभाव लक्षित होता है। हिन्दी आचार्यों का आधार लेते हुए भी इन्होंने कुबलयानन्द जैसे संस्कृत ग्रन्थों की उपेक्षा नहीं की। यह ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित हो चुका है। इसका एक उत्तम संस्करण आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने थोड़े समय पूर्व प्रस्तुत किया था। यों पूरे ग्रन्थ मे अलंकारों का विवेचन बड़ी प्रांजल शैली में किया गया है, पर मौलिक उद्‌भावना की दृष्टि से इसका महत्व अधिक नहीं है। हाँ, विषय को सुबोध बनाने के लिए इसमे बिहारी जैसे कवि की रचनाएँ भी उद्धृत की गयी हैं। यही नहीं, यथास्थल गद्य का भी प्रयोग किया गया है।[2]

(४) गोविन्द कवि

इनकी प्रसिद्ध आलंकारिक रचना 'कर्णाभरण', 'भाषा भरण' जैसे ग्रन्थ की शैली पर रचा गया है। यह पुस्तक काशी के भारत जीवन प्रेस से सन् १८९४ ई० मे मुद्रित हो चुकी है। इसमें कुल ४६ पृष्ठ हैं और मुख्य-मुख्य सभी अलंकारों का उल्लेख हुआ है। मौलिकता की दृष्टि से इसमें श्लेषालंकार के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सूचना मिलती है, यथा—इन्होंने श्लेष के तीन भेद किए हैं—(१) प्रकृत प्रकृत, (२) प्रकृताप्रकृत, (३) अप्रकृताप्रकृत।[3] इन्हें गोविन्द कवि ने प्रकृत अथवा

---

१. भाषा भरण—बैरीसाल, पृ० ३४–३६

२. पद्‌माकर पंचामृत—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ८३

३ ———— में अप्रकृत प्रकृत अरथ बहु जोय।
अप्रकृत प्रकृत लखे श्लेष तीन विधि होय —कर्णाभरण गोविन्द कवि पृ० १७

अप्रकृत अर्थों के आधार पर शब्दों से उद्भूत अलंकार माना है। संस्कृत ग्रन्थों में इन्होंने 'चन्द्रालोक' का आधार लिया है। फिर भी 'चन्द्रालोक' की तुलना में इसके लक्षण और उदाहरण अधिक स्पष्ट हैं।

इन ग्रन्थों के अलावा ब्रह्मदत्त कवि के 'दीप प्रकाश' का भी उल्लेख होता है। इससे कोई महत्वपूर्ण सूचना नहीं मिलती। पुस्तक भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हो चुकी है। इस ग्रन्थ को रत्नाकर जी 'भाषा भूषण' से श्रेष्ठ मानते हैं। ग्वाल का 'अलंकारभ्रमभंजन' 'ब्रजभारती' में सेठ कन्हैयालाल द्वारा प्रकाशित हो चुका है। मौलिकता की दृष्टि से उसका महत्व नगण्य है। ऋषिनाथ कृत 'अलंकार मंजरी' भी बनारस से प्रकाशित हो चुकी है। यह पुस्तक सामान्य कोटि की है। रामसिंह की 'अलंकार दर्पण' पुस्तक काशी के भारत जीवन प्रेस से सं० १९५६ में प्रकाशित हो चुकी है। उसमें भी कोई उल्लेखनीय चर्चा नहीं है। हाँ, काशिराज कृत 'चित्र चन्द्रिका' हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में अति महत्व की पुस्तक है, क्योंकि इसमें चित्र काव्य के गाम्भीर्य का विशद निरूपण हुआ है। इसके प्रणयन में संस्कृत ग्रन्थों के अलावा फारसी और प्राकृत आदि की भी सहायता ली गयी है। विषय की सुबोधता के लिए इसमें बीच-बीच में ब्रजभाषा गद्य की भी सहायता ली गयी है। पुस्तक लखनऊ से जून १९०३ ई० में मुद्रित हो चुकी है। गिरधरदास कृत 'भारती-भूषण' निश्चय ही बड़े विवेक के साथ लिखा गया है। तथा इस ग्रन्थ में भी आचार्य दास की भाँति तुकों की चर्चा की गयी है। इसमें शब्दालंकार का विस्तार पूर्वक वर्णन है, विशेषकर 'श्रुति' तथा 'अन्त्य' अनुप्रास द्वारा मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया गया है। यह पुस्तक तृतीय बार लखनऊ से स० १९०२ ई० में प्रकाशित हो चुकी है।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि संस्कृत के समृद्ध अलंकार शास्त्र की तुलना में हिन्दी अलंकार शास्त्र का महत्व सर्वतोभावेन नगण्य नहीं है, वरन् हिन्दी अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने भी इस दिशा में २२ नवीन अलंकारों को जन्म दिया। यही नहीं, ईश्वर कवि ने 'यमक सतसई' जैसे ग्रन्थ में यमक का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जो संस्कृत में भी उपलब्ध नहीं है।[1]

---

१. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—डा० ओमप्रकाश शर्मा, पृ० ५४६

तृतीय अध्याय

रीतिकाव्य का शृङ्गारिक विवेचन

तृतीय अध्याय

रीति काव्य का श्रृंगारिक विवेचन

१—रीति काव्य का श्रृंगारिक स्वरूप

पिछले अध्याय में हमने रीति काव्य का शास्त्रीय विवेचन करते समय उसकी मौलिकता एवं परम्परा अभुक्त रूपों पर सम्यक् रूपेण विचार किया था। इस अध्याय मे रीति काव्य की एक विशिष्ट एवं प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगार का काव्य पक्षीय दृष्टि से विचार किया जायेगा। और तद्विषयक काव्य के उन मौलिक एवं नूतन उपादानो का विश्लेषण एवं विवेचन प्रस्तुत किया जायगा, जिनके कारण हिन्दी रीति काव्य के आलोचकों ने भारतीय साहित्य की श्रृंगारिक परम्परा में उसे अन्यतम स्वीकार किया है और ऐसी श्रृंगारिक रचनाओं के अन्तर्गत पाये जाने वाले अधिकांश ललित उद्गारों की मुक्त कण्ठ से श्लाघा की है।

रीति काव्य की श्रृंगारिक चेतना का विश्लेषण करते समय कुछ मान्य आचार्यों ने इस पर कई दृष्टियों से विचार किया है। कभी इस काव्य को उपभोग और रसिकता मूलक अभिहित किया गया और कभी निर्बाध वासना की तुष्टि का पर्याय माना गया।[1] इस कथन की सच्चाई पर बहुत अधिक अविश्वास तो नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी ऐसी धारणा को समग्र रूपेण स्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वास्तव में रसिकता, उपभोग और वासना से भी पृथक् इस युग में निर्मित श्रृंगारिक रचनाओं में कुछ ऐसी भाव सान्द्रता एवं आत्मा की तरलता है, जिसकी तुलना में कहीं-कहीं भक्ति मूलक श्रृंगारिक काव्य भी कम ठहर पाता है। हमारे इस कथन का तर्क पुष्ट प्रमाण महाकवि देव के इस कवित्त से सुलभता से मिल सकता है—

हौं ही ब्रज, वृन्दावन मोहीं में बसत सदा, जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूं ओर सुन्दर, सघन बन देखियत, कुंजनि में सुनियत सु गुंजनि अलीन की।
बंसीबट-तट नट नागर नटतु मो में, रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक, बनक ताल तानन की, तनक-तनक तामे खनक चुरीन की।[2]

---

१. रीति काव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, पृ० १७४

२ सुखसागर तरग—देव छ० स० ३४ पृ० ११

उपर्युक्त छन्द में शृंगार के जिस अनाविल स्वरूप की व्यंजना की गयी है, उसमे न तो वासना को उष्ण गन्ध है और न रसिकता का अनावृत संकेत। अतः यह कवित्त अपने सच्चे अर्थों में प्रेम की अनन्यता एवं एकनिष्ठता का एक विशिष्ट एवं अन्यतम उदाहरण है। दर्शन के ऐसे गूढ़ एवं गम्भीर स्वरूप की भावात्मक अभिव्यक्ति शृंगार युग के अन्य कवियों के काव्यों में बहुत विरल है। यहाँ वृन्दावन में रचित रास मण्डल की रूपोद्भावना पूर्णतया विषयीगत है, विषयगत नहीं। इस दृष्टि से बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव आदि कवियों की रस सिक्त बाणी केवल वासनात्मक उद्गारों का ही परिणाम नहीं है, अपितु इनके द्वारा रचित शृंगार का विपुलांश मध्यवर्गीय समाज की मनोरम एवं सरस अभिव्यक्तियों की ऐसी रंगीन चित्रशाला है, जिसमें गार्हस्थ्य जीवनकी एक से एक सौन्दर्य दीप्त चित्रों को अत्यन्त कलात्मकता और असाधारण नैपुण्य के साथ प्रदर्शित किया गया हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि इस युग की चूडान्त रसिकता के कारण शृंगार के बहुत से चित्र अन्तः स्पर्श से अछूते रह गये हैं और उनकी प्रभविष्णुता एवं प्रभावक्षमता बहुत कुछ नष्ट हो गयी है, फिर भी इन रसिक शिरोमणि कवियों ने शृंगार की जिन मुक्ता-लड़ियों को अनुस्यूत किया है, उनकी आभा आज भी उसी प्रकार विकीर्ण हो रही है।

अस्तु, रीति काव्य के शृंगारिक स्वरूप की अधिक स्पष्टता के लिए रीति काव्य का उद्देश्य और भक्ति मूलक काव्य रचनाओं से इनके पार्थक्य विषयक दृष्टिकोण को समझ लेना अति आवश्यक प्रतीत होता है।

(क) रीति काव्य का उद्देश्य एवं प्रयोजन

सम्वत १७०० से १९०० तक विकसित रीति काव्य का उद्देश्य जीवन की उदात्त नैतिक मान्यताओं और आमुष्मिक चिन्ता का विस्तार करना नहीं था, अपितु यह काव्य अपने सच्चे अर्थों में ऐहिकतापरक काव्य था, जिसका विकास युग की सामन्तीय छाया में ही सम्भव था। अतः रीति काव्य का विवेचन उस युग की मान्यताओं को दृष्टि में रखकर ही किया जा सकता है और यही अधिक विवेकपूर्ण और समुचित भी होगा।

रीति काव्य वस्तुतः 'कला कला के लिए' जैसे सिद्धान्त का प्रतिपादक है। रीति कवियों का उद्देश्य भी रीति-विवेचन की अपेक्षा कला के चषक में मात्र शृंगार का ही आसव ढालना था। इस उद्देश्य को भूलकर कुछ आलोचक इस युग कवियों को अधिक महत्व नहीं देते और उनकी साहित्यिक सर्जना को केवल

क्षयिष्णु एवं ध्वंसमूलक प्रवृत्तियों का परिणाम मानते हैं। यही नहीं, उनके द्वारा की गयी हिन्दी साहित्य की प्रगति में भी वे पूर्ण सन्देह प्रकट करते हैं।[1] यह कहना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है कि रीति कवियों ने भक्तियुग की अन्तर्मुखी चेतना से दूर हट कर एकान्त भाव से शृंगार के लौकिक धरातल पर अपनी काव्य-चेतना का सम्यक् प्रसार करने और उसे यथाशक्य प्रभविष्णु बनाने में जितना अधिक योग दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अस्तु, रीति कवियों के उद्देश्य के सम्बन्ध में अधिक अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए उनकी रचनाओं का साक्ष्य विशेष उपादेय हो सकता है, क्योंकि इन रचनाओं में उनके लक्ष्य एवं उद्देश्य का जितना जीवित सत्य मुखरित हुआ है, वह अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों की तुलना में अधिक पुष्ट एवं सबल है। तद्विषयक अधोलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) रसिक चकोरन को सदा, सूझि परै रस पन्थ।[2]
तातें रच्यो कवीन्द्र यह, रस चन्द्रोदय ग्रन्थ॥

(२) जो कोऊ रस रीति को, समुझ्यौ चाहै सार।[3]
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता को सिंगार॥

(३) जान्यो चहै जु, थोरे ही रस कवित्त को वंश।[4]
तिन रसिकन्ह के हेतु, यह कीन्ह्यों रस सारांश॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि इनका मुख्य उद्देश्य शृंगार साधक रसिक चकोरों को रस रीति-शृंगार-रस—का मार्ग (पंथ) बताना था। पुनः ऐसे रसिकों के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के भी विचार अधिक महत्व के हैं। उन्होंने वात्स्यायन के काम सूत्र में उल्लिखित 'रसिक' और 'नागरिक' शब्द का बहुविध विश्लेषण किया है। डा० द्विवेदी का अनुमान है कि 'वात्स्यायन' का बताया हुआ 'नागरिक' या 'रसिक' अत्यन्त समृद्ध विलासी हुआ करता था। उसके पास प्रचुर सम्पत्ति, पर्याप्त

---

1. That Behari Lal was remarkably clever manipulator of words is fieely allowed but he can neither be called a great poet nor can be said to have corried Hindi Literature forward or upward.
—A Sketch of Hindi Literature. p. 68 (I ed.), Rev. Greaves.
२. रस चन्द्रोदय और रस वृष्टि—उदयनाथ कवीन्द्र, पृ० १ छं० सं० ३, सन् १८८२ में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।
३. बिहारी सतसई—टीकाकार, कृष्ण कवि, पृ० २६०, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।
४. भिखारीदास ग्रन्थावली (रस सारांश), प्रथम खण्ड, सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्र० सं० छन्द सख्या ५

अवकाश, अकल्पनीय निश्चिन्तता होती थी।[1] यद्यपि 'रसिक' एवं सहृदय पुरुषों के सम्बन्ध में लोचनकार अभिनव गुप्त ने भी संकेत किया है[2], किन्तु रीति युग का रसिक कामसूत्र में उल्लिखित रसिक के अधिक निकट प्रतीत होता है और ऐसा लगता है कि उस युग में ही नहीं, पूर्ववर्ती शृंगार रस की परम्परा में 'रस' शब्द शृंगार का बोधक हो गया था और 'रसिक' शृंगारिक के अर्थ में स्पष्टतया प्रयुक्त होने लगा था। संस्कृत साहित्य में भी 'रस' शृंगार के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाने लगा था, यथा—अन्य रसों का विवेचन होने पर भी रुद्रभट्ट ने अपने ग्रन्थ का नाम 'शृंगार तिलक' ही रखा, 'रस तिलक' नही।[3] रीति युग के प्रसिद्ध कलाकार देव ने तो शृंगार को वाणी का सार ही माना और इससे एक सोपान और ऊपर चढ़ने पर 'शृंगार' की सारी व्यापकता को सीधे नायक-नायिका में संपिंडित कर दिया—

देव सबै सुखदायक सम्पति, सम्पति को सुख दम्पति जोरी।
दम्पति दीपति प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी।
प्रीति तहाँ गुण रीति विचार, विचार की बानी सुधा रस बोरी।
बानी को सार बखान्यो शृंगार, शृंगार को सार किशोर किशोरी॥[4]

इनके उद्देश्य का दूसरा पहलू यह था कि ये लक्षण की तुलना में लक्ष्य ग्रन्थों को अधिक महत्व देते थे तथा लक्ष्य के स्वारस्य पर इनकी प्रतिभा अपनी पूरी शक्ति के साथ मानो केन्द्रीभूत हो गयी थी। इसी से ये कलाकार शास्त्रीय विवेचन और उसके ऊहापोह की प्रायः उपेक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनका उद्देश्य शास्त्रीय विश्लेषण और उसके उपबृंहण में जाना नहीं था, वरन् रसिकों के निमित्त संक्षिप्त लक्षणों का उपयोग करके लक्ष्यांशों (उदाहरणों) की सरसता प्रदर्शित करना था। इस तथ्य का संकेत इस प्रकार किया गया है—

(१) इनके लक्षण लक्ष्य बहु, रस ग्रन्थन ठहराय।
तातें हर बरने नहीं, बढ़ै ग्रन्थ समुदाय॥[5]

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पाँचवाँ संस्करण, पृ० १२४
२. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूतेमनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय संवादभाजः सहृदयाः—'लोचन'—अभिनव गुप्त, पृ० ३९-४०
३. हिन्दी साहित्य का अतीत' द्वितीय भाग—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३३९
४. सुखसागर तरंग—देव, सं० तं० बालदत्त मिश्र, पृ० ३, छन्द संख्या १०, सन् १८९८ में प्रकाशित।
५ व्यंग्यार्थ कौमुदी प्रतापसाहि पृ० १ छं०सं० ३

(२) होइ ग्रन्थ विस्तार, सब के कहत उदाहरन ।
रस के भाव अपार, ताते संछेपहि कहे ॥[1]

उपर्युक्त समस्त कथनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि रीति काव्यो के प्रणयन में रसिकता एक ऐसा तत्व है, जो इन रीतिकारों के समस्त व्यक्तित्व में अच्छी तरह घुल-मिल गया था । इस रसिकता की इतनी पराकाष्ठा हो चुकी थी कि अलंकार ग्रन्थों का नामकरण भी 'रसिक मोहन' जैसे शब्दों द्वारा किया गया । यद्यपि 'रसिक मोहन' ग्रन्थ में मात्र अलंकारों का ही विवेचन है, लेकिन उदाहरण प्राय. शृंगार रस के ही हैं । इन्हीं कारणों से रीति काव्य के मर्मज्ञ आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र इस युग को 'शृंगार काल' की अभिधा देना अधिक युक्तियुक्त समझते है । दूसरा तथ्य यह निकलता है कि ये रीतिकार गोष्ठी के मण्डन विनोदी रसिकों की मनोवृत्ति का ध्यान रखते हुए उन्हें अलंकार आदि काव्य शास्त्रीय बातों का सामान्य ज्ञान भी करा देना चाहते थे ।[2]

(ख) रीति और भक्ति काव्य के स्वरूप का पृथक्करण

डा० सत्येन्द्र के अनुसार रीतिकाल भक्ति काल को प्रतिक्रिया-रूप में प्रारम्भ हुआ । इस सम्बन्ध में उनका यह विचार द्रष्टव्य है—"इतिहास यह बतलाता है कि जन-जीवन के इतिहास में जो परम्परा मिलती है वह एक की दूसरे की प्रतिक्रिया के रूप में होती है । वैदिक के कर्मकाण्ड के विरुद्ध बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ और अहिंसा का युग प्रतिष्ठित हुआ । इस बौद्ध युग की प्रतिक्रिया ब्राह्मण युग में हुई । इस प्रकार सर्वत्र । फलत: रीतिकाल भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिए और वह है भी ।[1]" इसके विरुद्ध आचार्य पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीति काव्य की परम्परा का विकास संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की शृंगारिक काव्य-धारा की परम्परा से माना है । यही नहीं, उन्होंने बिहारी आदि शृंगारिक कवियों की रचनाओ

---

१. सुधानिधि—तोष, पृष्ठ १७६, छंद संख्या ५४१
२. ग्रन्थ रसिक मोहन कियो, मैं यह उनके नाम ।
उपमादिक जासें लिखे, अलंकार सुखधाम ॥
बरनै उपमा आदि दै, अलंकार गहि रीति ।
अहो रसिक लखि रीझियो करि पढ़ि वैसों प्रीति ॥
—रसिक मोहन—रघुनाथ, पृ० ३, प्र० सं० गोपीनाथ पाठक द्वारा सम्पादित सन् १८६५ में लाइट प्रेस, बनारस से प्रकाशित ।
३ पोद्दार ग्रन्थ मे आकलित डा० सत्येन्द्र का लेख पृ० ३९९

में पायी जाने वाली ऊहात्मक एवं अतिरंजनापूर्ण उक्तियों को अपभ्रंश की श्रृंगारिक रचनाओं के प्रभाव से ग्रस्त बताया है।[1] प्रतिक्रिया की बात चाहे अधिक ग्राह्य न हो, लेकिन डा० सत्येन्द्र के इस कथन से पूर्णतया सहमति प्रकट की जा सकती है कि रीति युग ने भक्तिकाल की तुलना में शैलीगत समस्त सज्जा को एक निश्चित व्यवस्था दी और भक्तिवादी दार्शनिक चिन्तना को हटाकर एकान्त भाव से कलावादी दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया।

यह कथन अधिक असंगत न होगा कि भक्तिकाल के सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने भारतीय दर्शन के विभिन्न स्वरूपों की जैसी गम्भीर विवेचना 'विनय पत्रिका' आदि ग्रन्थों में की है, वह जन सामान्य के लिए सर्वथा अग्राह्य है। यही नहीं, भक्ति युग में जीवन की विराटता एवं उसके शाश्वत आदर्शों पर इतना अधिक बल दिया गया कि मानव जीवन की ऐहिक प्रवृत्तियों को स्वच्छन्द रूप मे विकसित होने का बहुत कम अवसर मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि शनैः शनैः भक्ति युग की काव्य चेतना अधिक बहिर्मुखी और लौकिक उपादानों से अधिकाधिक सम्बलित होती गयी और वह श्रृंगार के एक विस्तृत धरातल पर उतर कर भक्ति युगीन दार्शनिकता से ऊबे हुए जन मानस के हास-विलास एवं अनुरंजन को सहज ही उत्तेजित करने लगी।

यद्यपि भक्ति काव्य की तुलना में रीति काव्य स्वानुभूति परक काव्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु लोक जीवन के मार्मिक स्वरूप की व्यंजना में इसका महत्व अप्रतिभ है। संस्कृत के पण्डित हाल के जिस 'गाथा सप्तशती' के सौन्दर्य की श्लाघा करते अघाते नहीं, उसमें लोक जीवन की सहज रमणीयता नहीं आ सकी है। इसे प्रकृत अर्थ में लोक साहित्य (फाक लिटरेचर) नहीं कहा जा सकता। इस तथ्य को डाक्टर एस० के० डे ने भी स्वीकार किया है।[2] अतः लोकतत्व की दृष्टि से रीति काव्य मे एक विशिष्ट सीमा में हीं सही—ऐसा वैविध्य है और पारिवारिक जीवन के ऐसे अनुरंजक चित्र हैं, जो रीति काव्य की पूर्ववर्ती काव्य धाराओं में हमें कम मिल पाते है, जो मिलते भी हैं, वे कलात्मकता के सौष्ठव से रहित और व्यंजना के अनूठे विधान से अलग भक्तिकाल स्वात्मवैशिष्टय निरूपण की दृष्टि से भले ही उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सके, लेकिन उसके स्वर में ऐसी तीव्रता नहीं है, जो हमारे व्याव-

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११३

2. ...and one of the largest collections such as early erotic verses going under the name of Hala, belongs to Prakrit Literature. This Prakrit-poetry is doubtless as conventional as the Sanskrit and is not folk literature in its true sense. Ancient Indian Erotics and Erotic Literature p 14 S K Dc

ह्रासिक जीवन की शिराओं में शक्तिमत्ता का रक्त-संचार कर सके। भक्ति युग की तुलना में रीति काव्य की अन्य विशेषता यह थी कि यहाँ के शृंगारिक परिवेश मे भक्ति युगीन राधा और कृष्ण सामान्य नायक-नायिका के रूप में परिवर्तित हो गये। देव ने तो यहाँ तक कह डाला—

> माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप।
> सबै दम्पतिन में प्रगट, देव करैं तिहि जाप॥[1]

२—शृंगार के उभय पक्ष

रीतिकाल में निर्मित होने वाले समस्त शृंगारिक काव्य के—चाहे वह रीति-बद्ध हों अथवा रीतिमुक्त—उभय पक्षीय (संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार) रूपों का मार्मिक चित्रण किया गया है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत नखशिख, नायक-नायिका भेद, अष्टयाम, षट ऋतु वर्णन, हाव चित्रण, मिलन, परिहास, क्रीडा-विलास आदि का सुखद कथन हुआ है और विप्रलम्भ शृंगार में पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण, वियोग की दस दशाएँ, दूती, बारहमासा, सन्देश, षट्ऋतु आदि का बहुत हृदय स्पर्शी वर्णन हुआ है।

यों नखशिख विषयक छन्द शृंगारिक मुक्तकों में अधिक भरे पड़े हैं, किन्तु इन पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गयीं। नायक-नायिका के अंतर्गत भेद में अधिकतर खंडिता और मुग्धा के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये गये। अष्टयाम की परम्परा भक्त कवियो से ही सीधे आयी है। कृष्ण भक्त कवियों की अपेक्षा राम काव्य के रसिक सम्प्रदाय मे अष्टयाम चित्रण की परिपाटी अधिक रही है। रीतिकाल में मुगलों के विलासी जीवन का मादक रूप इन अष्टयाम विषयक छन्दों में भली भाँति व्यक्त हुआ है। षट् ऋतुओं में यों भले ही सभी ऋतुओं की चर्चा कर दी गयी हो, किन्तु विशद चित्रण का प्रयास वर्षा और बसन्त में ही लक्षित होता है। संयोग में बसन्त और वियोग में वर्षा ऋतु की मार्मिक चित्रोद्भावना की गयी है। जहाँ तक मिलन और परिहास के वर्णन का सम्बन्ध है, इनकी तुलना में संस्कृत प्राकृत आदि पूर्ववर्ती भाषाओ मे ऐसे चित्रण बहुत कम मिलते हैं।

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत वियोगिनी की मानसिक दशाओं का वैविध्य पूर्ण निरूपण किया गया है। हाँ, विरह की ऊहात्मक प्रवृत्तियों के कारण ऐसी रचनाएँ प्राय अस्वाभाविक हो गयी हैं और उनकी सारी सजीवता रूढ़ियों में बँध जाने के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गयी हैं। वियोग में बारहमासा का वर्णन अवश्य ही पूर्व-वर्ती काव्य परम्पराओं से बहुत भिन्न है। यों बारहमासा की परम्परा सूफी कवियो

---

१ सुखसागर तरग दय स० प०   मिश्र पृ० १ सन १८९८ में प्रकाशित

में मिलती अवश्य है, लेकिन इसका विधान वहाँ प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत किया गया है और मुक्तक श्रृंगारी रचनाओं की भाँति इनमें इतनी अधिक सरसता और व्यंजना की इतनी प्रभावोत्पादक क्षमता नहीं आ सकी है। दूतियों द्वारा सन्देश-प्रेषण और नायिकाओं द्वारा पत्र विलेखन आदि क्रियाओं के वर्णन में रीतिकाल का श्रृंगारिक काव्य निश्चय ही बेजोड़ है। यही नहीं, जिस कृष्ण काव्य की भूरिशः श्लाघा की जाती है, उसकी तुलना में रीति युगीन श्रृंगारिक काव्य की कई ऐसी नूतनताएँ एव बचन भंगिमा की ऐसी सूक्ष्मताएँ हैं: जो स्पष्टतया मौलिक हैं।

(क) संयोग श्रृङ्गार

१—नख-शिख वर्णन

संयोग श्रृंगार का चित्रण करते समय रीति युग के अधिकांश कवियों ने उसके प्रमुख तत्व नख शिख का वर्णन करना बहुत ही अनिवार्य समझा। यही कारण है कि जिन कवियों ने नख शिख पर स्वतन्त्र पुस्तकें नहीं लिखीं, उन कवियों के भी मुक्तक छन्दों में किसी न किसी रूप में अंगों के सौन्दर्य-विधान की चेष्टा अवश्य परिलक्षित होती है। चूंकि रीति मुक्त कवियों में परिपाटी बद्धता का अधिक आग्रह नहीं है, इस कारण रीतिबद्ध कवियों की भाँति इनमें नखशिख चित्रण की प्रवृत्ति बहुत विरल है।

रीति काव्य के पूर्व नखशिख चित्रण की परम्परा का अभाव नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि मुक्तक श्रृंगारिक काव्यों में इस प्रकार का व्यापक प्रयास लक्षित नहीं होता। संस्कृत ग्रन्थों में 'अलंकार शेखर', 'कवि कल्पतरुलता' बृहत्संहिता एव 'गरुड़ पुराण' आदि ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें नख शिख प्रसंग का बहुविध विचार हुआ है। इधर हिन्दी रीति कवियों द्वारा वर्णित नखशिख परम्परा एक ओर जहाँ संस्कृत के स्तोत्र साहित्य आदि से अनुप्राणित है, वहाँ दूसरी ओर फारसी और उर्दू साहित्य मे वर्णित 'सरापा' (नखशिख) से भी कम प्रभावित नहीं है। फिर भी हिन्दी रीति काव्य में उपलब्ध नखशिख विषयक रचनाएँ उसी परम्परा की सर्वथा अनुकृति मात्र नहीं हैं, अपितु इस विषय में रीति कवियों ने अपनी स्वतन्त्र उद्‌भावना शक्ति एव मौलिक दृष्टि का भी विनियोग किया है।

हिन्दी रीति काव्य में नखशिख विषयक दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—(१) नखशिख पर स्वतन्त्र रचनाएँ, (२) श्रृंगार वर्णन के सन्दर्भ में कतिपय विशिष्ट अगों से सम्बन्धित रचनाएँ।

नखशिख पर स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होने वाली रचनाओं में बलभद्र कृत नख-शिख रसलीन कृत अंग दर्पण, शम्भु कृत नखशिख, चन्द्रशेखर कृत नखशिख, ग्वाल कृत नखशिख और रंगपाल कृत अंगादर्श* आदि मुख्य हैं। स्वतन्त्र रूप में लिखित

* नखशिख विषयक ये सभी रचनाएँ काशी के भारत जीवन प्रेस से बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी है

नखशिख विषयक कुछ ऐसी भी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें किसी विशिष्ट अग पर विचार किया गया है। इनमें मुबारक कवि कृत 'तिल शतक' और 'अलक शतक' प्रमुख हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार १८ वीं शताब्दी में अलमोड़े के विश्वेश्वर कवि ने 'रोमावली शतक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आगे चल कर मुबारक आदि कवियों ने अलक शतक, तिल शतक जैसे ग्रन्थों की रचना इसी से प्रभावित होकर की।[1] अवधवासी लाला सीताराम का अनुमान है कि मुबारक ने नायिका के दस अंगों से सम्बन्धित इसी प्रकार के अन्य पृथक-पृथक शतक ग्रन्थ भी रचे होंगे जिनमें केवल दो ही शतक–तिल शतक और अलक शतक अब उपलब्ध है।[2]

संस्कृत शृंगार काव्यों में नखशिख वर्णन के अन्तर्गत जिन अंगों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम इस प्रकार है—केशपाश, भाल, भ्रुव, लोचन, अपांग, नासिका, वर्ण, कपोल, अधर, दशन, चिबुक, वदन, कण्ठ, वाणी, भुजा, पाणि, अंगुली, कुच उदर, नाभि, त्रिबली, रोमराजि, पृष्ठ भाग, नितम्ब, जघन, गुह्यांग, पाद, गुल्फ, चरणांगुलि आदि।[3]

––षोडश शृंगार

इस दिशा में रीति कवियों ने अपने नखशिख चित्रण में संस्कृत और फारसी दोनों काव्यों की पद्धतियाँ अपनायी हैं। और परम्परागत समस्त रूढ़ियों के यथाश्यक ग्रहण और त्याग द्वारा अपनी नूतन कल्पना-शक्ति का उत्तम निदर्शन प्रस्तुत किया है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इन रीति कवियों ने नखशिख वर्णन प्रणाली के अन्तर्गत षोडश शृंगार की भी यथास्थल चर्चा की है। यद्यपि सभी शृंगारिक प्रसाधनों को ग्रहण करते समय षोडश शृंगार में से कुछ छूट भी गये हैं, पर ऐसा ज्ञात नहीं होता कि इन्हें उनकी अभिज्ञता न रही हो।

संस्कृति रीति ग्रन्थों में षोडश शृंगार की चर्चा बहुत कम की गयी है। केवल १५ वीं शताब्दी की बल्लभ देव कृत सुभाषितावली में षोडस शृंगार की गणना इस प्रकार की गयी है—स्नान, चीर, हार, तिलक, अंजन, कुंडल, नासा मौलिक, केश

---

१ हिन्दी साहित्य उसका उद्‌भव और विकास—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वि० सं०, पृ० २११

2 It is belived that he compifed a hundred verses on each of the ten parts of the heroines' body of which only to have come down to us, the Tilashatak and the Alakshatak. —Selections from Hindi Literature Book VI Part I. p. 153.—Lala S. Ram

३ सुभाषित सुधा रत्न की सूची से उद्धत पृ० २

पाश रचना, कंचुक, नूपुर, सुगन्ध, कंकण, चरणराग, मेखलारणन, ताम्बूल, कर दर्पण ।[१] इसके अलावा 'उज्ज्वल नीलमणि' में भी षोडश शृंगार का कथन हुआ है, लेकिन इसमें पूर्वोक्त षोडश शृंगार से कुछ भिन्न शृंगारिक उपादानों का समावेश हुआ है।[२]

हिन्दी के रीति पूर्व ग्रन्थों में 'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'रामचरित मानस', 'सूर सागर' आदि मुख्य हैं। इनमें षोडश शृंगार का सूक्ष्म उल्लेख हुआ है। सूक्ष्म उल्लेख से तात्पर्य यह है कि षोडश शृंगार के उपादानों का इन ग्रन्थों में पृथक्-पृथक् वर्णन नहीं हुआ है, केवल 'नव सत' अथवा 'सोलह' शब्दों द्वारा इसका संकेत भर किया गया है।

रीति परम्परा में षोडश शृंगार का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य केशवदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवि प्रिया' के चतुर्थ प्रभाव में इस प्रकार किया है—

प्रथम सकल सुचि मज्जन अमलवास, जावक, सुदेश केश पासनि सुधारिबो।
अंगराग, भूषण, विविध, मुख बास राग, कज्जल कलित, लोल लोचन निहारिबो।
बोलनि हंसनि चित चातुरी चलनि चारु, पल-पल प्रति पतिव्रत परिपारिबो।
केशवदास सविलास करहु कुंवरि राधै, यहि विधि सोरह सिंगारन सिंगारिबो ॥१७॥

इसकी टीका में लाला भगवानदीन ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

(१) सकल सुचि—शौच, दन्तधावन, उबटनादि करना, (२) मज्जन—स्नान, (३) अमलबास—स्वच्छ वस्त्र धारण करना, (४) जावक—पैरो मे महावर भराना, (५) केशपाश सुधरिबो—बाल संवारना, अंगराग—अंगों में विविध रंगों से कुछ चिन्ह बनाना। इसके अन्तर्गत पाँच शृंगार हैं—(६) मांग में सिन्दूर भरना, (७) भाल पर खौर, (८) गाल और चिवुक पर तिल बनाना, (९) उर स्थल पर केशर मलना, (१०) हाथो में मेंहदी लगाना। भूषण—दो प्रकार के होते हैं—(११) पद्म भूषण, (१२) सुवर्ण भूषण, (१३) मुखवास—एलालंवगादि चर्वना (१४) मुख-राग—मुंह को रंगना, यह दो प्रकार से होता है—(१५) होंठों को ताम्बूल से रंगना, (१६) नेत्रों में कज्जल देना।[३]

केशवदास के पश्चात् षोडश शृंगार के उदादानों में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता रहा। परिवर्तन की यह गति यहाँ तक बढ़ी कि षोडश शृंगार के अन्तर्गत अन्य उपादानो के स्थान पर केवल आभूषणों की ही बहुलता रह गयी—

---

१ रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, डा० बच्चन सिंह, पृ० ३०६
२. उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ७७
३ प्रिया प्रकाश टी० लाला पृ० ५५ ५६

मोतिन सो भरी मांग सीस फूल टीको दिये, बेसर तरौना छवि सारी जरतारी की।
मोतिन को हार भार फूल के हमेल हेम, कंकन जराव छवि आरसी निहारी की।
भरमी सुकवि कटि किंकिनी रसाल बाजे, जेहर औ पायजेब सोभा सुखकारी की।
बिछिया अनौट राजै खोडस सिंगार साजे, मोह्यो मन मोहन हो देखि दुति प्यारी की ॥२२२॥[1]

वास्तव में आभूषणों का जितना वर्णन रीति कवियों द्वारा हुआ, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आभूषणों का उपयोग वहाँ अधिक हुआ है, जहाँ कवियों ने नायिका के सौन्दर्य को अधिकाधिक दीप्तमान करना चाहा।

प्रवृत्ति की दृष्टि से समस्त रीति युगीन नखशिख वर्णन दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) चमत्कार मूलक, (२) भाव मूलक।

यों चमत्कार मूलक नखशिख काव्यों में भावानुभूतियों की तीव्रता अलंकारों और कल्पना की ऊँची उड़ान के कारण प्रायः क्षीण हो गयी है, पर जहाँ किंचित् संयम से काम लिया गया है, वहाँ चमत्कार मूलक नखशिख वर्णन में भी भावानुभूतियाँ प्राय मुखरित हो उठी हैं। भाव मूलक नखशिख में पर्याप्त मौलिकता है और उसमें कवि की सौन्दर्य चेतना का धरातल अधिक उदात्त और भव्य प्रतीत होता है। रूप की ऐसी सूक्ष्म कल्पना पूर्ववर्ती काव्यों में प्रायः नहीं दृष्टिगत होती। सौन्दर्य के ऐसे अनाविल स्वरूप का चित्रण रीति मुक्त कवियों में अधिक मिलता है। घनानन्द, द्विजदेव और रसखान की अधिकांश रचनाएँ रूप-चेतना का ऐसा रूप खड़ा करती ह, जिसकी समानता अन्य रचनाओं से नहीं की जा सकती।

—चमत्कार मूलक नखशिख : रोमावलि, पद नख, कटि, नाभि और उरोज, मुख नेत्र, और कटाक्ष

अब कतिपय उन अंगों की चर्चा की जायगी, जिनके वर्णन में रीति कवियो ने रूप चेतना की सहज सूक्ष्म एवं सहृदय संवेद्य दृष्टि का परिचय देने की अपेक्षा चमत्कार विधायिनी काल्पनिकता को अधिक महत्व दिया है। सबसे प्रथम इस सम्बन्ध मे देव कवि का रोमावलि विषयक एक छन्द लें—

रोमावलि—काम गिरि कुण्ड ते उठति धूम शिखा कै,
चटक चरनाली शारदा में पीत पंक की।

१ मनोज मंजरी, चतुर्थ कलिका, सं० नकछेदी तिवारी, छं० सं० २२२, पृ० ६३, द्वितीय

तनक तनक अंक पांति ज्यों कनक पत्र,
बांचत सशंक लंक लीनी रीति रंक की।
सूक्ष्म उदार में उदार निरै नाभी कूप,
निकसति ताते ततो पातक अतंक की।
रंचक चितौत चित बंचक बढ़ावै दोष,
रोम रेखा चौथि सोभ रेखा ज्यों कलंक की।[1]

इस छन्द में कवि ने नाभि से उठती हुई रोमावलियों की विविध प्रकार की कल्पना की है। कवि की कल्पना है कि यह कामदेव के गिरि (स्तन) के पास स्थित कुण्ड नाभि से उठती हुई धूम शिखा है, अथवा पीत पंक युक्त सरस्वती में गौरैया पक्षी की चरण पंक्तियाँ हैं अथवा स्वर्ण पत्र पर अंकित छोटे-छोटे अक्षरों की पंक्तियाँ हैं, जिन्हे बाँचते हुए लंक (कटि) ने रंक की अवस्था प्राप्त की है—अत्यन्त क्षीण हो चुकी है। इसी प्रकार अन्य पंक्तियों में कवि की दूरारूढ़ कल्पना की प्रधानता है। वस्तुत: संस्कृत मे चमत्कार विधायक ऐसे रूपों की कमी नहीं है[2], लेकिन इसमें परम्परा से भिन्न सर्वथा मौलिक अप्रस्तुत विधान उपस्थित किया गयाहै। पीत पंक युक्त सरस्वती मे गौरैया पक्षी की चरणावलि की उपमा पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में नहीं मिलती। देव की यह सर्वथा अनूठी उपमा है।

पदनख

संस्कृत साहित्य में पदनख का वर्णन प्राय: धार्मिक सन्दर्भ में हुआ है, शृगारिक परिवेश में भी इस ओर संस्कृत रीति कवियों ने अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की है, किन्तु रीति कवियों की भाँति उसमें ऐसी चित्रमयता और काल्पनिक सौन्दर्य का उन्मेष लक्षित नहीं होता। संस्कृत के पदनख का एक उदाहरण लीजिये—

तस्या: पादनखश्रेणि: शोभते किलसुभ्रुव:। रत्नावलीव लावण्य रत्नाकर समुद्गता।[3]

वस्तुत: बिल्हण की इस उक्ति में जो कुछ भी स्वारस्य है, द्वितीय पंक्ति में, जिसमें कवि की कल्पना है कि नख श्रेणी सौन्दर्य समुद्र से निकली रत्नावलियाँ हैं। किन्तु हिन्दी का रीति कवि इसी विषय को अपनी सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना का उपयोग करते हुए इतना मोहक बना देता है, जो निश्चय ही उसकी तुलना में अधिक मौलिक है—

---

१ सुखसागर तरंग—देव, पृ० ७६, छं० सं० २२०

२. अमुष्मिल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृश: स्मर: शर्वप्लुष्ट: पृथुजघनभागे निपतित.।
यदगांगाराणां प्रशमपिशुना नाभि कुहरे शिखा धूमस्येयं परिणमतिरोमावलि भिषात्।
—सु०सु०र० भ०-पृ० ८६

३ सु०सु०र० भा० पृ० ६२

गुरुजनहूं में राधे एके तक ताककरि प्रेम परिपाक कै न कबहूं डगी रहै।
गुरुदत्त भूपर उदोत जगमग जोति कविता चकोरन की ओरन जगी रहै।
भूली सुधि पल की अनूप अंशु जालन में रूप ही के लालच में पुलक पगी रहै।
तेरे पदनख शशि मंडल मैं बंक छबि सांवरे की नजर कलंक सी लगी रहै।[1]

राधा के पदनखों में कृष्ण की दृष्टि इस प्रकार लगी हुई है, मानो चन्द्रमा पर कलक लगा हुआ है। उक्तिगत मौलिकता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। फारसी और उर्दू में पदनखों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

कटि, नाभि और उरोज

इन तीन अंगों का रीति कवियों ने इतना अधिक वर्णन किया है कि कभी-कभी रीति काव्य के सजग अध्येता को इस विषय की ऐसी पुनरावृत्ति के कारण प्रायः अरुचि हो जाती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि कटि, नाभि और उरोज का चित्रण ऐन्द्रिक चेतना को उदबुद्ध करने की दृष्टि से जितना किया गया है, उतना रस्म अदायगी अथवा परिपाटी पालन की प्रवृत्ति से नहीं। नखशिख वर्णन की परम्परा में गृहीत इन अंगों का चित्रण करते समय रीति कवियों ने कल्पना की ऐसी सूक्ष्म अवतारणा की है कि कहीं-कहीं फारसी और उर्दू के भी कवि वहाँ तक पहुच नहीं पाते। बिहारी, देव, पद्माकर आदि की इस विषय की अनेक उक्तियाँ हमारे कथन की ज्वलन्त प्रमाण हैं। फारसी और उर्दू में कटि विषयक 'मुबालगा' का अधिक बोलबाला है। संस्कृत में भी ऐसी अतिशयोक्तियों और अतिरंजनापूर्ण उक्तियो का अभाव नहीं है। हाँ, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में विरहावस्था विषयक जैसी सूक्ष्म कल्पनाओं का बाहुल्य है, वैसी कटि विषयक कल्पनाओं का नहीं। हिन्दी का रीति काव्य कटि वर्णन में प्रायः फारसी काव्य परम्परा से अधिक प्रभावित है। लेकिन प्रभाव का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें स्वतन्त्र एवं मौलिक उद्भावना का अभाव है। प्रमाण के लिये उर्दू के जिस प्रसिद्ध रचना की अधिक दाद दी जाती है, उसकी तुलना में रीति कवि का भी एक छन्द दिया जा रहा है। दोनों की तुलना मे यह अधिक स्पष्ट हो जायगा कि किसकी उक्ति अपेक्षाकृत उत्तम है—

(१) सनम सुनते हैं तेरी भी कमर है, कहाँ है? किस तरफ है और किधर है?[2]
(२) कोऊ कहै बार सी सेवार सी कहत कोऊ,
कोऊ कंज तार सी बतावत निसंक है।

---

१ मनोज मंजरी—चतुर्थ कलिका, सं० नकछेदी तिवारी, पृ० ३, छं० सं० ८, द्वितीय संस्करण

२ शेर ओ शायरी सं० प्रकाश पंडित पृ० १०

मेरे जान सिरिफ लोनाई की लपेट लागी,
ताही की लहन औ लचक होत बंक है।
तोषनिधि जोपै वे अधार को बहम बाढ़ै,
तो पै परतच्छ को प्रमान कौन रंक है।
जैसे भूमि अम्बर के मध्य में न खम्भ कोऊ,
तैसे लोल लोचनी के अंक में न लंक है।[1]

उर्दू के इस छन्द में कटि के अस्तित्व का कुछ अंश स्वीकार्य है, इसी कारण उसकी खोज की जा रही है, लेकिन तोषनिधि के छन्द से स्पष्टतया प्रकट है कि जैसे पृथ्वी और आकाश के मध्य में कोई खम्भा नहीं है, उसी प्रकार उस चंचल नेत्री के शरीर मे कमर का भी अस्तित्व नहीं है। यद्यपि इन छन्दों में चमत्काराशियता का ही आग्रह विशेष है, फिर भी काल्पनिक तत्वों का ऐसा विकसित रूप अस्वीकार नही किया जा सकता।

फारसी और उर्दू काव्य में कटि वर्णन सरापा (नखशिख) के सन्दर्भ मे किया गया है, किन्तु हिन्दी रीति काव्य में कटि सौन्दर्य निरूपण दो प्रसंगो मे हुआ है—
(१) नख शिख विषयक स्वतन्त्र रचनाओं के अन्तर्गत, (२) अज्ञात यौवना नायिका के अन्तर्गत। अज्ञात यौवना नायिका के अन्तर्गत वयः सन्धि की स्थिति में कटि के शनैः शनैः क्षीण होने का कौशलपूर्ण चित्रण किया गया है। रीति कवियों ने कटि क्षीण होने का प्रभूत मात्रा में वर्णन किया है। अज्ञात यौवना के अन्तर्गत महाकवि देव ने कटि की क्षीणता का वर्णन करते समय दशमलव सिद्धान्त का उपयोग किया है। कविवर देव ने जिस वैदग्ध्य के साथ इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, वह इनकी पैनी काल्पनिक दृष्टि का ज्वलन्त परिणाम है—

इन्दु ज्यों मुखार विन्दु बिन्दु बिन्दु बाढ़त,
घटै ज्यों अंक लंक बिन्दु बिन्दुन बढ़ाये ते।[2]

जैसे यौवनारम्भ होने पर चन्द्रमा की भांति कमल मुख की दीप्ति एवं सौन्दर्य का शनैः शनैः बढ़ना स्वाभाविक है, उसी प्रकार विन्दुओं के बढ़ाने से अंक की भाँति कटि का घट जाना भी स्वाभाविक है। अभी तक इस प्रकार की उपमाएँ नहीं मिली। हाँ, बिहारी की 'तिय ललार बेंदी दिये अगनित बढ़त उदोत' जैसी पंक्तियों में गणितीय सिद्धान्त का संकेत अवश्य मिलता है, लेकिन दशमलव विषयक सिद्धान्तों की चर्चा अन्यत्र नहीं मिलती।

---

१. मनोज मंजरी—चतुर्थ कलिका, सं० नकछेदी तिवारी, पृ० ७, छं० संख्या २३, द्वितीय संस्करण
२ सुख सागर तरंग—देव छ० सं० ३६१ पृ० १२६

नखशिख के अन्तर्गत नायिका की कटि का वर्णन करते समय उसके मार्दव और सौकुमार्य की उपेक्षा नहीं की गयी। मतिराम की अधोलिखित पंक्तियों से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है—

कैसे सुकुमारि वह बाहिर बिजन आवै,
बिजन बयारि लागे लचकत लंक है।[1]

अन्य छन्दों में इस प्रकार की कल्पना की गयी है कि नायिका अत्यन्त सुकुमार होने के कारण अपने हार के भार से रो रही है, क्योंकि हार का भार उसके लिए असह्य है और बालों के भार से तो उसकी क्षीण कटि कई बार झुक चुकी है।[2] कुछ रीति कवियों ने तो कटि के लिए दृष्टि का भी किंचित् भार असह्य बताया है।[3]

रीति सिद्ध कवियों में बिहारी ने 'सूक्षम कटि पर ब्रह्म लौं' पंक्ति द्वारा नायिका की कटि की सूक्ष्मता का पूर्ण उल्लेख अपनी सतसई में किया है। रीति परम्परा के अन्तिम कवियों में पद्माकर ने अपने 'जगद्विनोद' में कटि के लूट लिए जाने का स्पष्ट संकेत किया है[4] और इधर ग्वाल कवि ने नायिका के सौकुमार्य के निरूपण में कच एवं कुच के भार से कमर के झुक जाने की मधुर कल्पना की है।[5]

रीति मुक्त कवियों ने कटि विषयक कल्पना अन्तर की गम्भीर समवेदना से पर्याप्त अनुप्राणित है। आलम की इस रचना से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है—

काँधे ही कंधलो अलबेलोपनो खेलो चाहे,
पाछे ही बिसारे खेलैं झांई देखै कूप की।
सावकी कुरंगी की सी संध्या को मयंक जैसे,
लाँक बिनु डोलै औ निसंक सीत धूप की।
आलम झुकति थोरी हंसे ते हंसति पुनि,
हरत हरी को मनु आनन अनूप की।

---

१ हफीजुल्लाहीखाँ का हजारा–संग्रहकर्ता हफीजुल्लाह खाँ, सं० रूपनारायण पाण्डेय, पृ० ३६८, छं० सं० १५१, छठा संस्करण।

२ हफीजुल्लाह खाँ का हजारा—पृ० ३६७, छं० सं० १५०

३ (क) रंचक दीठि के भार लहे बहुबार बिलोकनि ईठि अनैसी।
—सुन्दरी सर्वस्व—सं० मन्नालाल द्विज, पृ० ४

(ख) एक प्रान प्यारी जू की कटि लचकीली,
पर ढीली ढीली नजर संभारे लाल डारिये। —शृंगार सुधाकर
—मन्नालाल द्विज, पृ० ११, छं० सं० ४१

४ पद्माकर पंचामृत—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ९१

५ कवि हृदय विनोद—ग्वाल, पृ० ११५, छन्द संख्या ७४, पाषाण यन्त्रालय मथुरा मे मुद्रित

चंदन चखौड़ा भाल गोरे अंग आंगी लाल,

पूछे ते पिछौंड़ी आति मौंड़ी औड़ी रूप की ।[१]

प्रस्तुत छन्द वय: सन्धि वर्णन से सम्बन्धित है। किन्तु आलम ने इसमें नायिका के अन्यान्य अंगों के सौन्दर्य चित्रण के साथ ही कटि की सूक्ष्मता का अत्यन्त हृदयग्राही रूप प्रस्तुत किया है। 'लाक बिनु डोले' द्वारा एक गत्यात्मक चित्र की बड़ी रमणीय व्यंजना हुई है। पूरा का पूरा चित्र कवि की सूक्ष्म सौन्दर्य निरीक्षण शक्ति का परिणाम है। इसमें आलंकारिक चमत्कार का ही आग्रह नहीं है, वरन् कवि ने नायिका की मुद्राओं के अंकन में अपनी गम्भीर रागानुभूति का भी परिचय दिया है। शृंगारिक परम्परा में ऐसे चित्र कम ही मिलते हैं।

स्वच्छन्द काव्य-धारा के दूसरे कवि बोधा ने भी नायिका के नखशिख वर्णन में पर्याप्त सिद्धहस्तता प्रकट की है। 'इश्क नामा' में तो ऐसे छन्द नहीं मिलते, किन्तु 'बिरह बारीश' नामक प्रेमाख्यानक काव्य ग्रन्थ में पुरानी परिपाटी का नखशिख वर्णित है। बोधा ने नायिका के कटि वर्णन में कुछ अमूर्त उपमानों का उपयोग किया है। जैसे—कटि की सूक्ष्मता का वर्णन करते समय उसे फूलों की सुगन्ध और कवि अक्षरों में व्याप्त अर्थ से उपमित किया है। वास्तव में फारसी और संस्कृत में इस प्रकार की कल्पना नहीं की गयी—

कमल मृणालहुते दूगन छीन योगी कैसीं,

आशा पाइ रूप मानियतु है।

सुमन सुगन्ध कवि अंकन अरथ जैसे,

गणित को भेद सोंचि यों बखानियतु है।

बोधा कवि सूत के प्रबान ब्रह्म ज्ञान जैसे,

चलत हलत यों प्रमानियतु है।

दृष्टि में परे ना यों अदृष्टि कटि तेरी प्यारी,

ह्वै है तो विशेष उपमान जानियतु है।[२]

संस्कृत रीति ग्रन्थों में कटि के जिन उपमानों की विशेष चर्चा की गयी है, वे प्रकार हैं—सुई की नोक, शून्य, अणु, वेदी, सिंह की कटि और मुष्टि ग्राह्यता।[३] रीति कवियों ने इन पुराने उपमानों के अतिरिक्त अपनी स्वतन्त्र उद्भावना से नये-नये उपमानों की भी खोज की है।

---

१. आलम केलि—सं० लाला भगवानदीन, पृ० ७६ छं० सं० १२

२. बिरह बारीश—बोधा कवि, पृ० ६३ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से सन् १८६४ में मुद्रित।

३. अलंकार शेखर—केशव मिश्र, १३, ११, १२

नायिका के अन्य विशिष्ट अंगों में नाभि का वर्णन संस्कृत और हिन्दी रीति काव्य में बहुत ही विस्तार पूर्वक हुआ है। नाभि रीति कवियों का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है और शृंगार का निरूपण करने वाला शायद ही कोई कवि इस अंग की उपेक्षा कर सका हो। उर्दू में इस विषय के छन्द प्रायः नहीं मिलते। संस्कृत में भी इस विषय का जिस प्रकार का वर्णन हुआ है, वह रीति काव्य की तुलना में अधिक चारुतापूर्ण नहीं है। कारण यह है कि नायिका के अंगों के ऐन्द्रिक प्रभाव की जैसी क्षमता हिन्दी रीति काव्य में पायी जाती है, वैसी अन्य भाषाओं के शृंगारिक काव्यों में कठिनाई से ही मिलेगी। नाभि का वर्णन करते समय त्रिवली और रोमावलि का भी कथन इसके साथ ही हुआ है। संस्कृत रीति ग्रन्थों में नाभि विषयक जिन उपमानों की चर्चा की जाती है, उनमें रसातल, ह्रद, कूप, आवर्त्त और नद आदि मुख्य हैं।[1]

नाभि का वर्णन करते समय रीति काव्य कर्ताओं की दृष्टि उसके चामत्कारिक रूपों के प्रति अधिक सजग रही। यही कारण है कि इसे ब्रह्मा की दावात और कामदेव की मथानी तक कह डाला गया।[2] फिर भी परम्परा प्रचलित उपमानों को ग्रहण करते हुए भी इन शृंगारिक कवियों ने नाभि विषयक नाना विध नूतन कल्पनाएँ की हैं और यथास्थल नायिका की मादक शृंगारिक चेष्टाओं के वर्णन द्वारा ऐन्द्रिय चेतना को पूर्णतया उदबुद्ध करने की सफल चेष्टा की है। संस्कृत काव्य में नाभि विषयक वर्णन में दो दृष्टियाँ प्रधान हैं—(१) नाभि का आलंकारिक चमत्कारों द्वारा वर्णन, (२) नाभि का सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करने की दृष्टि से किया गया वर्णन। नाभि का आलंकारिक चमत्कारों के रूप में अत्यधिक वर्णन हुआ है और उपमा और रूपक आदि की सहायता से कहीं उसे नदी बनाया गया है और कहीं सरोवर।[3] सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करने की दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ की 'भामिनी विलास' का यह श्लोक उत्तम माना गया है—

नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाशमालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः
नैवा व रोहति कदापि च मानसान्ये नाभेः प्रभा सरसिजो दरायाः।[4]

किन्तु रीति काव्य में नाभि सौन्दर्य का निरूपण बहुत कुछ मौलिक दृष्टि से हुआ है। वहाँ केवल संस्कृत में गिनाये गये पुराने उपमानों का ही विनियोग नहीं किया गया

---

१ अलंकार शेखर—केशव मिश्र, १३, १०, ११
२. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, पृ० १६०, १६१ छं० सं० २११
३. कुचकुम्भौ समालम्व्य तरन्ती कान्ति निम्नगाम्।
प्रमादितस्ततो दृष्ट्वा दृष्टिर्नाभौ निमज्जति।—सुभा० सु० र० भा०, पृ० ८७
४ भामिनी विलास टी० महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० ६८ नया स०

वरन् उसके ऐन्द्रिय प्रभाव को अधिकाधिक उत्कट बनाने के लिए हिन्दी रीति कवियों ने सूक्ष्म एवं कल्पना परक नूतन उपमानों द्वारा सर्वथा अनूठे सौन्दर्य चित्रों की सृष्टि की है। उदाहरण के लिए नृपशम्भु का एक छन्द लीजिए—

रूप को कूप बखानत हैं कवि कोऊ तलाव सुधा ही के संग को।
कोऊ तुफंग मोहारि कहै दहला कल्पद्रुम भाषत अंग को।
बारहीं बार विचार कियो नृप संभु नयो मत मोभति ढंग को।
सीसी उरोजन ते मद धारा रमावली नाभी न प्याला अनंग को।[१]

इसमें नृप शंभु ने परम्परागत कूप, तालाब, हवाई बन्दूक का द्वार तथा कल्पद्रुम का थाला आदि उपमानों के स्थान पर नये उपमानों द्वारा एक नया मत स्थिर किया है। अतः नृप शम्भु के अनुसार यह नाभि नहीं है, वरन् कामदेव का प्याला है, जिसमें उरोज रूपी शीशी से रोमावलि रूप आसव की धार भरी जा रही है। इसमें सामन्तीय समाज की भी एक झलक मिल जाती है, जिसमें मदिरा, प्याला और मदिरा की शीशीं की ही प्रचुरता थी।

बिहारी ने नाभि के स्वरूप का मादक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए भाँति-भाँति की अप्रस्तुत योजना का प्रश्रय नहीं लिया, बल्कि नायिका की आंगिक चेष्टाओं द्वारा उसके सौन्दर्य की एक अमिट छाप नायक के मानस-पटल पर बड़ी कुशलता से डाली है—

त्रिबली नाभि देखाय करि, शिर ढकि सकुच सभाय।
अली गली की ओट ह्वै, चली भली विधि चाय॥[२]

इसमें निश्चय ही पंडितराज जगन्नाथ के उपर्युक्त श्लोक की तुलना में अधिक प्रभविष्णुता और प्रभावान्विति मौजूद है। बलभद्र मिश्र ने नाभि को मोहनी का निवास स्थान बताया है, क्योंकि नाभि मनमोहन के भी मन को हरण कर लेती है।[३] रसलीन ने नाभि का वर्णन दो स्थलों पर किया है—(१) नाभियुत उर त्रिबली वर्णन, नाभि अन्तर वर्णन। नाभि युत उर त्रिबली का वर्णन इस प्रकार किया है—

मो मन मंजन को गयो उदर रूप सर धाय।
पर्‌यो सु त्रिबली झंवर तें, नाभी भंवर मझाय॥[४]

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—मन्नालाल द्विज, पृ० ६, छं० सं० २

२. बिहारी सतसई—कृष्ण कवि की टीका, पृ० ३७, छं० सं० ९९

३. नाभी तेरी तरुनी निवास किधौं मोहनी को, मेरे मनमोहन को मन हर लीनो है नखशिख—बलभद्र मिश्र, पृ० २५, छं० सं० ५०, प्र० सं० सन् १८६४ में भारत जीवन प्रेस से मुद्रित।

४. अंग दर्पण—रसलीन, पृ० २०, छं० सं० १४३, सन् १९०५ ई० में तृतीय बार मुद्रित।

रसलीन का यह वर्णन बहुत कुछ परम्परा से प्रभावित है। किन्तु आचार्य देव ने परम्परा से गृहीत उपमानों में नवीन कल्पना के समावेश द्वारा सौन्दर्य की मौलिक सर्जना की है। उनका नाभि विषयक एक छन्द लीजिए—

त्रिबली त्रिबेणी तट रोमावलि घूम लट, यौवन पटल ज्योति बेंदी छबि तुण्ड में।
वेद ध्वनि बोलै गुणमन्त मुनि किंकिणीक, रसना रतन मणि मुकतान झुण्ड में।
देव जू अनंग अंग होमि कै भसम संग, अंग अंग उमह्यो अखैबर ज्यों कुंड में।
ओज निज पाव कै उरोज भवभाव कै, मनीखी ह्वै मनोज मख मांग्यो नाभि कुंड मे।[1]

यद्यपि देव ने इतनी बड़ी कल्पना नाभि के कुंड जैसे प्राचीन उपमान क आधार पर की है, किन्तु 'मनोज के यज्ञ' द्वारा मानो कवि की असाधारण ऐन्द्रिय चेतना शत-शत मुखी होकर फूट पड़ी है। यों उरोज का शंकर रूप में कल्पित किये जान की कवि प्रौढ़ोक्ति भूरिशः मिलती है, परन्तु नाभि में कामोद्दीपन की क्षमता प्रदर्शित करने के लिए देव का यह कथन कि उरोज रूपी भव (शंकर) ने अपन ओज रूप पावक द्वारा कामदेव के यज्ञ को मंडित किया, सर्वथा मौलिक है। समस्त छन्द का भाव यह है कि तरुणी नायिका के उभरते हुए स्तनों पर काम का प्रभाव लक्षित होने लगा है तथा उसके साथ ही नाभि भी काम चेतना के उदबुद्ध करने मे पूर्ण सहायक है। यौवन के इस स्वाभाविक विकास को कवि देव ने अपनी नूतन उद्भावना शक्ति द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि मानो शंकर रूप याज्ञिक ने नाभि कुंड में कामदेव को होम कर दिया (भस्म कर दिया) है और उसका प्रभाव होम किये जाने पर भी सूखे अक्षयबट की भाँति अंग-अंग में अक्षुण्ण है। यौवन के समय काम की सहज व्याप्ति और अंगों की चेष्टाओं और सौन्दर्य के मादक प्रभाव की इतनी तीव्र अनुभूति प्राचीन परम्परा के काव्य ग्रन्थों में बहुत कम ही मिलेंगी।

रीतिमुक्त कवियों द्वारा सौन्दर्य निरूपण के सन्दर्भ में नाभि का चित्रण बहुत कम किया गया। जिन कवियों ने इस सम्बन्ध में यत्किंचित् कहने का साहस भी किया तो वे परम्परा से आगे न बढ़ सके और प्राचीन काव्य रूढ़ियों के आधार पर निरूपित उनका नाभि विषयक सौन्दर्य–चित्रण अधिक अनाकर्षक और प्रभावहीन हो गया है।[2] रीति मुक्त कवियों में केवल द्विज देव ने कुच, रोमावली और नाभि का सयुक्त वर्णन किया है और नाभि को गम्भीर भँवर के रूप में चित्रित किया गया है—

प्रथमैं लखि द्वै गिरि ऊँचे घने, फिरि जातैं बन्यौं न सम्हातें बन्यौं।
पुनि आगैं लख्यौ तौ लखी इक नागिन ता डर तें डरपातें बन्यौं॥

---

१. सुख सागर तरंग—देव, पृ० ७५, छं० सं० २१८

२ विरह वारीश—बोधा पृ० ६३

बढ़ि आगैं ही औंर गम्भीर लखैं, द्विजदेव हिएँ सकुचातें बन्यों ।
करतूति कितीक कितीक करी, पै बिरंचहि पीठि दै जातें बन्यौं ॥[1]

यद्यपि इस छन्द में परम्परा का ही पालन अधिक है, किन्तु नायक के स्थान पर स्वयं सौन्दर्य सृष्टिकर्ता के पीठ देकर जाने की उक्ति अवश्य रसग्राही है ।

नारी के जिन विशिष्ट सौन्दर्यवर्द्धक अंगों की चर्चा की जाती है, उनमें उरोज का भी अपना एक स्थान है । वास्तव में उरोज सौन्दर्य एवं कला के उपासकों का एक प्रिय विषय रहा है । यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी वाङ्मय में उरोज विषयक उक्तियों का अभाव नहीं है । यों संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू आदि भाषाओं के कवियों की उरोज से सम्बन्धित उक्तियाँ श्लाघ्य अवश्य हैं, किन्तु उनकी तुलना में निश्चय ही रीति काव्य में वर्णित उरोज विषयक रचनायें मौलिक उक्ति एवं कल्पना में प्रायः अग्रणी हैं ।

उरोज के सम्बन्ध में संस्कृत रीति ग्रन्थों में जिन मुख्य उपमानों का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं—कमल, जम्बीर, हाथी का कुम्भ, पूगफल, चक्रवाक, कमल कोरक, सौवीर आदि ।[2] इन रूढ़ उपमानों के अतिरिक्त उरोज के नखक्षत[3] और कंचुकी का भी वर्णन हुआ है ।[4] इस अंग के औन्नत्य, श्यामता, विस्तृति, दृढ़ता, पांडुता आदि गुणों का भी कथन हुआ है ।[5]

संस्कृत साहित्य में स्तन भार से झुकी हुई युवतियों को पुष्प गुच्छ भार से नम्र हुई लताओं से उपमित किया गया है ।[6] पर हिन्दी में संस्कृत की ऐसी बहुत सी उपमाएँ परित्यक्त कर दी गयीं और बहुत से नये-नये उपमानों द्वारा अधिक सरस और मोहक उक्तियों की कल्पना की गयी । यही नहीं, पुराने एवं रूढ़ उपमानों के प्रयोग द्वारा कल्पना के नव-नव रूपों की अभिव्यक्तियाँ भी हुई हैं । वस्तुतः पारम्परिक दृष्टि के मूल में इन रीति कवियों ने अपनी सौन्दर्य-चेतना को सदैव अक्षुण्ण रखा । इस कथन की पुष्टि के लिये कुछ छन्द प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(क) रजनी बितई रति सौं सजनी थिरकैं दृग द्वै तजि चंचलता ।
कवि 'आलम' आलस ही जल पै किलकैं कुच खीन मई कलता ॥

---

१. श्रृंगार लतिका सौरभ—द्विजदेव, पृ० ७६६, छं० सं० २६१
२. अलंकार शेखर—केशव मिश्र, पृ० ४६
३. सुभाषित सुधा रत्न भाण्डागारम्—पृ० ८५, श्लोक सं० ५३
४. ,, ,, पृ० ८६, श्लोक १
५. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६६, पां० से
६. इदं लताभिः स्तवकानताभिर्मनोहरं हतवनांतरालम् ।
सदैव सेव्यं स्तनभारवत्योन चेद्युवत्योहृदयं हरेयुः ॥१०८॥
भामिनी विलास पृ० १०७

किये चकित बाम हरी कंचुकी गई उच्चकि यों छवि अंग लता।
सकुच्यो जु सिवार समीर लगे प्रगटी सर की मनो उज्ज्वलता ॥[1]

(ख) माणिक निखर मुख मेरु के सिखर बिबि,
कनक बनाये बिधि कनक सरोज के।
कैधौं रुचि भूपर अनूप रचि राखे देव,
रूपक समूह, द्वै उज्यारे अति ओज के।
कोमल नवेली बाल बेली फूल फूलै किधौं,
उमगे निशंक उर अंकुर उरोज के।
या पुर पुरन्दर ह्वै चाहत बसायो,
सोन सुन्दर कलश धरे मन्दिर मनोज के।[2]

प्रथम छन्द की अन्तिम पंक्ति में किंचित् कंचुकी के हट जाने से दृष्टिगत होने वाले उरोजों के अनुपम सौन्दर्य की कल्पना ऐसे तालाब से की गयी है, जिसकी उज्ज्वलता हवा लगने से संकुचित शैवाल से सहज ही प्रकट हो जाती है। यद्यपि उपमा पुरानी है, किन्तु आलम ने पुरानी बोतल में नया आसव रखने का स्तुत्य प्रयास किया है। दूसरे छन्द की भी अधिकांश पंक्तियाँ परम्परा का अनुसरण कर रही हैं, किन्तु तीसरी और चतुर्थ पंक्ति थोड़ी भिन्न है। इसमें उरोजों के सुन्दर उभार की अनुभूति को व्यक्त करने के लिये देव ने उन्हें 'ओज के उज्ज्वल रूपक' माना है। कल्पना के इस रम्य और सार्थक प्रयोग के लिए डा० नगेन्द्र ने देव की पर्याप्त श्लाघा की है।[3] वस्तुतः पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में इस प्रकार की कल्पना नहीं की गयी।

हिन्दी रीति काव्य में उरोजों के सौन्दर्य का भावन तीन दृष्टियों से हुआ है—

१—उक्ति वैचित्र्य मूलक कल्पना द्वारा

२—ऐन्द्रिय चेतना को उभारने वाली संस्पर्शन की अनुभूति द्वारा

३—अन्तर के सहज अनुराग को लक्षित करा देने वाली शृंगारिक व्यंजना द्वारा।

उरोज के सम्बन्ध में रीति कवियों ने उक्ति वैचित्र्य मूलक कल्पना का विधान शृंगार के विभिन्न प्रसंगों में किया है। कहीं-कहीं तो अपने कथन की भंगिमा और वक्रिमा के कारण रीति कवि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों से भी आगे निकल गया है। उक्ति वैचित्र्य मूलक कल्पना का एक उदाहरण लीजिए—

सांझ समै अलबेली तिया दियरा करि के अपने घर आवै।
पौन बहै अति ही सियरो तब अंचल मैं सुखदेव दुरावै।

---

१. आलम केलि— सं० लाला भगवानदीन, पृ० १४१, छं० सं० ३६१, प्र० सं०
२. सुख सागर तरंग—देव, पृ० ७६, छं० सं० २२२
३ देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० १८७

देखि उरोज सिरीफल दीपक आपने ही हिय ते ललचावैं ।
कीजै कहा गहिबे को नहीं कर याही ते मानहु सीस धुनावैं ।[१]

उपर्युक्त छन्द में कवि ने उरोज के सौन्दर्य की जैसी मादक व्यंजना की है, वह सर्वथा मौलिक है । इसमें कवि की ऐन्द्रिय चेतना शनैः शनैः किस प्रकार चेतन धरातल से उतर कर जड़ धरातल तक छा जाती है, उसकी एक मार्मिक झलक प्रस्तुत है । यों प्राचीन साहित्य में उरोज विषयक उक्तियों की कमी प्रायः नहीं है किन्तु ऐसी उक्तियाँ ढूँढ़ने पर ही मिलेगी । छन्द का भाव इस प्रकार है—

सन्ध्या समय अलबेली नायिका अपने गृह-कक्ष को अलोकित करने के लिए आ रही है । आते समय शीतल पवन बहने के कारण नायिका उसे अपने अंचल में छिपा रही है, क्योंकि दीपक के बुझ जाने का भय है । इधर दीपक अपने निकट श्रीफल 'उरोजों' को देखकर मन ही मन ललचा रहा है और हाथ न होने की विवशता के कारण अपना मस्तक धुन रहा है, क्योंकि ऐसे उत्तम फल को ग्रहण करने का कोई अन्य साधन भी तो नहीं है । यद्यपि उरोजों के लिए श्रीफल उपमान प्राचीन ही हैं, किन्तु कवि की रमणीय कल्पना ने समस्त उक्ति को रसार्द्र बनाने में कोई प्रयास छोड़ा नहीं ।

रीति कवियों की उरोज विषयक उक्तियों में संस्पर्शन से सम्बद्ध भाव और अनुभूतियां अधिक मिलेगी । इस प्रकार की अनुभूतियां का चित्रण और इस प्रकार की कल्पना की रमणीयता मूलक कथन कामशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रभाव के ही कारण मिलता है । कामशास्त्रीय ग्रन्थों में उरोज भी कामोद्दीपन के प्रबल उपादानों में अभिहित हुआ है । रीतिकाव्य में बहुत से ऐसे शृंगारिक प्रसंग मिलेंगे, जहाँ नायक द्वारा नायिका के उरोज संस्पर्शन की सान्द्र अनुभूति का मार्मिक विश्लेषण किया गया है । यद्यपि भारतीय रमणियों की सहज शालीनता और लज्जा शीलता उनकी प्रच्छन्न कामैषणा को अधिक उद्दीप्त नहीं कर पाती, फिर भी प्रौढ़ा नायिका द्वारा आंख मूंदने के बदले नायक की पीठ पर उरोजों का संस्पर्शन किया जाना अवश्य एक मधुर कल्पना है—

आंखिनि मूंदिबे के मिसि आनि अचानक पीठि उरोज लगावै ।
केहूं केहूं मुसक्याइ चितै अंगराइ अनूपम अंग दिखावै ।
नाह छुई छल सौं छतिया हंसि भौंह चढ़ाइ अनंद बढ़ावै ।
जोबन के मदमत्त तिया हित सौं पति को नित चित्त चुरावै ।[२]

---

१. दिग्विजय भूषण—गोकुल कवि, सं० डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृष्ठ १९०, छंद सं० २९

२ पृ० १०७ छ०सं० १०५ पाषाण मे मुद्रित

सम्स्पर्शन की अनुभूति को अधिक सजीव बनाने के लिए रीति कवियो ने नाना प्रकार की समृद्ध कल्पनाएं की है। इसी सन्दर्भ में नायक द्वारा किये गये नखक्षत की भी चर्चा यत्र-तत्र हुई है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका के उरोजों के नखव्रण का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त यौन विज्ञान और मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से भी विचार करने पर नखक्षत आदि प्रेम क्रीड़ाओ का सम्बन्ध अधिकतर जीव विज्ञान से ही है। अतः जहाँ कहीं भी स्त्री पुरुष है, इस प्रकार की क्रियाएं उनमें अवश्य मिलेंगी। इसके मूल में वस्तुतः यौन उत्तेजना ही है और यौन उत्तेजना की पराकाष्ठा होने पर ही उक्त क्रियाएं प्रारम्भ होती हैं। वात्स्यायन का तो यहां तक कथन है कि यदि रूप, गुण, यौवन को स्मरण कराने वाले नखचिन्ह नायिका के शरीर पर न हों तो बहुत दिनों की छूटी हुई प्रीति बिलकुल नष्ट हो जाती है।[1]

कामशास्त्रोक्त इस तथ्य को रीति कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना शक्ति द्वारा किस प्रकार रमणीय बना दिया है, वह इस छन्द में द्रष्टव्यहै—

सखि भोर उठी बिनु कंचुकी भामिनि कान्हर सों करि केलि घनी।
कवि ब्रह्म भन जिहि देखत ही वनिजात नहीं मुख ते बरनी।
कुच अग्र नखक्षत कंत दियो मुख नाइ निहारति है सजनी।
शशि शेखर को शिर ते सुमनो निहुरे बिधु लेत कला अपनी।[2]

प्रस्तुत छन्द का आशय यह है कि नायिका प्रातःकाल उठकर कंचुकी रहित उरोजों में लगे हुए नखक्षत को अपने मुख को झुका कर इस प्रकार देख रही है मानो चन्द्रमा (नायिका का मुख) नत होकर शंकर (उरोजों) से अपनी कला (द्वितीय के चन्द्र जैसे नख चिन्हों) को ले रहा है। यों उरोज और नख चिन्ह के उपमान पुराने ही हैं, लेकिन ब्रह्म कवि ने एक उत्कृष्ट कलात्मक विधान द्वारा इन्हें अपूर्व लावण्य प्रदान किया है।

उरोज की स्पर्शानुभूति का चित्रण शृंगार के विभिन्न प्रसंगों में हुआ है। कही प्रेम की सहज तरलता और कहीं उभरते हुए यौवन की मादकता की रमणीय अभिव्यक्तियों के कारण स्पर्श की ऐन्द्रिय चेतना अधिक प्रगाढ़ और तीव्र हो गयी है। इस सम्बन्ध में देव कवि कृत मुग्धा नव बधू का एक छन्द लीजिए—

---

१ चिरोत्सृष्टेषु रागेषु प्रतिर्गच्छेत्परा भवम्।
रागायतन संस्मारि यदि न स्यान्नखक्षेतम् ।।२८।।—हिन्दी का सूत्रम
—टी० श्री देवदत्त शास्त्री पृष्ठ २७९

२. शृंगार संग्रह—सं० सरदार कवि- पृ० २५. छं०सं० ३३. प्र०सं० नवलकिशोर प्रेम मे सन १८८८ ई० में मुद्रित

गोकुल गांव की गोप सुता, कवि देव न केतिक कौतिक ठानै ।
खेलत मोही पै नन्द कुमाररी, बारहि बार बड़ाई बखानै ।
मोरिये छाती छुवै छिपि के, मुख चूमि कहै कोई और न जानै ।
काहे ते माई कछु दिन ते, मन मोहन को मन मोही सों मानै ।।[१]

इस छन्द में तिरोहित एवं प्रसुप्त 'सेक्स' अनुभूति को अधिक प्रबुद्ध करने के लिए कवि ने उरोज स्पर्श और मुख चुम्बन क्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। तीसरी और चौथी पंक्ति में मुग्धा नवबधू की औत्सुक्य मूलक भाव-व्यंजना द्वारा सहज ही स्पष्ट हो गया है कि शारीरिक संस्पर्शन से किस प्रकार मानसिक आकर्पण गुरुतर हो गया है। छिपकर छाती का स्पर्श किया जाना भी इस तथ्य की ओर पूर्ण संकेत कर रहा है कि 'सैक्स' भाव से अपरिचित भोला-मानस सहसा संस्पर्शन के गुरुत्वाकर्षण से किस प्रकार वीणा के तारों की भाँति स्वरित गति से झंकृत हो जाता है। शृंगारिक अनुभूतियों की ऐसी प्रभविष्णुता अन्य शृंगारिक काव्यों में नहीं मिलेगी।

बिहारी ने अपनी सतसई में एक ऐसे क्रियाचातुर नायक का उल्लेख किया है, जिसने लड़का लेने के बहाने नायिका का स्तन बड़ी चतुराई से स्पर्श कर लिया—

लरिका लैबे के मिसनु, लंगरु मो ढिग आइ ।[२]
गयो अचानक आंगुरी छाती छैलु छुवाइ ।।

वस्तुतः रीति काव्य में ऐसे नायकों की कमी नहीं है, जिन्होंने किसी न किसी बहाने से नायिका के स्तन-स्पर्श का अवसर निकाल अवश्य लिया है—

देखन को बन को निकसीं, बनिता बहु बानि बनाइ के आगे ।
देव कहैं दुरि दौरि के मोहन, आय गये उतते अनुरागे ।।
बाल की छाती छुई छल सो घन कुंजन में बस पुंजन पागे ।
पीछे निहारि निहारत नारिन हार हिये के सुधारन लागे ।।[३]

प्रस्तुत छन्द का भाव यह है कि इधर से ब्रज की नारियां बन-ठन कर कुंज देखने को निकलीं, उधर से राधा के प्रेम में अनुरक्त कृष्णचन्द्र चुपके से दौड़ पड़े और छल से राधा के उरोजों को स्पर्श कर लिया और जब पीछे देखा कि हमारी इन हरकतों को अन्य सहेलियां देख रही हैं तो बहाने से अपने हृदय के हार को सुधारने लगे। इसमें लज्जास्पद व्यापारों से कम्पित ऐसे नायक की मनः स्थिति को उद्घाटित किया है, जिसकी अन्य चेष्टाएं कुकृत्यों की गोपनीयता के अतिरिक्त निष्क्रिय एवं क्षीण हो चुकी हैं।

---

१ भाव विलास—सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० १०५, प्र०सं०।
२. बिहारी रत्नाकर—दो० सं० ३८६. पृ० १५६. प्र० सं०
३ भाव विलास—सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी पृ० ४६

अन्तर केसहज अनुराग को लक्षित करा देने वाली श्रृंगारिक व्यंजना के अन्तर्गत नायिका के उरोजों का निरूपण रीति काव्य का एक परम स्पृहणीय विषय रहा है। इस सन्दर्भ में रीति युग का सजग कलाकार श्रृंगार की अतुल गहराई में उतर कर ऐन्द्रिय चेतना का ऐसा सहज भावन कर सका है, जिसकी समकक्षता का नमूना श्रृंगारिक काव्य परम्परा में नहीं मिल पाता। ऐसे रसात्मक प्रसंगों की उद्भावना प्रायःमुग्धा नववधू और अज्ञात यौवना नायिका को लेकर की गयी है। तद्विषयक तोष कवि का एक नमूना लें—

> लोचन लोल लसैं असुवा कन जाइ सो धाइ सो जाइ पुकारे।
> वा रतिया से भई छतिया मँह पीर नहीं पै लगै अति भारे।
> अन्तर ताहि दियो कहि तोष सो बाजि उठ्यो मन मोद नगारे।
> तूँ जनि नेकु डेराइ इन्हें बलि. पीर सहेंगे विलोकन वारे।।[1]

गौवन काल में उभरते हुए उरोजों से अपरिचित अज्ञात यौवना साश्रु नेत्रों से अपनी धाय से इसका कारण पूछती है। कारण ज्ञात होने पर उसके मन के प्रमोद-नगाडे बजने लग जाते हैं और उसके अन्तर का सहज उल्लास सहसा व्यक्त हो जाता है। इसके साथ ही साथ किस प्रकार उसके दुःख की परिणति आनन्द की अटूट धारा में हो जाती है, इसकी अत्यन्त मार्मिक श्रृंगारिक व्यंजना इसमें हुई है। बाजि उठे मन मोद नगारे में आन्तरिक अनुराग की बड़ी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है।

कविवर देव ने इसी प्रसंग में एक बड़ी रमणीय कल्पना की है। उनकी कल्पना का वह चित्र इस प्रकार है—

> गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाये।
> सील सयान सखीन सिखायो सबै सुख सासुरेहू के सुनाये।।
> बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये।।
> यों सुनि ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अंकुर से उठि आए।।[2]

नवविवाहिता नायिका गौने के समय चलने के लिए तैयार है। उसकी समवयस्का और बड़ी बधुएं उसका श्रृंगार कर रही हैं और ससुराल में प्राप्त होने वाले सुखो की मधुर चर्चा के साथ ही उसे शील, चतुराई आदि की बातें भी सिखा रही हैं और अन्त में कह देती हैं कि हमेशा प्रियतम के मन में कोमल और अच्छी लगने वाली बातें, हँस कर बोलना इतना सुनते ही उसके ओछे उरोजों पर अनुराग के अंकुर निकल पड़ते हैं। इन प्रेमांकुरों के कारण जहाँ एक ओर नायिका के आन्तरिक प्रेम भाव की ऐसी मूक व्यंजना प्रियतम मे भावी मिलन की स्थिति स्पष्ट कर रही है,

---

१ भाव विलास—देव० सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी- पृ० ७ प्र० सं०

२ कवि तोष और सुधानिधि स० डा० सुरन्द्र माथुर पृ० ११३ छं० स० २६

वहां दूसरी ओर उसकी सहज शालीनता और लज्जा शीलता के सूक्ष्म तन्तुओं मे उलझी हुई उसके मानस की यौन चेतना उभरते हुए उन उरोजों पर जैसे सहसा प्रस्फुटित हो उठी है। रीति काव्य में अनुभावों के ऐसे स्वाभाविक विधान द्वारा शृंगारिक अनुभूतियों की ऐसी मार्मिक और विशद विवेचना प्रस्तुत की गयी है जिसमे पर्याप्त नवीन दृष्टियां लक्षित होती हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि प्रेम मूलक प्रसंगों में रीति कवियों के रस सिक्त हृदय की प्रगाढ़ तन्मयता व्यक्त हुई है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

मुख, नेत्र और कटाक्ष

नख-शिख काव्य-परम्परा के अन्तर्गत मुख, नेत्र और कटाक्ष के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया हैं। हिन्दी की शृंगारिक काव्य-धारा के अन्तर्गत मुख की तुलना में नेत्रों पर नानाविध कलात्मक उक्तियां उपलब्ध हैं। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू तथा फारसी काव्य-परम्परा में भी इन अंगो से सम्बन्धित प्रचुर साहित्य प्राप्त है। फिर भी, हिन्दी रीति काव्य में वर्णित मुख नेत्र और कटाक्ष विषयक कथन कई दृष्टियों से अन्यान्य काव्यधाराओं से पर्याप्त मौलिक है तथा इन अंगों के माध्यम से हिन्दी रीति कवियों ने अपनी सौन्दर्य चेतना के जिस भव्य एवं उदात्त स्वरूप की विवेचना की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। सर्वप्रथम हम रीति कवियों द्वारा प्रस्तुत मुख विषयक विभिन्न उक्तियों पर विचार करेंगे।

संस्कृत के 'अलंकार शेखर' आदि ग्रन्थों में मुख विषयक जिन उपमानों की चर्चा की गयी है, वे इस प्रकार हैं—चन्द्रमा, कमल तथा आरसी आदि। संस्कृत और हिन्दी के शृंगारिक कवियों ने प्रकारान्तर से इन्हीं रूढ़ उपमानों का प्रयोग किया है और जहाँ आवश्यकता पड़ी है, इन रूढ़ उपमानों के मेल से नई-नई कल्पनाओं से प्रसूत सौन्दर्य के अगणित चित्रों की सृष्टि की है। हिन्दी रीति काव्य में मुख सौन्दर्य निरूपण के सम्बन्ध में दो दृष्टियां मिलती हैं—

(१) कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि।

(२) भाव सौन्दर्य की दृष्टि।

कलात्मक दृष्टिकोण को अधिक प्रभविष्णु बनाने के लिए रीति काव्य के कलाकारों ने एक-से-एक मौलिक उक्तियों का विधान किया है। रीतिकाल में कलात्मक चेतना इतनी सजग और उद्बुद्ध है कि उसकी तुलना में पूर्ववर्ती परम्परा की अन्य उक्तियां प्रायः पीछे रह गयी हैं। कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से वर्णित मुख विषयक रचनाएँ अलंकरण की प्रवृत्ति से पूर्णतया प्रभावित है और इस सम्बन्ध मे जिन अलंकारों का प्रयोग किया गया है, उनमें अधोलिखित मुख्य हैं—

उपमा- सन्देह- प्रतीप- भ्रम व्यतिरेक रूपक उत्प्रेक्षा एवं अतिसयोक्ति

अब कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से किया गया मुख-सौन्दर्य निरूपण विषय का एक नमूना लें—

कातिक पून्यो कि राति ससी दिसि पूरब अंबर में जिय जान्यौ।
चित्त भ्रम्यो पुमनिंदु फनिंदु उठ्यो भ्रम ही सो भुलान्यौ।
देव कछू बिसवास नहीं, सोई पुंज प्रकास अकास में तान्यौ।
रूप-सुधा अँखियान अंचै निहिचै मुख राधिका को पहिचान्यौ॥[1]

छन्द का आशय यह है कि पहले भगवान कृष्णचन्द्र ने राधिका के मुख को देखकर पूर्व दिशा में उदित कार्तिक पूर्णिमा का चन्द्रमा समझा, लेकिन जब मणि युक्त केशपाश के कारण उस पूर्ण चन्द्र से मणि युक्त सर्प जैसा उठता हुआ दिखायी दिया, तब उनका चित्त भ्रमित हो गया और जब उनकी दृष्टि आकाश की ओर गयी और वहां भी उसी प्रकार का प्रकाश पुंज तना हुआ दिखायी पड़ा तो उन्हें कुछ विश्वास नहीं हुआ कि वास्तविक चन्द्र कौन है? अन्त में अपनी आँखों से राधिका के सौन्दर्य सुधा का पान कर लेने के पश्चात् ही उन्हें मुख चन्द्र की प्रतीति हुई।

कवि ने अपने सौन्दर्य-बोध को जिस प्रक्रिया से प्रस्तुत किया है, निश्चय ही वह पूर्ववर्ती परम्परा से भिन्न है। यद्यपि कवि की कल्पना का यह सूक्ष्म रूप उसके कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि के कारण अधिक निखरा है, तथापि इसका समस्त स्वारस्य भ्रम और व्यतिरेक अलंकारों पर ही निर्भर है। रीति कवि में कलात्मक उत्कर्ष विधान की दृष्टि इतनी अधिक है कि उसकी तुलना में कहीं-कहीं उर्दू और संस्कृत आदि के कवि भी नहीं ठहर पाते। उर्दू साहित्य में मुख सौन्दर्य का निरूपण जिस पद्धति से किया गया है, उसमें कलात्मक विधान तो अवश्य श्लाघ्य है, किन्तु सौन्दर्य चेतना का जैसा सूक्ष्म धरातल रीति काव्य में मिलता है, वह उर्दू में अतिरंजनात्मक प्रक्रिया का अधिक अवलम्ब ग्रहण करने के कारण प्रायः क्षीण हो गया है। उदाहरण के लिए एक छन्द लीजिये—

रूखे रौशन के आगे शमअ रखकर वो ये कहते हैं।
इधर जाता है देखें या इधर परवाना आता है।[2]

दीप्त मुख के समक्ष दीपक (मोमबत्ती) रख कर वे इस बात का अनुमान लगाते है कि शलभ (परवाना) इधर जाता है—दीप्त मुख की ओर आकृष्ट होता है अथवा उधर—दीपक के प्रकाश की ओर आकृष्ट होता है। वास्तव में मुख दीप्ति और दीपक प्रकाश में तुलना करते हुए कवि ने यह सहज ही व्यक्त किया है कि दीपक की तुलना मे उसके मुख का प्रकाश और सौन्दर्य कहीं अधिक है। यहाँ मुख सौन्दर्य की अति-

---

१. देव सुधा—सं० मिश्रबन्धु, पृ० ४८, छं० सं० ५७, प्र० सं०
२ शेर ओ शायरी—सं० प्रकाश पंडित पृ० १०

शयता व्यंग्य है ।

इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'भामिनी विलास' की भी एक उक्ति द्रष्टव्य है । उस उक्ति की समस्त सरसता एवं रमणीयता सन्देह अलंकार पर ही निर्भर है—

तीरे तरुण्यां वदनं सहासंनीरे सरोजम् च मिलद्विकासम् ॥
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरंदलुब्धालि किशोर माला ॥[1]

सरोवर के तीर पर तरुणी के सहास्य मुख और जल में विकसित कमल को देखकर मुग्ध मकरन्द लोभी अलि किशोर माला दोनों ओर दौड़ती है । कमल मुख और कमल मे निश्चय नहीं हो पाता कि कौन वास्तविक कमल है ।

वस्तुत: ऐसे छन्दों में चमत्कार का आग्रह इतना बढ़ गया है कि कवि की अभीष्ट सौन्दर्य-चेतना का स्वरूप बहुत दब-सा गया है । रीति काव्य में भी जहा ऐसी उक्तियों की प्रधानता है, वहाँ निश्चय ही उनकी सौन्दर्य दृष्टियाँ अपना प्रभाव क्षमता खो बैठी है, किन्तु जहाँ सौन्दर्य दीप्ति पर कवि की दृष्टि अधिक जमी है, वहाँ रूप विषयक समस्त चित्र-विधान अधिक रसार्द्र होने के साथ ही ऐन्द्रिय प्रभविष्णुता से सम्पृक्त हो गया है । संस्कृत काव्य परम्परा में प्राप्त ऐसे छन्दों की कमी नहीं है, जिनमें रूढ़ उपमानों का मात्र कोरा प्रदर्शन है और नवीन एवं मौलिक उक्तियों के स्थान पर पुरानी और प्रभावहीन उक्तियों का विन्यास किया गया है । उदाहरणार्थ उद्‌भट की मुख विषयक एक उक्ति लें—

इयं सुनयना दासी कृत तामरस श्रिया । अननेनाकलंकेन जयतीन्दु कलंकिनम् ॥[2]

अर्थात् इस सुनयना के निष्कलंक (निर्दोष) मुख ने अपने सौन्दर्य से कमल की श्री (सुन्दरता) को वशीकृत कर लिया और कलंकी चन्द्र को जीत लिया । वस्तुत: इस उक्ति में मौलिकता का अंश पूर्णतया तिरोहित हो गया है । अब मौलिकता की दृष्टि से महाकवि देव की अधोलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

आरसी से अम्बर में आभासी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका के प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द ।[3]

इसमें कलात्मक उत्कर्ष की पूर्ण रक्षा करते हुए मुख सौन्दर्य की बड़ी उच्च कल्पना की गयी है । यद्यपि मुख के लिए चन्द्र उपमान परम्परा विहित है, किन्तु कवि ने उक्ति की रमणीयता और उसकी प्रभाव क्षमता के संवर्द्धन के लिए सर्वथा नवीन सूझ से

---

१. भामिनी विलास—पंडितराज जगन्नाथ, टी० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, छं० सं० २२, पृ० ७३
२. सुभाषित सुधा रत्न भाण्डागारम्—पृ० ७७, छं० सं० ६
३ सुख सागर तरग देव स० प० मिश्र पृ० ८ छ० स० २४

काम लिया है। इस छन्द में समस्त आकाश मण्डल में आरसी की उद्भावना की गयी है और उदित चन्द्रमा को राधिका के मुख का प्रतिबिम्ब कहा गया है। नायिका के मुख लावण्य वर्णन के सन्दर्भ में रीति कवियों ने एक ओर जहाँ संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य की तद्विषयक उक्तियों की सूक्ष्मता को ग्रहण करते हुए अपनी उक्तियों को अधिकाधिक मौलिक बनाने का प्रयास किया है, वहीं दूसरी ओर फारसी और उर्दू की सुकुमार कल्पना और नाजुक ख्याली के बल पर उन्हे अपेक्षाकृत अधिक सहृदय संवेद्य भी बनाया है। अब इस सम्बन्ध में एक मौलिक सूझ का नमूना लें—

ब्रह्मा राधिका के मुख के समान दूसरा मुख बनाने के लिए प्रतिदिन चन्द्र को आकाश पर चढ़ाकर शान फेरता है और उसपर पानी चढ़ाने के लिए समुद्र में डुबाता है। पुनः राधिक के मुख चन्द्र से समानता न होने पर उसे टुकड़े-टुकड़े करके तोड़ डालता है (मास के प्रथम पक्ष में चन्द्रमा शनैः शनैः घटने लगता है) और फिर उसे खडशः जोड़ता है (मास के द्वितीय पक्ष में चन्द्रमा धीरे-धीरे बढ़ने लगता है) और पूर्णिमा के दिन बढ़ने की यह क्रिया पूर्ण हो जाती है।

आनन्द को कन्द वृषभानुजा को मुख चन्द,
लीला ही तें मोहन के मानस कों चोरै है।
दूजों तैसो रचिबे कों चाहत विरंचि नित,
ससि को बनावै अजौं मन कों न मोरै है।
फेरै है सान आसमान पै चढ़ाय फेरि,
पानिप चढ़ायबे को वारिधि मैं बोरै है।
राधिका के आनन के सम न विलोकै,
यातें टूक टूक तोरै पुनि टूक टूक जोरै है।[1]

रीति मुक्त कवि ठाकुर ने अपने एक छन्द में मुख सौन्दर्य की चर्चा करते हुए उन तत्वों का उल्लेख किया है, जिनसे नायिका के मुख की रचना हुई है। वस्तुतः कवि ने कलात्मक उत्कर्ष विधायक उपादानों का संघटन ऐसे कौशल पूर्ण ढंग से किया है, जिसके कारण समस्त छन्द में एक नवीनता और ताजगी स्वभावतया आ गयी है—

कोमलता कंज तैं गुलाब तें सुगन्ध लैके,
चंद ते प्रकास कियो उदित उजेरौ है।
रूप रति आनन तैं चातुरी सुजानन तें,
नीर लै निवानन तैं कौतुक निबेरो है।
ठाकुर कहत यों मसालौ विधि कारीगर,

---

१ शृंगार सुधाकर—स० द्विज पृ० ३६ छ० स० १४०

रचना निहारि जन होत चित चेरौ है।
कंचन को रंग लै सवाद लै सुधा को,
बसुधा कौ सुख लूटि कै बनायो मुख तेरौ है।[१]

फारसी और उर्दू साहित्य में 'मुबालगा' का जैसा बोल बाला रहा, हिन्दी रीति काव्य उससे किसी भी माने में पीछे नहीं रहा। अतिशयोक्ति और अतिरंजना की सृष्टि करते समय हिन्दी के रीति कवि ने अपनी सौन्दर्यानुभूति को ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है, जिसके कारण उसकी उक्तियाँ सर्वथा अनूठी बन गयी हैं। इसकी पुष्टि के लिए एक छन्द की कुछ पंक्तियाँ देखें—

प्यारी को बनाय विधि हाथ धोये ताको रंग,
जभि भयो चन्द हाथ झारे भये तारे हैं।[२]

ब्रह्मा ने नायिका के मुख का निर्माण करने के पश्चात् जब अपना हाथ धोया तो उसके हाथ के छूटे हुए रंग (धोवन) के जम जाने से चन्द्रमा की सृष्टि हुई और हाथ झाड़ते समय जो जल गिरा, उससे तारेगण बन गये। बिहारी सतसई में कविवर बिहारी ने नायिका की मुखचन्द्र दीप्ति का वर्णन करते समय ऐसी अतिशयोक्ति का विनियोग किया है, जिसके समक्ष उर्दू कवियों की भी उक्तियाँ फीकी मालूम होती हैं—

पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर कैं चहूं पास।
नित प्रति पून्यौई रहै, आनन ओप उजास ।।७३।।[३]

प्रस्तुत छन्द का भाव यह है कि मुखचन्द्र की दीप्ति के कारण नायिका के घर के आसपास सदैव पूर्णिमा की ही स्थिति बनी रहती है। अतः अन्य तिथियों को जानने के लिए पत्रा का ही उपयोग करना पड़ता है। अब इसकी तुलना में उर्दू कवि नासिख का एक शेर देखें—

घर के बाहर मेरे रश्के माह को आने न दो।
चाँदनी पै शुभा होगा सायरे दीवार का ।।[४]

अर्थात् उस चन्द्रमुखी को घर से बाहर मत निकलने दो, अन्यथा चाँदनी उसके प्रकाश के समक्ष दीवार की छाया प्रतीत होगी।

---

१. ठाकुर शतक—सं० बाबू काशीप्रसाद, पृ० ३१, छं० सं० ८७, प्र० सं०, सं० १९६१ में प्रकाशित
२. श्रृंगार सुधाकर—सं० मन्नालाल द्विज, पृ० सं० ३७, छं० सं० १४३
३. बिहारी रत्नाकर—टी० बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० ३६, दोहा संख्या ७३, प्रथम संस्करण।
४ रस शर्मा पृ० ६८१

दोनों कवि की तुलना से स्पष्ट है कि रीति कवि अपने कलात्मक उत्कर्ष के विधान में कितना निपुण था, ऐसा नहीं प्रतीत होता की उसकी ऐसी सरस एवं मादक उक्तियाँ प्राचीन कवियों का मात्र उच्छिष्टांश ही है और उसकी स्वप्रतिभा मौलिक एव अनूठी उक्तियों के विधान में असमर्थ है।

नायिका के मुख सौन्दर्य का निरूपण करने के लिए रीति कवियों ने शृंगार के नाना विध प्रसंगों की मार्मिक उद्‌भावना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि रीति कवि अपने सौन्दर्य-बोध को अनेक रूपों में व्यक्त करना चाहता है, क्योंकि उसके मानस की सौन्दर्य चेतना कल्पना के जिन नवीन चित्रों की सृष्टि करती है, उनसे उसकी पूर्ण तृप्ति नहीं हो पाती। इस कारण रीति काव्य के अन्तर्गत एक ही विषय के जिन चित्रों की बारम्बार अवतारणा की गयी, उनमें नवीनता और मौलिकता का अभाव नहीं है। इसकी पुष्टि के लिये एक रसग्राही चित्र का नमूना लीजिए। यद्यपि इस छन्द में विषयगत मार्मिकता का अभाव है, किन्तु चन्द्र और चन्द्रमुखी की पूजा विषयक सामग्री का कवि ने जैसा संभार किया है, वह उसकी सौन्दर्य विधायक दृष्टि के कारण परम्परा गत उक्तियों से सर्वथा भिन्न है। प्रसंग यों है कि नायिका चन्द्रोदय के समय चन्द्र पूजा के लिए खड़ी होती है, किन्तु चन्द्र की समकक्षता में उसके बढ़ते हुए मुख सौन्दर्य को देखकर उसकी सखियाँ कहती हैं, हे प्यारी, तू तो इधर चन्द्र बन्दना करने के लिए प्रस्तुत है, किन्तु उधर चन्द्र उलटे तेरी ही पूजा कर रहा है—

> पानी को लै पानि तू प्रनाम करै बार-बार,
> सुधा लै प्रनाम तोहि कीनों सिन्धु नन्दना।
> तू तौ पूजै आखत लै वह तौ नखत लै,
> तू तो गहे अलक, वह गहै तम छन्दना।
> मुरली सुकवि स्वेत चीर तन धारी तैं,
> याही ते गरै में डारयौं चाँदनी को फन्दना।
> चन्द बन्दना को तू खड़ी है प्यारी चन्दमुखी,
> तेरे मुख चन्द को करत चन्द बन्दना ॥[1]

प्रस्तुत छन्द की समस्त कारीगरी कल्पना के नव विधान में ही लक्षित होती है। शृंगारिक परिवेश में रीति कवियों ने संस्कृत उक्तियों का मार्जन भी किया है और सारे प्रसंग विधान को इतनी चतुराई से बदल दिया है कि लगता है कि उन कलाकारों की दृष्टि परम्परागत मान्यताओं को, स्वीकृत काव्य रूढ़ियों को, घिसी-पिटी

---

१. नवीन कवि कृत प्रबोध सुधारस—छं० सं० ९०१, स्वर्गीय डा० भवानीशंकर याज्ञिक से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से

अप्रस्तुत योजनाओं को उसी रूप में ग्रहण करने में प्रस्तुत नहीं है। इस सन्दर्भ में रीति पूर्व परम्परा के कवि गंग का एक छन्द लीजिए—

एक समै पून जोत ससि को उदोत भयो,
सुनि कै गहन लोभ देखैं सबै धाइ कै।
जोति की सी ज्वाल बाल, इन्दु सो मुखारबिन्दु,
कहै कवि गंग भै महल ठाढ़ी आइ कै।
चन्द और चन्दमुखी याहि गहि याही गहैं,
ऐसें ही विचार राति सारी को बिताइ कै।
चन्द भयौ अन्त चन्दमुखी निज भौन आई,
राहु गयौ गेह निज हिये पछिताइ कै।[1]

इस छन्द का भाव यह है कि पूर्णिमा की ज्योत्स्ना में लोग यह सुन कर कि आज ग्रहण लगेगा देखने के लिये निकल पड़े। इधर चन्द्रमुखी नायिका भी चन्द्र ग्रहण देखने के लिये अपने महल में खड़ी हुई, किन्तु चन्द्र और चन्द्रमुखी को देखकर राहु को स्वयं भ्रम हो गया और वह यह निश्चय नहीं कर सका कि कौन चन्द्रमुख और कौन प्रकृत चन्द्र है। अतः इसी विकल्प में उसने सारी रात बिता दी और इधर प्रात होते-होते चन्द्र अस्त हो गया तथा चन्द्रमुखी अपने गृह चली गयी। बेचारा राहु पश्चाताप करते हुए अन्ततः अपने घर लौट गया। इसमें सन्देहालंकार द्वारा नायिका के चन्द्रमुख के सौन्दर्य को चन्द्र से उत्तम कहा गया है। यद्यपि चन्द्र से नायिका के मुख की तुलना विषयक उक्ति प्राचीन काव्य में भूरिशः मिलेगी, किन्तु गंग ने जिस सन्दर्भ में रख कर इसे देखा है, वह निश्चय ही मौलिक है। इसी से मिलता-जुलता एक छन्द कालिदास कृत 'शृंगार तिलक' में भी प्राप्त होता है—

झटिति प्रविशगेहं माबहिस्तिष्ठकान्ते ग्रहण समयवेलावर्त्ततशीतरश्मेः
तदिहविमलकान्तिंवीक्ष्यनूनंसराहुर्ग्रसतितवमुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय ॥[2]

अर्थात् हे प्रिये, इस समय चन्द्रग्रहण का समय है, इस कारण बाहर मत खड़ी हो, शीघ्र ही घर में चली जा, अन्यथा राहु अन्ततः निश्चय करके तेरे कान्तिपूर्ण चन्द्र को ग्रस लेगा और चन्द्र को छोड़ देगा।

इन दोनों छन्दों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदास की अपेक्षा गंग की उक्ति अधिक रसग्राहिणी है। कारण यह है कि गंग के छन्द में राहु चन्द्र और चन्द्रमुख के सारूप्य के कारण वास्तविक निर्णय करने में असमर्थ रहा और

---

१. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण, पृ० १५, छं० सं० ४६
२. शृंगार तिलक—कालिदास, पृ० १?, श्लोक सं० ६, स० १६८२ में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई में मुद्रित

कालिदास के छन्द में राहु वास्तविक चन्द्र से नायिका के मुख को अधिकाधिक कान्तिमान समझ कर ग्रस लेना चाहता है। अतः यहाँ मुख और चन्द्र सौन्दर्य के अभेद की प्रतीति अपेक्षाकृत नहीं रह पाती, जो समस्त छन्द की रसान्विति में पूर्ण योग देती है। इसी से गंग का छन्द तुलना में उत्कृष्टतर है।

वस्तुतः मुख के उपमान रूप में चन्द्र की चर्चा बहुत पुरानी हो गयी है। फिर भी, हिन्दी रीति काव्य में चन्द्र के सम्बन्ध में नये-नये रूपों की ऐसी अवतारणा की गयी है, जिससे पुराने उपमानों में सौन्दर्योन्मेष की एक झलक अवश्य मिल जाती है। कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी की शृंगारिक काव्य-परम्परा में मुख के सन्दर्भ में प्रस्तुत जैसी उक्तियाँ देखने को मिलती हैं, उनसे इन कवियों की मौलिकता के बारे में कथमपि सन्देह नहीं किया जा सकता। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए कुछ मौलिक उक्तियों की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। संस्कृत आदि पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा में मुख सौन्दर्य का निरूपण करते समय नायिका के मुख को प्रतीप और व्यतिरेक अलंकारों द्वारा श्रेष्ठ ठहराने का अत्यधिक प्रयत्न किया गया है और चन्द्र की हीनता प्रदर्शित करने के लिए उसके कलंक की बहुविध चर्चाएं हुई हैं। हिन्दी रीति काव्य में भी अधिकांश स्थलों पर चन्द्र कलंक के कारणों की खोज की गयी है। कविवर मतिराम ने एक छन्द में चन्द्र कलंक की जैसी रमणीय कल्पना की है, वह निस्संदेह मौलिक है। अब मतिराम का वह छन्द लीजिए जिसमें नायिका के मुख सौन्दर्य के अपहरण में ब्रह्मा ने दण्ड स्वरूप चन्द्रमा के मुख में कलंक रूप कालिख पोत दी है—

सुंदरि बदनि राधे सोभा को सदन तेरो, बदन बनायो चारिबदन बनाय कै।
ताकीरुचि लैन को उदित भयो रैनिपति, मूढ़ मति राख्यौ निज कर बगराय कै।
मतिराम कहै निसिचर चौर जानि याहि, दीनीं है सजाय कमलासन रिसाय कै।
रातौ दिन फेरै अमरालय के आस-पास, मुख में कलंक मिस कारिख लगाय कै।[1]

रसलीन ने चन्द्र कलंक की कल्पना कुछ दूसरे ढंग से की है। उनका कथन है कि चन्द्रमा में न तो यह मृग-अंक है न पृथ्वी की छाया है और न कलंक ही है, वरन् नायिका के मुख सौन्दर्य से पराजित होकर चन्द्रमा ने अपने सिर को घिस-घिस कर काला कर लिया है।

नहिं मृगंक भू अंक यह, नहिं कलंक रजनीस।
तुव मुख लखि हारो, कियौ घसि घसि कारौ सीस।[2]

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—सं० पं० कृष्णविहारी मिश्र, पृ० १०६ छन्द संख्या ६६, प्र०सं०

२ अंग दर्पण रसलीन पृ० १३ छंद संख्या ६० तृतीय सं०

कविवर भंजन का छन्द कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से रसलीन की तुलना में अधिक श्लाघ्य है। कवि ने कल्पना का जैसा उदात्त चित्र इसमें प्रस्तुत किया है, वह वस्तुत मौलिक है, छंद देखें—

भंजन जू मेरे जान चन्द्रमा को छीलि विधि,
प्यारी को बनायो मुख सोभा के विलास की।
तादिन ते छाती छेद भयो है छपाकर के,
वार पार दीखत है नीलिमा अकास की।[1]

अर्थात् चूंकि ब्रह्मा ने चन्द्रमा को छीलकर नायिका के मुख-सौन्दर्य का निर्माण किया है और चन्द्र से उतना अंश निकल जाने के कारण उसकी छाती में छिद्र हो गया है अत उसी दिन से उसमें (कलंक रूप में) आकाश,की नीलिमा दिखायी पड़ रही है।

मतिराम, रसलीन और भंजन की समता में कविवर रघुनाथ ने नायिका के मुख सौन्दर्य की दीप्ति का जैसा वर्णन किया है, वह सर्वथा अनूठा है। अभी तक कविवर रघुनाथ के जोड़ की उक्ति पूर्ववर्ती काव्यधाराओं मेंन हीं मिली, छन्द देखे—

जानिबे को निशिदिशि ऊरघ को देख्यौ ज्योंही,
त्योंही फैल्यो आनन प्रकाश ऐसे अंक को।
भौर लौं उड़त एक रहि गो कलंक,
बाकी छपि गयो व्योम बीच मडल मयंक को।[2]

छन्द का प्रसंग यों है कि कोई मध्यावासक शय्या नायिका पर्यंक पर बैठी अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है, किन्तु चिर प्रतीक्षोपरान्त जब नायक नहीं आया तो गृह से निकल कर नायिका ने यह जानने के लिए कि रात्रि कितनी बीत चुकी है, ज्योंही आकाश की ओर दृष्टिपात किया, उसी क्षण उसके मुख की आभा इतनी अधिक विकीर्ण हुई कि उससे समस्त चन्द्र मण्डल आकाश में छिप गया और उड़ते हुए भौर की भाँति उसका एकमात्र कलंक ही शेष रह गया।

यद्यपि नायिका के मुख सौन्दर्य के चित्रण में अधिकांश रीति कवियों ने अपनी उच्च कलात्मक दृष्टि का परिचय दिया है, किन्तु ऐसे छन्दों का भी अभाव नही है, जिनमें भाव-सौन्दर्य की दृष्टियाँ तिरोहित नहीं होने पायी हैं। ऐसे छन्दों में दूरारूढ कल्पना का विधान प्रायः शिथिल है और भावों की सहज स्फीत धारा में अलंकरण की प्रवृत्तियाँ दब सी गयी हैं। ऐसी सरस एवं भावात्मक उक्तियों के माध्यम से मानो रीति कवि का हृदय भी लिपटा हुआ चला आ रहा हो। हिन्दी रीति काव्य में रूप-गर्विता नायिका के अन्तर्गत ऐसे भावः सौन्दर्य के सूक्ष्म अंकन का अधिक विस्तृत क्षेत्र

---

१. शृंगार सुधाकर—सं० मन्नालाल द्विज, पृ० ३७, छंद संख्या १४५
२ काव्य —कवि रघुनाथ पृ० ६९ छ० स० ६

मिला है। इस सन्दर्भ में कविवर पद्माकर की एक रूपगर्विता नायिका से सम्बन्धित उक्ति प्रस्तुत की जा रही है, जिसमें व्यंग्य द्वारा नायिका के मुख सौन्दर्य का कथन है—

हैं नहिं माइको मेरी भटू यह सासुरो है सब की साहिवो करौ।
त्यों पद्माकर पाइ सोहाग सदा सखियानहु को चहियो करौ।
नेह भरी बतियाँ कहि कै, नित सौतनि की छतियां दहिवो करौ।
चन्दमुखी कहें हौती दुखी तौ न कोऊ कहै गो सुखी रहिवो करौ॥[1]

यद्यपि नायिका-भेद के पुराने ढाँचे में रूप तो पुराना ढला है, किन्तु कवि की प्रगाढ़ भाव तन्मयता के कारण ऐसे रूपों में अनुभूतियों का नया रंग सहज ही चढ़ गया है। इस छन्द में कवि का अभीष्ट तो है नायिका के मुख सौन्दर्य को चन्द्र से अधिक प्रदर्शित करना, किन्तु सामान्य जीवन से गृहीत उपादानों से शृंगार की जैसी सृष्टि पद्माकर ने की है, सचमुच उसमें अधिक सजीवता आ गयी है।

रूपगर्विता नायिका के अन्तर्गत शृंगार के कुछ ऐसे प्रसंग भी मिले हैं, जिनमें कथन की भंगिमा अधिक रस स्निग्ध हो गई है। ऐसे छन्दों में कवि की दृष्टि भाव-विधायक रूपों को खड़ा करने में अधिक सजग है। मुख सौन्दर्य विषय का एक छन्द लीजिए। इस छंद से स्पष्टतया प्रकट है कि कवि राधिका के मुख सौन्दर्य के निरूपण में प्रसिद्ध उपमान चन्द्र की चर्चा तक नहीं करता, किन्तु व्यंग्य गर्भित उक्ति के द्वारा वह अपने अभीष्ट भावों की व्यंजना बड़ी कुशलता के साथ कर देता है—

फूलइ फूलन को तुम मोंहि पठावती फूले जितै सतपात हैं।
फूल सी जाति ह्वै हौंहू तितै कर तोरत फूल न मेरे अघात हैं।
राधे जू ताको कहः हौं करौ इन सोचन मेरे तो कांपत गात हैं।
फूलइ फूल हौं लावती हौं मुख रावरो देखि कली भये जात हैं।[2]

यद्यपि दूति मालिन प्रफुल्लित फूलों को लाती है, किन्तु राधा के मुख चन्द्र से वे प्रफुल्लित शतपत्र (कमल) कली बन जाते हैं (संकुचित हो जाते हैं)। यहाँ अन्तिम पक्ति में मुख सौन्दर्य की अतिशयता व्यंग्य है।

रीतिमुक्त काव्य में सौन्दर्य निरूपण और भावाभिव्यंजन के लिए प्रायः विरोधमूलक पद्धति का सहारा लिया गया है। इस विरोधमूलक प्रक्रिया का विधान काव्य की एक प्रमुख शक्ति लक्षणा की सहायता से किया गया है। भावाभिव्यंजन और सौन्दर्य चित्रण की यह शैली रीति काव्य की मौलिक देन के अन्तर्गत परिगणित है। फारसी और उर्दू में यह पद्धति अवश्य ग्रहण की गयी है, किन्तु उसमें भावानु-

---

१. पद्माकर पंचामृत—आमुख—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ९३
२. सुन्दरी सर्वस्व—सं० मन्नालाल द्विज. पृष्ठ १५, छं० सं० ४ अमर यंत्रालय मे सवत १९४२ मे मुद्रित

भूतियों का ऐसा अतिरेक लक्षित नहीं होता। रीतिबद्ध काव्य में मुख सौन्दर्य निरूपण मे इसी पद्धति का अवलम्ब निम्न पंक्ति में लिया गया है—वा मुख की मधुराई कहा कहौं ? मीठी लगै अंखियान लुनाई।[1] इस पंक्ति का समस्त स्वारस्य 'लुनाई' और 'मधुराई' के विरोध मूलक विधा पर ही निर्भर है।

हिन्दी शृंगार काव्य की परम्परा में नेत्र विषयक प्रभूत मौलिक उक्तिया मिलती हैं। यद्यपि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू फारसी काव्य-धारा के अन्तर्गत भूरिशः नेत्र विषयक रचनाएं उपलब्ध हैं, फिर भी रीतिकाव्य कर्ताओं ने नखशिख चित्रण के सन्दर्भ में नेत्रों के सम्बन्ध में जैसी नव-नव उद्‌भावनाएं की हैं और परम्परा अभुक्त अनूठी उक्तियों के विधान में अपनी जैसी सौन्दर्यपरक दृष्टियों का परिचय दिया है, निश्चय ही उनसे रीति साधकों की मौलिकता के सम्बन्ध में प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

यों नखशिख परम्परा में और भी अंगों का वैविध्यपूर्ण चित्रण है, किन्तु नेत्रो के सम्बन्ध में जितनी सूक्ष्मता और परिविस्तार में विचार किया गया है, वह तुलना मे अवश्य ही विवेचन का पृथक् विषय बनाया जा सकता है। लगता है कि नेत्र विषयक उक्तियों के अभाव में समग्र नखशिख काव्य परम्परा विकलांग सी है, और उसकी पूर्णता का भावन नेत्रों को हटाकर नहीं हो पाता।

वस्तुतः मानवीय सौन्दर्य की परिकल्पना में नेत्रों को एक विशिष्ट स्थान मिला है, इसी से विश्व का ऐसा कोई वाङ्मय न होगा, जहां नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण की उपेक्षा की गयी हो। हिन्दी काव्य धारा के अन्तर्गत चाहे भक्तिमूलक रचनाए हो अथवा शृंगारमूलक दोनों ही काव्यों में रूपचित्रण एवं सौन्दर्य बोध की दृष्टि से नेत्रों की जैसी उदात्त कल्पनाएँ की गयी हैं, उनमें पर्याप्त काव्यात्मक सरसता है और भावोन्मेष की प्रभूत प्रभावक्षमता है। ऐसे अनुरंजक चित्र संस्कृत आदि पूर्ववर्ती काव्य धाराओं में भी कम मिलते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नेत्रों की स्निग्धता, विशालता, लोलता, कटाक्षो की दीर्घता, नीलिमा, प्रान्तभाग की लालिमा, श्वेतता और बरौनियों की निबिडता आदि का उल्लेख हुआ है।[2] 'बृहत्संहिता' में वराह ने नील कमल की कांति हरण करने वाली आंखों को सर्वश्रेष्ठ माना है।[3] अलंकार शेखर में नेत्रों के कतिपय विशिष्ट उपमानों की चर्चा की गयी है, जो इस प्रकार है—मृग, मृगनेत्र, कमल, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन और चकोर आदि।[4] किन्तु हिन्दी रीति काव्य के अन्तर्गत

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—सं० पं० कृष्ण विहारी मिश्र, पृ० ८४, छं. सं. ३१०, प्र. स.
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २६३, प्र० सं०
३ बृहत्संहिता ७० ७ ४ शेखर १३ ६

परम्परागत इन रूढ़ उपमानों को ग्रहण करने के साथ ही नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण मे कुछ नवीन उपमानों को भी ग्रहण किया गया है, जिनसे स्पष्टतया लक्षित है कि इन रीति काव्यकर्ताओं की दृष्टियाँ सर्वतोभावेन परम्परानुगत नहीं है, अपितु रूप सौन्दर्य की चेतना से अनुप्राणित इनकी दृष्टियाँ सर्वथा मौलिक सृष्टि-विधान में भी निरत हैं।

रीति कवियों द्वारा गृहीत नेत्र विषयक पुराने उपमानों के अतिरिक्त जिन नवीन उपमानों की चर्चा की जाती है, उनमें अधोलिखित मुख्य हैं —

चीता, कुहीपक्षी, तरंग, मतंग, बटोही, किबलनुमा, रहट की घरिया आदि। इन उपमानों में रूप साम्य की अपेक्षा प्रायः नेत्रों के प्रभाव और उनके गत्यात्मक रूपों की ही अभिव्यंजना की गयी है। अधिकांश उपमान भावोन्मेष में उतना योग नही दे पाते, जितना चमत्कार मूलक प्रवृत्तियों के उद्दीपन में। हाँ, रीतिमुक्त काव्यो मे नेत्रों के सम्बन्ध में जैसी अप्रस्तुत योजना की गयी है, निश्चय ही, उससे भाव-तन्मयता की क्षमता बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त जिन पुराने उपमानों का उपयोग किया गया है, उनमें भी उक्तिगत स्वारस्य और कथन भंगिमा के कारण प्रायः नवीनता आ गयी है। नेत्रों के वर्णन में चमत्कार की अतिशयता इतनी बढ़ गयी कि रीति कवियों ने उनके सूक्ष्म सौन्दर्य निरूपण को भूलकर केवल स्थूल रूपों की ही उद्भावना मे अपनी प्रतिभा का उपयोग किया, यथा, मानवीकरण की दृष्टि से नेत्रों को कही नवाब बनाया गया है, कहीं उन्हें बादशाह, सिपाही, बजाज, फिरंगी, दिवालिया, मजदूर और कहीं ब्राह्मण रूप में कल्पित किया गया है।[1] इसमें सन्देह नही कि मानवीकरण के रूप में किये गये नेत्रों के वर्णन की इतनी विविधिता हमें संस्कृत आदि पूर्ववर्ती भाषाओं में नहीं मिलती, फिर भी ऐसे कथनों में रसग्राहिता का प्रायः अभाव ही है। हाँ, कहीं-कहीं इन छन्दों के उक्ति-विधान में अवश्य ही रसान्विति आ गयी है, जो निश्चय ही श्लाध्य है —

दृग द्विज ए उठि प्रात ही, करि असुवन असनान।
रूप भूप पैं जाँचिही, छवि मुकताहल दान ॥
अरुनतगा के नैन जनु, गरे जनेऊ डारि।
रूप दान मांगति रहै, ए पल करन पसारि ॥[2]—रसनिधि

नेत्रों के जिन नवीन उपमानों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनके सम्बन्ध मे हम यहां विस्तार पूर्वक विचार कर लेना उचित समझते हैं। वस्तुतः रीतिबद्ध कवियों में बिहारी और देव ने परम्परागत गृहीत उपमानों के अतिरिक्त नवीन उपमानों की भी मार्मिक उद्भावना शृंगार के नाना प्रसंगों के अन्तर्गत की है। सर्वप्रथम

---

१. आँख और कविगण—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० १०६
२ पृ० ११७

बिहारी के कुछ नूतन उपमानों की चर्चा की जा रही है। बिहारी ने नेत्रों के लिए साल नवीन उपमानों का उपयोग किया है—चीता, कुहीपक्षी, तुरंग, बटोही, पनिहा, रहट की घरिया तथा किबलनुमा। अब एक-एक उपमान को लीजिए—

चीता—बिहारी ने पूरी सतसई में केवल एक स्थल पर नेत्रों को चीते के रूप मे उपमित किया है। चीता का यह अप्रस्तुत विधान मध्ययुग के किसी कवि मे देखने कों नहीं मिला। संस्कृत आदि भाषाओं में भी ऐसे उपमान नहीं मिले। बिहारी ने इस उपमान का प्रयोग नेत्रों की प्रभाव-क्षमता व्यक्त करने के लिए किया है—

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकैं न
मो मन-मृग करबर गहै, अहै अहेरी नैन ॥५०॥[1]

उपर्युक्त दोहे में यह बतलाया गया है कि अहेरी चीता रूपी नेत्र नायक के मन रूपी मृग को नायिका की नीली साड़ी रूप डाल-पत्तों की आड़ में पकड़ लेता है। यद्यपि रूप-साभ्य की दृष्टि से चीता का नेत्रों से कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु नेत्रो की चपलता मूलक प्रवृत्ति के कारण चीता का आरोप सर्वथा उचित है। रत्नाकर जी ने इसमें सारोपा लक्षणा माना है।

कुहीपक्षी—नेत्रों के उपमान रूप में कुही पक्षी का प्रयोग केवल बिहारी और देव में मिला हैं। बिहारी ने इसका कथन इस प्रकार किया है—

नीची यै नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचे, नीचौ दियौ, मनु कुलिंगु झपि, झौरि ॥२५७॥[2]

देव ने कुही पक्षी का प्रयोग अधोलिखित छन्द में इस प्रकार किया है—

बाज की बैठक लै उचकीं, पुनि बेधि कढ़ीं पट घूंघट झीनों,
उड़ि जाइ कुही सम दूरि दुरीं, बहुरी गति आनि करील की लीनों।
तानत कानन लौं चख लोल से, सानन में झर वारन कीनौ।
सालत 'देव' अदेवन हूं बस पारथ को पुरुसारथ छीनों।[3]

कुही छोटी जाति का बाज पक्षी माना गया है। यह आक्रमण करने में अति निपुण होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पहले तो यह नीचे ही नीचे उड़ता है और पुनः शिकार के समय बहुत ऊँचे उड़ जाता है और अचानक पक्षी पर टूट पड़ता है। 'उड़ि जाइ कुही सम दूरि दुरी' में कुही पक्षी की इसी क्रिया का कथन देव ने किया है।

नेत्रों के लिए तुरंग उपमान का प्रयोग बिहारी ने सतसई में कई स्थलों पर किया है। यों बिहारी के अतिरिक्त रीति काल के अन्य कवियों ने भी इस उपमान

---

१. बिहारी रत्नाकर—सं० जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ० २७, छं० सं० ५०, प्र०सं०
२. ,, ,, ,, पृ० १०७, छं० सं० २५७
३ आँख और कविगण स० प० चतुर्वेदी पृ० २६७

का प्रयोग यत्र-तत्र किया है तथा नेत्रों के लिए तुरंग का प्रयोग बिहारी से पूर्व गंग कवि द्वारा भी किया गया है।[१] पर हिन्दी रीति परम्परा में नेत्रों के सम्बन्ध में तुरंग उपमान की कल्पना उनकी चपलता मूलक क्रियाओं की ही बोधक प्रतीत होती है—

क—लाज लगाम न मानही, नैना मो बस नाहिं।
ये मुंह जोर तुरंग ज्यों, ऐंचतहू चलि जाहिं॥[२]
ख—करे चाह सौं चुटकि कैं, खरैं उड़ौहैं मैंन।
लाज नवाएं तरफरत, करत खूंद सी नैन॥[३]

बिहारी की ही भांति रसनिधि, बेनीद्विज, श्रीनिधि, मौन कवि, विक्रम, मतिराम, ग्वाल और लछिराम की भी नेत्ररूप तुरंग विषयक उक्तियां सराहनीय है।[४]

बटोही उपमान अभी तक केवल बिहारी सतसई में मिला है, अन्यत्र नेत्रों के सम्बन्ध में ऐसे उपमान दृष्टिगत नहीं हुए। नेत्रों में बटोही का आरोप मानवीय करण की ही प्रवृत्ति को द्योतित कर रहा है—

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन-बटोही, मारि।
चिलक-चौंध में रूप-ठग, हांसी फांसी डारि॥[५]

अर्थात् सौन्दर्य रूपी ठग ने दीप्ति रूप चौंध में नायिका के नेत्र रूपी बटोही को पकड़ कर तथा हँसी रूपी फंदा गले में डालकर मार डाला और उन्हें चिबुक रूपी गड्ढे में डाल दिया।

पनिहा—यह शब्द संस्कृत के प्रणिधाः का विकृत रूप कहा जाता है। इस शब्द का प्रयोग बिहारी ने नेत्रों के उपमान रूप में किया है। कृष्ण कवि ने अपनी ब्रजभाषा टीका में प्रौढ़ा अधीरा नायिका के सन्दर्भ में इस उपमान की चर्चा की है।[६] लाला भगवानदीन ने अपनी 'बिहारी बोधिनी' में और[७] बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने अपने 'बिहारी रत्नाकर' में 'पनिहा' शब्द क्रमशः 'चोरी का पता बताने वाले' तथा 'गुप्तचर' अर्थ में ग्रहण किया है।[८] वस्तुतः समस्त रीति काव्य में प्राप्त होने वाले पारम्परिक उपमानों में 'पनिहा' सर्वथा नूतन उपमान है, जिसे बिहारी ने शृंगार की एक विशिष्ट व्यंजना में प्रयुक्त करना अधिक उपयुक्त समझा—

---

१. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण, पृ० छं० सं० २७
२. बिहारी रत्नाकर, छं० सं० ६१०, प्र० सं०
३. ,, ,, ,, ५४२
४. आँख और कविगण—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ७२-८०
५. बिहारी रत्नाकर, छं० सं० १७
६. बिहारी सतसई—कृष्ण कवि, पृ० १३२
७ बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन पृ० १८६ प्र० सं०
८ बिहारी रत्नाकर पृ० ७६

लालन, लहि, पाएँ दुरै चोरी सौंह करैं न ।
सीस-चढ़े पनिहा प्रगट कहैं पुकारैं नैन ।।[1]

बिहारी ने कुछ ऐसे उपमानों का प्रयोग किया है जो काव्य शास्त्रीय परम्परा मे उल्लिखित उपमानों की अपेक्षा लोक जीवन से गृहीत उपमानों की कोटि में रखे जाते हैं । सतसई में प्रयुक्त नेत्रों से सम्बन्धित अन्य उपमान 'रहट की घरिया' लोक जीवन से सम्बद्ध बतलाया जाता है ।

हरि छवि जल जबते परे तबते छन बिछुरैं न ।
भरत, ढरत, बूड़त, तिरत रहट-घरी लौं नैंन ।।[2]

इस दोहा में समुच्चयौपमा अलंकार के अन्तर्गत कृष्ण-सौन्दर्य में आसक्त पूर्वानुरागिनी नायिका के नेत्रों का वर्णन किया गया है । लाला भगवानदीन के अतिरिक्त बिहारी के ब्रजभाषा टीकाकार कृष्ण कवि ने भी यही पाठ स्वीकार किया है,[3] किन्तु ब बू जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'रहटघरी' की जगह 'रहतघरी' पाठ माना है और इस पाठान्तर के कारण उक्त दोनों टीकाकारों से अपना पृथक् अर्थ किया है । उन्होंने 'घरी' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि यह समय बोधक जल यंत्र की कटोरी होती है । पुनः उन्होंने समस्त छन्द के भावोत्कर्ष और कलात्मक विधान के सम्बन्ध मे कहा है कि समय प्रदर्शक जलयन्त्र की कटोरी भी क्षण मात्र जल से अलग नही रहती, क्योंकि यदि वह जल से कुछ देर अलग रहे तो समय-प्रदर्शन में उतनी देर का भेद पड़ जाय । अतः वह नांद के जल ही में भरती, ढरती तथा डूबती तैरती रहती है ।[4] जो भी हो, प्रसंगानुसार 'रहटघरी' शब्द अधिक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि बिहारी से पूर्व रहटघरी का प्रयोग कबीर जायसी आदि मध्ययुगीन कवियो ने भी किया है । हां, नेत्रों के उपमान रूप में इसका सर्वप्रथम प्रयोग 'बिहारी सतसई मे ही मिला । अतः निश्चय ही बिहारी की यह मौलिक उद्भावना है । इसी प्रकार क़िबलनुमा को विहारी ने नेत्रों के उपमान रूप में ग्रहण किया है तथा इनसे पूर्व इस प्रकार के उपमानों की चर्चा अन्यत्र नहीं की गयी । बिहारी के प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकाकारों में इस शब्द के पाठ एवं अर्थ के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है । रत्नाकर जी के अनुसार बिहारी के सबसे पहले टीकाकार मानसिंह ने इसका अर्थ यह लिखा है—कविलनवी कठपुतरी श्री सीता जी की मूर्ति श्री राम चित्र पट में देखि पीठि फेरै ।[5] लेकिन बिहारी सतसई के प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि ने 'किबिलनुमा' पाठ

---

१. बिहारी रत्नाकर, छं० सं० १८४
२. बिहारी बोधिनी—टी० लाला भगवानदीन, पृ० ६६, दो० सं०
३. बिहारी सतसई, कृष्ण कवि, पृ० ४२ दो० सं० १२४ नवां संस्करण
४. बिहारी रत्नाकर, पृ० १२६, प्र० सं०
५ पृ० १८

माना है और इस पाठ के अनुसार इसका अर्थ मंत्र की कटोरी किया है। नायिका भेद की दृष्टि से उन्होंने इसमें लक्षिता नायिका कल्पित की है।[१] अर्वाचीन टीकाकारों में रत्नाकर जी 'कबिलनवी' पाठ मानकर इसे फारसी 'किब्लनुमा' (दिक् प्रदर्शक यंत्र) का अपभ्रंश अनुमति किया है। फिर भी अपनी टीका में उन्होंने कृष्ण कवि द्वारा कल्पित अर्थ पर ही अधिक विश्वास प्रकट किया है।[२] लाला भगवानदीन ने 'बिहारी सतसई' में किबलनुमा (फारसी किबलनुमा) पाठ ही माना है—

सब ही तन समुहाति छिन, चलति सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमा लौं दीठि॥[३]

किब्लानुमा की टिप्पणी में लाला जी ने लिखा है—"किब्लानुमा वास्तव में वह यंत्र था जिसकी सुई सदैव 'मक्के' की ओर रहती थी। मुसलमान लोग इस यन्त्र को अपने पास इसलिए रखते थे जिससे उन्हें नमाज पढ़ते समय मक्के की दिशा का ठीक ज्ञान हो जाय, क्योंकि मुसलमान लोग मक्के की ओर मुंह करके ही नमाज पढ़ते हैं।[४]

निष्कर्षतः यहाँ कृष्ण कवि कृत मंत्र की कटोरी अर्थ ही अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है, क्योंकि कृष्ण कवि के अतिरिक्त बिहारी सतसई की अन्य इतनी प्राचीन टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी, जिससे इतर अर्थों पर अधिक जम कर विचार किया जा सके। यद्यपि बिहारी ने नेत्रों के ऐसे उपमानों में केवल वैचित्र्य प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति व्यक्त की है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू आदि की काव्य परम्पराओं में नेत्र विषयक यह उपमान सर्वथा नवीन है और इसकी मौलिकता के सम्बन्ध में किंचित् सन्देह नहीं किया जा सकता।

नेत्र विषयक नवीन अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत मतंग की भी चर्चा रीति कवियों द्वारा की गयी है। जिन रीति कवियों ने मतंग विषयक नाना प्रकार की सूक्तियों की अवतारणा में अपनी असामान्य पटुता का परिचय दिया है, उनमें आलम, रसनिधि, देव, श्रीपति और मान कवि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[५] इन कवियों में देव ने लोचन मतंग का रूप खड़ा करने में बड़ी सुन्दर कल्पना की है। उदाहरण के लिये उनका यह छन्द लिया जा सकता है—

लाज के निगड़-गड़दार, अड़दार, चहूं, चौंकि चितवन चरखीन चमकारे हैं।
बरुनी अरुन लीक पलक झलक झूल, झूमत सघन बन घूमत घुमारे हैं।

---

१. बिहारी सतसई—कृष्ण कवि, पृ० ४२
२. बिहारी रत्नाकर—पृ० १६
३. बिहारी बोधिनी, पृ० ३१, छं० सं० ६१, प्र० सं०
४. बिहारी बोधिनी, पृ० ३२ नवां सं०
५ आँख और कवि गण—स० पं० चतुर्वेदी पृ० ८० प्र० सं०

रंजित रजोगुन सिंगार पुंज कुंजरत, अंजन सौं सोहत मनमोहक दतारे हैं।
देव दुख मोचन सकोच न सकति चलि, लोचन अचल ए मतंग मतवारे हैं।[1]

यद्यपि संस्कृत और प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं में नेत्र विषयक मनोहर उक्तियाँ मिलती अवश्य हैं, किन्तु नेत्रों में मतंग विषयक क्रियाओं का आरोप बहुत कुछ देव की मौलिक उद्भावनाओं का परिणाम है।

यद्यपि अधिकांश रीतिबद्ध एवं रीति मुक्त कवियों ने नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण मे परिपाटी बद्ध उपमानों का ही विनियोग किया है, किन्तु नाना विध श्रृंगारिक परिवेश में उन रूढ़ उपमानों का विन्यास ऐसे कौशल के साथ किया है कि इसके कारण सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि की नेत्र विषयक उक्तियों की तुलना में निश्चय ही इन कवियों की उक्तियों का महत्व बढ़ गया है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिये हम कुछ रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम रीतिमुक्त कवि आलम का एक छन्द लीजिये—

प्रेम रंगमगे जगमगे जागे जामिनी के, यौवन की जोति जगि जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं, झूमति हैं झुकि झुकि झंपि उघरत है।
कहै कवि आलम निकाई इन नैननि की, पांखुरी पदुम पै भँवर थिरकत है।
चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख जानत हैं रैनि ताते ताही में रहत हैं।[1]

प्रस्तुत छन्द में आलम ने पुराने उपमानों के अन्तर्गत अपनी सौन्दर्य चेतना का उपयोग ऐसी सूक्ष्मता के साथ किया है, जिसके कारण स्वभावतया समस्त उक्ति में परम्परा अभुक्त नवीनता और ताजगी आ गयी है। नेत्रों के आलस्य की व्यंजना में अन्तिम दो पंक्तियाँ मानों पूर्ण सक्षम हैं। नेत्रों के मदनोन्मत्त होकर घूमने, पुन: झूमने और अन्त में झुक-झुक कर मीलित एव उन्मीलित होने आदि की क्रियाओं की प्रकृत अभिव्यजना के लिये पदम की पंखुड़ियों पर भँवर का थिरकना और उड़ने का प्रयास करना और अन्त में चन्द्रमुख के कारण रात्रि का अनुमान करके उसी में रह जाना आदि ऐसे अप्रस्तुत रूपों का उपयोग किया गया है, जिनसे कवि की सहज कल्पना शक्ति एव उसकी प्रौढ़ कलात्मक दृष्टि के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता है।

रीति कवियों की सौन्दर्य चेतना का धरातल इतना विशद था कि कहीं-कहीं विशुद्ध ऐन्द्रिय चित्रों में भी वासना की उष्ण गन्ध प्राय: दब गयी है, फलत: भक्ति युग के अनेकश: रूप-चित्रण से सम्बन्धित पदों की तुलना में रीति युग की ऐसी रचनाएँ उत्कृष्टतर प्रमाणित हुई हैं। 'पैटर्न' का यह साम्य रीति काव्यकारों की अजस्र सौन्दर्य साधना का ही परिणाम था, जिसे गहराई से न सोचने वाले रीति काव्य के

---

१. आंख और कवि गण—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ८२
२ श्रृंगार सुधाकर सं० द्विज पृ० ६१ छ० स० २४३

आलोचक भ्रमवश ऐसे सौन्दर्य चित्रों को भक्ति युग की उच्छिष्टांश एवं निर्जीव अनुकृतियाँ मान कर इनके प्रकृत मूल्यांकन से प्रायः विरत होते रहे हैं।

नेत्रों के सौन्दर्य की एक छन्द में कवि देव ने कल्पना की है, मानो नायक की पुतली रूप निकष पर नायिका के स्वर्ण रूप गौरांग का परीक्षण किया गया है। परीक्षणोपरान्त उसके स्वर्ण अंग की एक रेखा पुतली रूप कसौटी पर लगी रह गयी है। वही मानो नेत्रों के श्वेत रूप में झलक रही है। वस्तुतः सौन्दर्य चेतना की ऐसी भव्य एवं रमणीय कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती। इसकी श्लाघा करते हुए डा० नगेन्द्र ने अपने शोध प्रबन्ध में लिखा है—"रूप की इतनी सूक्ष्म चेतना और उसकी इतनी सच्ची एवं सटीक अभिव्यक्ति प्राचीन साहित्य में अनेक कवियों के लिये सहज नहीं थी।[1]"

रीतिकाल में नेत्रों का वर्णन प्रायः खंडिता नायिका के सन्दर्भ में व्यंग्य मूलक पद्धति से हुआ है। ऐसी उक्तियों में नायक के-अन्य नायिका के प्रेम में रात भर जगने के कारण—लाल-लाल नेत्रों का वर्णन तीखे व्यंग्य के कारण अधिक सरस एवं प्रभविष्णु बन गया है। यद्यपि खंडिता प्रकरण में इस प्रकार की उक्तियाँ सूरदास आदि भक्तिकालीन कवियों में भी मिलती हैं, पर रीति काव्य में कलात्मक विधान और व्यंग्य की तीखी योजना के कारण अधिक मौलिकता आ गयी है। इस कथन की पुष्टि के लिये एक छन्द लीजिये—

कवि हरिजन मेरी उर गुण भाल तेरे बिन,
गुण माल रेख शेष देख अखियाँ।
देखौ लै मुकुर द्युति कौन की अधिक लाल,
मेरी लाल चूनरी तिहारी लाल अखियाँ।[2]

इसी प्रसंग से सम्बन्धित एक अन्य उक्ति के लिये देव का यह छन्द द्रष्टव्य है—

देव जू दरश बिन तरसि मर्यो हो,
पग परसि जियै गो मन वैरी अन भारनो।
पतिव्रतवती ये उपासी प्यासी अंखियन,
प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप पारनो॥[3]

कवि ने विपरीत लक्षणा द्वारा बहु प्रचलित खंडिता प्रकरण में इस उक्ति को सर्वथा नवीन बनाने की चेष्टा की है। छन्द का आशय यह है कि पति दर्शन वंचिता आँखे उपवासरता पतिव्रता की भाँति सारी रात बिताती रहीं, अब प्रातःकाल उठ कर प्रिय-

१. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १८६, प्रथम संस्करण
२ शृंगार संग्रह—सं० सरदार कवि, पृ० ३१, छं० सं० ७ प्र० सं०
३ सुख सागर तरंग देव पृ० २१६ छं० सं० ६४३

रंजित रजोगुन सिंगार पुंज कुंजरत, अंजन सों सोहत मनमोहक दतारे हैं।
देव दुख मोचन सकोच न सकति चलि, लोचन अचल ए मतंग मतवारे है।[1]
यद्यपि संस्कृत और प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं में नेत्र विषयक मनोहर उक्तियाँ मिलती अवश्य हैं, किन्तु नेत्रों में मतंग विषयक क्रियाओं का आरोप बहुत कुछ देव की मौलिक उद्भावनाओं का परिणाम है।

यद्यपि अधिकांश रीतिबद्ध एवं रीति मुक्त कवियों ने नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण मे परिपाटी बद्ध उपमानों का ही विनियोग किया है, किन्तु नाना विध शृंगारिक परिवेश में उन रूढ़ उपमानों का विन्यास ऐसे कौशल के साथ किया है कि इसके कारण सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि की नेत्र विषयक उक्तियों की तुलना में निश्चय ही इन कवियों की उक्तियों का महत्व बढ़ गया है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिये हम कुछ रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम रीतिमुक्त कवि आलम का एक छन्द लीजिये—

प्रेम रंगमगे जगमगे जागे जामिनी के, यौवन की जोति जगि जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं, झूमति हैं झुकि झुकि झंपि उघरत है।
कहै कवि आलम निकाई इन नैननि की, पांखुरी पदुम पैं भँवर थिरकत है।
चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख जानत हैं रैनि ताते ताही में रहत हैं।[2]

प्रस्तुत छन्द में आलम ने पुराने उपमानों के अन्तर्गत अपनी सौन्दर्य चेतना का उपयोग ऐसी सूक्ष्मता के साथ किया है, जिसके कारण स्वभावतया समस्त उक्ति में परम्परा अभुक्त नवीनता और ताजगी आ गयी है। नेत्रों के आलस्य की व्यंजना में अन्तिम दो पंक्तियाँ मानों पूर्ण सक्षम हैं। नेत्रों के मदनोन्मत्त होकर घूमने, पुनः झूमने ओर अन्त में झुक-झुक कर मीलित एव उन्मीलित होने आदि की क्रियाओं की प्रकृत अभिव्यजना के लिये पदम की पंखुड़ियों पर भँवर का थिरकना और उड़ने का प्रयास करना और अन्त में चन्द्रमुख के कारण रात्रि का अनुमान करके उसी में रह जाना आदि ऐसे अप्रस्तुत रूपों का उपयोग किया गया है, जिनसे कवि की सहज कल्पना शक्ति एव उसकी प्रौढ़ कलात्मक दृष्टि के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता है।

रीति कवियों की सौन्दर्य चेतना का धरातल इतना विशद था कि कहीं-कही विशुद्ध ऐन्द्रिय चित्रों में भी वासना की उष्ण गन्ध प्रायः दब गयी है, फलतः भक्ति युग के अनेकशः रूप-चित्रण से सम्बन्धित पदों की तुलना में रीति युग की ऐसी रचनाएँ उत्कृष्टतर प्रमाणित हुई हैं। 'पैटर्न' का यह साम्य रीति काव्यकारों की अजस्र सौन्दर्य साधना का ही परिणाम था, जिसे गहराई से न सोचने वाले रीति काव्य के

---

१. आंख और कवि गण—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ८२
२ शृंगार सुधाकर—स० द्विज पृ० ६१ छ० स० २४३

आलोचक भ्रमवश ऐसे सौन्दर्य चित्रों को भक्ति युग की उच्छिष्टांश एवं निर्जीव अनुकृतियाँ मान कर इनके प्रकृत मूल्यांकन से प्रायः विरत होते रहे हैं।

नेत्रों के सौन्दर्य की एक छन्द में कवि देव ने कल्पना की है, मानो नायक की पुतली रूप निकष पर नायिका के स्वर्ण रूप गौरांग का परीक्षण किया गया है। परीक्षणोपरान्त उसके स्वर्ण अंग की एक रेखा पुतली रूप कसौटी पर लगी रह गयी है। वही मानो नेत्रों के श्वेत रूप में झलक रही है। वस्तुतः सौन्दर्य चेतना की ऐसी भव्य एवं रमणीय कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती। इसकी श्लाघा करते हुए डा० नगेन्द्र ने अपने शोध प्रबन्ध में लिखा है—"रूप की इतनी सूक्ष्म चेतना और उसकी इतनी सच्ची एवं सटीक अभिव्यक्ति प्राचीन साहित्य में अनेक कवियों के लिये सहज नहीं थी।[1]"

रीतिकाल में नेत्रों का वर्णन प्रायः खंडिता नायिका के सन्दर्भ में व्यंग्य मूलक पद्धति से हुआ है। ऐसी उक्तियों में नायक के-अन्य नायिका के प्रेम में रात भर जगने के कारण—लाल-लाल नेत्रों का वर्णन तीखे व्यंग्य के कारण अधिक सरस एवं प्रभविष्णु बन गया है। यद्यपि खंडिता प्रकरण में इस प्रकार की उक्तियाँ सूरदास आदि भक्तिकालीन कवियों में भी मिलती हैं, पर रीति काव्य में कलात्मक विधान और व्यंग्य की तीखी योजना के कारण अधिक मौलिकता आ गयी है। इस कथन की पुष्टि के लिये एक छन्द लीजिये—

> कवि हरिजन मेरी उर गुण भाल तेरे बिन,
>
> गुण माल रेख शेष देख अखियाँ।
>
> देखौ लै मुकुर द्युति कौन की अधिक लाल,
>
> मेरी लाल चूनरी तिहारी लाल अखियाँ।[2]

इसी प्रसंग से सम्बन्धित एक अन्य उक्ति के लिये देव का यह छन्द द्रष्टव्य है—

> देव जू दरश बिन तरसि मर्‌यो हो,
>
> पग परसि जियै गो मन बैरी अन भारनो।
>
> पतिव्रतवती ये उपासी प्यासी अंखियन,
>
> प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप पारनो॥[3]

कवि ने विपरीत लक्षणा द्वारा बहु प्रचलित खंडिता प्रकरण में इस उक्ति को सर्वथा नवीन बनाने की चेष्टा की है। छन्द का आशय यह है कि पति दर्शन वंचिता आँखें उपवासरता पतिव्रता की भाँति सारी रात बिताती रहीं, अब प्रातःकाल उठ कर प्रिय-

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १८६, प्रथम संस्करण

२ शृंगार संग्रह—सं० सरदार कवि, पृ० ३१, छं० सं० ७ प्र० सं०

३ सुख सागर तरंग देव पृ० २१६ छ० म० ६४३

तक ने इन्हें अपने रूप (दर्शन) का पारण (वह भोजन जो व्रत के दूसरे दिन किया जाता है) पिलाया है—दर्शन देकर कृतज्ञ किया है। यहाँ व्यंग्यातिरेक के कारण रूपकालंकार के सौन्दर्य पर दृष्टि ठहर नहीं पाती। अप्रस्तुत विधान की यह मौलिकता पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में प्रायः नहीं मिलती। वस्तुतः अप्रस्तुत विधान की सूक्ष्मता के ही कारण देव के इस छन्द में भाव संवेदना अधिक तीव्र हो उठी है और कवि की अभीष्ट व्यंजना में साधर्म्य मूलक ऐसे उपमान अधिक सहायक प्रमाणित हुए हैं।

शृंगारिक प्रसाधनों में कज्जल नेत्रों के एक विशिष्ट उपादान रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। हिन्दी में ही नहीं, वरन संस्कृत आदि भाषाओं में भी कज्जल कलित नेत्रों का वर्णन ऐन्द्रिय चेतना के उद्‌बुद्ध करने में परम सहायक होता रहा है। यही नहीं, कज्जल वस्तुतः नेत्रों को दीप्ति और उनकी प्रभाव क्षमता को अधिकाधिक संवर्द्धित करने में अपूर्व चमत्कार प्रदर्शित करता रहा है। यही कारण है कि रीति काव्य के सजग कलाकारों ने अपने काव्य में कजरारी अँखियों का वर्णन करने मे प्रगाढ़ निष्ठा व्यक्त की है। इस सन्दर्भ में कजरारी आँखों द्वारा 'कजाकी' किये जाने का भी उल्लेख बिहारी ने अपनी सतसई में किया है।[1] मुबारक ने कटाक्ष की तीक्ष्णता से उँगलियों के कट जाने की सम्भावना प्रकट की है, इस कारण नायिका के नेत्रों में कज्जल लगाये जाने का निषेध किया है—"काजर दे नहिं एरी सुहागिन आंगुरी तेरी कटैंगी कटाछन।" नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण में कवि देव ने खंजन और अरविन्द जैसे पुराने उपमानों के उपयोग द्वारा अपनी सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि का परिचय किस प्रकार दिया है, यह अधोलिखित छन्द में देखें—

नन्द लला वृषभानु लली भये सामुंह देव संयोग सुभै कै।
लोयन लोयन लागे अनूप दुहूं के दुहूं रस रूप शुभै कै।
मंद हँसी अरविन्द ज्यों विन्द अंचै गये दीठि से दीठि खुभै कै।
कंज की मंजि मैं खंजन मानो उड़े चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै।[2]

प्रस्तुत छन्द में राधा और कृष्ण के नेत्र-मिलन की जैसी सूक्ष्म कल्पना की गयी है, वह भक्ति मूलक बहुत से पदों में विरल है। रूप चेतना की ऐसी मार्मिक अभिव्यक्ति रीति काव्य की मौलिकता का स्पष्ट प्रमाण है। उपर्युक्त छन्द में अप्रस्तुत विधान का सन्निवेश संयोग शृंगार के जिस परिवेश में किया गया है, वह बहु प्रचलित है, किन्तु कवि ने पुराने चित्र-फलक पर सौन्दर्य चित्र की सजीवता के लिये जिन सूक्ष्म

---

१. फिरि फिरि दौरत देखियत, निचले नैकु रहैं न।
ये कजरारे कौन पै करत कजाकी नैन ॥—बि० बो०, दोहा सं० ५६

२ भवानी विलास—देव पृ० ५ छ० सं० २३

रेखाओं और रंगों का उपयोग किया है, वे निश्चय ही परम्परा से भिन्न हैं। अतः इसमें अब किंचित् सन्देह नहीं रह जाता कि अपनी विशिष्ट सजावट और अलंकृति के कारण निर्जीव लगने वाले चित्र भी सजावट और अलंकरण के कारण प्रायः अधिक आकर्षक और सजीव बन जाते हैं।

प्राचीन काव्य परम्परा में नेत्रों के लिये चकोर उपमान अत्यन्त प्रसिद्ध है किन्तु हिन्दी रीति काव्य-परम्परा में ऐसे उपमानों को शृंगारिक परिवेश में रख कर जैसी नूतनता उत्पन्न की गयी है, वह श्लाघ्य है। चकोर उपमान विषयक एक मौलिक उक्ति का नमूना लीजिये—

प्रान पियारी सिंगार संवारि लिए कर आरसी रूप निहारै।
चंद से आनन की दुति देखति पूरि रह्यौ उर आनंद भारै।
अंजन लै नख सों रमनी दृग अंजित यों उपमान बिचारै।
चीर के चोंच चकोरन की मनो चोप तें चंद चुगावत चारै।[१]

अर्थात् नायिका हाथ में आरसी लिए हुए अपने सौन्दर्य को देख रही है। पुनः चन्द्र के समान मुख मंडल को देखते समय उसका हृदय अत्यन्त आनन्द से भर गया। उसी समय नायिका अपने नखों से अंजन लेकर आँखों में आंजने लगी। इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए कवि ने लिखा है कि मानो चकोरों की चोंच को चीर कर चन्द्र (नख) प्रेम से चारा खिला रहा है। यद्यपि प्रस्तुत उक्ति में आलंकारिक चमत्कार का ही आग्रह अधिक है, किन्तु कवि ने इस में अपनी मौलिक उद्भावना के द्वारा एक अप्रतिम सौन्दर्य की सृष्टि की है जो निश्चय ही अधिक हृदयग्राही एवं रसार्द्र हो गयी है। इसी प्रकार काव्य परम्परा में कसौटी और उस पर अंकित स्वर्ण रेखा का वर्णन प्रचुरता से होता आया है, लेकिन रीति काव्य के सजग कलाकारों ने नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण में इसे जैसी विशिष्टता प्रदान की है, वह रीति पूर्व परम्परा के कवियों के लिए अधिक सुलभ न थी। उदाहरणार्थ रसलीन का इक छन्द लीजिये—

तन सुबरन के कसत यों, लसत पूतरी स्याम।
मनो नगीना फटिक में, जरी कसौटी काम॥[२]

इसमें रूप साम्य से प्रभावित होकर कवि ने आँखों की पुतली की ऐसी सूक्ष्म कल्पना की है, जिसके कारण कवि प्रतिभा एवं कौशल का एक असाधारण निदर्शन प्रस्तुत हुआ है। अब रूप साम्य से प्रेरित देव कवि कृत एक अन्य नमूना लीजिये—

कौन जानै को ही उड़ि लागी डीठि मोही,
उर रहै अवरोही देव निधि ही निकाई की।

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—सं० मन्नालाल द्विज, पृ० २२, छं० सं० ६
२. अंग दर्पण रसलीन पृ० ६ छं० सं० २८

तक ने इन्हें अपने रूप (दर्शन) का पारण (वह भोजन जो व्रत के दूसरे दिन किया जाता है) पिलाया है—दर्शन देकर कृतज्ञ किया है। यहाँ व्यंग्यातिरेक के कारण रूपकालंकार के सौन्दर्य पर दृष्टि ठहर नहीं पाती। अप्रस्तुत विधान की यह मौलिकता पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में प्रायः नहीं मिलती। वस्तुतः अप्रस्तुत विधान की सूक्ष्मता के ही कारण देव के इस छन्द में भाव संवेदना अधिक तीव्र हो उठी है और कवि की अभीष्ट व्यंजना में साधर्म्य मूलक ऐसे उपमान अधिक सहायक प्रमाणित हुए हैं।

शृंगारिक प्रसाधनों में कज्जल नेत्रों के एक विशिष्ट उपादान रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। हिन्दी में ही नहीं, वरन संस्कृत आदि भाषाओं में भी कज्जल कलित नेत्रों का वर्णन ऐन्द्रिय चेतना के उद्बुद्ध करने में परम सहायक होता रहा है। यही नहीं, कज्जल वस्तुतः नेत्रों की दीप्ति और उनकी प्रभाव क्षमता को अधिकाधिक संवर्द्धित करने में अपूर्व चमत्कार प्रदर्शित करता रहा है। यही कारण है कि रीति काव्य के सजग कलाकारों ने अपने काव्य में कजरारी अँखियों का वर्णन करने में प्रगाढ़ निष्ठा व्यक्त की है। इस सन्दर्भ में कजरारी आँखों द्वारा 'कजाकी' किये जाने का भी उल्लेख बिहारी ने अपनी सतसई में किया है।[1] मुबारक ने कटाक्ष की तीक्ष्णता से उँगलियों के कट जाने की सम्भावना प्रकट की है, इस कारण नायिका के नेत्रों में कज्जल लगाये जाने का निषेध किया है—"काजर दे नहिं एरी सुहागिन आंगुरी तेरी कटैगी कटाछन।" नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण में कवि देव ने खंजन और अरविन्द जैसे पुराने उपमानों के उपयोग द्वारा अपनी सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि का परिचय किस प्रकार दिया है, यह अधोलिखित छन्द में देखें—

> नन्द लला वृषभानु लली भये सामुंह देव संयोग सुभै कै।
> लोयन लोयन लागे अनूप दुहूं कै दुहूं रस रूप शुभै कै।
> मंद हँसी अरविन्द ज्यों विन्द अंचै गये दीठि से दीठि खुभै कै।
> कंज की मंजि मैं खंजन मानो उड़े चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै।[2]

प्रस्तुत छन्द में राधा और कृष्ण के नेत्र–मिलन की जैसी सूक्ष्म कल्पना की गयी है, वह भक्ति मूलक बहुत से पदों में विरल है। रूप चेतना की ऐसी मार्मिक अभिव्यक्ति रीति काव्य की मौलिकता का स्पष्ट प्रमाण है। उपर्युक्त छन्द में अप्रस्तुत विधान का सन्निवेश संयोग शृंगार के जिस परिवेश में किया गया है, वह बहु प्रचलित है, किन्तु कवि ने पुराने चित्र-फलक पर सौन्दर्य चित्र की सजीवता के लिये जिन सूक्ष्म

---

१. फिरि फिरि दौरत देखियत, निचले नैंकु रहैं न।
ये कजरारे कौन पै करत कजाकी नैंन ॥—बि० बो०, दोहा सं० ५९
२ भवानी विलास देव पृ० ५ छ० सं० २३

रेखाओं और रंगों का उपयोग किया है, वे निश्चय ही परम्परा से भिन्न हैं। अत इसमें अब किंचित् सन्देह नहीं रह जाता कि अपनी विशिष्ट सजावट और अलंकृति के कारण निर्जीव लगने वाले चित्र भी सजावट और अलंकरण के कारण प्राय: अधिक आकर्षक और सजीव बन जाते हैं।

प्राचीन काव्य परम्परा में नेत्रों के लिये चकोर उपमान अत्यन्त प्रसिद्ध है, किन्तु हिन्दी रीति काव्य-परम्परा में ऐसे उपमानों को शृंगारिक परिवेश में रख कर जैसी नूतनता उत्पन्न की गयी है, वह श्लाघ्य है। चकोर उपमान विषयक एक मौलिक उक्ति का नमूना लीजिये—

प्रान पियारी सिंगार संवारि लिए कर आरसी रूप निहारै।
चंद से आनन की दुति देखति पूरि रह्यौ उर आनंद भारै।
अंजन लै नख सों रमनी दृग अंजित यों उपमान विचारै।
चीर के चोंच चकोरन की मनो चोप तें चंद चुगावत चारै।[१]

अर्थात् नायिका हाथ में आरसी लिए हुए अपने सौन्दर्य को देख रही है। पुन: चन्द्र के समान मुख मंडल को देखते समय उसका हृदय अत्यन्त आनन्द से भर गया। उसी समय नायिका अपने नखों से अंजन लेकर आँखों में आंजने लगी। इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए कवि ने लिखा है कि मानो चकोरों की चोंच को चीर कर चन्द्र (नख) प्रेम से चारा खिला रहा है। यद्यपि प्रस्तुत उक्ति में आलंकारिक चमत्कार का ही आग्रह अधिक है किन्तु कवि ने इस में अपनी मौलिक उद्भावना के द्वारा एक अप्रतिम सौन्दर्य की सृष्टि की है जो निश्चय ही अधिक हृदयग्राही एवं रसार्द्र हो गयी है। इसी प्रकार काव्य परम्परा में कसौटी और उस पर अंकित स्वर्ण रेखा का वर्णन प्रचुरता से होता आया है, लेकिन रीति काव्य के सजग कलाकारों ने नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण में इसे जैसी विशिष्टता प्रदान की है, वह रीति पूर्व परम्परा के कवियों के लिए अधिक सुलभ न थी। उदाहरणार्थ रसलीन का इक छन्द लीजिये—

तन सुवरन के कसत यों, लसत पूतरी स्याम।
मनो नगीना फटिक में, जरी कसौटी काम॥[२]

इसमें रूप साम्य से प्रभावित होकर कवि ने आँखों की पुतली की ऐसी सूक्ष्म कल्पना की है, जिसके कारण कवि प्रतिभा एवं कौशल का एक असाधारण निदर्शन प्रस्तुत हुआ है। अब रूप साम्य से प्रेरित देव कवि कृत एक अन्य नमूना लीजिये—

कौन जानै को ही उड़ि लागी डीठि मोही,
उर रहै अवरोही देव विधि ही निकाई को।

१. सुन्दरी सर्वस्व—सं० मन्नालाल द्विज, पृ० २२, छं० सं० ६
२ अंग दर्पण रसलीन पृ० ६ छ० स० २८

अब लगि आँखिन की पूतरी कसौटिन में,
लागी रहै लीक वाकी सोने की गुराई की ।[1]

नेत्र-सौन्दर्य विवेचन के सन्दर्भ में उनकी दीप्ति का एक कलात्मक वर्णन रीति काव्य में भूरिशः हुआ है । और नेत्रों के स्थूल सौन्दर्य-निरूपण में उनके श्वेत, श्याम और अरुण रंगों का उल्लेख तो विविध दृष्टियों से हुआ है, किन्तु लज्जा पूरित नेत्र की सूक्ष्म विवेचना करते समय उनकी अलौकिक कान्ति का निदर्शन प्रायः उन्हीं कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जिन्हें नारी सौन्दर्य के सूक्ष्म तत्वों का गम्भीर ज्ञान था और जिनकी रस-स्निग्ध दृष्टि कलात्मकता के विधान में पूर्ण दक्ष थी । नेत्रों की दीप्ति के अंकन में रीति युग के सजग कलाकार देव ने अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय अधोलिखित छन्द में किस प्रकार दिया है, यह द्रष्टव्य है—

खंजन मीन मृगीन की छीनी दृगंचल चंचलता निमिखा की ।
देव मयंक के अंक की पंक निसंक लै कज्जल लीक लिखा की ।
कान्ह बसी अँखियान विषे विसफूरति बीस विसे बिसिखा की ।
दीपति मैन महीप लिखाई समीप सिखा गहि दीप सिखा की ।।९६।।[2]

इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में कवि के कथनानुसार मानो महीप कामदेव ने अपने पास दीपशिखा की शिखा पकड़ कर नायिका के नेत्रों में दीप्ति अंकित की है । वस्तुत यहाँ देव ने नेत्रान्तर्गत काम की सूक्ष्म व्याप्ति और लज्जा की मोहक कान्ति का बडा ही रसात्मक चित्र प्रस्तुत किया है । दूसरे शब्दों में कवि ने इसमें कल्पना और अनुभूति के समन्वय द्वारा अपनी असाधारण प्रतिभा और मौलिक दृष्टि का नमूना प्रस्तुत किया है । यद्यपि नेत्रों की दीप्ति का उक्त उपमान परम्परा गृहीत है, किन्तु कवि ने शृंगारिक परिवेश में इसका संयोजन नितान्त अछूते ढंग से किया है ।

रीति मुक्त काव्यों में नेत्रों की दीप्ति का अंकन प्रायः अन्तर के विशिष्ट अनुराग से अनुप्राणित होकर किया गया है । घनानन्द, बोधा आलम और रसखान जैसे रीति मुक्त स्वच्छन्द मार्ग के अनुगत कवियों की वाणी में नेत्रों का तद्विषयक वैशिष्ट्य पूर्णतया लक्षित है, नमूने के लिए घनानन्द का एक छन्द लीजिये—

खंजन ऐसे कहा मनरंजन मोवनि लेखौ कहा रस ढार सो ।
कंजनि लाज को लेस नहीं, मृग रूखे, सने ये सनेह के सार सो ।।
मोतिन के यह पानिप जोतिन वात जिवाई न जानन भार सो ।
मीत सुजान सिखावत लो दृग है, घन आनन्द रंग अपार सो ।।[3]

---

१. सुख सागर तरंग—देव, पृ० १८८, छं० सं० ५५५
२. देव सुधा—मिश्र बन्धु, पृ० ७०, प्र० सं०
३ ग्रन्थावली (सुजानहित)—सं० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र छं० सं० ४०२ पृ० १२३

वास्तव में नेत्रों के सौन्दर्य निरूपण में आन्तरिक गुणों की अन्विति कवि के सूक्ष्म निरीक्षण एवं स्वानुभूति का परिणाम है, जो अन्य कवियों में नहीं मिलती।

कटाक्ष

संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में अपांग के निरूपण में प्राय: विष, अमृत बाण और मदिरा आदि की उपमाएँ प्रयुक्त हुई हैं। इसके अलावा यमुना की तरंगों और भृ गावलियों से भी इन्हें उपमित किया गया है।[1] हिन्दी रीति काव्य में कटाक्ष का वर्णन सामान्यतया नारी के सौन्दर्य विश्लेषण की दृष्टि से किया गया है। संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने जिस प्रकार नारियों की चेष्टा का वर्णन हावों की योजना के अन्तर्गत किया है, उसी प्रकार हिन्दी रीति कवियों द्वारा चेष्टागत सौन्दर्य के निरूपण में कटाक्ष की सूक्ष्मताओं का भी कौशलपूर्ण वर्णन हुआ है।

संस्कृत, प्राकृत और उर्दू में कटाक्ष से सम्बन्धित पुष्कल उक्तियाँ मिलेंगी, पर इन उक्तियों में अधिकांशत: चमत्कार विधायक श्रेणी में ही परिगणित होती हैं। कभी-कभी इनमें चमत्कार का आग्रह इतना अधिक मिलता है कि उससे सुरुचि की अपेक्षा कुरुचि की मात्रा अतिशय बढ़ गयी है। प्राकृत के एक छन्द से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है—

बिट्टीये मइ भणिय तुहं, माँ कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सक्कणी भल्लि जिवं, मारइ हिअइ पइट्ठि॥[2]

दूती नायिका को समझाती हुई कहती है, हे बिट्टी तुम अपनी दृष्टि को तिरछी मत करो, क्योंकि यह उस तीक्ष्ण बर्छी की भाँति है, जो हृदय में प्रविष्ट होकर जीव को मार डालती है। इसी भाव को दृष्टि में रखते हुए रीति सिद्ध कवि बिहारी ने अनियारे दीर्घ नेत्रों की चितवन की जैसी मार्मिक व्यंजना अपने दोहे में की है, वह अपेक्षाकृत अधिक सुरुचि सम्पन्न है—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान ?
वह चितवनि औरे कछू जिहिं बस होत सुजान॥[3]

इसमें नेत्रों की प्रभाव क्षमता एवं उनकी तीक्ष्णता का उल्लेख सांकेतिक प्रणाली से किया गया है। इस छन्द की तुलना में प्राकृत के उक्त छन्द में भले ही चोट की व्यंजना अधिक स्थूल हो गयी हो, पर सूक्ष्म संकेत प्राय: नष्ट हो गया है। वस्तुत बिहारी ने अपने दोहे में शृंगारिक इयत्ता और उसकी सहज शालीनता की पूर्ण रक्षा

---

१. अलंकार शेखर १३–१५
२. प्राकृत व्याकरणम—हेमचन्द्राचार्य—सं० डा० पी० एल० वैद्य ४–३३०
३ बिहारी बोधिनी—टी० दान पृ० ४२

की है। यही कवि की व्यंजना की मौलिकता थी जो अन्य कवियों में प्रयास करने पर भी नहीं आ सकी।

यों रीति कवियों के कटाक्ष निरूपण पर फारसी परम्परा का प्रभाव अधिक है, किन्तु ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है, जहाँ फारसी काव्य परम्परा की अपेक्षा सम्कृत के मुक्तक शृंगारी काव्यों की परम्परा का अमिट प्रभाव लक्षित होता है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी रीति कवियों की दृष्टि मौलिकता के विधान में पीछे रही है और उनके काव्यों पर संस्कृत की वर्णन शैली और उक्ति विन्यास की ही सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। इस तथ्य के अधिक स्पष्टीकरण के लिये भर्तृहरि कृत 'शृंगार शतक' और बिहारी कृत सतसई के कटाक्ष वर्णन विषयक एक-एक छन्द लीजिये—

१—मुग्धे धनुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यसि चेतासि गुणैरेव न सायकैः ॥१३॥[१]

२—तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझौ चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान ॥[२]

भर्तृहरि के 'गुणैरेव न सायकैः' की तुलना में बिहारी द्वारा प्रयुक्त 'बिन जिह भोह कमानि' और 'बंक बिलोकति बान' जैसी शब्दावली निस्संदेह अधिक प्रभावक्षम है और 'चल चित बेझै' के प्रयोग ने निश्चय ही बिहारी की उक्ति को अधिक सहृदय सवेद्य बनाने में पूर्ण सहयोग दिया है। अब स्पष्टतया प्रकट है कि संस्कृत की जिन उक्तियो का ग्रहण हिन्दी रीति कवियों द्वारा किया गया है, उनमें रीति कवियों की मौलिकता कहीं उक्ति के संवर्द्धन में लक्षित है और कहीं उक्ति परिष्कार में।

रीति कवियों ने नेत्रों की तीक्ष्णता का निरूपण करते समय बाणों का प्रयोग प्राय: परम्परा की दृष्टि से ही किया है, किन्तु कभी-कभी इन पारम्परिक उपमानो को ग्रहण करते समय रीति साधकों ने अपनी जिस ऐन्द्रिय सवेदना और अनुभूति को व्यक्त किया है, उससे केवल उनकी प्रगाढ़ शृंगारिकता का ही बोध नहीं होता, अपितु उनकी चित्र-विधायिनी कल्पना का भी एक पहलू सहज ही स्पष्ट हो जाता है। इस संबंध में देव की एक उक्ति लीजिए—

दिन द्वैक तैं सासुरे आई वधू, मन में मनु लाज कौ बीज बयौ।
कवि देव सखी के सिखायें मरू कै, नह्यो हिय नाह को नेह नयो ॥
चितवावत चैत की चन्द्रिका ओर चितै पति को चित चोरि लयो।
दुलही के बिलोचन बानन कौ ससि आज को सान समान भयो ॥[३]

---

१. शृंगार शतक—भर्तृहरि—टी० रामदास राय, पृ० ८३
२. बि०बो०— टी० दीन, पृ० ३९, दो० सं० ७६
३ भाव विलास सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी पृ० १२ प्र० सं०

इसमें एक ओर चन्द्र में शाण की उद्भावना जहाँ कवि के सूक्ष्म सौन्दर्य की ओर संकेत करती है, वहीं दूसरी ओर चन्द्र प्रकाश से नायिका के कटाक्ष की प्रभाव क्षमता भी ऐन्द्रिय संवेदना के उद्बोधन में पूर्ण सहायक है। शृंगार में चन्द्र द्वारा रति उद्दीपन की बात परम्परा विहित है, परन्तु कवि ने जिस रागात्मकता के साथ नेत्रों की तीक्ष्णता की अभिव्यक्ति चन्द्र में शाण की कल्पना द्वारा की है, वह उसकी विशिष्ट सूझ ही कही जा सकती है।

यह कहा जा चुका है कि फारसी और उर्दू की शृंगारिक काव्य परंपरा के अन्तर्गत कटाक्ष का वर्णन प्रायः चामत्कारिक विधान की दृष्टि से किया गया है जिसका बहुत कुछ प्रभाव हिन्दी के शृंगारिक कवियों पर भी पड़ा है, परन्तु कुछ तो ऐसी भी उक्तियाँ मिलेंगी, जिनमें इतनी अधिक समानता है कि यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि किस कवि की उक्तियाँ तुलना में अधिक उत्तम हैं। उदाहरणार्थ कटाक्ष विषयक रीति कवि बलभद्र मिश्र और उर्दू के आधुनिक कवि अकबर की एक-एक उक्ति उद्धृत की जा रही है—

क—बांकी चितवनि में करैगी कहा बलभद्र,
सूधी चितवनि में असाधु साधु होत है।[1]

ख—जमाना हो गया बिस्मिल तेरी सीधी निगाहों से।
खुदानखास्ता तिरछी नजर होती तो क्या होता।[2]

रीति कवियों ने जहाँ प्रेम के मार्मिक प्रसंगों के अन्तर्गत कटाक्ष की प्रभावक्षमता का निरूपण किया है, वहाँ निश्चय ही उर्दू और संस्कृत की उद्भावित उक्तियों की तुलना मे उनकी उक्तियाँ अधिक उत्कृष्ट और रसग्राहिणी बन गयी हैं। अधोलिखित छन्द से उर्दू की किसी उक्ति से मिलाकर वास्तविकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है—

बंक विलोकनि दीठि चलाय कै नेह लगाय के पीठि न दीजै।
बौरी न हूजिये मानि कह्यो अब प्रीतम को अपनाय कै लीजै।
मोहन रूप की बैस ही पाइ कै को नहिं जोबन के मद भीजै।
ऊजरी जो पै करी करतार तौ गूजरी एतो गरूर न कीजै।[3]

इसमें 'बंक विलोकनि' की प्रभाव क्षमता को प्रेम के ऐसे परिवेश में चित्रित किया है, जहाँ उक्ति वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रेरणा अधिक उभरने नहीं पायी है और यही भेदक रेखा उर्दू काव्य से हिन्दी की शृंगारिक कविता को सर्वथा असम्पृक्त रखती है। इसके विपरीत जहाँ कवि ने सूक्ष्म सौन्दर्य निरूपण और प्रेम के सहज रूप विवेचन

---

१. नख शिख—बलभद्र—छं० सं० १४, पृ०७
२. बिहारी की सतसई—पद्म सिंह शर्मा, द्वि० खं०, पृ०६४
३ मन रंजन संग्रह स० गौरी शंकर भट्ट पृ० ६४ छं०सं० ८९

को भूलकर उक्ति के चक्कर में पड़कर 'मुबालगा' का भव्य प्रासाद खड़ा करना चाहा है, वहीं कटाक्ष की प्रभाव क्षमता को व्यक्त करने के लिए उसे तीर, बर्छी और बाण जैसे भोड़े उपमानों को बलात् घसीटना पड़ा है।

प्रेम और सौन्दर्य के साधक रीति मुक्त कवियों की रचनाएं अपेक्षाकृत अधिक मौलिक हैं, क्योंकि सौन्दर्य निरूपण में उनकी वचन भंगिमा का अधिकांश स्वारस्य उनके अन्तः स्पर्श से प्रभावित है, नमूने के लिए आलम की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

लाजहू की ठौर तिहि ठौर हैं सचेत इत,
कोरहू सौं जोरि नैंन सखी मुसकाति है।
बांधति दृगंचलनि बीच मनु भानो चलि,
चिकने से नेह गांठि छूटि छूटि जाति है।[१]

छन्द का आशय यह है कि लज्जाशीला नायिका नायक से प्रथम परिचय होने पर पूर्ण नेत्रों से देखना चाहती है, किन्तु निकटस्थ उपस्थित सखियों के कारण प्रेम का प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। आलम ने इस तथ्य का निरूपण करते समय कल्पना के बड़े सूक्ष्म विधान का विनियोग किया है, अर्थात् कवि की उत्प्रेक्षा यह है कि नायिका मानो चंचल पलकों के मध्य मन को बांधना चाहती है, किन्तु प्रेम की गांठ इतनी चिकनी है कि वह प्रायः छूट-छूट जाती है (मन उससे बँध नहीं पाता)।

'विलोचन कोरनि' से सम्बद्ध प्रसंग को लेकर एक अन्य स्थल पर महाकवि देव ने प्रेम की एक मार्मिक अवतारणा की है, जिसकी समता के छन्द हिन्दी की शृंगारिक परम्परा में ही नहीं, उर्दू संस्कृत आदि की शृंगारिक काव्यधाराओं मे भी बहुत थोड़े मिल पाते हैं। अधोलिखित छन्द द्रष्टव्य है—

वृषभानु कुमारि मुरारि की ओर विलोचनि कोरनि सौं चितवै।
चलिबे को घरै न करै मन नैक, घरै फिर फेरि भरै रितवैं।।[२]

उपर्युक्त छन्द मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त उत्कृष्ट कहा जा सकता है, क्योंकि प्रेम की तादात्म्यमूलक स्थिति का संकेत कवि ने राधा की मनः स्थिति की पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर लेने पर ही किया है। कवि के अनुसार वृषभानु कुमारी कृष्ण की ओर अपने नेत्रों की कोरों से देख रही है। देखते ही देखते प्रेम के जिस अनाविल प्रवाह में वे बहने लगती हैं, उसके कारण उनका मन घर चलने के लिए तैयार नहीं हो पाता। मन की इस विवशता के कारण वे अपने घड़े को बार-बार भरती हैं और पुनः खाली कर देती हैं—प्रेम की ऐसी आसक्ति के कारण वे जान बूझ कर घडा भरने में देरी कर रही हैं। यद्यपि इसी प्रसंग से सम्बन्धित एक छन्द मतिराम सतसई

१- आलमकेलि—सं० लाला भगवानदीन- पृ० २३- छं० सं० ५३

२ भाव विलास सं० चतुर्वेदी पृ० ११६

मे भी मिला है,[1] किन्तु सरसता की दृष्टि से उसका महत्व देव के उक्त छन्द से निश्चय ही कम है।

—भाव मूलक नखशिख

भावमूलक नखशिख चित्रण से तात्पर्य नायिका के ऐसे अगों की सौन्दर्यानुभूति के निरूपण से है, जिसमें वैदग्ध्यमूलक कल्पना का बहुत कुछ तिरोभाव रहता है। प्रायः भावमूलक चित्रण कवि की गहरी रागात्मक प्रवृत्ति का परिणाम होता है तथा उसके सौन्दर्य-बोध की इयता अनिवार्यतः उससे सर्वथा पृथक् होती है, जिसमें अगो के मात्र बाह्य सौन्दर्य की अलंकृत का विधान प्रायः चमत्कार पर आधारित होता है। फारसी और उर्दू में ऐसे अनुरंजक चित्र बहुत मिलेंगे, किन्तु रीति युग में सौन्दर्य की ऐसी प्रगाढ़ चेतना मूलतः कवि की रागानुभूति से पूर्णतया अनुप्राणित है और इसी मे सौन्दर्य का साधक रीति कवि अंगों की सौन्दर्यानुभूति की सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति मे अपनी सम्पूर्ण संवेदना का इतना जबर्दस्त उपयोग करता है कि उसकी अश्लील से अश्लील कही जाने वाली रचनाओं में भी काव्योत्कर्ष का एक रसग्राही रूप सहज ही व्यक्त हो जाता है। इसकी पुष्टि के लिए आप सुरति, सुरतान्त एवं बिपरीत रति से सम्बद्ध चित्रों को उठा लीजिए, उसमें भी रीति युग की सहज कल्पना की सुकुमारता के साथ ही अनुभूति की सान्द्रता का ऐसा चित्रात्मक प्रयास लक्षित होता है जो कम से कम अन्य युग के शृंगारिक काव्यों में कम ही मिल पाता है। नखशिख के अन्तर्गत बर्णित अंगों के सौन्दर्य निरूपण से सम्बन्धित कुछ छन्दों से यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा। सर्वप्रथम सुरति विषयक कुछ छन्द लीजिए—जिसमें रीति कवियो के सौन्दर्य-बोध का स्वरूप स्वतः स्पष्ट प्रकट है—

क—गोरे करेरे तरेरे उरोजन देकर लागे लला झुकि झूमन।
गूजन लागो गरो गरबीली को नीर भरी पुतरी लगी घूमन ॥[2]

ख—पिय पानि कुचम्पर दै तिय के झलके नख मंजुल जोति जगै धरि।
संभु के सीस सरोरुह के दल छोरनि मानहु ओस रही ढरि।[3]

उपर्युक्त छन्दों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन कवियों ने सुरतान्त और विपरीत रति बिषयक छन्दों में भी चित्रात्मक सौन्दर्य मूलक दृष्टि को प्राय अक्षुण्ण रखा है और अपनी ऐन्द्रिय चेतना को कलात्मक रूपों की सृष्टि करते समय

---

१. मतिराम सतसई (मतिराम ग्रंथावली में संकलित) स० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० १७३, छं० सं० २०
२ शृंगार संग्रह—सरदार कवि, पृ० २१, छं०सं० १४
३ —स० लाला पृ० १२३ छं०स० २८६

कभी तिरोहित नहीं होने दिया। कल्पना और अनुभूति का ऐसा सामन्जस्य अन्य युगों के शृंगार परक चित्रों में बहुत कम ही दृष्टिगत होता है।

नख शिख काव्य परम्परा के अन्तर्गत नायिका के अंगों का सौन्दर्य-विधान प्रायः दो दृष्टियों से हुआ है—१ नायिका के प्रत्येक अंग का वर्णन, २—नायिका के समस्त अंगों का वर्णन। गत पृष्ठों में नख शिख वर्णन के सन्दर्भ में हमने प्रत्येक अंग पर विचार किया था। यहाँ भाव मूलक नख शिख चित्रण के प्रसंग में नायिका के ऐसे सौन्दर्य रूपों का अंकन किया जायगा, जिनमें कवि की भाव-तन्मयता और उसकी अनुभूति प्रवणता का अच्छा परिचय मिलता है।

नायिका की सौन्दर्य-समष्टि को ध्यान में रखते हुए उसके समग्र कलेवर के सम्बन्ध में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे इस प्रकार है—वर्ण, दीप्ति, आभा, लावण्य, कान्ति, मृदुलता, कृशता, सुकुमारता, यौवन छटा, पारदर्शिकता, प्रफुल्लता, सुगन्धि, विकास आदि।[1]

उपर्युक्त विशेषणों में रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य कविवर भिखारी दास ने 'अयत्नज अलंकारों' के अन्तर्गत रीतिकालीन नायिकाओं में केवल शोभा, काति और दीप्ति की ही अधिकता बतलायी है—

युवा सुन्दरी गुन भरी, तीन नायिका लेखि।
सोभा कांति सुदीप्ति युत नख शिख प्रभा विसेखि ॥[2]

यद्यपि आचार्य दास ने केवल तीन अलंकारों के निरूपण तक ही अपने को सीमित रखा, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रीति परम्परा के अन्तर्गत उक्त सभी विशेषणों का कथन किसी न किसी रूप में हुआ अवश्य है। हाँ, इस तथ्य पर कथमपि अविश्वास नहीं किया जा सकता कि बहुत से कवियों ने–जिनकी पैठ नायिका के सौन्दर्य विश्लेषण में अधिक सूक्ष्म नहीं थी—केवल पारम्परिक सौन्दर्य-निरूपण पद्धति को अपना कर अपने चित्रों को अधिक स्थूल बना दिया है। किन्तु रीति काव्य के ऐसे सौन्दर्य–साधकों ने जिनकी दृष्टियां पद-पद पर अभुक्त रूपों के सृजन में अधिक सजग थीं—अमूर्त एवं भावपरक चित्रों के अंकन में अधिक सफलता पायी है। इन कवियों में देव, बिहारी, पद्माकर, धनानन्द, बोधा, द्विजदेव, आलम आदि मुख्य हैं। अब कतिपय उदाहरण लीजिए—

क—जोवन तरंगन अनंग रंग संग चढ़ी,
लोचन मरोर में ललाई झलकति है।

---

१. हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और बिहारी—डा० गणपति चन्द्र गुप्त, पृ० ४२

२ शृगार निणय भिखारीदास प० १ छं० स० २९

अंगन सों अजब सुरंग साल चादर पैं,
कुन्दन तबकलों गोराई झलकति है ॥[1] —लछिराम

ख–दाख कैसो झौंरा झलकत ज्योति जोबन की,
भौंर चाटि जाते जो न होती रंग चंपा के।[2] —पूखी कवि

ग–अंगन में उर में मदन ज्वर, सिन्दुर में झमकै जिमि पारो।
देव सरोज सुखी के उरोजन ओज मनोज बजायो नगारो ॥[3]

घ–सेत वसन में यों लगे उघरत गोरे गात।
उड़ै आगि ऊपर लगी, ज्यों विभूति अवदात ॥[4] —मतिराम

ङ–लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रवाह रूपी नैननि पैं।
लही न परति गति उलट अनेरे की।
रूप को चरित्र है अनंद धन जान प्यारी।
ऐं किधौं विचित्रताई मो चित-चितेरे की।[5] —घनानन्द

च–ससि हूं को रस सानि, सोनो को सरूप लै के।[6]
अति ही सरस सो संवारी घनसार की। —आलम

उपर्युक्त छन्द में लछिराम ने नायिका की गोराई की दीप्ति को कल्पना कुन्दन तबक से की है। वस्तुतः नायिका के सौन्दर्य भावन में कवि की दृष्टि इतनी गहराई मे उतरी है कि उसके कारण समस्त अनुभूत्यात्मक चित्र अधिक सप्राण हो उठा है। दूसरे छन्द के अन्तर्गत पूखी कवि ने यौवन की दीप्ति की उपमा अंगूर के गुच्छे से दी है। सौन्दर्य का यह रूप अधिक ऐन्द्रिय है और यौवन दीप्ति के लिए द्राक्ष के झौर का अप्रस्तुत विधान तो सर्वथा मौलिक है। तीसरे छन्द में महाकवि देव ने नायिका के अंगों में व्याप्त 'मदनज्वर' की बड़ी सूक्ष्म कल्पना की है। कवि के अनुसार नायिका के हृदय और अंगों में काम की सूक्ष्म झलक इस प्रकार मिल रही है, जैसे सिन्दूर में पारा की झलक मिला करती है। वास्तव में सिन्दूर से निकाले जाने वाले पारे की सूक्ष्म दीप्ति अधिक स्पष्ट नहीं होती। पुनः मन और शरीर दोनो जगहों में काम के आगमन की सूचना सिन्दूर में व्याप्त पारे जैसे अप्रस्तुत विधान से

---

१ मनरंजन संग्रह—सं० गौरीशंकर भट्ट, पृ० १७०, छं० सं० ८६
२ दिग्विजय भूषण—सं० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० १३०, छं० सं० २५
३ सुखसागर तरंग—देव–सं० पं० बालदत्त मिश्र, पृ० १३७, छं० सं० ३९८
४. मतिराम ग्रन्थावली—सं० पं० कृष्ण विहारी मिश्र, पृ० १९३, छं० सं० २२२
५. घनानन्द कवित्त—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १४८, छं० सं० २७७
६ आलम केलि—सं० लाला पृ० ६ छं० सं० १९

ही सम्भव है। अभी तक इस प्रकार की उपमा अन्यत्र देखने को नहीं मिली। अत यह मौलिक कल्पना है। मतिराम ने अपने उक्त दोहे में श्वेत वस्त्रों से आवृत नायिका के गौरांग की बड़ी अपूर्व कल्पना की है। कवि के कथनानुसार श्वेत वस्त्रों के किंचित हट जाने से उसका गौरांग इस प्रकार झलक रहा है, जैसे आग पर लगी भस्म हट जाने पर आग की दीप्ति दृष्टिगत होने लगती है। इस छंद के सम्बन्ध में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र का विचार है कि हिन्दी के और कवियों की रचना में यह भाव नहीं देख पड़ता।[1] हिन्दी ही नहीं संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के काव्य में भी इस प्रकार का भाव अभी तक नहीं मिला है। वस्तुतः यह मतिराम की नवीन सूझ है। गौरांग निरूपण की यह पद्धति वैचित्र्य मूलक न होकर कवि की सौन्दर्यानुभूति की गहरी पैठ का परिणाम है। लगता है कवि की ऐन्द्रिय संवेदना सौन्दर्य चित्रों की ऐसी निर्मिति में पर्याप्त सजग थी। इसी से सौन्दर्य साधना के पथ पर उसकी दौड़ अव्याहत थी, जिसे कोई रोक नहीं सका। उन्हीं के लिए यह मार्ग प्रतिहत प्रमाणित हुआ जिनकी ऐन्द्रिय संवेदना अप्रौढ़ थी। घनानन्द के छन्द का आशय यह है कि प्रिय के सौन्दर्य का चित्र नेत्रों के प्रवाह पर अंकित किया गया है, फिर भी चित्र बना हुआ है, यही विलक्षण स्थिति है। इस छन्द का विश्लेषण करते हुए आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि ऐसी विलक्षण स्थिति का कारण प्रिय का सौन्दर्य है अथवा प्रेमी का मन, कहा नहीं जा सकता। बाह्यार्थ वैशिष्ट्य (आब्जेक्टिविटी) इसका हेतु है अथवा स्वात्मवैशिष्ट्य (सब्जेक्टिविटी) कौन जाने[2]। इसमें सन्देह नहीं कि प्रिय के सौन्दर्य निरूपण में यहां स्वात्म वैशिष्ट्य की ही प्रेरणा मूलत विद्यमान है, जिसके कारण सौन्दर्य चित्र फलक की ऐसी कल्पना नेत्रों के प्रवाह रूप में ही की जा सकती है। घनानन्द जी की यह उक्ति नितान्त मौलिक है। यों कालिदास ने भी मेघदूत में विरही यक्ष द्वारा स्वप्रियतमा के चित्र अंकित किये जाने की चर्चा की है, किन्तु घनानन्द की तुलना में कालिदास की रचना निश्चय ही अधिक हृदयग्राहिणी नहीं हो सकी। कालिदास की रचना इस प्रकार है—

> त्वामालिख्य प्रणय कुपितां धातु रागैः शिलाया
> मात्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामि कर्तुम ॥
> अश्रैस्तावन्मुहुरूपचितैर्दृष्टिरातुलुप्यते मे
> —क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥१०४॥[3]

---

१. मतिराम ग्रंथावली, पृ० १६३

२. घनानन्द कवित्त प्रस्तावना भाग, पृ० ७

३ मेघदूत उत्तरार्द्धम—अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह श्लोक सं० १०४ सन १८८३ का

अर्थात् तुम मानवती का चित्र पाषाण पर गोरु से लिखकर जब तक मैं अपने को तुम्हारे चरणों पर रखना चाहता हूं, तब तक आंखों में आंसू भर आते हैं और पुनः दृष्टि धूमिल पड़ जाती है। अतः प्रतीत होता है कि क्रूर विधाता हमारे चित्र मिलाप को भी सह नहीं सकता।

रीति स्वछंद काव्य धारा के दूसरे कवि आलम ने उक्त छन्द में नायिका के सौन्दर्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि चन्द्रमा के रस को सान कर (मिलाकर) तथा स्वर्ण के रूप (कान्ति) लेकर कर्पूर रूप उसके शरीर की रचना की गयी है। वस्तुतः ऐन्द्रियानुभूति के चित्रण की दृष्टि से आलम ने इसमें बहुत बड़ी पटुता प्रदर्शित की है। इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि जिसमें चन्द्र रस के कारण जिह्वेन्द्रिय, स्वर्णरूप से नेत्रेन्द्रिय और 'घनसार' से घ्राणेन्द्रिय का बहुत ही स्वाभाविक और सच्चा चित्र प्रस्तुत है तथा जिससे रस, रूप और गंध की तीक्ष्ण अनुभूति स्वभावतया हो जाती है।

यों नायिका की शारीरिक दीप्ति और उसकी सुकुमारता का अंकन रीति पूर्व युग की रचनाओं में भी उपलब्ध है, किन्तु वैभव विलास से समृद्ध युग में नायिका की सुकुमारता और दीप्ति का वर्णन अन्य युगों की रचनाओं से अधिक जम कर किया गया है और एक विशेष नाजुक खयाली बरती गयी है। बिहारी की 'अंग-अग नग जगमगत दीप शिखा सी देह' और तुलसी की 'छविगृहमध्यदीप जनु बरई' जैसी पंक्तियों में परम्परा पालन का आग्रह उतना नहीं लक्षित होता, जितना तत्कालीन मुगलों के वैभव विलास से आवृत जगमगाते महल और बहुमूल्य आभूषणों में बिजड़ित नगों की दीप्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव। अतः स्पष्ट है कि अंगों के वर्णन में एक ओर जहाँ चमत्कारातिशयता की प्रधानता है, वहां दूसरी ओर देव जैसे रीति कवियों ने अपनी रसग्राहिणी प्रतिभा का उपयोग 'माखन सो मन दूध सौं जोबन है दधितें अधिके उर ईठी'। जैसे छन्दों में किया है।

२—*शृंगारिक प्रसाधन*

गत पृष्ठों में हमने सोलह शृंगार के अन्तर्गत परिगणित वस्तुओं का उल्लेख किया था। अब यहाँ उन शृंगारिक प्रसाधनों में कतिपय विशिष्ट तत्वों की चर्चा रीति काव्य के सन्दर्भ में की जायगी, जिससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो सके कि किन शृंगारिक उपकरणों का विनियोग विशेष रूप से किया गया और उनसे किस प्रकार की मौलिकता आ सकी, जो पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य परम्परा में सम्भव न थी। मौलिकता की दृष्टि से अब हम कुछ शृंगारिक प्रसाधनों की विवेचना कर रहे हैं—

—मेंहदी और महावर

भारतीय मे मेहदी का उल्लेख कब हुआ इसे पी० के० गोडे ने अपने

एक अनुसंधानपूर्ण लेख में विस्तारपूर्वक बतलाया है। श्री पी० के० गोडे ने सुश्रुत के व्याख्याकार डल्लण की चर्चा करते हुए लिखा है कि सन् ११०० में सुश्रुत में उल्लिखित मदयंतिका को मेंहदी का समानार्थी समझा जाता था। इस प्रकार मेंहदी का अन्तर्भाव शृंगारिक उपादानों में कम से कम १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हो चुका था। पुनः इसे विदेशी पौधा बतलाया गया है, जिसका प्रसार और प्रचार मुगलों के आगमन पर विशेष रूपेण हुआ और शनैः शनैः नारी शृंगार का यह एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण अंग हो गया।[1] संस्कृत और प्राकृत की शृंगारिक रचनाओं में मेंहदी विषयक उक्तियाँ हमें नहीं मिलती। हाँ, फारसी काव्य परम्परा में मेंहदी से सम्बन्धित नाना प्रकार की अतिशयोक्ति एवं चमत्कार मूलक उक्तियों का बाहुल्य है। यद्यपि मेंहदी के स्थान पर महावर या जावक का कथन संस्कृत आदि पूर्ववर्ती काव्य धारा में भूरिशः हुआ है, किन्तु रीति काव्य में मेंहदी और महावर दोनों की विशेष चर्चा हुई है और शृंगार के विशिष्ट मदिर वातावरण में उनके वर्णन में अधिक सहृदयता प्रदर्शित की गयी है।

मेंहदी के वर्णन में रीति कवियों ने प्रायः तीन प्रकार के अंगों का उल्लेख किया है—नख, पाणि तथा चरण। इन्हीं तीनों अंगों में रंजित मेंहदी का वर्णन कभी अनुभूति प्रवण चित्रों की सृष्टि करने के निमित्त हुआ है और कभी सूक्ति और कल्पना समन्वित रूपों की अवतारणा करने की दृष्टि से, परन्तु इसमें तनिक सन्देह नहीं कि उर्दू में मेंहदी का जैसा वर्णन हुआ है, उससे रीति कवियों की दृष्टियाँ इस अर्थ में भिन्न अवश्य है कि इन्होंने कोरा चमत्कार प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति प्रकट नही की है, अपितु उसमें इनकी गहरी ऐन्द्रिय चेतना का भी रूप प्रस्फुटित हुआ है। और कभी-कभी दैन्य एवं प्रेम भाव की उत्कृष्ट व्यंजना के निमित्त भी इसका उपयोग किया गया है, यह निम्नलिखित विभिन्न उक्तियों से अधिक स्पष्ट हो जायगा—

(१) काढ़त माखन ताखिन में मिहदी कर बूँद रही छबि छाय कै।
क्षीर समुद्र में डोले 'मुबारक' इन्दु बधू ज्यों सुधा सो अन्हाय कै॥[2]

—मुबारक

(२) मेंहदी बूँद घनी तिन में तन मोहन के मन मोहिनी लाई।
इंदु बधू अरविन्द के मन्दिर इन्दिरा को मनु देखन आई॥[3]

—अज्ञात कवि

---

१. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डा० बच्चन सिंह, पृ० ३१३
२ शृंगार संग्रह सं० सरदार कवि पृ० १८१ छं० सं० १०३
३ ,, १०४

(३) देन लगी मिहंदी दुलही कर बैठि तिया इक नागरी नेरी ।
होय लटू गई बाल बिलोकि ललाई अलौकिकै वा कर केरी ।।
देइ न दूरि करै न धरै न टरै टक ते न हलै चित चेरी ।
यो चुभि डीठि चलै न उतै इतै चाहि रही लिए हाथ हथेरी ।।[1]
—अज्ञात कवि

(४) बिन्दु रचे मेंहदी के लसैं कर, तापर यो रह्यो आनन आइ कै ।
इन्दु मनो अरविन्द पै राजत, इन्द्र वधून के वृंद बिछाइ कै ।।[2]
—पद्माकर

(५) उपमान वे कौन जिन्हें सजि कैं अंगुरी, अंगुरी न दिखावति है ।
मेंहदी निज हाथन लाइ कहौ, दुति कौन की हाथ न लावति है ।।[3]
—द्विजदेव

(६) मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे,
लट उरझी है नेक बेसर सुधारि दै ।[4] —कालिदास

(७) लैकर कज्जल अंगुलि लावति नैन लगावति अंजन कों ।
राजति यों मेंहदी नख पै मनो गुंज चुगावति खंजन को ।।[5]—गंग कवि

(८) पिय मनसा लौं बारी मिहँदी अनन्द घन,
एरी जान प्यारी नेकु पायनि लग्यो चहै ।[6] —घनानन्द

मुबारक ने उपर्युक्त छन्द में मक्खन मथते समय का दृश्य अंकित किया है। कवि के अनुसार मक्खन निकालते समय राधा के मेंहदी रंजित कर इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, मानो इन्द्र बधूटियाँ क्षीर सागर में सुधा से स्नान करके तैर रही हैं। श्वेत और रक्त वर्णों के लावण्य प्रदर्शन में कवि ने जैसी कल्पना की है, वह श्लाघ्य है। मुसलमान होते हुए भी मुबारक ने क्षीर सागर जैसे भारतीय उपमान को ग्रहण करने में अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। इसी प्रकार तीसरे छन्द में अज्ञात नामा कवि ने यह प्रदर्शित किया है कि दूल्हन के हाथ में कोई चतुर नायिका मेंहदी

---

१. शृंगार संग्रह—सं० सरदार कवि, पृ० १८१, छं०सं० १०२
२. पद्माकर पंचामृत—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १७८, छं० सं० ४८८
३. शृंगार लतिका सौरभ—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ७६२, छं० सं० २६७
४. प्रयाग नारायण विलास—सं० बन्दीदीन दीक्षित, पृ० ६६
५. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण, पृ० १७, छं० सं० ५३
६ घन आनन्द सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ६६ छं० सं० २१

लगाने के लिये ज्यों ही उद्यत हुई, उसी समय उसके हाथों की अलौकिक लालिमा देखकर वह ठगी सी रह गयी तथा उसकी ऐसी किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति हो गयी कि वह नायिका के हाथ को मेंहदी लगाने के लिये पकड़े रह गई। रूप चित्रण की ऐसी प्रभविष्णुता रीति कवियों की एक मुख्य विशेषता थी जो अन्य श्रृंगार विधायक कवियो मे विरल थी।

रीतिकाल में पद्माकर अपनी चित्रमयता में अग्रगण्य माने जाते हैं। नायिका के मेंहदी रंजित हाथ के सौन्दर्य निरूपण में उनकी इसी चित्रमयता की प्रवृत्ति का दर्शन होता है। अपने उपर्युक्त छन्द में पद्माकर ने सुरतान्त के समय आलस्य बलित किसी नायिका के सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत किया है। छन्द का भाव यह है कि मेंहदी रंजित पाणि पर अपने चन्द्रमुख को रख कर नायिका सो रही है। कवि की कल्पना है, मानो चन्द्रमा कमल (पाणि) पर इन्द्र वधूटियों (मेंहदी) को बिछाकर सो रहा है। वस्तुतः पदमाकर की यह उद्भावना एकदम अछूती है। पद्माकर की इस उद्भावना से अन्य अनेक परवर्ती कवियों ने लाभ उठाया है।[1]

रीति मुक्त कवि द्विजदेव ने अपने छन्द में अधिक मर्मस्पर्शी प्रभाव तो उत्पन्न नहीं किया, किन्तु अंगुली दिखाना तथा 'दूति कौन की हाथ न लावति है' जैसे मुहावरों के प्रयोग द्वारा स्व वर्णन की कुशलता अवश्य प्रकट की है। द्विजदेव की अपेक्षा कालिदास की उक्त दोनों पंक्तियाँ विशेष प्रभावशाली हैं। कालिदास ने इस छन्द मे वचन विदग्धा नायिका का संकेत किया है। वस्तुतः मध्यकाल में ही नहीं आज भी मेंहदी लगाने वाली की स्थिति परवशता जैसी होती है। नायिका भी अपनी परवशता व्यक्त करती हुई कह रही है कि हे नन्दलाल, मेरे हाथों में चूंकि मेंहदी लगी है, इस कारण मैं लटों में उलझी हुई बेसर को सुलझाने में असमर्थ हूं, अतः तब तक इस कार्य में जरा आप ही सहायता दे दें। वाणी-वैशिष्ट्य की यह चारुता आपको रीति काव्य में पदे-पदे मिलेगी।

गंग के उक्त छन्द से यह पूर्णतया आभासित हो रहा है कि कवि ने बडी कुशलता के साथ मेंहदी रंजित नखों का चित्रण किया है। गंग की उद्भावना है कि नायिका अपनी अंगुली में कज्जल लेकर आँखों में लगा रही है। उस समय मेंहदी रंजित नखों की लालिमा और कज्जल की श्यामाभा के कारण 'गुंजाफल' जैसा सौन्दर्य प्रकट हो रहा है।वास्तव में गुंजाफल का रंग काला और लाल होता भी है। कवि ने उत्प्रेक्षा करते हुए लिखा है मानो खंजन पक्षी (आँखों से तात्पर्य है) को नायिका गुंजाफल खिला रही है।

प्राचीन काल में जब मेंहदी का प्रचलन इस देश में नहीं हुआ था, तो उस

---

१ प्रयाग नारायण विलास पृ० ५८

समय स्त्रियाँ अपने नाखून को अलक्तक (लाख से निर्मित लाल रंग का महावर) से रंगा करती थी। वात्स्यायन के काम सूत्र में इस तथ्य की ओर पर्याप्त संकेत किया गया है।[1] किन्तु मेंहदी के प्रचलन के साथ-साथ अलक्तक द्वारा नाखूनों को रंगने की क्रियाएँ बहुत कम हो गयी। सम्प्रति मेंहदी के अतिरिक्त नाखून पालिश (नेल पालिश) का भी प्रयोग प्रायः किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन भारत की स्त्रियाँ पाँवों में मेंहदी लगाने की अपेक्षा बहुधा महावर या जावक का प्रयोग करती थी किन्तु मुस्लिम शासकों के आगमन के साथ महावर का प्रयोग केवल हिन्दू परिवारों तक ही सीमित रह गया और मेंहदी का उपयोग अधिकांशतः मुसलमान परिवार की महिलाओं में उत्तरोत्तर किया जाने लगा। हिन्दू परिवारों में आज भी मांगलिक अवसरो पर (विवाहादि उत्सवों पर) महावर का ही प्रयोग होता है, किन्तु मुस्लिम संस्कृति में मेंहदी की व्याप्ति अपेक्षाकृत अधिक है। फलतः उनके विवाह आदि अवसरो पर पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही मेंहदी का उपयोग एक मांगलिक उपादान के रूप में करते हैं।

घनानन्द के उपर्युक्त छन्द में पाँवों की मेंहदी का उल्लेख जिस निष्ठा के साथ किया गया है, उसमें उर्दू कवियों की भाँति अनुरंजकता का प्राधान्य न होकर उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों के संस्पर्शन का एक मार्मिक प्रभाव है। यही आत्मनिष्ठ वाणी उनके काव्य की एक मुख्य विशेषता है जो उर्दू के कवियों में प्रायः नहीं आ सकी। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिये मेंहदी से सम्बन्धित कुछ उर्दू रचनाएँ उद्धृत की जा रही हैं—

(क) हम वो पावोसिये जाना को तड़फते हैं सदा।
और मेंहदी के मजे रोज उड़ा करते हैं।।—अज्ञात कवि

(ख) बढ़ता रहा बदन में मेरे दम-बदम लहू।
सीने पे था वह दस्त हिनाई तमाम रात।।—अज्ञात कवि

(ग) पंजए-महर को खूने शफकी में हर रोज।
गोते क्या-क्या तेरा दस्ते हिनाई देता।।[2]—जौक

रीति काव्य के जिन विशिष्ट शृंगारिक प्रसंगों में सौन्दर्य प्रसाधन के तत्वों की चर्चा की गयी है, उनमें मेंहदी के अनन्तर महावर या जावक का स्थान मुख्य है। ऊपर हमने इस बात का उल्लेख किया है कि प्राचीन काल में भारतीय रमणियाँ अपने शारीरिक सौन्दर्य के संवर्धन में अलक्तक या लाक्षारस का प्रयोग करती थी। संस्कृत

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८६, तृतीय संस्करण

२ शृंगार लतिका सौरभ—सं० प० चतुर्वेदी पृ० ३६२ में उद्धृत

काव्यों में विशेषकर शृंगारिक मुक्तकों एवं प्रबन्धों में—जावक या महावर की भूरिशः चर्चा की गयी है। कालिदास ने अलक्तक का कथन पार्वती के उन अधरों के सन्दर्भ में किया है, जिन पर चिरकाल से अलक्तक नहीं लगाये गये हैं, फिर भी उनमें स्वाभाविक लालिमा विद्यमान है।[१] अमरुक ने महावर का वर्णन ऐसी खंडिता नायिका के प्रसंग में किया है, जिसका पति प्रातःकाल अपने ललाट पर महावर लगा कर आया है। नायिका नायक की इस वेश भूषा को देखकर लीला कमल सूंघती हुई मूर्च्छित हो गई।[२]

हिन्दी रीति काव्य में जावक का कथन प्रायः शृंगार की कोमल भाव-व्यंजना को लेकर हुआ है। यद्यपि हिन्दी रीति काव्य परम्परा में भी खण्डिता के प्रसंग में सस्कृत काव्य परम्परा की भाँति जावक की चर्चा हुई है, परन्तु लक्षिता, मुग्धा स्वकीया और प्रौढ़ा स्वाधीन पतिका नायिकाओं के अन्तर्गत जावक का वर्णन अधिक सरसता के साथ हुआ है। अब मतिराम का एक छन्द लीजिए—जिसमें जावक की चर्चा लक्षिता नायिका को लेकर की गयी है।

लक्षिता के लक्षणों को पहचानने में चतुर सखी नायिका से कह रही है—कि आज तुम कुंज से सुखपूर्वक शयन करके तथा नायक से महावर लगवा कर आयी हो। आज तुम्हारे नेत्रों में सांवरे (कृष्ण) ने अंजन लगाया है, जिसे देखकर हिरणियाँ भी लज्जित हो रही हैं। हे सखी, इस रहस्य के पूछने पर तुम अपनी भौंहों को क्यों तान रही हो—क्रोध भाव क्यों व्यंजित कर रही हो ? यह चोटी तो गोपाल के हाथों की गूंथी हुई है—यह स्पष्टतया मालूम हो रहा है, अतः तुम्हारा गोपनीय प्रेम-व्यापार अब छिपाने से छिप नही सकता।[३]

मुग्धा स्वकीया के सन्दर्भ में मतिराम ने अपनी सुकुमार भाव व्यंजना का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—

आपने हाथ से देत महावर आप ही बार संवारत नीके।
आपनु ही पहिरावत आनि कै, हार संवारि कै मौरि सिरी के।
हो सखि लाजनि जात मरी, मतिराम सुभाव कहा कहौ पीके।
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अब ही ते ये चेरे भए दुलही के।[४]

प्रस्तुत छन्द में नायिका नायक की करतूत की चर्चा अपनी सखी से यों कर रही है—

---

१. कुमार संभव—मल्लिनाथ की टीका ५-३४
२. अमरु शतक—अनु० ऋषीश्वरनाथ भट्ट, पृ० ९१
३. मतिराम ग्रन्थावली—सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० १६, छं० सं० ७७, प्र० सं० पृ० ३७
४ मतिराम ग्रन्थावली सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र पृ० २७ छं० सं० १७२

हे सखी, नायक अपने ही हाथों से महावर लगाता है—मुझे नहीं लगाने देता और स्वयं ही मेरे बालों को अच्छी तरह संवारता है। यही नहीं, खुद ही मौलश्री का हार बनाकर मुझे पहनाता है, अतः मैं तो नायक के ऐसे कार्य से लज्जा से मरी जा रही हूं। तुझसे प्रियतम के ऐसे स्वभाव के सम्बन्ध से और क्या बताऊं? लोग जब मिलते हैं तो घर में उसके कार्य की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि वह अभी से ही अपनी पत्नी का नौकर हो गया है।

सेनापति ने निश्चय ही अन्य कवियों की तुलना में जावक विषयक मार्मिक कथन किया है। एक नमूना लें—नायक पहले नायिका की वेणी को फूलों से गूंथना है और इसके पश्चात् उसके माथे पर कस्तूरी की काली बिन्दी भी लगा देता है। पुन नायिका के अंग-अंग को भूषणों से अभिमण्डित करके अपने हाथ के पान का बीड़ा भी खिला देता है और अन्त में जब प्रेमाभिभूत होकर उसने नायिका के महावर देने के लिए उसके चरणों को पकड़ा, उसी समय नायिका ने नायक के हाथ का चुम्बन करके उसे आँखों में लगा लिया और कहा कि हे प्राणनाथ, (मेरे पैरों को महावर लगाने के निमित्त स्पर्श करना) यह अत्यन्त अनुचित है—

फलन सौं बाल की बनाइ गुही बेनीलाल, भाल दीनी बैंदी मृगमद की असित है।
अग अंग भूपन बनाइ व्रज भूपन जू, बीरी निज करके खवाई अतिहित है॥
ह्वै कै रस बस जब दीबे कौं महाउर के, सेनापति स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखनि सौं, कही प्रानपति यह अति अनुचित है॥[1]

सेनापति ने उक्त छन्द में भारतीय ललनाओं का जैसा उदात्त आदर्श अंकित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः ऐसी रमणियों से ही भारतीय संस्कृत की गौरवमयी परम्परा आज भी अक्षुण्ण है। भावोत्कर्ष की दृष्टि से यह छन्द अन्य अनेक हिन्दी और संस्कृत कवियों से उत्तम है।

बिहारी और देव ने भी अपनी नायिकाओं के जावक वर्णन में अपूर्व चातुर्य प्रदर्शित किया है। बिहारी ने खण्डिता के अन्तर्गत जावक की चर्चा इस प्रकार की है—

पलनि पीक अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥[2]

देव ने 'रसविलास' में जावक विषयक एक ऐसे छन्द का उल्लेख किया है, जिसमें नाइन जावक के बहाने कामोद्दीपन का कार्य निरापद सम्पन्न कर लेती है। देव के इस छन्द से स्पष्ट है कि नायिकाओं के ये शृंगारिक प्रसाधन किस प्रकार

१ कवित्त रत्नाकर सं० पं० उमाशंकर शुक्ल दूसरा तरंग छं०सं० ३३ प्र०सं०
२ बिहारी बोधिनी टी० लाला भगवानदीन दोहा स० ३८३ पृ० १८३ प्र०सं०

तत्कालीन ऐन्द्रिय बुभुक्षा की तृप्ति में सहायक होते थे—

घर घर डोलत सुघर नर मोहिबे कौ,
उघरी फिरत सब, मुख सुख दैनियां।
जावक कै मिस काम–पावक जगावै देव,
हिय कौ हरत यौं करत कर सैनियां॥[1]

रीति मुक्त कवियों में घनानन्द का जावक चित्रण नितान्त मौलिक है। अपने छन्द में घनानन्द ने सुजान की पिंडली और मुरवा का वर्णन करते-करते अन्त में महावर के सौन्दर्य का अप्रतिम निरूपण किया है। छन्द के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का मानस महावर के सौन्दर्य को देखकर पिघल जाता है और उसके काम का वह नही रह जाता। लक्षणा का ऐसा प्रयोग हमें अन्य कवियों में ढूढ़ने से भी नहीं मिलता। यद्यपि देव की इस पंक्ति की 'मग में धरत पग जावक ढरयो परै' भूरिशः श्लाघा की जाती है, किन्तु इसमें सौकुमार्य गुणों के होते हुए कवि की प्रगाढ़ तन्मयता का पूर्ण अभाव है। हाँ इसकी व्याप्ति घनानन्द की इस रससिक्त वाणी मे सहज ही देखी जा सकती है—

रति सांचै ढरी अछवाई भरी पिंडरीन गुराइयैं पँखि पगै।
छबि घूमि धुरै न मुरे मुखान सों लोभी खरोरस झूमि खगै॥
घन आनंद एड़िन आनि मिढ़ै तरवानि तरे ते भरै न डगै।
मन मेरो महाउर चायनि च्वै तुव पायनि लागि न हाथ लगै॥[2]

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बेनी प्रवीन ने मध्याधीरा नायिका के अन्तर्गत जावक विषयक एक बड़ी सुन्दर उक्ति प्रस्तुत की है। इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में व्यंग्य का ऐसा तीखापन विद्यमान है, जिसके कारण पूरे छन्द में अपूर्व सरसता आ गयी है। अभी तक इस जोड़ की उक्तियाँ अन्य कवियों में नहीं मिली—

भोरही न्योति गई ती तुम्हें वह गोकुलगांव की ग्वालिनि गोरी।
आधिक रीति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि कियो बर जोरी॥
आवै हंसी हमै देखत लालन? भाल में दीन्हों महावर घोरी।
एते बड़े ब्रजमण्डल मैं न मिली कहूं मांगेहु रंचक रोरी॥[3]

नायिका की व्यंग्य गर्भित अन्तिम पंक्तियों का भाव यह है कि गौरांगी गोपी ने बुलाकर माथे में महावर क्यों लगा दिया, क्या! इतने बड़े ब्रज मण्डल में थोड़ी भी रोली मांगने पर न मिली?

---

१. रस विलास—देव, पृ० २६, छं० सं० १४
२. घनानन्द ग्रन्थावली (सुजान हित) सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १४ छं० संख्या १४।
३ नवरस तरग—बेनी प्रवीन—स० कृष्ण बिहारी मिश्र पृ० ८

ताम्बूल

हिन्दी रीति काव्य में अन्य शृंगारिक प्रसाधनों के साथ ताम्बूल की भी बहु-विध चर्चा की गयी है। ताम्बूल भारतीय संस्कृति में एक विशिष्ट पदार्थ के रूप मे अभिहित किया गया है। यह सामान्य लौकिक व्यवहार से लेकर देव अर्चना आदि के कार्यों में बराबर प्रयुक्त होता रहा है। कामसूत्र में वात्स्यायन ने नागरक की दिनचर्या मे सुगंधित ताम्बूल खाने का भी उल्लेख किया है।[१] ताम्बूल के सम्बन्ध में बराह मिहिर का कथन है कि उससे वर्ण की प्रसन्नता आती है, मुख में कान्ति और सुगन्धि आती है, वाणी में माधुर्य का संचार होता है तथा वह अनुराग की वृद्धि करता है, रूप को निखारता है, सौभाग्य का आवाहन करता है और कफ जन्य रोगों को दूर करता है।[२] इसके प्रयोग के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि आर्य लोग इस देश में आने के पूर्व ताम्बूल का प्रयोग नहीं जानते थे। उन्होने नागजाति से इसका व्यवहार सीखा था। अब भी संस्कृत में इसे नागवल्ली कहते हैं।[३]

प्राचीन काल में ताम्बूल का बीड़ा सजाना भी अपने आप में एक बड़ी कला माना जाता था। सुपारी, चूना और खैर की आनुपातिक मात्रा का ज्ञान ताम्बूल का बीड़ी सजाने वाले कला मर्मज्ञ को ही होता था। पुराकाल की विलासी रमणियो के ओष्ठों का ताम्बूल एक विशिष्ट सौन्दर्यवर्द्धक वस्तु माना जाता था। संस्कृत काव्य के शृंगारिक ग्रन्थों में ताम्बूल द्वारा रंजित ओष्ठों की अरुणिमा का बहुत उल्लेख हुआ है। 'शृंगार तिलक' में कालिदास ने ताम्बूल से संवर्धित लालिमा का संकेत किया है।[४] पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भामिनी विलास' में नायिका के सहज सुगन्धित और अरुण मुख में ताम्बूल की भ्रान्ति की कल्पना की है।[५] अमरू ने ताम्बूल की चर्चा एक ऐसे प्रसंग में की है, जिसमें प्रौढ़ा धीरा नायिका ने ताम्बूल लाने के बहाने गाढ़ालिंगन भी न होने दिया।[६] राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में इस बात का सकेत किया है कि ताम्बूल खाने से स्वच्छ मुख वाली द्रविड़ देश की रमणियां मिर्च खाकर प्रियों के अधरों से उच्छिष्ट मदों का पान करती है—

---

१. गृहीत मुखवासताम्बूल :—कार्याण्यनुतिष्ठेत् ।।५।। कामसूत्रम् चतुर्थ अध्याय
२. बृहत्संहिता—बराह मिहिर—७७।३४-३५
३. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २५, तृ०स०
४. रागेनस्खलितस्तवाधरपुटे ताम्बूलसंवर्धितः—शृंगार तिलक, श्लोक सं० ७, पृ० १५
५. भामिनी विलास—टी० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, शृंगार विलास २, पृ० १३५
६ अमरू ० अर्जुनीश्वर भट्ट पृ० २१ श्लोक स० १५

पिबन्त्या स्वाद्य मरिचं ताम्बूल विशदैर्मुखैः ।
प्रियाधरावदंशानि मधूनि द्रविडांगना ॥[१]

अबुल फजल ने 'आइने अकबरी' में बिलहरी, काकेट, कपूरी बंगला आदि विभिन्न ताम्बूल की जातियों का वर्णन किया है।[२] संस्कृत की शृंगारिक रचनाओं में जहाँ अधिकांशतः ताम्बूल शृंगार और सौन्दर्य का एक उपादान माना गया है, वहाँ हिन्दी रीति काव्य में इसे शृंगार के एक विशिष्ट मादक वातावरण की सृष्टि करने में पूर्ण सहायक समझा गया है। केशव, देव और पद्माकर जैसे रीति कवियों ने अपनी रचनाओं में ताम्बूल की चर्चा केवल ओष्ठों की अरुणिमा व्यक्त करने के लिए ही नहीं की है, अपितु शृंगारिक परिवेश में हास्य, विनोद, चपलता और लज्जा की अतुल गहराई में प्रच्छन्न प्रेम वृत्तियों के प्रकाशन में भी इसकी उपादेयता भूरिशः स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में कुछ छन्द लीजिए—आचार्य केशवदास अपने एक छन्द में लिखते हैं कि राधा जी अपने प्रियतम कृष्ण की लीला करती हुई स्वयं मीठा ताम्बूल खाकर और उन्हें खिलाकर चारों तरफ चौंक कर देखने आदि की क्रियाएँ सीख रही हैं—

पायन को परिबो अपमान अनेक सौं केशव मान मनैबो ।
मीठो तमोर खवाइबो खैबो, विसेषि चहूं दिसि चौंकि चितैबो ।
चीर कुचीलनि ऊपर पोढ़िबो पातनि के खरकें भजि ऐबो ।
आंखिनि मूंदि कै सीखति राधिका कुंजनि तें प्रति कुंजनि जैबो ।[३]

आचार्य देव अष्टयाम के एक छन्द में प्रेममूलक परिहास और विनोद का एक चित्र इस प्रकार देते हैं—एक दिन रात्रि के समय नायक ने नायिका को हँस कर पान दिया। नायिका हँस कर अपनी भौंहे टेढ़ी कर लेती है। नायक-नायिका की इस बद-माशी को समझकर उसकी बाँह पकड़ लेता है, इस पर नायिका उसे मना करती है और कहती है कि देखो, लज्जा मत भंग करो, सामने ही ज्येष्ठा सखियाँ बैठी हैं—वे तुम्हारे ऐसे व्यवहार पर क्या कहेंगी—किन्तु नायक की धृष्टता बढ़ती ही जाती है, वह बराबर नायिका की ओर अपनी दृष्टि गड़ाये चला जा रहा है, नायिका भी जरा शरारत की ओर अपना कदम बढ़ाती है और ज्यों-ज्यों नायक नायिका की ओर देखने की चेष्टा करता है—नायिका त्यों-त्यों अपनी सखियों की ओर देखने लगती हैं—

पान दियो हँसि प्यार सो प्यारी बहू लखि त्यों हँसि भौंह मरोरी ।
बाँह गही ललचाइ लला मुख नाहीं कही मुसकाय किशोरी ।

१. काव्य मीमांसा—अनु० गंगासागर राय, पृ० १०४
२. आइने अकबरी—अनु० ब्लाक मैन—जिल्द १ पृ० ७७
३ केशव ग्रन्थावली खण्ड १ स० प० मिश्र पृ० १३

तोरि न लाज जेठानी सखी जन देव ढिठाई करै नहिं थोरी।
लाल जितै चितवै तिय पै तिय त्यों-त्यों चितौति सखीनि की ओरी।[१]

पद्माकर की विश्रब्ध नवोढ़ा अब प्रियतम को पान खिलाने के लिए उसके पर्यंक तक जाने लगी है—

देति पिया न छुवै छतियाँ बतियान में तौ मुसुक्यान लगी है।
प्रीतमैं पान खवाइबे को परजंक के पास लौं जान लगी है॥[२]

निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि हिन्दी रीति कवियों ने ताम्बूल का प्रयोग शृंगार की विभिन्न परिस्थितियों में ऐसे कौशल के साथ किया है कि उनकी तुलना मे संस्कृत आदि शृंगारिक रचनाओं में इस प्रकार का वैविध्यपूर्ण चित्रण नहीं मिलता।

—अंगराग

प्राचीन साहित्य में सुगन्धित पदार्थों द्वारा अनुलेपन किये जाने का उल्लेख बहुत किया गया है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में उचित मात्रा में स्वमस्तक पर चन्दन आदि का लेप करके अपने दैनिक कार्यों में लगने वाले नागरक की चर्चा की ह।[३] चन्दन के अलावा अन्य प्रकार के अनुलेपन पदार्थों का भी कथन किया गया है। इसमें कस्तूरी अगरु और केसर आदि मुख्य हैं। वृहत्संहिता में केशों को सुगन्धित किये जाने की विधि का विस्तार पूर्वक उल्लेख है। मध्य युगीन हिन्दी साहित्य मे प्राचीन परम्परा के सभी सुगन्धित पदार्थों का ग्रहण नहीं हुआ है। उनमें से कुछ तो परम्परा से गृहीत पदार्थ थे और कुछ पदार्थ मुगल शासकों के द्वारा प्रचलित किये जाने पर ग्रहण किये गये। मध्य युगीन मुगल शासक सुगन्ध के अति प्रेमी थे, अत. अपने समय में उन मुगल शासकों ने सुगन्धित पुष्पों आदि की सहायता से नाना प्रकार के इत्र आदि का आविष्कार किया था। अबुल फजल कृत 'आइने अकबरी' मे सुगन्धित पदार्थों की एक बृहत् सूची दी गयी है। उस सूची में परिगणित बहुत से सुगन्धित पदार्थ रीति कवियों द्वारा अधिक इस्तेमाल किये गये। रीति काव्य में प्रयुक्त कुछ सुगन्धित द्रव्यों के नाम आइने अकबरी में इस प्रकार मिलते हैं—कस्तूरी, अगर, चोवा, काश्मीरी केशर, चन्दन, कपूर आदि।[४]

---

१. अष्टयाम—देव, पृ० २१; छं० सं० ४
२. पद्माकर पंचामृत—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ९४, छं० सं० ४०
३ कामसूत्रम अध्याय ४।५
४ आइने अकबरी—अनु० ब्लाकमैन जिल्द एक पृ० ८० द्वि० स०

उसमें 'चोवा' बनाने की विधि का भी विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। 'चोवा' जायसी और देव आदि कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रयुक्त किया है। कश्मीरी केशर का संकेत आचार्य भिखारीदास ने अपने काव्य निर्णय में इस प्रकार किया है—"अब तो बिहारी के बानक गये री, तेरी तन द्युति केसर को नैन कसमीर भो।[१]" इन पंक्तियों से पता चलता है कि आचार्य दास के समय तक कश्मीरी केशर अपनी श्रेष्ठता में अद्वितीय प्रमाणिक हो चुकी थी। इसी से केशर की चर्चा के साथ ही काश्मीर का भी नाम जुड़ा हुआ है।

संस्कृत साहित्य में कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में लोध्र पुष्प के रज का उल्लेख किया है। इस रस का अनुलेपन कर लेने पर अलका की स्त्रियों की मुख कान्ति पीली दिखलायी पड़ती थी।[२] बाद में हिन्दी काव्य परम्परा में इस पुष्प रज का कथन नहीं हुआ। इससे स्पष्ट है कि बहुत से सुगन्धित पदार्थों का वर्णन केवल प्राचीन संस्कृत काव्यों तक ही सीमित रहा और 'चोवा' जैसे कुछ पदार्थ संस्कृत काव्य परम्परा में नहीं मिलते, उनकी उपलब्धि हिन्दीं के शृंगारिक काव्य परम्परा मे ही हुई है।

संस्कृत के कामशास्त्रीय ग्रन्थों में पद्मिनी नायिकाओं का कथन हुआ है। ऐसी नायिकाओं के सम्बन्ध में कामशास्त्र का साक्ष्य है कि उनके शरीर से पद्म जैसी गन्ध निकला करती है और यह गन्ध उस गन्ध से सर्वथा भिन्न होती है, जिसे कृत्रिम रूप से निर्मित करके हम इस्तेमाल किया करते हैं। हेवलाक एलिस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'यौन मनोविज्ञान' (साइकोलोजी आफ सेक्स) में गन्ध का सूक्ष्म विश्लेषण किया है और कामशास्त्रीय द्रष्टि से इसकी उपादेयता को पूर्णतया स्वीकार करते हुए वात्स्यायन की भाँति उन्होंने भी शरीर से निकलने वाली विशिष्ट गन्ध के महत्व के सम्बन्ध में सम्यक् रूपेण विचार किया है और कहा है कि "हम उस समय, विशेष रूप से मनुष्य जाति में, महक के यौन गुणावगुण पर पहुंच जाते हैं, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि सभी पुरुष तथा स्त्रियों की अपनी-अपनी विशेष महक होती है।[३]"

इस दृष्टि से सुगन्धित अनुलेखन द्वारा नायिका के शरीर की कान्ति को अधिक सर्वधित करने के साथ ही घ्राणेन्द्रिय को अधिक मादक बनाने की प्रवृत्ति भी

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली (काव्य निर्णय) सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र १०।३०

२. हस्तेलीलाकमलमलक बालमुकुन्दानुविद्ध।
नीलालोध्र प्रसवरजसा पाण्डुतामानन की: ॥
—मेघदूत उत्तरार्द्धम्—अनु० राजा लक्ष्मण सिंह, पृ० ५४, श्लोक ६७

३ यौन हेवलाक एलिस अनु० गुप्त पृ० ५७

रीति काव्य में पदे-पदे लक्षित होती है। अतः चोवा, केशर, चन्दन, अगर आदि की बहुलता इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। रीति कवियों में देव और सेनापति की रचनाओं में 'सोंधे सुगन्ध'[1] की चर्चा हुई है। देव ने अपने एक छन्द में एक नाइन का वर्णन किया है जो नायिका को सुगन्धित पदार्थों से स्नान कराने के लिए आयी हुई है। उसने नायिका का उबटन करने के लिए उसकी कंचुकी उतार कर रख दिया। कंचुकी उतारने पर नायिका के नख शिख सौन्दर्य को देखकर वह ठगी सी खडी रह गयी।[2] इसी छन्द में सोंधे का भी प्रयोग हुआ है, जिसे मिश्र बन्धुओं ने 'शोधन' का विकृत रूप माना है और उसका अर्थ स्वच्छ करना बताया है। देव ने इस छन्द में उबटन की भी चर्चा की है। उबटन का उल्लेख मध्य युग की रचनाओं मे अधिक हुआ है। 'आइने अकबरी' में भी उबटन शब्द आया है। वहाँ उबटन हाथ धोने और सुगन्ध बढ़ाने वाले पदार्थ के रूप में उल्लिखित है।[3] अतः स्पष्ट है कि मध्य युग में उबटन एक ऐसा सुगन्धित पदार्थ था, जिसे अंगों के स्वच्छ करने के साथ ही बहुधा उन्हें सुगन्धमय बनाने में भी प्रयुक्त किया जाता था।

बिहारी ने सुगन्ध चर्चित अंग वाली एक ऐसी नायिका का वर्णन किया है जिसके शरीर की सहज कान्ति चाँदनी में इस प्रकार मिल जाती है कि सखी उसे देख नहीं पाती, किन्तु उसके शरीर से विकीर्ण होने वाली मादक एवं तीक्ष्ण गन्ध के सहारे सखी उसके साथ चली जा रही है। वस्तुतः शृंगारिक प्रसाधनों के अन्तर्गत ऐसे वर्णन रीतिकाल में ही हुए हैं। अब उक्त छन्द देखें—

> जुवति जौन्ह में मिलि गई नेकु न परति लखाय।
> सोंधे के डोरन लगी अली चली संग जाय॥[4]

शृंगार युग की नायिकाएँ अपनी सपत्नियों की सुगन्ध का भी सूक्ष्म ज्ञान रखती थीं। वे नायिका के अंगों में लगी इतर सुगन्ध से इस बात की कल्पना तत्क्षण कर लेती थीं की वह अन्य नायिका से रमण करके लौटा है। इस सुगन्ध से उन्हें पर्याप्त ग्लानि भी होती थी और उनका मुख फीका पड़ जाता था। अन्त में इस सुगन्ध को पोंछने पर ही उन्हें चैन मिलता था—

> जांनि गई पहिचानि सुगन्ध, कछू छिनमानि भई मुख फीकी।
> ओछे उरोज अंगौछि अंगौछन, पोंछति पीक कपोलन पीकी।[5]

---

१. कवित्त रत्नाकर—सं० उमाशंकर शुक्ल, ३–१
२. देव सुधा—सं० मिश्र बन्धु, पृ० ६० छं० सं० १२२
३. आइने अकबरी—अनु० ब्लाकमैन जिल्द १, पृ० ७९
४ बिहारी बोधिनी—टी० लाला भगवानदीन पृ० १५६ छं० सं० ३१५
५ शब्द —देव स० सिंह मनोज पृ० ४६

केशर चर्चित अंगों के निरूपण में रीति कवियों ने संस्कृत कवियों की तुलना में अधिक अभिरुचि प्रकट की है। यों केशर से युक्त चन्दन का वर्णन भर्तृहरि ने अपने 'शृंगार शतक' में भी किया है,[1] किन्तु बिहारी, पद्माकर, रघुनाथ आदि की तुलना में इसका वर्णन अधिक रसग्राही नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए एक छन्द लें, इसमें कवि-वर रघुनाथ नायिका की सहज गोराई का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि उसके अंगों में गोराई का सहज लावण्य इस प्रकार झलक रहा है मानो उसने अपने अंगों में केशर लगा रखी हो—वस्तुतः केशर के कारण शरीर की गोराई प्रायः निखर जाती है[2] किन्तु इस नायिका के अंग की गोराई बिना केशर लगाए हुए ही केशर का भ्रम उत्पन्न कर रही है—

एक गोप लली लिये संग अली दस बीस अन्हैवे को आवति है।
रघुनाथ विलोकत ही रहिये इतनी अँखियानि को भावति है।
छबि वाकी कहा लौं कहौं सिगरी तन में तरुनाई जो छावति है।
रंग गोरो भयो इतनो झलकै अंग में मनो केसरि लावति है।[3]

बिहारी ने 'केसरि क्यों सरि कर सके' लिखकर यह प्रमाणित किया है कि नायिका के अंग की दीप्ति केशर से बढ़कर है। किन्तु पद्माकर की प्रौढ़ास्वाधीनपतिका नायक द्वारा केशर की टीका लगाये जाने पर अपने सुहाग का गर्व करती है—

मो मुख बीरी दई सु दई सु रही रचि साधि सुगन्ध घनेरौ।
त्यो पद्माकर केसरि खौरि करी तौ करी सो सुहाग है मेरौ॥[4]

कभी-कभी अंगों की आभा में मिलकर नायिका की कंचुकी का रंग भी केशर जैसा हो जाया करता है। मतिराम के इस दोहे में श्वेत रंग की महीन कंचुकी अंग के वर्ण में इस प्रकार मिल गयी है, मानो केशर रंग में रंगी हुई हो—

अति अवदात महा मिही, कसी उरोज उतंग,
केसरि रंग रंगी लगै, अंगिया अंगनि संग।[5]

जिस प्रकार संस्कृत में कालिदास ने 'ऋतु संहार' में ग्रीष्म ऋतु से संतप्त रमणियों के

---

१. शृंगार शतक—भर्तृहरि, टी० रामदास राय, पृ० ८०, श्लोक सं० २३
२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २१, तृतीय संस्करण
३. रसिक लोहन—रघुनाथ, पृ० ३०, छं सं० ६९—गोपीनाथ पाठक द्वारा सन् १८६५ में लीथो में मुद्रित प्रति से।
४. पद्माकर पंचामृत—सं० पं० बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १२९ छं० सं० २२०
५ मतिराम ग्रन्थावली—स० कृष्णविहारी मिश्र दो० स० ५८४

पयोधर देश पर चन्दन पंक लगाये जाने की चर्चा की है,[१] उसी प्रकार हिन्दी की शृंगारिक काव्य परम्परा में चोवा द्वारा कंचुकी को सुरभित किये जाने का कथन हुआ है। महाकवि देव ने इसी बात को अपने एक छन्द में इस प्रकार लिखा है—

देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद विन्दु कै भाख्यौ।
कंचुकी मैं चुपर्‌यो करि चोवा लगाइ लियो उर सों अभिलाख्यौ ॥[२]

इसमें कृष्ण प्रेम की तन्मयता का गम्भीर विवेचन किया गया है। गोपी द्वारा कृष्ण के श्याम स्वरूप को स्नेह (तेल) रूप में सिर को सुरभित करना, मस्तक में कस्तूरी की टीका के रूप में लगाना तथा कंचुकी में चोवा रूप (चोवा का भी वर्ण श्याम माना गया है) में चर्चित करना आदि क्रियाएँ शृंगार के बाह्य रूप से कम सम्बद्ध होने के कारण आभ्यंतरिक शृंगार के रूप को ही अधिक मुखरित कर रही हैं। भाव व्यजना की यह सघनता और गाम्भीर्य अन्य काव्य रचनाओं में बहुत कम दृष्टिगत होता है। यों हिन्दी रीति काव्य में केशर, चन्दन आदि सुरभित पदार्थों का कथन नायिका के अंगों को सुगन्धमय किये जाने के प्रसंग में ही अधिक हुआ है, किन्तु होली के सन्दर्भ में लाल, गुलाल, कुकुम आदि के साथ केशर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों और उनसे सुरभित वस्त्रों का भी बहुविध उल्लेख हुआ है।

इसके अतिरिक्त ऐसी भी रचनाएँ मिली हैं जिनमें नायिका के वस्त्रों में लगी सुगन्ध से नायक इतना रीझ जाता है कि धोबिन उसके वस्त्रों को धो नहीं पाती, क्योंकि नायक बीच में ही कभी नायिका की अँगिया छीन कर और कभी 'उपरैना' लेकर अपने हृदय में लगाने लगता है। वास्तव में सम्बन्ध भावना की ऐसी सूक्ष्म व्यजना के ही कारण यह छन्द पारम्परिक रचनाओं से अपनी नव उपलब्धियों की स्पष्ट घोषणा कर रहा है—

देती हौं धोइबे को तबहीं फिरि माँगती हौ करि भौंह तनैनी।
ह्वां तौ वे बीचहीं लेहिं छुड़ाय सुगन्धन रीझि रहैं मृगनैनी ॥
धोय तौ देहुं जो धोवन पाऊँ लखौ उनकी मैं बिलोकनि पैनी।
राखत लै लै लगाय हिये कबहूं अंगिया कबहूं उपरैनी ॥[३]

इस विषय की अन्य उपलब्ध रचनाओं को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि हिन्दी रीति कवि इन सुगन्धित द्रव्यों के प्रचुर प्रयोग और उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति दोनों में ही निश्चय रूपेण बढ़ गया है, इस साक्ष्य के लिये उनकी रचनाएँ ही अलम् हैं।

---

१. पयोधराश्चन्दन पंकचर्चितास्तुषार गौरार्पितहार शेखराः।
—ऋतु संहार—प्रथम सर्ग, छं० सं० ६

२ भवानी विलास देव पृ० ४५ छं० सं० २६

३ सुन्दरी तिलक—स० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र छ० स० ३६१

—तिल और गोदना

संस्कृत और प्राकृत की शृंगारिक काव्य परम्परा में तिल और गोदना का वर्णन नहीं मिलता। तिल और गोदना के साथ ही हिन्दी के कुछ कवियों ने शीतला के दाग का भी कथन किया है।[१] इस प्रकार के वर्णन में उक्ति वैचित्र्य की ही प्रधानता है, सरसता नहीं आ सकी है। बल्लभ देव कृत सुभाषितावली (१५ वीं शताब्दी) और रूप गोस्वामी कृत उज्ज्वल नीलमणि (१६ वीं शताब्दी) में षोडश शृंगार की जो सूची दी गयी है, उसमें न तो तिल और गोदना का उल्लेख हुआ है और न शीतला के दाग का ही कथन है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी रीति काव्य में उन शृंगारिक प्रसाधनों का विवेचन पूर्ववर्ती संस्कृत और प्राकृत काव्य की परम्परा का परिणाम नहीं था, वरन् इसमें कुछ प्रसाधन तो फारसी परम्परा से प्रभावित हैं, यथा—तिल वर्णन और कुछ का विकास, यथा—गोदना और शीतला का दाग, स्वतन्त्र रूपेण हुआ है।

हिन्दी में मुबारक ने तिल विषय के वर्णन में 'तिल शतक' नामक एक ऐसी पुस्तक की रचना की है, जिसके जोड़ का इतना विशद एवं वैविध्यपूर्ण वर्णन फारसी और उर्दू में भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि हिन्दी के रीति कवियों ने तिल का यत्र-तत्र वर्णन करते समय अपनी मौलिक सूझ और प्रतिभा-प्रगल्भता का अपूर्व परिचय दिया है, लेकिन सौन्दर्य प्रसाधनों में इसे अनिवार्य महत्व नहीं दिया। इसके विपरीत फारसी कवियों की दृष्टि में प्रेयसी के सौन्दर्य का चित्र तब तक अधूरा रहता है, जब तक उसके चेहरे पर तिल न हो। 'आइने अकबरी' में अबुल फजल ने तिल के सम्बन्ध मे एक रोचक बात लिखी है। उनका कथन है कि हाफिज अपनी प्रेयसी के कपोल पर के एक तिल के लिये समरकन्द और बुखारा को भेंट में देने को तैयार थे।[२]

रीति काव्य में तिल वर्णन से सम्बन्धित रचनाएं दो प्रकार की हैं—कुछ तो कपोल-तिल विषयक और कुछ चिबुक-तिल विषयक। किन्तु फारसी और उर्दू में तिल का वर्णन या तो सामान्यतः कपोल से सम्बन्धित हैं अथवा मुख से।[३] कपोल तिल के

---

१. हफीजुल्ला खाँ का हजारा—सं० रूप नारायण पाण्डेय, पृ० १४४, छठा सं०
२. आइने अकबरी—अनु० ब्लाकमैन, जिल्द नं० १, पृ० १०३, द्वि० सं०
३. कमसिनी का हुस्न था वो, ये जवानी की बहार,
   था यही तिल पहले भी रुख पर मगर कातिल न था।

   शेर भो शायरी सं० प्रकाश पंडित पृ० १२

वर्णन में गंग,[1] रसलीन,[2] मुबारक,[3] श्रीपति,[4] रघुनाथ[5] और पद्माकर[6] आदि कवियों ने अधिक कुशलता प्रकट की है। 'तिल शतक' में मुबारक ने मुख तिल का भी वर्णन किया है, किन्तु ऐसी रचनाएँ संख्या में थोड़ी हैं। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने नायिका के चिबुक तिल का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है। इन कवियों में बलभद्र मिश्र,[7] केशवदास,[8] दिनेश[9] और रसलीन[10] आदि मुख्य हैं।

यद्यपि हिन्दी रीति कवियों ने तिल वर्णन में फारसी काव्य-परम्परा का भूरिशः प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु ऐसे छन्दों की भी कमी नहीं है, जिनमें इनकी स्वतन्त्र उद्भावना का दर्शन न होता हो। इसके निरूपण में इनकी दृष्टि बहुत कुछ भारतीय काव्य परम्परा की ही रही है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए 'तिल शतक' विषयक कुछ छन्द ले लीजिए, जिनमें बहुत से अप्रस्तुत विधान पौराणिक आख्यानों से सम्बद्ध हैं और बहुत ऐसे भी हैं जो सीधे हिन्दी काव्य परम्परा से गृहीत हुए हैं—

क—सिद्धि पीठि मुख ससि कियो श्रोमो तिल गजचाम।
काम जपै जै कामना सिव सों करु संग्राम।

ख—तेरो तिल वो तिलौत्तमा तौल तुले सम जाय।
वह उठि के स्वर्गहि गई तैं भुमि रही घिराय॥

ग—तेरे मुख को देखि के कमल परयो जल जाय।
अरु तिल की वे होस करि अलि राख्यौ बैठाय॥

कहीं-कहीं तो तिल के सौन्दर्य-निरूपण में उनकी प्रचुर कल्पना शक्ति का निदर्शन मिलता है—

प्यारी के ठोढ़ी विराजि रह्यो तिल देखि विचार यहै मैं करयो है।
भौंहे बनावत मानो विरंचि के लेखनी ते मसि विन्दु झरयो है॥[11]

---

१. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण, पृ० १३, छं० सं० ४०
२ अंग दर्पण—रसलीन, पृ० ८, छं० सं० ५४
३. तिलक शतक—मुबारक, छं० सं० १०
४. दिग्विजय भूषण—सं० डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० ४७४
५ हफीजुल्ला खाँ का हजारा, पृ० १२१
६. पद्माकर पंचामृत, पृ० २७२
७. नखशिख—बलभद्र, पृ० १६
८. मनोज मंजरी, चतुर्थ कलिका, सं० अज्ञान कवि, पृ० २२
९. वही, पृ० २४, २२
१० वही पृ० २४
११ मनोज मंजरी—चतुर्थ कलिका अजान कवि पृ० २३

नायिका के चिबुक में तिल इस प्रकार शोभा दे रहा है, मानों उसकी भौंहों को बनाते समय ब्रह्मा की लेखनी से स्याही चू पड़ी है।"

इस प्रकार के कल्पना प्रवण चित्रों से रीति काव्य अत्यधिक सम्पन्न है। हाँ, इसके अपेक्षित अनुशीलन के अभाव में हमें उन चित्रों का सौन्दर्यमय रूप कम ही दृष्टिगत हो पाता है।

यह कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय शृंगारिक प्रसाधनों में तिल और गोदना का समावेश बहुत बाद में हुआ। तिल तो किसी सीमा तक हिन्दी रीति काव्य में ग्रहण किया गया, किन्तु गोदना की व्याप्ति अपेक्षाकृत कम ही रही। अभी तक संस्कृत आदि रचनाओं में इस विषय की चर्चा नहीं हो सकी। हाँ, लोक साहित्य में इसका कथन अधिक हुआ है और ऐसा अनुमान है कि हिन्दी रीति काव्यधारा में इसका समावेश लोक साहित्य के प्रभूत प्रभाव के ही कारण हुआ होगा। हिन्दी रीति कवियों में रघुनाथ, पद्माकर और ग्वाल जैसे उत्तर रीति युगीन कलाकारों द्वारा इस विषय की यत्किंचित् चर्चा की गयी है। चूंकि ग्वाल तक आते-आते रीति युग की कविता की क्षयिष्णु प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो चुकी थीं, इसी से उनमें रीतिकाल की गम्भीर शृंगारिक चेतना का बहुत कुछ अभाव हो चला था और बाजारूपन का उसमें स्पष्ट आभास मिलने लगा था।

ग्वाल के प्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थ 'कवि हृदय विनोद' में गोदना के सम्बन्ध में एक सामान्य संकेत मिला है, इससे पता चलता है कि ग्वाल ने अन्याय शृंगारिक तत्वों के निरूपण के साथ इसके वर्णन में अधिक रुचि प्रदर्शित नहीं की है। अतः इस विषयक छन्द में उनकी अपरिष्कृत रुचि का ही परिचय मिलता है—

आई काल्हि सोवत मैं वाल इक मेरे पास,
कानक मैं तरौना मनु सूरज उदै भये।
जोम भरी जोबन के जोति जुरि जागी जोर,
अंग-अंग कोमल मैं गोदना खुदे भये॥[1]

ग्वाल की तुलना में रघुनाथ की रचना निश्चय ही रागानुभूति की सान्द्र विवेचना में अधिक सक्षम है। रघुनाथ कवि ने अपने 'काव्य कलाधर' नामक प्रसिद्ध रीति ग्रन्थ में इसकी चर्चा नाना जाति की दूतियों के प्रसंग में की है, जिसमें प्रेम की सूक्ष्म एवं कोमल भाव-व्यंजना का उत्कृष्ट रूप पूर्णतया स्पष्ट है—

मैं जब सौं गोदना गई गोदि अहो ठाकुराइन बांह में तेरी।
ऐसी दशा तबते यहि गांव में देन न पाऊँ गलीन में फेरी॥

---

१ कवि हृदय विनोद ग्वाल छं० सं० १२१ पाषाण यंत्रालय मथुरा में मुद्रित

भेंट भई जित ही रघुनाथ सो सौहैं दैके तितही उन घेरी ।
हाथ सों हाथ गहे पलकैं रहैं आंखि सो लाइ कै अंगुरी मेरी ।।[1]

अर्थात् हे स्वामिनी, जब से तुम्हारे हाथ में गोदना गोद गयी हूं, मेरी ऐसी दशा हो गई कि मैं गांव में फेरी नहीं लै पाती (घूम नहीं पाती) क्योंकि कृष्ण से जिधर भी मुलाकात हो जाती है, वे कसम खाकर मुझे घेर लेते हैं—मेरा रास्ता रोक लेते हैं और अपने हाथ से मेरे हाथ को पकड़ कर अंगुलियों को आँख से लगाकर उन पर अपनी पलकें गड़ाए रहते हैं अर्थात् उन्हें वे अंगुलियां अधिक प्रिय हैं, क्योंकि उन अंगुलियों से ही गोदना गोदा गया है। पद्माकरकृत गोदना विषय की एक रचना डा० भवानी शंकर याज्ञिक, लखनऊ के पास सुरक्षित नवीन कवि कृत 'सुधासर' नामक बृहत् संग्रह ग्रन्थ के हस्त लेख में मिला है, जिसकी चर्चा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने की है।[2] छन्द इस प्रकार है—

आई भले नंद गाँव तें तू लखि लालन को रंग रूप महारी ।
त्यों पद्माकर मोते बड़ी औ बड़े घर की है बड़ी बुधिवारी ।
आव तू आव दिखाव सुई अंग अंग लगाव दुराव कहारी ।
सांवरे को रंग गोद दै गातनि ए गुदनान की गोदन हारी ।।[3]

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि गोदना विषयक छंद संख्या में बहुत कम है, जो हैं भी उनमें दो चार कवियों के छन्द के अलावा, विशेष भाव-गाम्भीर्य परिलक्षित नहीं होता।

केश रचना

केश-रचना नारी सौन्दर्य के अनिवार्य उपकरणों में परिगणित होती है। इसी से प्राचीन भारतीय वाङ्मय में केश-रचना का बहु विध विश्लेषण हुआ है। यही नहीं, षोडश शृंगार में केश रचना के अनिवार्य महत्व पर विचार किया गया है और संस्कृत की सरस सूक्तियों में 'धम्मिल्ल महिमा' और केश पाश वर्णन' विषयक रचनाओं का भी समावेश हुआ है।

केश-रचना के निरूपण में दो दृष्टियों की प्रधानता है—

१. उक्ति वैचित्र्य विधान
२. ऐन्द्रिय चेतना का उद्बोधन

---

१. काव्य कलाधर—रघुनाथ—छं०सं० ४२, पृ० १४
२. पद्माकर ग्रन्थावली—सं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र. पृ० ३२३
३ सुधासर—नवीन कवि पत्र १८२ हस्त लेख से

उक्ति वैचित्र्य विधान में सरस सूक्तियों की अवतारणा की ही प्रवृत्ति लक्षित होती है। ऐसी उक्तियों में केशों द्वारा दर्शकों को वशीभूत किये जाने की चर्चा अधिक हुई है।[१] पर ऐन्द्रिय चेतना के उद्बोधन की दृष्टि से रचित केश-रचना विषयक छन्दों के वर्णन में उन कवियों के सौन्दर्यबोध की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है।

केशों का समस्त लावण्य उसी समय तक स्वीकार किया जाता था, जब तक उनमें शुक्लता नहीं आ पाती थी। इसी शुक्लता को कोसते हुए आचार्य केशवदास ने अपने केशों के सम्बन्ध में कहा था—'केशव केसनि असकरी जस अरिहू न कराहि, चन्द बदन मृग लोचनी, बाबा कहि कहि जाहि'॥ केशों के शुक्ल हो जाने की आशंका से ही वाराह मिहिर ने बृहत्संहिता में कहा था कि 'जितनी भी माला पहनो, वस्त्र धारण करो, गहनों से अपने को अलंकृत कर लो, पर अगर तुम्हारे केशों में सफेदी है तो कुछ भी अच्छे नहीं लगेंगे। इसलिए मूर्धजों (केशों) की सेवा में चूकना ठीक नहीं।[२]

पाश्चात्य विचारक स्टोल ने विभिन्न जातियों में प्रचलित केश सम्बन्धी रिवाजो विभिन्न युगों में एक ही जाति के केश सम्बन्धी व्यवहारों तथा केश को वे किस प्रकार मर्यादा देते हैं, इन बातों का विस्तार पूर्वक अध्ययन किया है और वे इस नतीजे पर पहुंचे है कि इनमें बहुत फर्क है। कई बार तो केश पुरुषों के लिए सबसे अधिक सम्मान की वस्तु और स्त्रियों में चरम सौन्दर्य के प्रतीक समझे जाते हैं।[३]

अन्यान्य श्रृंगारिक वस्तुओं के साथ काम सूत्र में बालों को धूप से सुगंधित किये जाने का उल्लेख हुआ है।[४] प्राचीन काल में बालों को चिकना एवं मुलायम बनाने के लिए नाना प्रकार की सुगंधित वस्तुयें प्रयोग में लायी जाती थीं। कालिदास ने 'ऋतु संहार' में ग्रीष्म और वर्षा आदि में केशों को सुगंधित की जाने वाली विधियों का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि ग्रीष्म काल में स्त्रियां अपने कामियों की ज्वाला महीन वस्त्र और मेखला युक्त अपने पुष्ट नितम्बों से तथा स्नान के समय लगायी हुई सुगन्धियों से महकते हुए केशों से एवं हार धारण किये और चन्दन युक्त स्तनों से शान्त करती हैं।[५] इसी प्रकार वर्षाकाल में पुष्पों के आभरण से ही

---

१. बाला बालान् वशीकृत्य निबन्धन्तीति तद्भुतम। किंतु तैः सद्द्दाहन्तपथिकानपि दर्शकान्।—सुभाषित सुधा रत्न माण्डागारम् श्लोक० २ पृ० ७०
२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २१, द्वि० सं०
३. यौन मनोविज्ञान—हेवलाक एलिस—अनु० मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ७२
४. काम सूत्रम्—वात्स्यायन, टी० देवदत्त शास्त्री, पृ० १०६
५. ऋतु संहार १–४

केशों को सुगन्धित किए जाने का कथन हुआ है।[1] कदाचित् जूड़े को पुष्पों से सजाने की प्रक्रिया में सौन्दर्य और सुगन्धि दोनों की ही बात लक्षित होती है, क्योंकि जूड़े को पुष्पों से सजाने की अबाध परम्परा अपभ्रंश काव्य में भी मिलती है और वियोग में इन शृंगारिक वस्तुओं को त्यागने में ही विरहिणियों को परम अह्लाद का अनुभव होता था। अपभ्रंश काव्य की शृंगारिक रचना 'संदेश रासक' (समय १२ वीं शताब्दी) में एक स्थल पर विरहिणी द्वारा अपने जूड़े को बाँधकर कुसुमों से न सजाने का संकेत मिला है।[2]

हिन्दी रीति काव्य में केश-रचना के सम्बन्ध में अधिक वैविध्यपूर्ण विचार किया गया है। मुबारक कृत 'अलक शतक' ऐसी मौलिक रचना है, जिसकी समकक्षता की अन्य कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत आदि भाषाओं में इस अंग पर इतना सांगोपांग विवेचन नहीं हो सका है। यद्यपि अलकों के सौन्दर्य निरूपण में मुबारक ने काव्य परम्परा में गृहीत उपमानों का ही उपयोग किया है, किन्तु कवि की अनूठी एवं मौलिक उक्तियों के कारण बहुत से छन्दों में अपूर्व सरसता के साथ ही उनकी प्रभविष्णुता प्रायः बढ़ गयी है। कुछ नमूना लीजिए—

क—तिय नहात जल अलक तें चुवत नैन की कोर।
मनु खंजन मुख देत अहि अमृत पोंछि निचोर॥

ख—तिय मुख अलक विलोकि के लहत मुबारक संच।
धनुष उतारि मनोज मनु ससि पर धरत प्रतंचनु॥[3]

रीति कवियों ने वेणी और छूटे हुए बिखरे केशों का वर्णन अधिक किया है। शृंगारिक परिवेश में नायक द्वारा नायिका की वेणी गूंथे जाने का ऐसा भी प्रसंग मिला है जिसमें बड़ी कठिनाई से नायिका ने बालों को सुखाया है, किन्तु उन्हीं बालों को नायक के स्वेद सात्विक भाव ने गीला कर दिया। इस पर नायिका का कथन है—

रही गुही बेनी लख्यौ गुहिबे को त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुखाये बार॥[4]

अधिकांश रीति कवियों ने केशों के सौन्दर्य-विवेचन में उनके 'कारे, सटकारे, लांबे, सचिक्कन विशेषणों का अधिक प्रयोग किया है। कृष्ण काव्य में अलकों के उपमान में भ्रमर का उपयोग अधिक हुआ है, किन्तु रीति कवियों ने नागिन जैसी वेणी के कथन

---

१. ऋतु संहार २–२१
२. धम्मिलह संवरणु न धणु कुसुमिहि रमउं—सं० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वि० प्र०, छं० सं० १०६
३. संलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिटरेचर बुक ६ पार्ट १ से उद्धृत पृ० १६१–१६२
४ बिहारी बोधिनी—टी० लाला दीन दो० सं० १७०

में अपनी ऐन्द्रिय चेतना का विशिष्ट रूप व्यक्त किया है। श्वेत बाल नारी-सौन्दर्य का एक गलित अंश माना जाता है, इसी से युवावस्था में सुन्दर लगने वाले सर्प जैसे बालों को वृद्धावस्था में शुक्ल होते हुए देखकर किसी रीति कवि ने उनकी कल्पना ऐसे निर्मोक (केंचुल) से की है, जिसे छोड़कर वे काले सर्प (बाल) कहीं अन्यत्र चले गये—

तिय तरुनाई मलय तरु, अहि लपटे येहि हेत।
वे सूखे ये चल बसे, डारि केंचुली सेत॥

वस्तुतः बालों की सघनता के साथ-साथ उनका लम्बा होना और एड़ियों को स्पर्श करना एक विशिष्ट गुण माना गया है। इसी कारण हिन्दी रीति काव्य में एड़ी स्पर्श करने वाले बालों का वर्णन अधिक हुआ है। यथा—

छवा छुए छहरत भली बलि बेनी छवि देइ।
सुर गिरि तें चलि अलि अली कमल कली रस लेइ॥[1]

बिहारी ने वेणी में त्रिवेणी के श्लेष द्वारा अपनी कल्पना का ललित विस्तार किया है अर्थात् जिस मृगनैनी के चरणों को वेणी (त्रिवेणी) सदैव स्पर्श किया करती है, उसे देखकर कवि का मन अन्य तीर्थों के अटन की कल्पना तक नहीं करता—

ताहि देखि मन तीरथनि विकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसत पाय॥[2]

जूड़ा बांधने का उल्लेख रीति काव्य में बहुत कम हुआ। केवल बिहारी जैसे कवियों ने जूड़ा बाँधने के साथ मन बंध जाने की कल्पना अवश्य की है।[3]

कविवर देव ने सद्यः स्नाता नायिका की अलकों के वर्णन में चित्रात्मक सौन्दर्य (पिक्टोरियल ब्युटी) का सहज रूप व्यक्त किया है—

छूटी अलकनि छलकनि जल बूंदन की,
बिना बैंदी बंदन बदन सोभा विकसी।[4]

रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द ने केशों के वर्णन में अपनी प्रगाढ़ रसात्मक चेतना का समावेश करने के साथ ही अपनी मौलिक उद्भावना का भी परिचय दिया है। यथा, एक छन्द में उन्होंने अपनी प्रेयसी के सहज स्निग्ध केशों का निरूपण करते हुए लिखा है—

चीकने चिहुर नीके आनन विथुरि रहे,
कहा कहौं सोभा भाग भरे भाल सीस की।

---

१. श्रृंगार सतसई—रामसहाय, छं० सं० ६४२
२. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, दो० सं० ३८
३ बि०बोधिनी टी०ला० भगवानदीन दो० सं० ३४
४ देवसुधा मिश्रबन्धु छ० स० १३६ प्र० स०

मानो वन आनन्द सिंगार रस सों संवारी,
चिक में विलोकति बहनि रजनीस की।

इसी प्रकार रीति परम्परा के अन्तिम कवियों में रघुनाथ, पद्माकर, ग्वाल और द्विज देव की भी उक्तियाँ सराहनीय हैं। रघुनाथ ने नाइन द्वारा नायिका की पाटी पारने समय प्रेम व्यंजना के एक ऐसे प्रकर्ष रूप का संकेत किया है, जिसमें नायिका के समस्त शृंगार की सार्थकता प्रिय मिलन में है—इसी तथ्य का प्रतिपादन कालिदास ने कुमार सम्भव की 'प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता' जैसी पंक्ति में किया है। रघुनाथ की उक्त पंक्ति इस प्रकार है—

नाइनिया चतुराइन सों रघुनाथ कियों वश गोप लली है।
पारत पाटी कह्यो हँसि यों बृजराज सों आजु मिलौ तौ भली है॥[1]

पद्माकर ने अधखुली अलकों के चित्र-विधान में कवि-प्रतिभा का सूक्ष्म निदर्शन प्रस्तुत किया है—

आँखें अधखुली, अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकें।[2]

द्विजदेव ने बालों की श्यामता पर विचार करते हुए लिखा है कि जिस समय तुम्हारा मन बालों के अन्धकार में भटक जाएगा, क्या तुममें उस समय विवेकाविवेक रहेगा?[3]

वस्तुतः नारी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में इन रीति कवियों की दृष्टि शुद्ध कलात्मक थी, इसी से विपरीत रति विषयक चित्रों में भी उनकी कलात्मक अनुभूतियाँ अधिक प्रौढ़ हैं। इस कथन की पुष्टि के लिये नायिका की बिखरी अलकों का एक सौन्दर्य परक चित्र लीजिए—

सोंधे सनी सुथरी बिथुरी झलकैं अलकैं हरि के उर भारी।
मानो कुटुम्ब समेत सहेत फिरै यमुना जल पैरति कारी॥[4]

यद्यपि नायिका के केशों की उपमा प्राचीन काव्य परम्परा में प्रायः सर्प से ही दी जाती है लेकिन पुराने अप्रस्तुतों के द्वारा रीति काव्य में इन मर्मी कलाकारों ने कहीं-कहीं इसी प्रकार की नूतन उक्तियों के विन्यास द्वारा अपनी सूक्ष्म सौन्दर्य-अन्वीक्षण-शक्ति का परिचय दिया है।

समष्टि रूप में यह पूर्णतया स्पष्ट है कि हिन्दी रीति काव्य में वर्णित केश पाश विषयक उक्तियों में संस्कृत काव्य की तद्विषयक उक्तियों से बहुत कुछ असमा-

---

१. काव्य कलाधर—रघुनाथ, छं० सं० ३३
२. पद्माकर पंचामृत—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १०८
३. शृंगार लतिका सौरभ छं० सं० २५०
४. सुन्दरी तिलक—सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० ११ छं० सं० ४५

नता मिलती है । संस्कृत कवियों ने जहाँ नायिका की वेणी और जूड़ा दोनों के कथन में उन्हें नाना प्रकार के पुष्पों द्वारा मंडित किये जाने का स्पष्ट संकेत दिया है, वहाँ हिन्दी रीति कवियों में वेणी और जूड़ा के सौन्दर्य निरूपण में पुष्पों के प्रयोग की बात बहुत कम मिली है । दूसरे शब्दों में रीति कवियों ने वेणी और बिखरे बालों के अलंकरण में प्रायः कालिदास की भाँति 'कुरबक' और कदम्ब पुष्प आदि की चर्चा बिलकुल नहीं की ।

(३) रीति काव्य के विशिष्ट वस्त्र

संस्कृत साहित्य में वस्त्रों के लिए प्रायः अंशुक शब्द का प्रयोग हुआ है । राजानक रुय्यक ने वस्त्रों का वर्गीकरण करते हुए इन्हें चार भागों में विभाजित किया है—(१) छाल से निर्मित होने वाले वस्त्र, (२) कपास की रुई से बनने वाले वस्त्र, (३) शहतूत के पेड़ों से निकलने वाले रेशम के वस्त्र, (४) भेड़ आदि जीवों के रोम से बने हुए वस्त्र ।[1] इन्हीं चार प्रकार के वस्त्रों का कथन भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में क्रमशः इस प्रकार किया है—(१) क्षौभ, (२) कार्पासि, (३) कौशेय, (४) रांकव ।[2] हिन्दी रीति काव्य में क्षौभ वस्त्रों का प्रयोग नहीं मिला । क्षौभ वस्त्रों के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि इस प्रकार के वस्त्र तीसी के छाल से बनते थे और चन्द्रमा के समान पाण्डुर वर्ण के होते थे ।[3] कालिदास ने अपने काव्यो मे कौशेय वस्त्रों का प्रयोग अधिक किया है ।

प्राचीन युग के रेशमी वस्त्रों में कालिदास ने चीनांशुक नामक रेशमी वस्त्रो का भी प्रयोग किया है । अभिज्ञान शाकुन्तलम्[4] और कुमार सम्भव[5] के अतिरिक्त अमरु[6] और उद्भट[7] में भी यह प्रयोग मिला है । 'आइने अकबरी' में जरी के वस्त्रो की जो लम्बी सूची प्रस्तुत की गयी है, उसमें अतलस, खताई, नामक चीनी साटन का उल्लेख हुआ है ।[8] रीतिकाल में आचार्य देव ने पीले रंग के पचतोरिया के साथ

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६१ द्वितीय संस्करण
२. नाट्य शास्त्र, अध्याय २३
३. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ६१
४. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—१–३४
५. कुमार सम्भव—७–४
६. अमरु शतक—श्लोक सं० ७५
७ चीनांशुकभिवपीनस्तनजघनायाः कुलीनायाः—उद्भट
८ आइने अकबरी—अनु० ब्लाकमैन प्रथम जिल्द पृ० ९९ द्वि० स०

लाल रंग के अतलस जैसे रेशमी वस्त्र का प्रयोग अपने एक छन्द में किया है—

पीरे पचतोरिया लसित अतलस लाल लाल रदछद मुखचन्द ज्यों शरद को ।[1]

किन्तु रीति काव्य में चीनांशुक का प्रयोग नहीं मिला : हाँ, रेशमी वस्त्रों में 'सार' की साड़ी का प्रयोग रीति मुक्त कवि रसखान और आलम में मिला है। 'सार' एक प्रकार का रेशमी वस्त्र माना गया है, जिसकी चर्चा रेशमी वस्त्रों की सूची में अबुल फजल ने की है।[2] रेशमी वस्त्र के अर्थ में यह शब्द हिन्दी के अन्य कवियों में अभी तक नहीं मिला । ऐसा प्रतीत होता है कि 'सार' फारसी भाषा का शब्द है, इसी से संस्कृत कवियों ने इस शब्द की चर्चा नहीं की । रसखान और आलम की जिन पंक्तियों में यह शब्द मिला है, उनसे स्पष्टतया वहाँ रेशमी वस्त्र का ही अर्थ द्योतित होता है, पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) सार की सारी सो भारी लगै धरिहैं कहाँ सीस बघंबर दैया ।[3]

(२) सादे मोती कंठ सोहैं, पंचरंग अंग चारु,
सुरंग तरौंटा सोहै सारी सार सेत की ।[4]

सार की भाँति असावरी शब्द भी एक प्रकार के रेशमी वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द अभी तक आचार्य केशवदास, आचार्य देव और भिखारीदास के अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं मिला । रेशमी वस्त्र के अर्थ में यह शब्द आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को फैलन कोश में मिला था।[5] किन्तु फैलन से भी पूर्व यही शब्द किंचित् परिवर्तन के साथ अबुल फजल कृत आइने अकबरी में मिला है।[6] अबुल फजल ने वहाँ इसे अपने सूती वस्त्रों की सूची में असावली नाम से उल्लिखित किया है । १२ वीं शताब्दी की प्रबन्ध चिन्तामणि और कुमारपाल प्रबोध जैसी अपभ्रंश कृतियों में 'असावरि देश' का उल्लेख हुआ है । बहुत सम्भव है कि 'आसावरी' वस्त्र का सम्बन्ध उक्त देश से ही हो । 'जेह आसावरि देहा दिन्हउ सुस्थिर डाहर रज्जा लिन्हउ' ।[7] आचार्य भिखारीदास के 'छन्दार्णव' में एक स्थल पर 'असावली' शब्द भी आया है । वहाँ आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रुपहली साड़ी अर्थ

---

१ सुख सागर तरंग—देव, पृ० २४३, छं० सं० ७२६

२ आइने अकबरी—प्र० जि०, पृ० १००

३. रसखान रत्नावली—सं० डा० भवानीशंकर याज्ञिक, छं० सं० २५०

४ आलम केलि—सं० लाला भगवानदीन, छं० सं० ७०

५. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भूमिका, पृ० २२

६ आइने अकबरी पृ० १०० प्रथम जिल्द द्वि० सं०

७ बुद्ध चरित की भूमिका शुक्ल पृ० २

किया है। आचार्य केशवदास, देव और भिखारीदास की जिन पंक्तियों में असावरी शब्द का प्रयोग हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

(क) आसावरी मानिक कुंभ सोभैं, असोक लग्ना बन देवता सी।[1]

(ख) सारी आसावरी की झलकै, छलकै छवि, घांघरे घूम-घुमारे।[2]

(ग) पांवरी पैन्हि लै प्यारी जराह की ओढ़ि लै चांचरि चारु असावरी।[3]

रीति काव्य में प्रयुक्त अन्य रेशमी वस्त्रों में 'दाराई' और 'ताफता' भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। 'दाराई' फारसी भाषा का शब्द है, जिसे अबुल फजल ने आइने अकबरी के रेशमी वस्त्रों की सूची में रखा है।[4] इसका विकृत रूप 'दरियायी' का प्रयोग एक शृंगारिक रचना में इस प्रकार मिला है—

दरियायी की कंचुकी में कुचकी छबि यों छलकै कवि देत बताये।
बाज के त्रास मनो चकवा जलजात के पात में गात छपाये॥[5]

'दाराई' का कोशकारों द्वारा किया गया अर्थ एक प्रकार की रेशमी पतली साटन है।[6] यहाँ निश्चय ही महीन रेशमी वस्त्र है। इस शब्द का प्रयोग अन्य रचनाओं मे दृष्टिगत नहीं हुआ। इस दृष्टि से इसे रीति काव्य का एक विशिष्ट शब्द माना जा सकता है। सम्भव है, फारसी काव्य में इसका प्रयोग हुआ हो, किन्तु हिन्दी तथा उसकी पूर्ववर्ती अन्य रचनाओं में यह अनुपलब्ध है।

'ताफता' एक प्रकार का ऐसा रेशमी वस्त्र माना गया है, जिसका ताना दूसरे रंग का और बाना और रंग का होता है। इसमें दो भिन्न रंगों के मिलने से दोनों का रंग झलकता रहता है। यह फारसी भाषा का शब्द है और भारतीय भाषा मे इसे धूपछांही वस्त्र कहा जाता है।[7] इस शब्द का प्रयोग रीति काव्य में केवल बिहारी सतसई के एक दोहा में हुआ है।[8] अन्यत्र यह शब्द नहीं मिला। 'आइने अकबरी' मे इसे रेशमी वस्त्रों की सूची में परिगणित किया गया है और कहा गया है कि भली भाँति बना हुआ होने के कारण इसे 'ताफता' की संज्ञा दी गयी है।[9] मध्य युग मे

---

१. रामचन्द्रिका—केशवदास—२०–६

२. शब्द रसायन—देव, पृ० २५

३. भिखारीदास ग्रन्थावली, प्र० खं०, छं० सं० ३८

४. आइने अकबरी, पृ० १००, प्र० जिल्द, द्वि० सं०

५. सुन्दरी तिलक—भारतेन्दु हरिश्चद्र, छं० सं० ३३१, पृ० ६३

६. संक्षिप्त शब्द सागर—सं० आचार्य रामचन्द्र वर्मा, पृ० ५३६

७. बिहारी रत्नावली—पृ० ३५

८ वही छं० सं० ७०

९ आइने अकबरी पृ० १०० प्र० जिल्द

ताफ़ता' की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि वह यूरोपीय देशों में पर्याप्त छा गया था। स्वयं शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों में रेशमी वस्त्र के अर्थ में 'ताफ़ता' शब्द का प्रयोग किया है और अंग्रेजी के प्रसिद्ध आक्सफोर्ड कोश में इसे एक रेशमी वस्त्र स्वीकार किया गया है तथा भाषा की दृष्टि से इसे फारसी का शब्द माना गया है।[1]

रीति युग वस्त्राभूषणों की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न युग माना जाता है। अत: जिस युग में वैभव और विलास अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका हो, उस युग में वस्त्रों और आभूषणों की अतिशयता की कल्पना नितान्त स्वाभाविक है। वस्तुत: शृंगार के प्रसाधनों में वस्त्रों और अलंकारों की उपादेयता प्रत्येक युग में और प्रत्येक राष्ट्र में स्वीकार की गयी है। इस दृष्टि से प्राचीन भारत के अलंकारों का उपयोग किस परिमाण में होता था और नाना प्रकार के परिधानों से उस युग के नागरिक अपने आपको किस प्रकार अलंकृत करते थे, इसका साक्ष्य वात्स्यायन के कामसूत्रों के अतिरिक्त तत्कालीन मूर्तियों और चित्र कलाओं से भी स्पष्टतया मिलता है।

पाश्चात्य देशों में वस्त्रों और अलंकारों का उपयोग प्रायः यौन प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने की दृष्टि से किया जाता है। वहाँ के यौन विज्ञान की पुस्तकों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[2] हिन्दी रीति काव्य में भी वस्त्रों और आभूषणों का ग्रहण ऐन्द्रिय उद्दीपन की दृष्टि से अधिक हुआ है। उनकी सम्यक् विवेचना से यह तथ्य अधिक ग्राह्य हो सकेगा।

प्राचीन भारतीय वस्त्रों में परिधेय वस्त्र तीन प्रकार के माने गये हैं—

(१) निबन्धीय, (२) प्रक्षेप्य, (३) आरोप्य।[3]

—निबन्धीय

साड़ी और पगड़ी आदि वस्त्र निबन्धीय माने गये हैं, क्योंकि ये बाँधकर पहने जाते हैं। किन्तु चोलक और चोली आदि प्रक्षेप्य और उत्तरीय, चादर, दुपट्टा आदि आरोप्य वस्त्र कहे गये हैं। ऊपर जिन रेशमी वस्त्रों की चर्चा की गयी है, उनमें 'असावरी' और 'सार' इन दोनों की साड़ियों का उल्लेख तो हुआ है, किन्तु 'दरियाई' और 'ताफ़ता' की साड़ी की चर्चा रीति काव्य में प्रायः नहीं हुई। हिन्दी रीति काव्य की परम्परा में सबसे अधिक उल्लेख साड़ी का ही हुआ है। साड़ी भारतीय वस्त्रों में अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। अतः भारतीय रमणियों की वह सांस्कृतिक भूषा के रूप में अभिहित की जाती है। आज बीसवीं शताब्दी में जहाँ साड़ी का पहनावा

१ कंसाइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी

२. यौन मनोविज्ञान—हेवलाक एलिस—अनु० मन्मथनाथ गुप्त, पृ० ६८

३ प्राचीन भारत के विनोद डा० द्विवेदी पृ० ९१

सलवार और घांघरा के कारण कम हो गया है, वहाँ भारत के कई प्रान्तों में साड़ी का प्रचलन अब भी उसी रूप में है।

रीति काव्य में कुछ ऐसे वस्त्रों की साड़ियों का उल्लेख हुआ है, जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में प्रायः नहीं की गयी। इन साड़ियों का महत्व कुछ तो वस्त्रों की मसृणता और उनके चिकनेपन के कारण है और कुछ का महत्व रंगों और विशिष्ट अलंकरण के कारण। यों शृंगारिक परिवेश में विभिन्न वर्णों की साड़ियों का कथन जितना ऐन्द्रिय चेतना से सम्बद्ध है, उतना मानस की सहज एवं अनाविल चेतना से नहीं, फिर भी बिहारी जैसे कुछ इस प्रकार के रीति कवि भी मिलेंगे, जिनकी दृष्टि भारत की सहज सांस्कृतिक चेतना को उभारने में अधिक सजग थी। यही कारण है कि उन्होंने नायिका की 'टटकी धोती' के वर्णन में अपनी अनाविल एवं पवित्र भावना का सुन्दर परिचय दिया है। कहा जाता है कि आर्य जाति के सम्भ्रान्त परिवार में जब नवबधू आती है तो उससे भोजन बनवाने का कोई दिन निश्चित किया जाता है। उस दिन नवबधू स्वच्छ एवं धुली हुई धोती पहन कर भोजन बनाने का काम करती है और उसी दिन से घर के बड़े लोग उसके हाथ का भोजन खाने लगते हैं। बिहारी ने इसी तथ्य का संकेत अपने इस दोहे में किया है—

टटकी धोई धोवती, चटकीकी मुख जोति।
लसति रसोई कैं बगर, जगर मगर दुति होति ॥[१]

रीति कवियों में आचार्य देव ने सालू की साड़ी का उल्लेख किया है।[२] अन्यत्र इस प्रकार की साड़ी का वर्णन नहीं हुआ। सालू लाल रंग का वस्त्र माना गया है। 'आइने अकबरी' में इस शब्द की चर्चा सूती वस्त्रों की सूची में की गयी है।[३] रंगीन साड़ी के वर्णन के साथ ही सोने और चाँदी के तारों से काम किये वस्त्रों की भी साड़ी का कथन किया गया है। बादले की साड़ी में गोट लगे हुए किनारों का भी वर्णन आचार्य देव और सोमनाथ की रचनाओं में हुआ है—

(१) बादले की सारी दरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी झीने झालरि के साज पर।[४]
(२) बादले की सारी दरदामिनि किनारीदार,
बदन की जोति मानो हंसन समेत है।[५]

---

१. बिहारी रत्नाकर—पृ० १६७, दो० सं० ४७७ प्र० सं०
२. एड़िन ऊपर घूमत घांघरो तैंसिये सोहति साल की सारी।
—देवसुधा—सं० मिश्र बन्धु, छं० सं० २६८
३. आइने अकबरी—प्रथम जिल्द, पृ० १०१
४. देव सुधा—पृ० ६२, छं० सं० १२५
५ हफीजुल्ला खाँ का हजारा पृ० २०५ छ० स० ३३३

काकरेजी साड़ी का कथन केवल देव के एक छन्द में हुआ है।[१] काकरेजी एक प्रकार का ऐसा रंग है, जो लाल और काले के मिश्रण से तैयार होता है। मिश्र बन्धुओं ने अपनी टिप्पणी में काकरेजी साड़ी को पतले कपड़े वाली काले रंग की साड़ी माना है।[२] यद्यपि रीतिकाल में रंगीन साड़ी का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु बिहारी और आलम जैसे कवियों ने यथास्थल श्वेत साड़ी का भी उल्लेख किया है—

(१) सारीं सेत सोहे नख नूपुर की आभा सेत।[३]
(२) सोहत धोती सेत में कनक बरन तन बाल।[४]

घनानन्द ने नायिका के गोरे अंगों पर श्याम रंग की साड़ी का वर्णन करना अधिक औचित्य पूर्ण समझा। इसीलिए अपने एक छन्द में इसी तथ्य को ध्यान में रख कर उन्होंने श्याम साड़ी का वर्णन किया है।[५]

अन्य वस्त्रों में करनाटी, डोरिया, पंचतोरिया, चांचरि आदि का वर्णन हुआ है। करनाटी वस्त्रों के वर्णन में आलम का नाम अग्रगण्य है, अन्यत्र इस वस्त्र का उल्लेख नहीं हुआ है।[६] करनाटीं चीर कदाचित् मध्य युग के विशिष्ट सौन्दर्य वर्धक वस्त्रों में परिगणित होता रहा, इसी से आलम ने शृंगार के सन्दर्भ में इस वस्त्र की साड़ी का विशेष उल्लेख किया है। रीति युग के कई छन्दों में डोरिया वस्त्र का वर्णन हुआ है। देव से पूर्व जायसी ने भी इस वस्त्र की चर्चा की है।[७] देव ने 'सुख सागर तरंग' में इसकी चर्चा इस प्रकार की हैं—

गुपित सखी कह्यो गुलाल लिए आये लाल,
चौंकि उठी चपल उतार्‌यो चीर डोरिया।[८]

होली के प्रसंग में सखी के यह बतलाने पर कि कृष्णचन्द्र गुलाल लेकर रंग खेलने जा रहे हैं, नायिका ने अपने डोरिया वस्त्र को उतार दिया। डोरिया वस्त्र की लम्बी धारियाँ मोटे सूत से निर्मित की जाती हैं। अतः होली के अवसर पर

---

१. घांघरी घनेरो लांबी लटैं लाट लांक पर,
काकरेजी सारी खुली अधखुली टाड़ वह।—देव सुधा, छं० सं० १२३
२. देव सुधा, पृ० ६१
३. आलम केलि, छं० सं० ७१
४. बिहारी बोधिनी—टी० दीन, दो० सं० २६३
५. घन आनन्द ग्रन्थावली (सुजानहित), सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० २३८
६. आलम केलि, पृ० १५, दो० सं० २६२
७. पदमावत—टी० डा० बासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ३९५, द्वि० सं०
८. सुख सागर तरंग देव छं० सं० १२० पृ० ४१

डोरिया जैसे वस्त्र पहन कर रंग खेलना अच्छा और अवसर के उपयुक्त नहीं होता। इसी कारण नायिका ने उक्त वस्त्र को उतार दिया। रसलीन ने इस वस्त्र का उल्लेख अपने 'अंगदर्पण' में इस प्रकार किया है—

इहि विधि गोरे बदन पर, लसत डोरिया सेत।
मानो लहरिलों सरद घन, ससि पर शोभा देत॥[1]

डोरिया वस्त्र का कथन अबुल फजल ने अपने सूती वस्त्रों की सूची में भी किया है।[2] अतः स्पष्ट है कि मुसलमान काल में इस वस्त्र का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा था।

अन्य वस्त्रों में पंचतोरिया का उल्लेख बिहारी और देव की रचनाओं में हुआ है। यह वस्त्र मध्य युग के बहुमूल्य वस्त्रों में माना जाता था। इसे लाला भगवानदीन ने एक रेशमी वस्त्र माना है।[3] बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने मूलतः इसे पंचतोलिया अर्थात् पाँच तोले का महीन वस्त्र माना है और उर्दू कोश के अनुसार इसका नाम 'आबेरवाँ' बताया है।[4] जो भी हो, अभी तक रीतिकाल के अन्य कवियों में इस वस्त्र के सम्बन्ध में कोई तथ्य नहीं मिला। संस्कृत काव्य में भी इस वस्त्र का कहीं संकेत नहीं उपलब्ध हुआ है। हाँ, 'आइने अकबरी' में इसे सूती वस्त्रों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।[5] पंचतोलिया का उल्लेख मनसबदार गयासबेग के जीवन चरित्र के सम्बन्ध में भी हुआ है। और कहा जाता है कि नूरजहाँ ने ओढ़नी के स्थान पर पंचतोलिया का प्रचलन किया था।[6]

'बिहारी सतसई' में केवल एक दोहे में पंचतोरिया वस्त्र आया है। दोहा इस प्रकार है—

सहज सेत पंचतोरिया, पहिरत अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन जोति॥[7]

अर्थात् सहज श्वेत पंचतोलिया वस्त्र की साड़ी पहनने पर उसकी छबि अत्यन्त बढ़ जाती है और जल-चादर के दीपकों की भांति नायिका की तन-ज्योति देदीप्यमान होने लगती है। वस्तुतः पंचतोलिया का प्रयोग नायिका के कृत्रिम शृंगार-वर्णन की

---

१. अंगदर्पण—रसलीन, छं० सं० ६२, पृ० १३
२. आइने अकबरी—प्रथम जिल्द, पृ० १०१
३. बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन, पृ० ५६, प्र० सं०
४. बिहारी रत्नाकर—पृ० १४१, प्र० सं०
५. आइने अकबरी—प्र० जिल्द, पृ० १०१
६. वही, सं० हरिबंशराय (हिन्दी सं०) पृ० ६५
७ बिहारी   दो० सं० ३४० प्र० सं०

अपेक्षा उसकी सहज सुकुमारता और अकृत्रिम सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से अधिक होता था। उपर्युक्त दोहे में नायिका का सहज लावण्य पंचतौलिया के कारण स्वत: व्यक्त है।

आचार्य देव ने पंचतौलिया का प्रयोग होली के प्रसंग में किया है। होली मे कोमल एवं बारीक महार्घ वस्त्रों की उपादेयता इसलिए भी स्वीकार की गयी है कि यह पर्व शीतकाल के समाप्त होने पर प्रारम्भ होता है और तब तक गर्मी के आगमन का आभास शनै:—शनै: होने लगता है। ऐसे अवसर पर ऋतु के अनुकूल बारीक और कोमल वस्त्रों को धारण करना अधिक उपयुक्त होता है। पुन: होली प्रेम और उल्लास की भावनाओं की प्रतीक होने के कारण शृंगार और विलास के उद्दीपन में भी सहज ही योग देती है, अत: शृंगार और विलास की इन्हीं मादक वृत्तियों के कारण देव ने इस छन्द में पंचतौलिया वस्त्र का सर्वथा उचित उपयोग किया है—

सेत जरतारी की उज्यारी कंचुकी को कसि,
अनियारी डीठि प्यारी उठि पैन्हो पंचतोरिया।[1]

कभी-कभी रीतिकाल में ऐसे वस्त्रों का उल्लेख हुआ है, जिनकी चर्चा रीति पूर्व तथा उत्तरकालीन रचनाओं में नहीं की गयी। 'चांचरि' इसी प्रकार वस्त्र है, जिसे केवल आचार्य भिखारीदास की रचना में देखा जा सकता है। जिस सन्दर्भ में इस वस्त्र का प्रयोग हुआ है, उसे देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि यह कोई बहुमूल्य वस्त्र है और इसकी ओढ़नी तथा साड़ियां उस युग में प्रचुरता से प्रयुक्त होती थीं—

पांवरी पैन्हि लै प्यारी जराइ की ओढ़ि लै चांचरि चारु असावरी।[2]

चुनरी

हिन्दी के मध्ययुगीन काव्य के अन्तर्गत चुनरी की चर्चा बहुत अधिक की गयी है। भक्त कवियों ने अनुराग की मार्मिक व्यंजना के प्रसंग में इस वस्त्र के प्रयोग मे विशेष निष्ठा व्यक्त की है। प्राय: पावस ऋतु में चुनरी के भीजने का प्रसंग अधिक चर्चित हुआ है। भक्ति काव्य में ऐसे सरस प्रसंगों का अभाव नहीं है, जिनमें नायिका नायक से इस बात की प्रार्थना करती है कि उसकी लाल चुनरी वर्षा की बूंदों से नष्ट हो जायगी, अत: वे आकर उसे बचा लें।[3] कहीं इस प्रसंग के विपरीत श्याम का

---

१. सुखसागर तरंग, छन्द संख्या १२०

२. दास ग्रन्थावली (रस सारांश) प्रथम खण्ड सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ३८०, पृ० ५०

३ लाला मेरी सुरंग चुनरी भीजे लेहु बचाय आप पिय मोको बूंद परे रंग छीजे
ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौंदर्य सं० प्रभुदयाल मीतल पृ० ८६ छं०सं० २५

उपरैंना और श्यामा की भीजी हुई चुनरी को देखने की अनाविल आकांक्षा भी व्यक्त की गयी है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति वाङ्मय में चूनरी भक्ति मूलक प्रेम के एक ऐसे विशिष्ट परिवेश में प्रयुक्त हुई है, जहां रीति काव्य जैसी सामन्तीय चतना का सर्वथा अभाव है।

संस्कृत और प्राकृत आदि साहित्य में चूनरी का उल्लेख नहीं किया गया। केवल भक्ति और रीति काव्य के अतिरिक्त लोक साहित्य में इसकी उत्तरोत्तर चर्चा हुई है। रीतिकाव्य में चुनरी के प्रसंग बहुत कुछ भक्ति काव्य में मिलते अवश्य हैं, किन्तु प्रेम के मादक चित्रों की वैविध्यपूर्ण उद्‌भावना में निश्चय ही रीति कवि आगे है। यह अवश्य है कि चूनरी के प्रसंग में शृंगार के आन्तरिक पक्ष का उदघाटन उतना नहीं हो पाया, जितना पूर्ववर्ती भक्ति वाङ्मय में हुआ है। किन्तु कहीं-कहीं रीति कवि वर्षा की बूंदों से भीजी नायिका की चूनरी के सौन्दर्य निरूपण में काव्यगत स्वारस्य के साथ ही ऐन्द्रिय चेतना को उद्बुद्ध करने वाले तत्वों का समावेश किस चतुराई से करता है, इसे देव के इस छन्द में देखें—किस ढब से नायक नायिका को फुसला कर बट वृक्ष की आड़ में ले जाकर अपने वस्त्रों में लपेट कर नायिका की कटि का वस्त्र खोल रहा है, यह द्रष्टव्य है—

आजु गई हुती कुंजन लौं बरसे उत बुंद घने घन घोरत।
देव कहै हरि भीजत देखि अचानक आइ गए चित चोरत।
पोटि भट् तट ओट बटो के लपेटि पटी सों कटी पटु छोरत।
चौगुनों रंग चढ़ो चित मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत॥[2]

अन्तिम पंक्ति में रीति तत्व की व्यंजना जिस कौशलपूर्ण ढंग से हुई है, बह भक्ति काव्य में विरल हैं। असंगति और विरोधमूलक ऐसी प्रवृत्तियां स्वच्छन्द काव्य धारा के कवियों में ही परिलक्षित होती हैं। पूरे छन्द में गुप्ता नायिका का गोपनीय प्रेम किस विदग्धता के साथ इंगित किया गया है, वह भी विचारणीय है।

इसी प्रकार मुबारक कवि के छंद में नायिका ने अपने प्रियतम से आग्रह किया है कि जैसे हमारी चूनरी का रंग शोभित हो रहा है, उसी प्रकार हे प्रियतम, तुम भी अपनी पाग को रंग लो।

गौने की चुनरी का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है, गौने में दी जाने वाली चूनरी की परम्परा आज भी अक्षुण्ण है। गौने की चूनरी की चर्चा रीति कवि

---

१. भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामा जी की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैंना।—ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य—प्रभुदयाल मीतल

२ देवसुधा—स० मिश्र बन्धु छ० स० २५२ प्र० स०

ने जिस उन्मुक्त हृदय से किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मतिराम के एक छन्द में गौने की चुनरी की मादक अनुभूति की व्यंजना बड़ी सरसता के साथ हुई है।

प्रसंग यों है कि अभी नव विवाहिता पत्नी अपनी ससुराल आयी है, उसके प्रति नायक के हृदय में इतनी अधिक ललक उत्पन्न हो गयी है कि नायिका जहां-जहां अपना पाँव रखती है, नायक अपनी दृष्टि उन स्थलों पर गड़ा देता है और मित्रों के साथ खेलना छोड़कर घर में ही रसमग्न बैठा रहता है। यही नहीं, सन्ध्या होते ही उसका मन नायिका के लिए इतना ललचा उठता है कि वह आनन्द में बिल्कुल तन्मय हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका के सौन्दर्य पूर्ण अंगों में सुशोभित गौने की चूनरी ने मानों नायक पर टोना डाल कर उसे अपने वश में कर लिया है।[1] पूरे छन्द में सामंतीय दृष्टिकोण पूर्णतया स्पष्ट है, इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं किया जा सकता। कभी-कभी रीति कवि की अनूठी भाव-व्यंजना 'और उचित स्वारस्य का ऐसा उत्कृष्ट निदर्शन भी मिलता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। पावस के सन्दर्भ में चुनरी से सम्बन्धित यह छन्द लीजिए—

> लेहु जू गेह को जैबों कहा इत आयो है नेह सो मेह उनै है।
> जैहौ न तो इत रैहौं कहां, पिय भीजत बूंदन कौन छुपैहै।
> शेखर ऐसी कहो न तिया, छपिये छतियां में भलो रंग रैहै।
> रंग तिहारो रहै गो लला, पै हमारी तो चूनरी को रंग जैहै।।[2]

रीतियुग में चूनरी के विभिन्न वर्णों का उल्लेख हुआ है, जिनमें चितौटिया, छीबर, और श्याम रंग की चूनरी के प्रयोग में सौन्दर्य संवर्धन के अतिरिक्त ऐन्द्रिय अनुभूतियों के सरस एवं मादक चित्रण की प्रधानता है। सेनापति देव और बिहारी ने छीबर वाली नायिका का वर्णन इस प्रकार किया है—

> क—रोवत मैं श्रीवर कहत कही छीवर सु,
> मेरे जान याते चले छींवर उपटि कै।—सेनापति[3]
> ख—कटि छोटी छाती बड़ी आख्यौ लागति कान।
> छीबरवारी छोहरी लेति छुड़ाए प्रान।।—बिहारी[4]

---

१. पाव धरे दुलही जैहि ठौर, रहे मतिराम तहां दृग दीने।
छोड़ि सखान के साथ को खेलिबो, बैठ रहे घर ही रस भीने।
सांझहि तैं ललकैं मन ही मन, लालन यो रस के बस लीने,
लौनी सलोनी के अंगनि नाहु सु, गौने की चूनरी टोने से कीने।।
—मतिराम गंथावली—रसराज, छ० सं० २४१

२. ब्रजभाषा का ऋतु सौन्दर्य—प्रभुदयाल मीतल, छ० सं० ११६

३ कवित्त रत्नाकर सं० पं० ——— शुक्ल ५ ४० प्र० सं०

४ बिहारी स० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० २२० दो० स० १४

ग—हा हा हमारी सौं सांची कहौ वह कौन ही छोहर छीबर बारी ।—देव[1]
छीवर की चूनरी की चर्चा अन्य कवियों में नहीं मिली । भक्तिकालीन काव्य में सरंग चूनरी का वर्णन तो हुआ हैं, किन्तु छीवर की चूनरी श्रृंगार काल के उक्त दो ही कवियों के काव्य में दृष्टिगत हुई है । इसी प्रकार चिनौटिया चूनरी का कथन केवल बिहारी ने ही किया है । कहा जाता है कि चिनौटिया चूनरी चुन्नट देकर रंगी जाती है, इसी से चिनौटिया की अभिधा दी गयी है । बिहारी ने नायिका के बाह्य सौन्दर्य के सन्दर्भ में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है—

पचरंग रंग बेंदी खरी, उठै ऊगि मुख जोति
पहिरैं चीर चिनौटिया चटक चौगुनी होति ।।[2]

अर्थात् नायिका के शरीर की शोभा की झलक चिनौटिया चूनरी पर जब पड़ती है तो उसकी चौगुनी चटक बढ़ जाती है । वस्त्रों पर शरीर सौन्दर्य की दीप्ति के प्रभाव का यह ऐसा उत्कृष्ट नमूना है, जिसमें मध्य युगीन वस्त्रों के विशिष्ट रंग और सौन्दर्य का कलात्मक रूप स्पष्ट है ।

कभी-कभी नायिका के गौरांग पर श्याम रंग की चूनरी अधिक शोभावर्धक समझी गयी है । इसी प्रसंग को लेकर बिहारी ने नायिका की एक विशिष्ट परिधि में बड़ी मौलिक कल्पना की है । पूरे दोहे का भाव यह है कि श्याम चूनरी से अभिमंडित नायिका को जब से नायक ने देखा है, तब से उसके प्रेम में वह अपनी सुधि-बुधि भूला रहता है—

चुनरी स्याम सतार नभ, मुंह ससि की अनुहारि ।
नेहु दबावतु नींद लौं, निरखि निसा सी नारि ।।[3]

नायिका भेद की परम्परा में नारी को निशा से तो उपमित किया गया है, लेकिन नेह में नींद की कल्पना करके कवि ने पूरे प्रसंग में नवीनता और ताजगी उत्पन्न कर दी है । इसी से बिहारी की अधिकांश रचनाएँ श्रृंगार सतसइयों की परम्परा का अनुसरण करती हुई भी स्थल-स्थल पर अपनी मौलिक उद्‌भावना का पार्थक्य स्पष्टतया उद्‌घोषित करती है ।

पाग

अन्य निबन्धनीय वस्त्रों में पाग या उष्णीष का महत्वपूर्ण स्थान है । प्राचीन काव्य में पाग का अत्यधिक उल्लेख हुआ है । स्वयं कालिदास ने रघुवंश में दिलीप के

१. देवसुधा—मिश्र बंधु, पृ० १४३ छ० सं० २२१
२. बिहारी रत्नाकर—जगन्नाथदास रत्नाकर, दो० सं० ६२६
३ ३२६

उष्णीष की चर्चा की है। एक स्थल पर कालिदास ने लिखा है कि रघु जब अपने पुत्र अज को राज्य देकर जाने लगे तो अज ने वेष्टन शोभी सिर से अपने पिता को प्रणाम किया[1]। पुरुषों के लिए उष्णीष प्राचीन काल में शोभा के अतिरिक्त मर्यादा का वेश समझा जाता रहा। इसी से मृच्छकटिक आदि ग्रन्थों में इसकी उपेक्षा नहीं की गयी[2]।

हिन्दी रीति काव्य में पाग का वर्णन शृंगार के विभिन्न परिवेशों में किया गया है, जिसमें परम्परा पालन की अपेक्षा शृंगारिक कवियों की मौलिक उद्भावना का परिचय अधिक मिलता है। सुविधानुसार जिन प्रसंगों में पाग का वर्णन अधिक हुआ है, उनकी चर्चा यों की जा सकती है—

क—पाग का स्वतन्त्र वर्णन

ख—पाग का लीलाहाव के अन्तर्गत वर्णन।

ग—पाग का खण्डिता नायिका के प्रकरण में वर्णन।

पाग के स्वतन्त्र वर्णन में कवि की दृष्टियां परम्परा की लीक पीटने की अपेक्षा हृदय के उल्लास और उमंग से अधिक अनुप्राणित हैं। अतः इस सन्दर्भ में रीति मुक्त कवियो के पाग विषयक स्वतन्त्र उद्गारों की अभिव्यक्ति अधिक मौलिक है। यथा, ऋतु राज के दर्शनार्थ उत्सुकता पूर्वक गमन करते हुए नायक के सम्बन्ध में द्विजदेव ने कितनी सरस और मार्मिक उक्ति का प्रयोग किया है—

लटपटी पाग सिर साजत उनींदे अंग,
द्विज देव ज्यों-त्यों कै संभारत सबै वदन।[3]

बसन्त-सौन्दर्य देखने में विभोर नायक द्वारा टेढ़ी-मेढ़ी पाग को सिर पर धारण करना नितान्त स्वाभाविक है। भावों का ऐसा गत्यात्मक चित्र बहुत कम देखने को मिलता है।

लीलाहाव के अन्तर्गत प्रायः पाग की चर्चा नायिका द्वारा नायक की वेश-भूषा धारण करने के सन्दर्भ में हुई है। नायिका एकान्त में नायक की वेश-भूषा से अपने को किस प्रकार से अलंकृत कर रही है, इसकी एक मार्मिक झलक मतिराम के इस सवैया में द्रष्टव्य है—

प्यार पगी पगरी पिय कीं घर भीतर आपने सीस संवारी।
एते मैं आंगन तैं उठि कै तहां आय गयो मतिराम विहारी।

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९१, तृतीय संस्करण

२. बलाका पांडरोष्णीष—मृच्छकटिक ५।१६

३ शृंगार लतिका सौरभ द्विजदेव छ० स० ६ पृ० ३७

देखि उतारन लागी पिया पिय सौंहनि सौ बहुरयौ न उतारी।
नैन नवाय लजाय रही, उर लाय लई मुसकाय पियारी ।।[१]

अन्तिम दो पंक्तियों में श्रृंगार की बड़ी मार्मिक व्यंजना हुई है। नायिका नायक को देखकर इतनी लज्जित हो जाती है कि जल्दी-जल्दी अपनी पाग उतारने लगती है, किन्तु नायक ने उसे बीच ही में कसम रखवा दी, अतः वह अपनी पगड़ी न उतार सकी। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी प्रस्तुत छन्द बेजोड़ है, क्योंकि एक ओर लज्जा और दूसरी ओर पति की सौगन्ध दोनों की द्वन्द्वात्मक स्थितियों का चित्रण कवि की अपूर्व कुशलता व्यंजित कर रहा है।

पाग के इस वर्णन में रीति कवि ने अपनी नव प्रसंगोद्भावना द्वारा इसे जैसी मौलिकता प्रदान की है, वह पुरानी परम्परा के मेल में स्वतः स्पष्ट है। पाग की चर्चा खण्डिता प्रकरण में भी की गयी है। श्रृंगार-चेतना के सतत साधक पद्माकर ने खण्डिता के प्रसंग में इसे जिस ढंग से रखा है, वह द्रष्टव्य है। यों मध्ययुगीन काव्य में पाग की चर्चा उस प्रसंग के अन्तर्गत हुई अवश्य है, पर श्रृंगार के ऐसे अनुरजक एवं विनोदप्रिय प्रसंगों की उद्भावना बहुत कम की गयी है। इसकी पुष्टि के लिए पद्माकर का छंद प्रस्तुत किया जा रहा है—

गोस पैंच कुंडल कलंगी सिरपेंच पेंच,
पेंचन तें खैंचि बिन बेंचे वारि आए हौ।
कहै पद्माकर कहां वा मूरि जीवन की,
जाकी पग धूरि पगरी पैं पारि आए हौ ।।[२]

आचार्य देव ने आम्र कुंज में अन्य रमणी के साथ रात्रि में बसने वाले नायक की पाग में लगे हुए नूतन मंजरी के पीत पराग का संकेत अपने एक छन्द में इस प्रकार किया है—

आजु गोपाल जू बाल वधू संग नूतन नूतन कुंज बसै निसि।
जागर होत उजागर नैनन पाग पै पीरी पराग परी विसि ।।[३]

मतिराम की मध्याखण्डिता अपने व्यंग्यगर्भित वाक्यों द्वारा नायक की पगड़ी और उस पर लगे हुए लटपटे सिरपेंच के सम्बन्ध में कह रही है—

कसु के उघारत हौ पलक पलक यातें,
पलिका में पौढ़ि श्रम राति को निवारिये।
लटपटे पेंचसिर बात न कहत बनै,

---

१. रसराज—मतिराम, छं० सं० ३५१
२. पद्माकर ग्रन्थावली (जगद्विनोद) सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं १६६
३ देवसुधा सं० मिश्र बन्धु पृ० १३८

लटपटे पेंचसिर पाग के सुधारिये ।।[1]

निष्कर्षतः पाग के सम्बन्ध में रीति कवि की उक्तियाँ अधिक सधी हुई और व्यंजना-बलित हैं और पारम्परिक दृष्टि से वे मौलिक भी हैं, क्योंकि इतने सरस प्रसंगो के मध्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में ऐसी उक्तियाँ प्रायः नहीं मिलतीं ।

घाघरा

साड़ी की तुलना में रीति कवियों ने घाघरा का प्रयोग बहुत कम किया है। घाघरे का प्रचलन कब से हुआ, इस पर डा० अल्तेकर जैसे विद्वानों का विचार है कि मुस्लिम शासन की कुछ शताब्दियों के बाद यह सर्वसाधारण में पूर्ण प्रचलित हो चुका था ।[2]

इधर कोशकारों ने घाघरा को संस्कृत 'घर्घर' का विकृत रूप माना है,[3] जो समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि हिन्दू काल में घाघरा का प्रचलन बिल्कुल नहीं था तथा तत्कालीन चित्रों, स्थापत्य कलाओं और साहित्यिक कृतियों में इसका उल्लेख नहीं मिलता ।[4]

उपर्युक्त कथनों से पूर्णतया स्पष्ट है कि घाघरा या लहंगा भारतीय वेश-भूषा के अन्तर्गत नहीं आता, किन्तु सम्प्रति इसे हिन्दू घरों में सांस्कृतिक महत्व प्राप्त है। और विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर पुत्रवधू को अन्यान्य वस्त्रों के साथ चूनरी और लंहगा दिये जाने का प्रचलन है । आज भारत में लंहगा का प्रचलन राजपूताना, उत्तरी भारत और किसी सीमा तक मध्य प्रदेश में है ।

हिन्दी के भक्ति वाङ्मय में लंहगा का प्रयोग अति सीमित है, वहाँ लंहगा की अपेक्षा साड़ी का प्रयोग अधिक हुआ है । हाँ, रीति काव्य में मुस्लिम प्रभाव के कारण लहंगा या घाघरा का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है ।

श्रृंगार युग की रचनाओं से स्पष्ट पता चलता है कि लंहगा के प्रचलन के साथ साड़ी की महत्ता कम नहीं हो पायी, बल्कि कहीं-कहीं घेरदार लंहगा के साथ साड़ी का भी वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ देव कवि के इस छन्द में दोनों वस्त्रो

---

१ श्रृंगार सुधाकर—सं० मन्नालाल द्विज, पृ० १८९

२ It however became quite common after a few centuries of Muslim rule. —The position of women in Hindu Civilization. p. 365.—A. S. Altaker

३ संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर—आचार्य रामचन्द्र वर्मा

४ The position of women in Hindu Civilization. Page 235. —A. S. Altaker

का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

घांघरो घनेरो लांबी लटें लटे लांक पर,
काकरेजी सारी खुली अधर खुली टाड़ वह ।[१]

पद्माकर ने सोसनी दुकूल के साथ बूटेदार घाँघरी की घूमनि (घिराव) का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपनी सौन्दर्यानुभूति को मूर्तिमत्ता प्रदान करने के लिए ही मानो ऐसे रंगीन और बूटेदार घांघरे का प्रयोग कर रहा हो—क्योंकि कवि के चित्रण में चित्रमयता का गुण छन्द पढ़ते समय स्वभावतया प्रस्फुटित होने लगता है—

सोसनी दुकूलनि दुराये रूप रोसनी है,
बूटेदार घांघरी की घूमनि घुमाइ कै ।[२]

शाहजहाँ के दरबारी कवि सुन्दर ने प्रौढ़ाभिसारिका नायिका के वर्णन में लंहगा के साथ ही बिछिया और घुंघरू के मधुर स्वरों का भी कथन किया है ।[३] घांघरे में लगी हुई क्षुद्रघंटिका की चर्चा अन्य रीति कवियों ने भी की है ।

प्रक्षेप्य : कंचुकी

मध्ययुगीन प्रक्षेप्य वस्त्रों में चोलक या चोली की अत्यधिक परिगणना की गयी है । वस्तुतः चोली एक ऐसा वस्त्र है, जिसका उल्लेख विश्व के प्रायः सभी वाङ्मय में हुआ है । हैवलौक एलिस ने कंचुकी या चोली को शरीर विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण बताया है । उनका कथन है कि श्वासोच्छ्वास क्रिया पर चोली का अधिक प्रभाव पड़ता है और इस श्वासोच्छ्वास की क्रिया के द्वारा नारी का वक्ष प्रदेश बहुत ही शोभन प्रतीत होता है ।[४]

रीति काव्य में कंचुकी का वर्णन दो दृष्टियों से किया गया है—

१. अज्ञात यौवना नायिका के सन्दर्भ में ।
२. लक्षिता, आगतपतिका तथा वासकसज्जा के विनोद एवं आनन्दपूर्ण सन्दर्भ में ।

---

१. देवसुधा—मिश्रबन्धु, पृ० ९०, छं० सं० १२३
२. पद्माकर पंचामृत—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १२७, छं० सं० २०९
३. बिछिया घुंघरू झमकै लंहगा की सुनी त्यों तहीं मधुरी घमकोरनि ।
सुन्दर श्रृंगार, पृ० ३८ छन्द संख्या ६६
सन् १८६५ में लाइट प्रेस बनारस से लीथो में मुद्रित प्रति से ।
४ Studies n the Psycho osy of sex Vol Part III Page 172

अज्ञात यौवना नायिका के सन्दर्भ में रीति कवियों ने कंचुकी के वर्णन में अपनी मौलिक उद्‌भावना का परिचय बहुत ही रससिक्त रूप में दिया है। यों अज्ञात यौवना का कथन तो नायिका भेद की परम्परा में भूरिशः हुआ है, लेकिन रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य सेवक ने इस विषय को कितना प्रभविष्णु एवं मार्मिक बनाने की चेष्टा की है, यह निम्न छन्द में द्रष्टव्य है—

जैसिये बताइ दई, अंगन न पाइ दई, तैसिये बताई दई, कौन छल छैहों मे।
गिरिहै सों जाँचि लीजै, बूटिन सुबांचि लीजै, बांचि लीजै सेवक लिखे कों न दुरैहों मे।
एहो ठकुराइन ! जनाइ ना मुहूं को भेद, संग की खेलाइन उरहानों न लैहों मे।
घाँघरे की अटनि बढ़ी सो फेर देउ, तासों, कंचुकी की अटनि सु पूरी करि दैहों मैं।[1]

बेचारी दर्जिन नायिका के अंगों को नाप कर पूरा कपड़ा लेती है, किन्तु युवा-काल में उरोजों के उत्तरोत्तर बढ़ते रहने के कारण नायिका की कंचुकी छोटी हो जाती है और कटि के क्षीण हो जाने से घांघरा बड़ा हो जाता है। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन से दर्जिन और नायिका दोनों ही परेशान हो जाती हैं। अन्त में बेचारी दर्जिन यह कहकर इस समस्या को दूर करती है कि घांघरा में जितना कपड़ा बढ़ गया है उसे आप वापस कर दें, मैं उससे कंचुकी की छोटाई पूरी कर दूंगी।

लक्षिता के प्रसंग में अंगिया के भीज जाने का वर्णन बहुत ही व्यंग्य एवं विनोदपूर्ण ढंग से किया गया है। द्विजदेव के एक छन्द में नाइन द्वारा यह पूछे जाने पर कि यह अंगिया कहाँ भीजी है, जिसका दाग छुड़ाने पर भी नहीं छूटता, नायिका नाइन की इस चतुराई भरी वाणी को सुनकर मुस्कराने लगी।[2]

जिस प्रकार अज्ञात यौवना के प्रसंग में अंगों के बढ़ने का आधार भौतिक बताया गया है, उसी प्रकार आगतपतिका और वासक सज्जा नायिकाओं के अंगो की सवृद्धि का कारण अभौतिक कहा गया है। प्रसन्नता और हर्षातिरेक में आगत पतिका नायिकाओं की कंचुकी का बन्द स्वतः खुल जाता है। मतिराम और देव आदि की उक्तियाँ इस तथ्य के आकलन में पूर्ण सहयोग देती हैं।

(१) गाढ़ी भई कर की मुंदरी, अंगिया की तनीन तनाव गह्यो है।[3]

---

१. श्रृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, पृ० ६७, छं० सं० ७०

२. यह भीगि गई धौं किते अंगिया, छतिया धौं कितै यहि रंग रंगी।
उबटै है न छूटत दाग हहा, कब की हौं छुड़ावती ठाढ़ी ठगी॥
सुनि बात इती मुख नाइनि के, अति सूधी सयानपने सो पगी।
मुख मोरि उतै मुसुक्यानी तिया, इत नाइनि हु मुसुक्यानि लगी॥
—श्रृंगार लतिका सौरभ, पृ० २४३, छं० सं० ८६

३ —मतिराम छन्द स० २२४

का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

घांघरो घनेरो लांबी लटें लटे लांक पर,
काकरेजी सारी खुली अधर खुली टाड़ वह ।[१]

पद्‌माकर ने सोसनी दुकूल के साथ बूटेदार घाँघरी की घूमनि (घिराव) का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपनी सौन्दर्यानुभूति को मूर्तिमत्ता प्रदान करने के लिए ही मानो ऐसे रंगीन और बूटेदार घांघरे का प्रयोग कर रहा हो—क्योंकि कवि के चित्रण में चित्रमयता का गुण छन्द पढ़ते समय स्वभावतया प्रस्फुटित होने लगता है—

सोसनी दुकूलनि दुराये रूप रोसनी है,
बूटेदार घांघरी की धूमनि घुमाइ कै ।[२]

शाहजहाँ के दरबारी कवि सुन्दर ने प्रौढ़ाभिसारिका नायिका के वर्णन में लंहगा के साथ ही बिछिया और घुंघरू के मधुर स्वरों का भी कथन किया है ।[३] घांघरे में लगी हुई क्षुद्रघंटिका की चर्चा अन्य रीति कवियों ने भी की है ।

प्रक्षेप्य : कंचुकी

मध्ययुगीन प्रक्षेप्य वस्त्रों में चोलक या चोली की अत्यधिक परिगणना की गयी है । वस्तुतः चोली एक ऐसा वस्त्र है, जिसका उल्लेख विश्व के प्रायः सभी वाङ्मय मे हुआ है । हैवलौक एलिस ने कंचुकी या चोली को शरीर विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण बताया है । उनका कथन है कि श्वासोच्छ्वास क्रिया पर चोली का अधिक प्रभाव पड़ता है और इस श्वासोच्छ्वास की क्रिया के द्वारा नारी का वक्ष प्रदेश बहुत ही शोभन प्रतीत होता है ।[४]

रीति काव्य में कंचुकी का वर्णन दो दृष्टियों से किया गया है—

१. अज्ञात यौवना नायिका के सन्दर्भ में ।
२. लक्षिता, आगतपतिका तथा वासकसज्जा के विनोद एवं आनन्दपूर्ण सन्दर्भ में ।

---

१. देवसुधा—मिश्रबन्धु, पृ० ९०, छं० सं० १२३
२. पद्‌माकर पंचामृत—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १२७, छं० सं० २०६
३. बिछिया घुंघरू झमकै लंहगा की सुनी त्यों तहीं मधुरी घमकोरनि ।
सुन्दर श्रृंगार, पृ० ३८ छन्द संख्या ६६
सन् १८६५ में लाइट प्रेस बनारस से लीथो में मुद्रित प्रति से ।
४ Studies in the Psycho osy of sex Vol Part III Page 172

अज्ञात यौवना नायिका के सन्दर्भ में रीति कवियों ने कंचुकी के वर्णन में अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय बहुत ही रससिक्त रूप में दिया है। यों अज्ञात यौवना का कथन तो नायिका भेद की परम्परा में भूरिशः हुआ है, लेकिन रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य सेवक ने इस विषय को कितना प्रभविष्णु एवं मार्मिक बनाने की चेष्टा की है, यह निम्न छन्द में द्रष्टव्य है—

जैसिये बताइ दई, अंगन न पाइ दई, तैसिये अताई दई, कौन छल छैहों मे।
गिरिहैं सों जाँचि लीजै, बूटिन सुबांचि लीजै, बांचि लीजै सेवक लिखे कों न दुरैहों म।
एहो ठकुराइन ! जनाइ ना मुहूं को भेद, संग की खेलाइन उरहानों न लैहों मैं।
घाँघरे की अटनि बढ़ी सो फेर देउ, तासो, कंचुकी की घटनि सु पूरी करि दैहों मैं।[1]

बेचारी दर्जिन नायिका के अंगों को नाप कर पूरा कपड़ा लेती है, किन्तु युवा-काल में उरोजों के उत्तरोत्तर बढ़ते रहने के कारण नायिका की कंचुकी छोटी हो जाती है और कटि के क्षीण हो जाने से घांघरा बड़ा हो जाता है। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन से दर्जिन और नायिका दोनों ही परेशान हो जाती हैं। अन्त में बेचारी दर्जिन यह कहकर इस समस्या को दूर करती है कि घांघरा में जितना कपड़ा बढ़ गया है उसे आप वापस कर दें, मैं उससे कंचुकी की छोटाई पूरी कर दूँगी।

लक्षिता के प्रसंग में अंगिया के भीज जाने का वर्णन बहुत ही व्यंग्य एवं विनोदपूर्ण ढंग से किया गया है। द्विजदेव के एक छन्द में नाइन द्वारा यह पूछे जाने पर कि यह अंगिया कहाँ भीजी है, जिसका दाग छुड़ाने पर भी नहीं छूटता, नायिका नाइन की इस चतुराई भरी वाणी को सुनकर मुस्कराने लगी।[2]

जिस प्रकार अज्ञात यौवना के प्रसंग में अंगों के बढ़ने का आधार भौतिक बनाया गया है, उसी प्रकार आगतपतिका और वासक सज्जा नायिकाओं के अंगों की सवृद्धि का कारण अभौतिक कहा गया है। प्रसन्नता और हर्षातिरेक में आगत पतिका नायिकाओं की कंचुकी का बन्द स्वतः खुल जाता है। मतिराम और देव आदि की उक्तियाँ इस तथ्य के आकलन में पूर्ण सहयोग देती हैं।

(१) गाढ़ी भई कर की मुंदरी, अंगिया की तनीन तनाव गह्यो है।[3]

---

१. शृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, पृ० ६७, छं० सं० ७०

२. यह भीगि गई धौं कितै अंगिया, छतिया धौं कितै यहि रंग रंगी।
उबटैं है न छूटत दाग हहा, कब की हौं छुड़ावती ठाढ़ी ठगी॥
सुनि बात इती मुख नाइनि के, अति सूधी सयानपने सो पगी।
मुख मोरि उतै मुसुक्यानी तिया, इत नाइनि हु मुसुक्यानि लगी॥
—शृंगार लतिका सौरभ, पृ० २४३, छं० सं० ८६

३ छन्द सं० २२४

(२) दरकि दरकि आंगी, सारी की सरीक सारी,
औचक उचौहें कुच फरकि फरकि उठैं ।[१]

आनन्दोद्रेक में कंचुकी की तनी के खुल जाने पर वासक सज्जा नायिका द्वार उसे बार-बार कसे जाने का उल्लेख देव ने अपने एक छन्द में इस प्रकार किया है—

पिय भेंटिबे को उमंगी छतियाँ, सुछिपावति नौल तिया हँसि कैं ।
अंगिया की तनी खुलि जात घनी सुबनीं फिरि बाँधति है कसि कैं ।।[२]

रीति युग के नख शिख ग्रन्थों में जहाँ कंचुकी के विभिन्न वर्णों का कथन किया गया है[३], वहाँ देव और घनानन्द जैसे कवियों ने उसके चोवा आदि सुगन्धित पदार्थों से सुरभित होने का भी स्पष्ट संकेत किया है ।[४] आलम ने नायिका के सौन्दर्य निरूपण में अंग में लिपटी हुई कंचुकी को अधिक महत्व प्रदान किया है ।[५]

निष्कर्ष: कंचुकी रीति कवियों का एक प्रिय और विशिष्ट वस्त्र रहा है, चूंकि यौन प्रवृत्तियों के उभारने में कंचुकी का महत्व निस्सन्देह स्वीकार किया गया है, इस कारण इसे अधिकाधिक आकर्षक बनाने की भी चेष्टा की गयी है, यह शृंगार युग की अधिकांश रचनाओं से स्वतः प्रमाणित है ।

—आरोप्य : ओढ़नी और घूंघट

उत्तरीय या दुपट्टा आरोप्य वस्त्रों के अन्तर्गत आता है । रीतिकाल में साडी, कचुकी, लंहगा और पाग आदि वस्त्रों की तुलना में उत्तरीय का कथन कम हुआ है । फिर भी रीति कवियों द्वारा यथा प्रसंग ओढ़नी और घूंघट का वर्णन किया गया है । संस्कृत साहित्य में वधू के लिए अवगुंठन या घूंघट का होना आवश्यक समझा गया है । इसके लिए एक बड़ी चादर का उपयोग होता था । शकुन्तला को स्वयं कालिदास ने चादर से ढकी एक वधू के रूप में चित्रित किया है ।[६] रीति कवियों ने भी घूंघट के वर्णन में ओढ़नी अथवा चादर का कथन किया है । बिहारी और देव की अधिकाश रचनाएँ इस तथ्य को पूर्णतया प्रमाणित करती हैं । स्वयं देव ने एक स्थल पर काश्मीर

---

१. भवानी विलास—देव, पृ० ८०, छं० सं० ३०
२. सुख सागर तरंग—देव, पृ० २११, छं० सं० ६३०
३. (क) अंग दर्पण—रसलीन, पृ० १९ । (ख) नखशिख—बलभद्र मिश्र, पृ० २२
४. (क) भवानी विलास—देव, सं० छं० २९
   (ख) घनानन्द कवित्त—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ३८४
५. आलम केलि—सं० लाला भगवानदीन, पृ० ९, छं० सं० २०
६ प्राचीन भारत के विनोद—डा० द्विवेदी पृ० ९२

देश की युवती के वर्णन में झिलमिली ओढ़नी का वर्णन किया है।[1] झिलमिल एक प्रकार की बढ़िया मलमल की भाँति का कपड़ा माना गया है, जिसकी चर्चा जायसी ने भी अपने 'पद्मावत' में की है।[2] वस्तुतः बारीक वस्त्र का घूंघट अथवा ओढनी रीति काल में बहु प्रचलित थी, जिसमें नायिका के चंचल नेत्र सुर सरिता में उछलने वाली मछलियों की भाँति प्रतिबिम्बित होते थे।[3]

इसी प्रकार डोरिया की चादर से अपने पहुंचों को ढाँकती हुई एक लज्जा-शीला नायिका की बड़ी ही सूक्ष्म चित्रोद्भावना बेनी प्रवीन के एक छन्द में भी की गयी है। छन्द का भाव यह है कि नन्दलाल नायिका के सौन्दर्य को देखने के लिए आतुर हैं। इधर प्रियतम के अनुनय विनय करने पर जब नायिका उसकी ओर मुड़ कर पान का बीड़ा लेने लगी तो उसकी कलाई किंचित अनावृत हो गयी। उसने चट उसे डोरिया की चादर से ढकने का यत्न किया। उसकी कम्पित कलाई का यह चित्र नितान्त मौलिक है—

ठाढ़े भये आनि ढिग, बिहंसि प्रवीन बेनी, देखिये को आतुर वदन नन्दलाल है।
कीन्हे मनुहारमुरि पीतम त्यों बीरी जब, लेन लागी लाजन लपेटी वर बाल है।
डोरिया की चादरि सों झाँपति पहूंचन सों ऐसो तत्काल कर कम्पति विसाल है।
नीर की लहरि मानो थहरि छहरि रही, लागत समीर बीच कमल सनाल है।[4]

(४) रीति काव्य के विशिष्ट आभूषण

आभूषण नारी सौन्दर्य के विशिष्ट उपादान अवश्य माने गये हैं, किन्तु नारी के सहज एवं नैसर्गिक लावण्य की कोटि में इन्हें अनिवार्य महत्व नहीं दिया गया। रीतिकाल कला और सौन्दर्य उपासना की दृष्टि से एक समृद्ध युग माना जाता है, अत उस युग की शृंगारिक रचनाओं में नारियों के विविध अलंकारों की जगमगाहट और दीप्ति का उपलब्ध होना नितान्त स्वाभाविक है।

संस्कृत साहित्य में जिन आभूषणों की चर्चा की जाती है, उनमें ताटंक, नासिकाभरण, वलय, नूपुर, मेखला, हार, मुक्तावलि आदि मुख्य हैं। राजानक रुय्यक ने वस्त्रों की भाँति आभूषणों की भी चार जातियों का उल्लेख किया है—

(१) आवेध्य, (२) निबन्धनीय, (३) प्रक्षेप्य, (४) आरोप्य।[5]

---

१. देव सुधा—मिश्र बन्धु, छं० २१२
२. पद्मावत—टी० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३९५
३. बिहारी बोधिनी—टी० दीन, दो० सं० ८२
४. नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, छं० सं० ३००
५ प्राचीन भारत के [illegible] विनोद डा० [illegible] द्विवेदी पृ० ८८ तृ०स०

ताटंक कुण्डल आदि आभूषण शरीर के अंगों को छेदकर पहने जाने के कारण आवेध्य आभूषणों के अन्तर्गत आते हैं। अंगद, करधनी, मणि मेखला, चूड़ामणि, शिखा-दढ़िक आदि अलंकार बाँधकर पहने जाते हैं। इस कारण ये निबन्धनीय कहलाते हैं। मजीर कटक आदि अलंकार अंगों में प्रक्षिप्त होते हैं, अतः ये प्रक्षेप्य की श्रेणी में आते है। हेम माला, हेम हार, रत्न हार, नक्षत्र मलिका आदि अलंकार आरोपित किये जाने के कारण आरोप्य कहे जाते हैं।[1]

संस्कृत साहित्य में रजत और रत्नादि के बने आभूषणों की अपेक्षा विभिन्न वर्णी पुष्पों के अलंकारों द्वारा शृंगार किये जाने का संकेत अधिक मिलता है, किन्तु रीतिकाल में पुष्पाभरणों का उल्लेख अपेक्षाकृत कम हुआ है, क्योंकि विलासिता और शृंगार के इस युग में वन्य जीवन के मंडन की वह सहजता प्रायः नष्ट हो चुकी थी, जिसे कालिदास आदि कवियों ने अपनी रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

हिन्दी रीति काव्य में जिन आभूषणों का प्रयोग हुआ है, उनमें मुख्य नाम इस प्रकार हैं—ताटंक, कठुला, हमेल, जेहरि, बाजूबन्द, नथ, लौंग, सींक, चूड़ी' पहुची, किंकिण, बिछुआ, टांड़, सीस फूल, हार, झुमका, अँगूठी आदि। इन आभूषणो मे जिनकी आवृत्तियाँ रीति काव्य में अधिक हुई हैं, उनमें बेसर, नथ, नूपुर, किंकिण, बिछुआ आदि उल्लेखनीय हैं।

रीति युग में आभूषणों का प्रयोग मंडन के अतिरिक्त नायक के मानस पर नायिका के सौन्दर्य का मादक प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से अधिक किया गया है। कभी-कभी तो आभूषण जन्य सौन्दर्य का बाह्य प्रभाव इतना क्षीण हो जाता है कि उसकी केवल ऐन्द्रिय चेतना मात्र शेष रह जाती है, विशेषकर ऐसे आभूषणों में जिनमे ध्वनि और रणन की ही प्रधानता होती है। रीति युग के आभूषणों की यही विशेषता थी, जिसे अन्य युग के आभूषणों में हम कठिनाई से ही ढूंढ़ पाते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिये हम कतिपय ऐसे आभूषणों के प्रभाव की चर्चा करेंगे, जिनसे रीति काव्य पूर्णतया प्रभावित है।

—रसना और बिछुआ

रणन मूलक आभूषणों में किंकिणी और बिछुआ का वर्णन शृंगार की मादक अनुभूतियों को उद्बुद्ध करने में विशेष रूपेण हुआ है। सुन्दर, देव, मतिराम, बिहारी, पद्माकर आदि की सरस उक्तियाँ हमारे कथन का सबल प्रमाण हैं। इन आभूषणो की चर्चा संभोग और काम क्रीड़ा के प्रकरण में अधिक की गयी है। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत की शृंगारिक रचनाओं में ऐसे आभूषणों की उपेक्षा नहीं की गयी, किन्तु

---

१ प्राचीन भारत के ८ विनोद—डा० द्विवेदी पृ० ९०

रीति काल के सदृश शृंगार के विविध मादक और सरस प्रसंगों के मध्य इन आभूषणों के प्रयोग की विशदता वहाँ विरल है। बिछुओं के मधुर रणन की ओर संकेत करते हुए मतिराम ने एक रसग्राही और मधुर प्रसंग की अवतारणा की है। प्रसंग यह है कि नायिका का गौना हो रहा है। गौने के दिन सहेलियों का गण शृंगार करने के लिए आया है। इसी बीच किसी अन्तरंग सहेली ने बिछुआ पहनाते समय एक मजाक किया और कहा कि यह बिछुआ प्रियतम के श्रवणों के निकट सदैव बजता रहे। व्यंजना यह थी कि तुममें और नायक में सुरति केलि होती रहे। कामिनी ने सखी की वाणी सुनकर अपने अन्तर के अनुराग को बड़ी स्वाभाविकता से व्यक्त किया और कृत्रिम रोष प्रकट करते हुए कमल से मारने के लिए अपने हाथ को ऊँचा किया अवश्य पर चलाया नहीं—

गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।
कंचन के बिछुया पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायो।
'पीतम स्रौन समीप सदा बजैं', यों कहि कै पहिले पहिरायो।
कामिनि कौल चलावनि कौं, कर ऊँचो कियो पै चल्यौ न चलायो।[1]

सुरति केलि में बिछुओं का बजना भारतीय रमणियों के लिए बहुत लज्जास्पद समझा जाता था। इसी से रीति कवियों ने मुग्धा की सुरति में बिछुओं के बजते समय की स्थिति का बड़ा ही यथातथ्य एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। बिछुओं के बजने के कारण लज्जा से अपने नेत्रों को मूंदती हुई देव की एक संत्रस्त मुग्धा का चित्र लीजिए—

बाल वधू बिछियान के बाजते, लाजते मूंदि रहै अंखिया पै।
आँसू भरे सिसके रिसके, मिसके कर झारि झुके मुख झांपै॥[2]

किन्तु प्रौढ़ा अपनी सुरति में इतना तन्मय हो जाती है कि उसे यह भी मालूम नहीं होता कि उसने कब अपनी रसना को संवारा और कब केलि के मध्य बिछुओं से ध्वनि रणित होती रही—

ऐसी विमोहित ह्वै गई है जनु, जानति रातिक में रतिमानी।
साजी कबै रसना रसकेलि में, बाजी कबै बिछुवान की बानी॥[3]

बिहारी और तोष जैसे कवियों ने विपरीत रति में बजने वाली किंकिणी का भी संकेत किया है। बिहारी के 'करत कुलाहल किंकिनी मौन गह्यों मंजीर' में बिपरीत रति

---

१. मतिराम ग्रन्थावली (रसराज)—सं० श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० ६३, छं० सं० २९६
२. भाव विलास—देव, सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० १०६
३ भाव विलास—देव पृ० ११२

के समय बजने वाली किंकिणी और मौन हो जाने वाले मंजीर की स्पष्ट उद्घोषण है। तोष की मध्या नायिका विपरीत रति के समय बजने वाली किंकिणी को पक लेती है, जिसमें समीपस्थ सोये हुए गुरुजनों के कानों में इसकी ध्वनि पहुंच न जाय।[१]

—नूपुर और बलया

यद्यपि यह सत्य है कि रीति युग की शृंगारिक रचनाओं में यत्र-तत्र शृंगार के अनावृत स्वरूप की भी झलक मिल जाती है, किन्तु शालीनता और लज्जा की सूक्ष्म व्याप्ति का अभाव ऐसे स्थलों पर भी शायद ही मिलें। नमूने के लिए 'शृंगार दर्पण' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं। प्रसंग इस प्रकार है कि मध्या नायिका के साथ विलास क्रीड़ा करने के लिए नायक का मन अत्यन्त व्यग्र है, किन्तु नायिका अपनी सहज शालीनता और मर्यादा की रक्षा करती हुई नायक से तब तक के लिए चुपचाप पड़े रहने की अनुनय-विनय करती है, जब तक पास में सोयी हुई ननद और जेठानी सो न जाएँ। इसके अतिरिक्त उसे नूपुर और जौहरी के बजने का भी भय है, इसी भय से आतंकित होकर वह कहती है कि हे प्रियतम, तुम अपने कपोल को मेरे कपोल पर रखे रहो। क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि संभोग के समय इन आभूषणो से ध्वनि निकलने लगे।[२]

मध्य युग की शृंगारिक रचनाओं द्वारा नूपुर जैसे आभूषणों की ध्वनि की बड़ी ही मादक एवं ऐन्द्रिय व्यंजना हुई है। ऐसी मधुर और सरस व्यंजना संस्कृत आदि पूर्ववर्ती साहित्य में शायद ही मिले। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि रीति युग का सजग कलाकार यह सम्यक् रूपेण जानता था कि नूपुर जैसे रणन मूलक आभूषणो का प्रयोग शृंगार के किन प्रसंगों में किया जाय, जिनसे मानस की रतिमूलक सुकुमार भावनाओं की व्यंजना अव्याहत रूप से होती रहे तथा विलास की मादक अनुभूतियो का अक्षय स्रोत सदैव बना रहे। इस कथन की पुष्टि के लिए बेनी प्रवीन कृत 'उत्कण्ठा संचारी' विषयक एक छन्द दिया जा रहा है—

ज्यों ज्यों चलै सजनी अपने घर, त्यों त्यों मनौ सुख सिन्धु में पैठे।
ज्यों ज्यों बितीतति है रजनी हरि, त्यों त्यौं उनीदे से अंगन ऐठे॥

---

१ उससे दबि त्यों त्यों बजैं करते कल किंकिन या कटि की पकरैं।
—सुधानिधि, पृ० २३, छं० सं० ७१

२. नूपुर मैं जेहरी मैंनेकहु न लागे पग, मेरे जू कपोल पै कपोल को धरे रहौ।
कंचुकी न छोरो अंग नेक हू न मोरौं कहै नन्दराम कर को उरोज पै करे रहो।
जौंलो घर जागती हैं ननद जेठानी तौ लौं मेरी कही मानौ चुपचाप ही परे रहो।
शृंगार दर्पण छं० सं० ५०

बेनी प्रवीन नबीन वधू वह, कैसे तजै कुल कानि अकैठे।
ज्यों ज्यों सुनै पग पायल की धुनि, सेज पै त्यों त्यों लला उठि बैठे ॥[१]

जैसे जैसे सखियाँ अपने घर जाने लगीं, नायक का मन आनन्द सागर में प्रविष्ट होने लगा। जैसे जैसे रात्रि व्यतीत होने लगी—वैसे-वैसे नायक अपने उनींदे (जागने के कारण आलस्य वलित) से अंगों को ऐंठने लगा (अंगड़ाई लेने लगा)। इधर नायिका मुग्धा नववधू है, वह अपने कुल की मर्यादा कैसे भंग करे? हाँ, बीच-बीच मे उसके पायल की ध्वनि अवश्य सुनायी पड़ जाती है, जिसे सुनकर नायक सहसा सेज पर उठ बैठता है। इस छन्द में कवि ने पायल की मादक ध्वनि की अभिव्यक्ति मे अपनी मनोवैज्ञानिक पैठका सुन्दर परिचय दिया है। अर्थात् एक ओर जहाँ नायक के कामातुर मानस की ललक और उत्कंठा का निरूपण किया गया है, वहीं उसकी उत्कंठा को और उद्दीप्त करने वाली पायल की मधुर ध्वनि के सूक्ष्म तन्तुओं में अनुस्यूत एवं संग्रथित मन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इतर शृंगारिक कवियों में कठिनाई से ही दृष्टिगत होगा।

आचार्य दास ने 'शृंगार निर्णय' में मुग्धा की सुरति के प्रसंग में चूड़ियों की खनक की बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। मुग्धा नायिका नायक से निवेदन करती हुई कह रही है कि यदि जरा भी अंग को तोड़ो, मरोड़ोगे तो नूपुर और बलया की खनक पास में जागती हुई सखियों के कान तक पहुंच जायगी और नतीजा यह होगा कि वे प्रातःकाल उठने पर भारी मजाक करेंगी—

झांझरियाँ झनकेंगी खरी खनकेंगी चुरी तनको तन तोरे।
दास जू जागती पास अलीगन हास करेंगी सबै उठि भोरे ॥[२]

इसी प्रकार मतिराम के एक छन्द में नायिका अपने मायके में प्रियतम से मिलने के लिए किस चतुराई से अपने पैरों को दबा-दबा कर केलि मन्दिर में प्रवेश करती है और केलि के समय प्राप्त होने वाले आनन्द को अक्षुण्य रखने के लिए रसना और घुंघरुओं (मंजीर) को किस तरह बहुत धीरे-धीरे बजाती है—वह इस छन्द में देखे—

हेरि इतै मुसुकाय चितै करि चोप सो भावी को सेज बिछैबौ।
लाज बड़ी गुरुलोगन की पग चापिकै केलि के मन्दिर जैबौ ॥
वा सुख राशि समै मतिराम हरै रसना घुंघरू को बजैबौ।
माइके में मन भावन को मिलिबो सखी सौंच अमी को अचैवौ ॥[३]

---

१. नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र, छं० सं० ३५२

२. शृंगार निर्णय—दास, पृ० ५०, छं० सं० १४७, प्र० सं० सन् १८९४ ई० मे भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित।

३ सुन्दरी तिलक—सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० ६२—श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई का

रीतिकाल के अनेक कवियों ने अभिसारिकाओं के प्रसंग में जेहरी और नूपुर की मनो हर प्रसंगोद्भावना की है। मुग्धा अभिसारिका के प्रसंग में स्वयं सुन्दर कवि ने जेहरी की ध्वनि की मादक अनुभूति का रसग्राही चित्रण किया है। नायक के मानस में नायिका की जेहरी की ध्वनि सुनकर उसी प्रकार अनंग की तरंग उठी, जैसे वन में मेघ की आवाज सुनकर मोर गण कामोन्मत्त हो उठते हैं।[१]

द्विजदेव ने मध्याभिसारिका के निरूपण में स्पष्टतया बताया है कि वह अभि-सरण के समय पायल और कटि किंकिणी को उतार देती है,[२] किन्तु लछिराम की मध्याभिसारिका पैंजनी और कंकण की झंकार से अपनी नाक सिकोड़ने लगती है।[३]

—हार

आरोप्य आभूषणों में हार या माला का कथन संस्कृत और हिन्दी दोनो ही काव्यों में हुआ है। संस्कृत में पुष्प माल की तुलना में हेम और रत्नहारों की चर्चा अधिक हुई है। इधर हिन्दी में कृष्ण काव्य की भक्ति मूलक रचनाओं में पुष्पहार या बनमाल की इतनी प्रचुरता है कि ढूंढ़ने से भी वहाँ रत्नहार और हेम हार नहीं मिलते। चूंकि कृष्ण काव्य की श्रृंगारी रचनाएँ (रीति काव्य) भक्ति वाङ्मय से इतना अधिक प्रभावित हैं कि वहाँ भी बनमाल और अन्य पुष्प निर्मित मालाएँ जगह-जगह पर देखने को मिलती हैं। हाँ, पुष्पहार के अलावा मौक्तिक मालाओं का उल्लेख भी नायक-नायिकाओं के मंडन के सन्दर्भ में कम नहीं हुआ है।

रीति कवियों ने बनमाल या पुष्पहार द्वारा सम्बन्ध-भावना के निरूपण में अपनी जिस गम्भीर रागात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया है, वह कदाचित् अप्रतिम और बेजोड है। इसकी पुष्टि के लिए मतिराम के एक सवैया की कुछ पंक्तियाँ लीजिये—

होत रहै मन यों मतिराम, कहूं बन जाय बड़ो तप कीजै,
ह्वै बनमाल हिए लगिये अरु, ह्वै मुरली अधरारस लीजै।[४]

---

१ जेहरि को षटको जबही भयो सुन्दर देहरी आनि अटा की।
अंग अनंग तरंग उठी वन मोर को ज्यों सुनि घोर घटा की॥
—सुन्दर शृंगर, पृ० ३७, छं० सं० ६४

२ पायलनि डारें कटि किंकिणी उतरें कहूं, हाथनते झारि भीर टारति मलिंद की।
—शृंगार बत्तीसी—द्विजदेव, सं० त्रिलोकीनारायण सिंह, पृ० ७ खं० सं० १३ सन् १८८५ ई० में मुंशी नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित प्रति से।

३. पैंजनी कंकन की झनकारसों, नासिका मोर मरोरति भौहें॥
—ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद, प्र० द० मीतल पृ० ३१९

४ मतिराम ग्रन्थावली रसराज—सं० कृष्णबिहारी मिश्र पृ० १३ छ०सं० ६०

कृष्ण की बनमाल बनने की जैसी महती एवं उदात्त आकांक्षा गोपी में विद्यमान है, वह वासना की उष्ण गन्ध का परिणाम नहीं है, अपितु हृदय की सहज प्रेमानुभूतियो की ऐसी सफल अभिव्यक्ति है, जिसकी प्रतिस्पर्धिता में बहुत से भक्ति मूलक उदगार भी ठहर नहीं पाते।

बिहारी और देव ने भी हार के प्रयोग में सम्बन्ध-भावना का विवेचन बड़ी कुशलता से किया है। तदर्थ बिहारी का एक दोहा लीजिए—

मैं यह तोही में लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ तन कदम्ब की माल॥[1]

किसी अन्तरंग सखी ने नायक की भेजी हुई माला बहिरंग सखियों के सामने ठाकुर जी की प्रसाद माला कहकर नायिका को दे दी। नायक की माला पाकर नायिका को रोमांच हो गया। यह रोमांच इसीलिये हुआ, चूंकि माला नायक द्वारा प्रेषित है। नायक से प्रेम सम्बन्ध होने के कारण माला प्राप्त होने पर प्रेमाभिभूत मानस मे सात्विक भावनाओं का संचार होना नितान्त स्वाभाविक है। इसी प्रकार देव के एक छन्द में भी सम्बन्ध-भावना के निरूपण का अति उत्कृष्ट नमूना मिलता है। प्रसंग यों है कि किसी गोपी को एक ऐसी माला प्राप्त हुई जिसे गोपाल ने गूँथी है। गोपी उस माला को लेकर सब को दिखाती है और सबसे कहती है कि देखो, यह माला गोपाल ने अपने हाथों से गूँथी है—

अरि कै वह आज अकेली गई, खरिकै हरि के गुन रूप लुही।
उनहू अपनो पहिराय हरा, मुसकाइ के गाइ के गाइ दुही॥
कवि देव कह्यो किनि काऊ कछू. तबते उनके अनुराग छुही।
सबही सो यही कहै बाल-वधू, यह देखरी माल गुपाल गुही॥[2]

आलम ने नवोढ़ा के वर्णन में काँच की कंठी का उल्लेख किया है, क्योंकि नवोढ़ा मोतियों के हार की जगह कांच की कंठी पहन लेने पर भी अप्सरा की तरह सुन्दर मालूम होती है।[3]

नाक के आभूषण

लोकप्रियता की दृष्टि से विश्व के अनेकानेक आभूषणों में नाक के आभूषणों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नाक के आभूषणों का प्रचलन कब हुआ और नाक के आभूषणों में किन-किन आभूषणों की गणना की जाती है, इस पर डा० लल्लनराय ने

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० दीन, दो० सं० २२३
२. भाव विलास—देव, सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ५५
३ —सं० दीन पृ० ८ छ० सं० १८

अपने एक शोधपरक लेख में विस्तारपूर्वक विचार किया है।[1]

नाक के आभूषणों के सम्बन्ध में एक लेख सन् १९३२ ई० में बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी में प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक श्री एन० बी० डिबारिया ने इस तथ्य पर अधिक बल दिया था कि संस्कृत साहित्य और संस्कृत कोशों में नाक के किसी भी आभूषण का उल्लेख नहीं मिलता। अतः नाक के आभूषण मुस्लिम संस्कृति की देन है, जो मुसलमानों के भारत आने पर ही ज्ञात हुए। इसके पूर्व हिन्दू काल मे नाक के आभूषणों की चर्चा नगण्य है। डिबारिया के विचारो का खण्डन उक्त लेख के पांच वर्ष बाद 'कलकत्ता रिव्यू' में प्रकाशित 'भारत में नाक के आभूषण' शीर्षक लेख द्वारा श्री नलिनदास गुप्त ने किया था। श्री नलिनदास गुप्त ने बंगला और संस्कृत के 'सुभाषितावली', 'शारदा तिलक', 'शारङ्गधर पद्धति' 'टीका सर्वस्व' आदि ग्रन्थो के तर्कपुष्ट प्रमाणों द्वारा अपने विचारों का पूर्ण प्रतिपादन किया था। पर उसी समय हिन्दू सभ्यता में 'स्त्रियों की स्थिति' नामक अपने शोधप्रबन्ध में डा० ए० एस० अल्तेकर ने एन० बी० डिबारिया के ही विचारों का प्रकारान्तर से समर्थन किया और इस बात का आश्चर्य भी व्यक्त किया कि मुसलमानों द्वारा गृहीत नाक के ये आभूषण भारतीय स्त्रियों के लिए सौभाग्य के प्रतीक कैसे बन गये?[2] जो भी हो इस तथ्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि मुसलमानों के भारत आने के पूर्व नाक के आभूषण अज्ञात थे, क्योंकि इधर संस्कृत के सुभाषित संग्रहों में प्राप्त छन्दों में स्पष्टतया 'नासाभौक्तिक' नासाग्रमुक्ताफल[3] जैसे आभूषणों का संकेत किया गया है।

हिन्दी के मध्य युगीन साहित्य में नाक के जिन आभूषणों का उल्लेख मिलता है, उनमें बेसर, नथ, नथुनी, नकमोती, झुलनी लटकन, लौंग, सीक और फुली आदि की गणना की जाती है। इन आभूषणों में कुछ तो भक्तिकाल की रचनाओं में प्राप्त होते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी चर्चा केवल रीति काव्य में ही हुई है। अब प्रत्येक आभूषण की विवेचना प्रस्तुत की जा रही है—

मध्यकालीन 'नासिकाभरणों में बेसर अत्यन्त लोकप्रिय भूषण माना जाता रहा है। यों इस आभूषण का उल्लेख 'आइने अकबरी' में भी हुआ है, किन्तु उससे

---

१ सम्मेलन पत्रिका—भाग ५१, संख्या ३, ४

२. Both the positive and nagative evidence thus that the nose ring is not a Hindu ornament, It seems to have clearly been borrowed from the Mohamaden. It is indeed a mystry how this ornament of foreign origin should have eome to be regarded as the most important insignia of Saubhagya.

—The position of women in Hindu Civilization. Page 364.
A. S Altaker

३ सुभाषित सुधा — पृ० ७४ ७५

किसी विशेष तथ्य का पता नहीं चलता।[१] बेसर के सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन की धारणा है कि बुलाक या बेसर नाक के मध्य में पहने जाने वाला आभूषण है और झुलनी भी उसी के समान होती है, जिसे रौनिआर जाति की स्त्रियाँ पहनती हैं।[२] हिन्दी काव्य-परम्परा में बेसर का कथन विद्यापति,[३] जायसी[४] और सूर[५] की रचनाओं मे हुआ अवश्य है, किन्तु शृंगार के नाना प्रसंगों में बेसर के सम्बन्ध में जैसी मार्मिक एव सरस उद्भावना का प्रयास रीति काव्य में लक्षित होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत काव्यों में बेसर की चर्चा नहीं मिलती, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में भी इसका कोई संकेत अभी तक नहीं मिला। रीति कवियों ने बेसर के सम्बन्ध में दूरारूढ कल्पना के साथ ही नायिका भेद के मधुर परिवेश में अपनी सहज एवं स्वाभाविक उक्तियों का सन्निवेश करते हुए अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। कुछ उदाहरण लीजिए—कालिदास ने एक छन्द में क्रिया विदग्धा नायिका के प्रसंग मे बेसर का सुन्दर प्रयोग किया है—

मेरे कर मेंहदी लगी है नंद लाल प्यारे,
लट उरझी है नेक बेसर सुधारि दे।[६]

बेसर का वर्णन केवल शृंगारिक प्रसाधनों के ही अन्तर्गत नहीं हुआ है, वरन् कहीं-कहीं नायिका भेद के मधुर प्रसंगों में बेसर विषयक उक्तियां बड़ी ही रसग्राही बन पड़ी हैं। नायिका भेद के एक प्रेम-प्रसंग कोलेकर रंगपाल जी ने एक मर्मस्पर्शी उक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया है—

सास जो सुनैगी तोपै बावरी कहैगी खीझि,
बहुरि अनैसी शोर पारिहै सबन में।
हेरन अकेली बड़े भोर उठि जैहों वीर,
गिरि गई बेसर हमारी मधुबन में॥[७]

---

१ आइने अकबरी—अनु० एच० एस० जैरेट, जिल्द ३, पृ० ३१२

२. The Bulak or Besar is a ring hung from the central cartilage of the nose and the jhulani is a similar one worn by women of the Rauniar caste. —Bihar peasants' life. (1885) Page 152.

३ विद्यापति पदावली—सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० २१६, छं० सं० १६३

४. पद्मावत—टीं० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ११६, छं० सं० २

५ सूर सागर—सं० आचार्यनन्द दुलारे वाजपेयी, पद सं० २७३७

६ प्रयागनारायण विलास—सं० पं० वंदीदीन दीक्षित, पृ० ६६ सन १६०६ ई० मे नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित।

७. प्रेमलतिका—रंगपाल, पृ० २४, छं० सं० ७१ सन् १६०२ में प्रथम बार भारत जीवन प्रेस काशी में मुद्रित

देव ने मोरधारी बसर का प्रयोग किया है,[१] जिसमें अनुमान होता है कि तत्कालीन बेसर मयूर आकृति में विजड़ित भी हुआ करती थी। विद्यापति, जायसी और सूर की जिन पंक्तियों में बेसर का वर्णन हुआ है, उनमें मयूराकृति का कोई संकेत नहीं हैं। आलम ने भी प्रौढ़ा नायिका के संदर्भ में 'बेसरि विचित्र नीकी' का सकेत किया है[२] और मतिराम की नायिका ने मुख का सौन्दर्य दूना हो जाने के कारण बेसर उतार कर रख लिया—

दूनी मुख में छवि भई, बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी, करति रसोई नारि॥[३]

रीतिकाल में कुछ ऐसे भी शृंगारिक कवि हैं, जिन्होंने बेसर के मोती के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की उत्प्रेक्षाएं की हैं। रीतिबद्ध कवि बिहारी ने ओष्ठों पर प्रतिबिम्बित होने वाली बेसर मोती की आभा का सौन्दर्यपूर्ण चित्रण किया है।[४] इससे अनुमान होता हैं कि उस युग की बनने वाली बेसरों में मोती ठीक उसके मध्य मे होता था, जिसकी आभा ओष्ठों पर विकीर्ण होकर एक विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि करती थी।

बेसर की तरह अन्य नासिका भरणों में नथ की चर्चा की जाती है। नथ प्राचीन साहित्य में बहुत कम मिला है। हिन्दी काव्य परम्परा में नथ का वर्णन प्रथमत: जायसी कृत 'पद्मावत' में दृष्टिगत हुआ है। भक्ति वाङ्मय में सूरदास ने नथ का कई स्थलों पर प्रयोग किया है, पर वर्णन—वैविध्य और सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से नथ की स्थिति रीति काव्य में अधिक प्रौढ़ है। नथ सौन्दर्य के उत्कर्ष और कल्पना के नव-नव चित्रों के निर्माण में जितने इस युग के कवि संलग्न प्रतीत होते हैं, उतनी सलग्नता अन्य युग के कवियों में नहीं पायी जाती। सम्प्रति भारतीय हिन्दू रमणियो के सौभाग्य चिह्नों में नथ की महत्ता अक्षुण्ण है और हिन्दू गृहों में विवाह के मांगलिक अवसर पर नथ दिए जाने की पुनीत परम्परा का पालन आज भी होता है। रीति काव्य में इसीलिए इसके वर्णन में अधिक रुचि व्यक्त की गयी है। जिस प्रकार बेसर के मोती का कथन बिहारी आदि कवियों द्वारा किया गया है, उसी प्रकार नथ के मोती का भी वर्णन हुआ है। आचार्य देव ने अपने एअ छन्द में स्पष्ट संकेत किया है कि बड़े

---

१. शब्द रसायन—देव, सं० डा० जानकी नाथ सिंह, 'मनोज', पृ० २२
२. आलमकेलि—सं० दीन, पृ० १० छं० सं० २७
३ मतिराम ग्रन्थावली (मतिराम सतसई)—सं० पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० १८४, दो० सं० १३२
४ बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन, दों० सं० ८८

मोतियों से नथ अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर प्रतीत होती है।[1] रसलीन[2] और रामसहाय[3] ने नथ में मोतियों के अलावा लाल लगे रहने का भी पूर्ण उल्लेख किया है।

रीति कवियों का नथ से भी अधिक प्रिय भूषण नथुनी है। इस भूषण के वर्णन में रीति कवियों ने निश्चय रूपेण अपनी प्रगाढ़ रागानुभूति का परिचय दिया है। कहीं-कहीं तो गूढ़ भाव-व्यंजना में नथुनी परम सहायक हुई है। नथ से आकार में छोटी होने के कारण बड़े मोतियों के लग जाने से इसका सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। ठाकुर ने छोटी नथुनी में लगे हुए बड़े मुक्ता के सम्बन्ध में एक सरस उक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया है—

ठाकुर कै हमही यह जानती कै उनहूं को जनाइ परै हैं।
छोटी नथूनी बड़े मोतियान बड़ी अंखियान बड़ी सुधरै है॥[4]

गूढ प्रसंगोद्भावना की दृष्टि से प्रताप साहि की नथुनी विषयक यह उक्ति अधिक श्लाघनीय है—

सुन्दर मंजुल मोतिन की पहिरो न भटू किन नाक नथूनी।[5]

इस पंक्ति के गूढ़ाशय का तात्पर्य यह है कि चूंकि नायिका प्रोषित पतिका है और उसकी नाक से उष्ण सांस निकल रही है। अतः उसे इस बात की आशंका है कि कहीं गर्म सांसों के कारण मोतियों की आब उतर न जाय—मोती आभाहीन न हो जाय। इन्ही कारणों से वह नथुनी नहीं पहनती। इस प्रकार के गूढ़ आशय से सम्बद्ध पक्तियां अन्य शृंगारिक काव्यों में नहीं मिलतीं। संस्कृत में भी ऐसी गूढ़ उक्तियों का दर्शन नहीं होता, निश्चय ही गूढ़ प्रसंगों की उदभावना में प्रतापसाहि की दृष्टि सर्वथा मौलिक थी।

बेनी प्रवीन के एक छन्द से प्रतीत होता है कि नथुनी में दो मोती लगे रहते थे और इन मोतियों के कारण नायिका के मुख मण्डल का सौन्दर्य बढ़ जाता था—इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति का एक नमूना इस प्रकार है—

तेरी नथुनी के नीके मुकता प्रवीन बेनी सोभा के सदन ऐसे वदन निमुन्द हैं।
सन्द ससी ते रसि बसि न सकत केहू, च्वही पर्‌यौ चाहत सुधा के बिबिबुंद हैं॥[6]

---

१ बेंदिया जराव बड़े मोतिनि सों नीकी नथ,
हलत तरौननि तैं रूप सरसतु है।—रसविलास—देव, पृ० ३७

२. अंग दर्पण—रसलीन, पृ० ६, छं० सं० ६१

३ शृंगार सतसई—रामसहाय, पृ० ७४, छं० सं० ६६२

४. ठाकुर ठसक—सं० लाला भगवानदीन, पृ० १०, छं० सं० ३३

५. व्यंग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसिंह, पृ० ५३, छं० सं० ८२

६ नवरस तरंग—बेनीप्रवीन सं० पं० कृष्ण बिहारी मिश्र पृ० ५६. छं० सं० ४२५

देव ने 'मोरवारा बेसर का प्रयोग किया है,[1] जिससे अनुमान होता है कि तत्कालीन बेसर मयूर आकृति में विजड़ित भी हुआ करती थी। विद्यापति, जायसी और सूर की जिन पंक्तियों में बेसर का वर्णन हुआ है, उनमें मयूराकृति का कोई संकेत नहीं है। आलम ने भी प्रौढ़ा नायिका के संदर्भ में 'बेसरि विचित्र नीकी' का संकेत किया है[2] और मतिराम की नायिका ने मुख का सौन्दर्य दूना हो जाने के कारण बेसर उतार कर रख लिया—

दूनी मुख में छबि भई, बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी, करति रसोई नारि ॥[3]

रीतिकाल में कुछ ऐसे भी शृंगारिक कवि हैं, जिन्होंने बेसर के मोती के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की उत्प्रेक्षाएं की हैं। रीतिबद्ध कवि बिहारी ने ओष्ठों पर प्रतिबिम्बित होने वाली बेसर मोती की आभा का सौन्दर्यपूर्ण चित्रण किया है।[4] इससे अनुमान होता हैं कि उस युग की बनने वाली बेसरों में मोती ठीक उसके मध्य मे होता था, जिसकी आभा ओष्ठों पर विकीर्ण होकर एक विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि करती थी।

बेसर की तरह अन्य नासिका भरणों में नथ की चर्चा की जाती है। नथ प्राचीन साहित्य में बहुत कम मिला है। हिन्दी काव्य परम्परा में नथ का वर्णन प्रथमत: जायसी कृत 'पद्मावत' में दृष्टिगत हुआ है। भक्ति वाङ्‌मय में सूरदास ने नथ का कई स्थलों पर प्रयोग किया है, पर वर्णन—वैविध्य और सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से नथ की स्थिति रीति काव्य में अधिक प्रौढ़ है। नथ सौन्दर्य के उत्कर्ष और कल्पना के नव-नव चित्रों के निर्माण में जितने इस युग के कवि संलग्न प्रतीत होते हैं, उतनी सलग्नता अन्य युग के कवियों में नहीं पायी जाती। सम्प्रति भारतीय हिन्दू रमणियों के सौभाग्य चिह्नों में नथ की महत्ता अक्षुण्ण है और हिन्दू गृहों में विवाह के मांगलिक अवसर पर नथ दिए जाने की पुनीत परम्परा का पालन आज भी होता है। रीति काव्य में इसीलिए इसके वर्णन में अधिक रुचि व्यक्त की गयी है। जिस प्रकार बेसर के मोती का कथन बिहारी आदि कवियों द्वारा किया गया है, उसी प्रकार नथ के मोती का भी वर्णन हुआ है। आचार्य देव ने अपने एअ छन्द में स्पष्ट संकेत किया है कि बड़े

---

१. शब्द रसायन—देव, सं० डा० जानकी नाथ सिंह, 'मनोज', पृ० २२
२ आलमकेलि—सं० दीन, पृ० १० छं० सं० २७
३. मतिराम ग्रन्थावली (मतिराम सतसई)—सं० पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० १८४, दो० सं० १३२
४. बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन, दो० सं० ८८

मोतियों से नथ अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर प्रतीत होती है।[1] रसलीन[2] और रामसहाय[3] ने नथ में मोतियों के अलावा लाल लगे रहने का भी पूर्ण उल्लेख किया है।

रीति कवियों का नथ से भी अधिक प्रिय भूषण नथुनी है। इस भूषण के वर्णन में रीति कवियों ने निश्चय रूपेण अपनी प्रगाढ़ रागानुभूति का परिचय दिया है। कहीं-कहीं तो गूढ़ भाव-व्यंजना में नथुनी परम सहायक हुई है। नथ से आकार में छोटी होने के कारण बड़े मोतियों के लग जाने से इसका सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। ठाकुर ने छोटी नथुनी में लगे हुए बड़े मुक्ता के सम्बन्ध में एक सरस उक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया है—

ठाकुर कै हमही यह जानती कै उनहूं को जनाइ परै हैं।
छोटी नथूनी बड़े मोतियान बड़ी अंखियान बड़ी सुधरै है॥[4]

गूढ प्रसंगोद्भावना की दृष्टि से प्रताप साहि की नथुनी विषयक यह उक्ति अधिक श्लाघनीय है—

सुन्दर मंजुल मोतिन की पहिरो न भटूं किन नाक नथूनी।[5]

इस पंक्ति के गूढ़ाशय का तात्पर्य यह है कि चूंकि नायिका प्रोषित पतिका है और उसकी नाक से उष्ण सांस निकल रही है। अतः उसे इस बात की आशंका है कि कहीं गर्म सांसों के कारण मोतियों की आब उतर न जाय—मोती आभाहीन न हो जाय। इन्हीं कारणों से वह नथुनी नहीं पहनती। इस प्रकार के गूढ़ आशय से सम्बद्ध पंक्तियां अन्य शृंगारिक काव्यों में नहीं मिलतीं। संस्कृत में भी ऐसी गूढ़ उक्तियों का दर्शन नहीं होता, निश्चय ही गूढ़ प्रसंगों की उदभावना में प्रतापसाहि की दृष्टि सर्वथा मौलिक थी।

बेनी प्रवीन के एक छन्द से प्रतीत होता है कि नथुनी में दो मोती लगे रहते थे और इन मोतियों के कारण नायिका के मुख मण्डल का सौन्दर्य बढ़ जाता था—इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति का एक नमूना इस प्रकार है—

तेरी नथुनी के नीके मुकता प्रवीन बेनी सोभा के सदन ऐसे बदन निमुन्द हैं।
सन्द ससी ते रसि बसि न सकत केहू, च्वही पर्यौ चाहत सुधा के बिंबिबुंद हैं॥[6]

---

१ बेंदिया जराव बड़े मोतिनि सों नीकी नथ,
हलत तरौननि तैं रूप सरसतु है।—रसविलास—देव, पृ० ३७
२ अंग दर्पण—रसलीन, पृ० ६, छं० सं० ६१
३. शृंगार सतसई—रामसहाय, पृ० ७४, छं० सं० ६६२
४. ठाकुर ठसक—सं० लाला भगवानदीन, पृ० १०, छं० सं० ३३
५. व्यंग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसिंह, पृ० ५३, छं० सं० ८२
६ नवरस तरंग—बेनीप्रवीन सं० पं० कृष्ण बिहारी मिश्र पृ० ५९. छं० सं० ४२५

रीति परम्परा के अन्तिम आचाय ग्वाल न अज्ञात यौवना नायिका के प्रसग म एक नवीन नथ्य की ओर संकेत किया है। उससे प्रतीत होता है कि मोती की भांति नथुनी मे चुन्नी भी लगायी जाती थी। इस छन्द में अज्ञात यौवना ने सन्देह प्रकट किया है कि हमारी नथुनी में तीन रत्न कण (चुन्नी) क्यों गूंथ दिये गये हैं?

देखि नथुनी में रज राजत दुनी में और?
मेरी नथुनी में चुनी तीन पोहि दीनी क्यों।[१]

मतिराम ने नायिका के जड़ावदार नूपुर, घेरदार घांघरा और घूंघर वाले बालों के साथ सुढारमुक्ता वाली नथुनी के भी महत्व को स्वीकार किया है।[२] अतः स्पष्ट है कि शृंगारिक काव्य में नथुनी विषयक सरस उक्तियां अधिक मौलिक और मर्मस्पर्शी हैं।

संस्कृत के सुभाषितों में नासिकाभरणों में जिनकी विशेष चर्चा हुई है, उनमे नासाग्र मुक्ता, नासा मौलिक, मुक्ताफल आदि आते हैं। ये आभूषण वस्तुतः प्रकारान्तर से नकमोती के पर्याय हैं। और अन्य नासिका भूषणों की तुलना में अधिक प्राचीन है। हिन्दी रीति काव्य में नकमोती नामक इस आभूषण का प्रचुर प्रयोग हुआ है। कभी-कभी रीतिकाल के चमत्कार प्रिय कवियों ने सुढार, बड़े और पानिप से युक्त नेत्र और नकमोती की तुलना में अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है—

अति सुढार अति ही बड़े, पानिप भरे अनूप।
नाक मुक्त, नैनानि सों, होड़ परी यह रूप ॥[३]

कुछ कवियों ने नक मोती के सौन्दर्य-निरूपण में अपनी कल्पना-शक्ति के विनियोग की पर्याप्त चातुरी प्रदर्शित की है।[४] नाक के आभूषणों में रीति काल के कुछ कवियो ने झुलनी और लटकन का भी वर्णन किया है। झुलनी और लटकन का उल्लेख रीति पूर्व काव्य ग्रन्थों में नहीं हुआ। ये आभूषण प्रायः एक ही कोटि के माने जाते हैं। टी० एच० हैण्डले ने लटकन को नाक के मध्य में पहने जाने वाला भूषण माना है।[५] रीतिकाव्य मे देव और रामसहाय के छन्दों में यह आभूषण मिला है। झुलनी का उल्लेख तोष,[६] सेवक[७] और रामसहाय[८] आदि की कृतियों में बराबर हुआ है। इस आभूषण के उप-

---

१. ग्वाल कवि—सं० प्रभुदयाल मीतल, पृ० १३१, छं० सं० १३५
२ मतिराम ग्रन्थावली (मतिराम सतसई), पृ० १८२, छं० सं० १०८
३. ,, ,, ,, पृ० २०६ ,, ३३१
४ प्यारी के बदन में मदन जू को मद पिये, मोती मतवारो सदा झुमत रहत है।
—मनोज मंजरी, चतुर्थ कलिका, सं० नकछेदी तिवारी, पृ० ३६ छं०सं० १३८
५. Journal of Indian art and industry Yol. 12, Page 32.
६. सुधानिधि, पृ० ६३, छं०सं० १७८
७. बरवै नखशिख—सेवक, पृ० २१।३६ ८. शृंगार सतसई, दो० सं० ४१६

योग में इन कवियों ने शृंगार की मार्मिक उद्भावना की है।

नाक के आभूषणों में कुछ ऐसे भी आभूषण हैं, जिनका कथन कुछ थोड़े से रीति कवियों द्वारा किया गया है। लौंग और सींक इसी तरह के भूषण हैं। लौंग की चर्चा केवल बिहारी[1] और सेवक[2] में हुई है और सींक का उल्लेख रहीम[3] और बिहारी[4] ने किया है। लौंग का वर्णन 'आइने अकबरी' में भी हुआ है, परन्तु फूली का वर्णन किसी रीति कवि के द्वारा नहीं किया गया। हाँ, 'आइने अकबरी' में फूली की पूरी चर्चा की गयी है। फूली के वर्णन में जायसी और 'ढोलामारू रा दूहा' के रचयिता द्वारा संकेत किया गया है।[5] निष्कर्षत: स्पष्ट है कि रीति युग का कवि आभूषणों के प्रयोग में केवल परम्परा का ही अनुयायी नहीं था, वरन् बहुत कुछ नवीन आभूषणों के वर्णन में उसकी प्रतिभापूर्ण सक्रिय थी।

(५) हाव एवं अनुभाव विधान

शृंगार रस की चेष्टाओं के अन्तर्गत हाव एवं अनुभाव विधान रीति कवियों का प्रिय विषय रहा है। हावों के द्वारा प्रेम व्यंजना के जैसे रूप खड़े किए गए हैं, उनसे स्पष्ट पता चलता है कि रीति कवियों ने पर्याप्त साधना और प्रगाढ़ तन्मयता के पश्चात् ही रागात्मकता के ऐसे सोपान की उपलब्धि की थी। अपनी कुछ रचनाओं में मुद्रा चित्रण के साथ ही अनुभूत्यात्मक चित्रों की अवतारणा में इन्हें इतनी अधिक सफलता मिली है, जिसके समक्ष परम्परा के न जाने कितने भाव-चित्र सहज ही धूमिल पड़ गए। यद्यपि यह सत्य है कि इन रीति कवियों ने अपनी चित्रोद्भावना की समस्त निपुणता एवं सिद्धहस्तता काव्य रूढ़ियों के प्राचीन 'कैनवस' पर ही दिखायी है, किन्तु इन्हें अपने चित्रों के सजाने में, नवीनता के विविध रंग भरने में और सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलात्मक जड़ाव करने में, जिस प्रकार के आयाससाध्य प्रयत्न की आवश्यकता थी, उसमें ये चूके नहीं।

हिन्दी के अधिकांश रीति ग्रन्थों में हावों का निरूपण अनुभाव के अंतर्गत किया गया है, और संयोग समय में स्त्रियों की स्वाभाविक चेष्टा विशेष को हाव की संज्ञा दी गयी है।[6] किन्तु अनुभावों के अन्तर्गत हावों को रखना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अनुभाव का तात्पर्य होता है, भावों के अन्तर उत्पन्न होने वाली चेष्टाएं और हाव का तात्पर्य है नायिका की सहज चेष्टा, जिसमें भाव प्रेरणा

---

१. बि० बो०—दीन, दो० सं० ८७
२. बरवै नखशिख—सेवक, पृ० २२, छं० सं० ४०
३. रहीम रत्नावली (बरवै नायिका भेद) सं—मयाशंकर याज्ञिक
४. बिहारी बोधिनी—दीन, दो० सं० ८५
५. सम्मेलन पत्रिका—डा० लल्लन राय का लेख, भाग ५१ सं० ३, ४
६. रस कुसुमाकर—दुदुआ साहब, पंचम कुसुम, पृ० ४३

अनपेक्षित समझी जाती है। संस्कृत में इन सहज चेष्टाओं को अलंकार रूप में अभिहित किया गया है।[1]

हिन्दी रीति काव्य में हावों और अनुभावों के विधान में सौन्दर्य चेतना का प्रबल आग्रह है। कदाचित् सौन्दर्य के ऐसे अनूठे चित्र अन्य युगों की रचनाओं में कठिनाई से ही उपलब्ध होंगे। रीति युग का कलाकार नायक-नायिकाओं की चेष्टाओं का अंकन करते समय अन्तर के अनुराग की प्रवृत्ति से इतना अधिक अनुप्राणित रहता है कि अनजाने उसके चित्रों में अनुराग की गहरी ललक स्वभावतया परिलक्षित होने लगती है। इसी से मुद्रा चित्रण करते समय उसकी दृष्टि केवल बाह्य सौन्दर्य तक ही परिमित नहीं रहती, अपितु सौन्दर्य निरूपण के साथ ही आभ्यंतरिक प्रेम की विवेचना मे भी वही संलग्नता दृष्टिगत होती है—देव के एक छन्द में सौन्दर्य और अनुराग की समन्विति इस रूप में हुई है—

अन्तर के अनुराग जिते' पुनि ऊपर ही सब देत दिखाई।[2]

डा० नगेन्द्र के शब्दों में आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार सौन्दर्य चेतना एक मिश्र वृत्ति है। इसके योजक तत्व हैं—१–प्रीति अर्थात् आनन्द और विस्मय।[3] इस दृष्टि से विचार करने पर रीति युग की किसी भी हाव अथवा अनुभाव से सम्बद्ध रचना को उठाकर देख लीजिए, वह मूलतः आनन्द और विस्मय की समष्टि मात्र है, जिसमें एक और रसवाद की स्पष्ट व्याप्ति है तो दूसरी ओर अलंकारवाद का आग्रह स्वतः व्यक्त है। इसकी संपुष्टि के लिए रीति युग के कुछ चित्र ले लीजिए। पहले पद्माकर कृत एक विभ्रम हाव का छन्द लीजिए। यद्यपि विषय की दृष्टि से वह छन्द बहुचर्चित कृष्ण कथा से ही सम्बन्धित है, किन्तु अपनी रसग्राहिता के बल पर कवि ने इस छन्द मे मौलिकता का जैसा रंग भरा है, वह परम्परा से निश्चय ही भिन्न है। प्रसंग दुग्ध दोहन लीला का है। इसमें कवि ने राधा और कृष्ण के परस्पर आकर्षण जनित प्रेम का जो चित्र तैयार किया है, उसमें रूप-दीप्ति अवश्य विस्मय मूलक है, पर उसकी तह में अनुराग का एक प्रच्छन्न उत्स वर्तमान है। सूरदास ने भी इस प्रसंग के पदों की रचना की है, किन्तु पद्माकर ने पूरे प्रसंग को रूपान्तरित करने में जैसी कला-मर्मज्ञता व्यक्त की है, वह निश्चय रूपेण श्लाघनीय है और उनकी नवीन दृष्टि की परिचायक है—

बछरै खरी प्यावै गऊ तिहि को 'पद्माकर' को मन लावत है।
तिय जानि गिरैया गही बनमाल सु ऐचे लला इंच्यो छावत है।
उलटी करि दोहनी मोहनी की अंगुरी थन जानि के दावत है।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है।[4]

---

१. बिहारी—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १२६
२. रस विलास—देव, पृ० ७६
३. रस सिद्धांत—डा० नगेन्द्र, पृ० ३
४ पदमाकर पंचामृत—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १७० छं० सं० ४३१

वस्तुतः मुद्रा चित्रण की दो पद्धतियां मिलती हैं–एक में चित्र के अधिक गत्यात्मक होने के कारण चपलता की प्रधानता होती है और दूसरी में स्थिरता के कारण समस्त चित्र निस्पन्द कहा जाता है। रीति काव्य में दोनों प्रकार के मुद्रा-विधान मिलते है। निस्पद चित्रों में प्रायः विशिष्ट मनःस्थिति की मुग्धता और अनुराग के असाधारण गाम्भीर्य की प्रवृत्ति लक्षित होती है। रीति युग के अधोलिखित छन्द में निस्पन्दावस्था का चित्रण बडी कुशलता के साथ किया गया है और शृंगार के परिवेश में प्रेम की बड़ी मधुर और सरस व्यंजना प्रस्तुत की गयी है। छन्द का प्रसंग इस प्रकार है—परकीया नायिका अपने पति के साथ गांठ जोड़कर कथा सुनने के लिए बैठी है। वहीं पास मे कृष्ण भी बैठे हुए हैं। इधर पुरोहित जी पुराण बांच रहे हैं, पर उधर नायिका के नेत्र नट नागर के सौन्दर्य रसपान करने में इतने छक गये हैं कि पौराणिक जी क्या कह रहे है, इसकी उसे सुधि नहीं है। वस्तुतः शृंगार की ऐसी मधुर प्रसंगोद्भावना में रीति कवि ने निश्चय ही अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है, क्योंकि ऐसे प्रसंग परम्परागत रचनाओं मे प्रायः नहीं मिलते—

कथा सुनिबे को बैठी पति संग गांठि जोरि,
जी में कछू आनि गांठि गाँठ ठकिबो करै।
कालिदास तहां बैठो पास में गोविन्द आछे,
रुचिर मधुपान से छवीलो छकिबो करै।
घट नटनागर की मूरति समाइ रही,
घूंघट की ओर यक टक टकिबो करै
अटको तिया को मन नवल सुजान संग,
वापुरो पुरोहित पुराण बकिबो करै।[1]

सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्रण

कभी-कभी मुद्रा निरूपण मे कवि अपनी मौलिक प्रतिभा से ऐसे सौन्दर्य चित्रो की उद्भावना करने में समर्थ होता है; जिनमे कायिक चेष्टाओं के विभिन्न सौन्दर्य रूप सश्लिष्ट रूपेण रसानुभूति में पर्याप्त योग देने के साथ ही कवि की गहरी पैठ का परिचय देते हैं। सौन्दर्य के संश्लिष्ट चित्रण के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती रीति परम्परा के कवि रंगपाल का यह छन्द अधिक महत्व का है, जिसमें नायिका के कई कायिक चेष्टाओ के अंकन द्वारा कवि ने एक अपूर्व सरसता उत्पन्न की है—चित्र में अधिक चपलता होने के कारण यह गत्यात्मक श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित होता है—

---

१ शृंगार संग्रह—सरदार पृ० ४० छं० सं० १४

जगमगी कंचुकी पसीजी स्वेद सीकरनि[1]
उगमगी डग न संभारी संभरति है।
रङ्गपाल सरबती सारी की सलोटकल,
कम्पित करन न संवारी संवरति है।
बिलुलित बरबंक बार पीक लीक करी,
झपकौली पल न उघारी उघरति है।
प्यारी की उनींदी वा अटारी उतरनि आज,
चढ़ि रही चित न उतारी उतरति है।[2]

इसमें स्वेद कणों से पसीजी जगमगी कंचुकी, डगमगाते हुए कदम, शरबती साड़ी की सिकुड़न और प्रकम्पित हाथों द्वारा उसे संभालना, चंचल अलकें, नींद से अलसाए नेत्र और अट्टालिका से शनैः शनैः उतरना आदि विभिन्न वर्णी चित्रों की समवेत उद्भावना के कारण सौन्दर्य की एक संश्लिष्ट मूर्ति प्रस्तुत हो गयी है, जिसमें कवि की प्रौढ़ कलात्मकता के साथ ही उसकी शृंगारानुभूति की सान्द्र व्यंजना का स्वरूप स्वतः स्पष्ट है।

मध्य युग की ऐन्द्रिय चेतना के स्वरूपांकन में देव की सजगता द्रष्टव्य है। ऐसा लगता है कि उस युग की शृंगारिकता सामन्तीय प्रभाव से अधिक उत्कट हो गयी थी और समग्रतः अपने वैकासित मार्ग के लिए पर्याप्त व्यग्र थी। इस तथ्य की प्रकृत अभिव्यंजना किस रूप में हुई है, यह अधोलिखित छन्द में द्रष्टव्य है—

सेज ते उतरि बैठि फेन से बिछौननि पैं,
मैन उमगाए नैन वैननि ढरत है।
रंग भरे अंग अरसौंहे सरसौंहे सीहे,
सौंहे करि भौंहें रिस भामिन भरत है।
कहूँ चित कहूँ हित, कहूँ चित हित बँधे,
हारन सम्हारे चित चाइन करत है।
सम्पति के सागर ये दम्पति सुहाग भरे,
खेले सार पी से पैं तमासे से करत है।[3]

---

१. यही छन्द किंचित् परिवर्तन के साथ सेवक कवि कृत 'वाग्विलास' के प्रौढ़ा सुरतान्त वर्णन के अन्तर्गत मिलता है, देखें-वाग्विलास ३।१४६, पृ० ३० सम्मेलन की खण्डित हस्तलिखित प्रति से।

२. प्रेमलतिका—रंगपाल, पृ० १३, छं० सं० ३७, सन् ११०२ ई० में काशी के भारत जीवन प्रेस से मुद्रित।

३. कवि देव की जीर्ण शीर्ण हस्तलिखित प्रति से (कुसुमरा निवासी श्री मातादीन द्विवेदी के सौजन्य से प्राप्त।)

पूरे छन्द में पासा खेलते हुए दम्पति की मुद्रा का बड़ा ही ऐंद्रिय चित्रण किया गया है। कभी-कभी पुराने चित्रों में नवीन एवं सूक्ष्म वर्णों के भरने में रीति कवियों ने ऐसी कुशलता व्यक्त की है, जिसके कारण सौन्दर्य का संश्लिष्ट रूप आसनी से बन गया है। पूरे चित्र के संवारने में प्रकृति से सौन्दर्य का चयन किस प्रकार हुआ है, यह यह रघुनाथ कवि के इस छन्द में द्रष्टव्य है—

कौतुक है एक चलै तूं हूँ तो देखाऊँ तोहि,
आवति हौं देखे अबै देखिबै को दाँवरी।
सौंहि कीन्हें कहति हौं समै न मिलैगो फेरि,
वसि वृन्दावन बरसन दीन्हें भांवरी।
कदम की छांहीं दोऊ दीन्हें गरवाहीं खरे,
जमुना में फूलत सरोज जेहि ठांव री।
भासत है ऐसे बिनु बाधा एहो रघुनाथ,
आधा हरि गोरे आपु आधा राधा साँवरी।[1]

यद्यपि कृष्ण काव्य की परम्परा के अन्तर्गत सूरदास आदि कवियों ने इस विषय के पर्याप्त पदों की रचना की है, किन्तु रीति युग के सजग कलाकार ने उक्त चित्र में नवीनता और ताजगी उत्पन्न करने की दृष्टि से उसमें निश्चय ही अपनी आसामान्य कुशलता का विनियोग किया है।

मनः स्थिति की भावपूर्ण व्यंजना

रीति कवियों में विहारी, देव और पद्माकर ने मुद्रा विधान द्वारा मनः—स्थिति की व्यंजना में अत्यधिक मौलिकता दिखायी है। वस्तुतः मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए सफल मुद्रा विधान में वही कवि सफल हो सकता है, जिसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि अधिक सचेष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिबद्ध कवियो की तुलना में रीति मुक्त कवियों की मनोवैज्ञानिक पैठ अपेक्षाकृत अधिक है। इस तथ्य का प्रतिपादन रीतिमुक्त कवियों के सन्दर्भ में किया जायगा।

रीतिबद्ध कवियों में देव और बिहारी ने शृंगारिक अनुभाव के अन्तर्गत मुख, नेत्र, चलचितवन और मुस्कराहट[2] की बड़ी भावपूर्ण व्यंजना प्रस्तुत की है। अब शृंगारिक परिवेश में इस विषय के कुछ छन्द लीजिए—

---

१. रसिक मोहन—रघुनाथ, पृ० १०४, छं० सं० २७१

२. आनन नैन प्रसन्नता, चल चितौनि मुसकान।
ये अनुभाव सिंगार के, अंग भंग जिय जान॥ भवानी विलास—देव, पृ० ७

दीन्ही बिदा मुसकाइ सखीन को कीन्हीं कछु भृकुटी भरि भालहिं।
चातुरता चित बाढ़ी किशोरी के आतुरता लखि देव गोपालहिं।।
सौंहें चितै अरसोहैं तिया तिरछौहैं हसोंहै संवारति मालहि।
पैनी चितौनि सौं चूरि कै चित सु दूरि भये ललचावति लालहि।।[1]

अर्ध रात्रि बीत जाने पर नायिका ने चतुराई से भौहों के संकेत द्वारा समीपस्थ सखियों को बिदा कर दिया और इधर नायक के मिलन की आतुरता को देखकर नायिका के मन में एक चतुराई सूझी। वह नायक की ओर देखकर तथा उसकी मिलनोत्सुकता को और तीव्रतर करती हुई और किंचित् मुड़कर मुस्कराती हुई अपनी भाल संवारने लगी। इस प्रकार नायिका दूर से ही अपनी पैनी चितवन से नायक के कामव्यथा से ग्रस्त मानस को घायल करके उसे अबाध गति से ललचा रही है। वस्तुत. इस छन्द में मनःस्थिति का बहुत भावपूर्ण चित्रण हुआ है। बिहारी ने भी इसी प्रकार की भावव्यंजना का उत्कृष्ट निदर्शन अपने इस दोहे में व्यक्त किया है—

पति रति की बतियाँ कही, सखी लखीं मुसुकाय।
कै कै सबै टलाटली, अली चलीं सुख पाय।।[2]

तन्मयता

हावों और अनुभावों के विधान में पद्माकर, देव और बिहारी की कुछ ऐसी उक्तियाँ भी मिलेंगी, जिनमें अनुराग की प्रगाढ़ता एक विशिष्ट तादात्म्यमूलक स्थिति का संकेत करती है, इस विषय का पद्माकर कृत एक छन्द लीजिए—

आयी संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहति सोहाइ सीस ईंगुरी सुपट की।
कहै पद्माकर गंभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
ताही समै मोहन सु बांसुरी बजाई,
तामे मधुर मलार गाई और बंसीबट की।
तान लागे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की।[3]

---

१. अष्टयाम—देव, पृ० २२, छं० सं० ८
२. बिहारी बोधिनी—ला० भगवानदीन, दो० सं० ३३७
३. पद्माकर पंचामृत—सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १९०, छं० सं० ५५४

इसमें अनुराग की अतल गहराई में निमज्जित गोपी के मानस का बहुत ही भावपूर्ण चित्रण किया गया है।

तन्मयता की ऐसी स्थिति है कि लोग घर-घर निन्दा करते हैं, फिर भी नायिका एक घड़ी भी अपने घर नहीं ठहरती और नायक के घर की ओर आया जाया करती है, लेकिन निन्दा की बात सुनकर जब अपने घर चलती है तो पुनः भूलकर नायक के घर चल पड़ती है। मन की इस प्रकार की तन्मयता का वर्णन बिहारी ने अपने इस दोहे में बड़ी चतुरता के साथ किया है—

चलत घेर घर तऊ, घरी न घर ठहराय।
समुझि उहीं घर को चलै, भूल वही घर जाय।[१]

रीति मुक्त कवियों में शेख की भी एक रचना में इसी प्रकार की उन्मादावस्था का चित्रण हुआ है। छन्द इस प्रकार है—

निधरक भई अनुगवति है नंद घर, और ठौर कहूं टोहे हू न अहटाति है।
पौरि पाखे पिछवारे कौरे कौरे लागी रहै, आंगन देहली माही बीच मंड़राति है।
हरि रस राती सेख नेकहू न होइ हातीं, पेम मदमाती न गनति दिन राति है।
जब जब आवति है तब कछू भूलि जाति, भूल्योलेन आवति है और भूलि जाति है।[२]

प्रस्तुत छन्द की श्लाघा करते हुए आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं—'जो कहते हैं कि हिन्दी की मध्यकालीन कविता में केवल नायिका भेद या उसमें पिष्टपेषण मात्र है, उन्हें आँख खोलकर इन स्वच्छन्द गायकों की कविता देखनी चाहिए और कान खोलकर उन्हे सुनना चाहिए।[३] इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए वे आगे लिखते हैं—'एक वस्तु के प्रति हृदय की एक ही वृत्ति एक समय में रह सकती है, अन्य वस्तु की स्मृति जग जाने से पहली वस्तु की स्मृति चित्त से उतर जाती है। इसमें रति जन्य विस्मृति की सूक्ष्म अनुभूति लक्षित करायी गयी है।[४]

विलास और उपभोग

रीति काव्य का पोषण और संवर्द्धन जिस वातावरण में हुआ, उसमें सामन्तीय विलास और वैभव की प्रगाढ़ छाया चतुर्दिक विकीर्ण थी। ऐसी स्थिति में रीति काव्य मे विलास की मसृण चेतना और उपभोग की उत्कट आकांक्षा की व्याप्ति सहज और स्वाभाविक है। हाँ, इस कथन की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कहीं-कहीं शृंगार

---

१. बिहारी सतसई—कृष्ण कवि की टीका, दो० सं० १३४
२. आलमकेलि—सं० लाला भगवानदीन, पृ० ६४, छं० सं० १५२
३. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय भाग, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ६०८
४. वही

रहा लपटि छवि का छटनि नकौ छगा न लाज [1]

दीपक का उजाला रहते हुए भी पति को वस्त्र हरण करते हुए जानकर नायिका पति से लिपट गयी, इस प्रकार नायक नायिका को नग्न नहीं देख सका, अर्थात् अंग की सौन्दर्य दीप्ति के कारण नायक को उसकी नग्नता का कुछ भी आभास नहीं हुआ। अब इसी छन्द को 'अमरुशतक' के एक ऐसे श्लोक से मिलाकर देख लीजिए, जिसमें प्रथम परिहास के समय नायक नवबधू के वस्त्र को खींच रहा है और नायिका विनय से अपना मुख नीचा कर लेती है,[2] तो अन्तर स्पष्ट मालूम हो जायगा।

कहीं-कहीं विलास और उपभोग विषय के चित्रों को सजाने में रीति कवियों ने अपनी मर्यादावादिता का परिचय जिस ढंग से दिया है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि घोर रसिकता के युग में भी उनकी दृष्टि अश्लीलता के पंक में प्रायः फँसने नहीं पायी है। एक उदाहरण लीजिए—

गौने की रात्रि व्यतीत हो जाने पर नायिका बहुत सुबह उठकर घर के एक कोने में चुपचाप बैठी हुई है। उसने अपने हाथ को छाती से छिपाकर लज्जा के कारण गर्दन झुका ली और पुनः गालों को छिपाने लगी। धृष्ट सखियाँ उसकी इस गोपनीयता को भंग कर देना चाहती हैं। अतः कोई हँसती है, कोई उसकी बाँह पकड़ती है और कोई अंचल खींचकर उसके घूँघट को खोल रही हैं—

गौने की राति के भोर ही कोन में, बैठी रहीं दुलही अनबोले।
छाती सों हाथ छपाइ कै सुँदरि नारि नवाई दुराई कपोलें॥
देखन को जुटि आयीं सबै तिय नंद जिठानी करें सुकलोलें।
एक हँसे एक बाँह गहे इक आँचर ऐंचि कै घूँघट खोलें॥[3]

प्रस्तुत छन्द में समस्त उत्कर्ष कवि की उस रसग्राही दृष्टि के ही कारण आ सका है, जिसके संस्पर्श से अश्लील लगने वाले छन्द भी सहज ही रससिक्त हो जाते हैं। जिन छन्दों में निश्चय ही अधिक अश्लीलता आ गयी है, उनमें शृंगारिकता की सहज गहराई नष्ट हो गयी है और रसाभास की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट है।[4]

---

१. बिहारी बोधिनी—लाला भगवानदीन, दो० सं० ३३३
२. पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जात विनया
हठाश्लेषं वांछत्यपहरति गात्राणि निभृतम्॥
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यंतः प्रथमपरिहासे नववधूः॥—अमरुशतक—टी० ऋषीश्वरनाथ भट्ट, श्लोक ३७
३. शृंगार संग्रह—सं० सरदार कवि, पृ० २८, छं० सं० ५१
४. बिहारी बोधिनी—टी० दीन, दो० सं० ३३६, ३३८

रीति काव्य में दम्पति विलास की मधुर अभिव्यक्ति के लिए अष्टयाम जैसे ग्रन्थों की भी रचना हुई है। देव का अष्टयाम रीति काव्य में अति विश्रुतु है। अष्टयाम की यह परम्परा वैष्णव साहित्य से गृहीत हुई है और इसमें राधाकृष्ण का कार्यक्रम वर्णित किया गया है।[1] देव के पश्चात् अष्टयाम की परम्परा तो आगे नही चली किन्तु विलास के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रों की अवतारणा में रीति कवियों की प्रतिभा निश्चय-रूपेण बेजोड़ प्रमाणित हुई है। सच तो यह है कि विलास और उपभोग की मादक प्रवृत्तियों का जैसा उपबृंहण और विवेचन रीति कवियों ने किया हैं, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य में भी इस कोटि का वर्णन नहीं मिलता और यदि नैतिक मान्यताओं की कसौटी पर इन कलाकारों की प्रतिभा का परीक्षण न किया जाय तो निस्सन्देह दम्पति रति की यथार्थ, मधुर और रमणीय कल्पना में इनके जोड़ के कवि कम ही प्राप्त हो पाते हैं। कहना अनुचित न होगा कि इन कवियों ने आदर्शवाद के पर्दे में यथार्थ को प्रवंचित करने का प्रयास कभी नही किया। उदाहरण के लिए देव का यह छन्द लीजिए। इसमें मुग्धा नव वधू के रति विलास का कितना यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। अन्तिम पंक्ति में व्रीड़ा भाव की प्रधानता के कारण छन्द की रमणीयता बढ़ गयी है—

> बैरिन मेरी किलै गई वे कर छोड़ि उन्हें किन देखन सू दें।
> यों कहि कै उचकी परयंक ते पूरि रही दृग बारि की बूदें।।
> जोरन देति नहीं मुख सो मुख छोरन देति न नीवी की फूदें।
> देव सकोचन सोचन ते मृग लोचनी लोचन लाल के मूदें।।[2]

नायिका भेद के अन्तर्गत सुरति और सम्भोग के अवसर की कौशलपूर्ण चेष्टाओं के निरूपण में रीति कवियों की प्रतिभा की भूरिशः श्लाघा की जाती है। कारण यह है कि रीति कवियों का यह ऐसा स्पृहणीय विषय बन गया था कि इसमें उनकी अटूट निष्ठा और प्रगाढ़ तन्मयता का सहज दर्शन होता है। उनकी इस प्रतिद्वन्दिता में अन्य युग के शृंगारिक कवि कम ही ठहर पाते हैं। इस सत्य की प्रामाणिकता के लिए इन कवियों की तद्विषयक रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन अधिक सहायक हो सकता है। दाम्पत्यरति की रमणीय कल्पना में कभी-कभी इन रीति कवियों की उक्तियाँ बहुत ही सहृदय संवेद्य बन गयी हैं, यथा—

> पौंर ते बोल सुनो पिय को उठि पौढ़ि रही मुख ढांपि सयानी।
> झीने दुकूल में लाल लखी बड़री अँखियाँ उनके रस सानी।।
> यों सुशिरोमणि ऐंचि लियो अनखाय के कान्हर त्यों तिरछानी।

---

१ देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० ४१

२ सुन्दरी तिलक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ८. छं० सं० ३०

ओठ सों ओठ लगाइ रही दृग दाब कपोलन ही मुसकानी ॥[1]

उपभोग मूलक प्रवृत्तियों के यथार्थ अंकन में रीति कवियों को जैसी सफलता मिली है, उससे लगता है कि उनमें भक्ति और दर्शन का वैसा आग्रह नहीं था, जिसके कारण कुण्ठाग्रस्त मानस सत्य और यथार्थ के आधार फलक पर प्रायः श्रृंगार के सहज और स्वाभाविक चित्र नहीं दे पाता। इस विषय का नेवाज कवि का एक छन्द लें, जिसमें भोग की लिप्सा कितनी तीव्र और उत्कटता के साथ व्यक्त हुई है—

छतियां छतियां सों लगाए दोऊ, दोऊ जी में दुहूं के समाने रहैं।
गई बीति निशा पै निशा न भई, नये नेह में दोऊ बिकाने रहैं॥
पट खोलै नेवाज न भोर भये, लखि द्योस को दोऊ सकाने रहैं।
उठि जैबे को दोऊ डेराने रहैं, लपटाने रहैं पटताने रहैं॥[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि रीति युग में विलास और उपभोग के न जाने कितने चित्र भरे पड़े हैं, जिनके सौन्दर्य का मूल्यांकन ऐहिक दृष्टि से ही करना उचित होगा और शुद्ध साहित्यिक कृतियों के परीक्षण की यही दृष्टि भी है, जिसके आधार पर रीति काव्य के अन्तर्हित मौलिक तत्वों का उद्‌घाटन सहज ही किया जा सकता है।

—मिलन और विनोद के प्रसंग

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत मिलन और विनोद की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ हुई है। मिलन और विनोद के प्रसंग में अनुभावों और हावों की सूक्ष्म कलात्मक विवेचना प्रस्तुत करने में रीति कवियों ने अपनी प्रौढ़ एवं सहज दृष्टि का परिचय दिया है। यद्यपि विनोद विषयक प्रसंगों का अधिक विस्तार नहीं हो पाया है, फिर भी श्रृंगार के अपेक्षित स्थलों पर उसकी उपेक्षा भी नहीं की गयी। यह भी विचारणीय तथ्य है कि श्रृंगार के विशद आभोग में हास्य और व्यंग्य का उतना ही अंश गृहीत हुआ, जितने से श्रृंगार की इयत्ता का अतिक्रमण नहीं होने पाया। भोड़ा विनोद दरबारो मे भड़ौआ लिखने वाले कवियों द्वारा प्रस्तुत होता रहा, इस कारण रीति तत्व के सजग साधकों ने विदूषकों की भाँति विकृत हास्य एवं व्यंग्य के निरूपण में सदैव अपनी उदासीनता प्रकट की।

मिलन के चित्रों में रीति कवियों ने कही-कहीं ऐसी कलात्मकता और अनुभूतियों की गहनता का समावेश किया है, कि लगता है कि उनकी दृष्टि परम्परा से सर्वथा भिन्न थी और उनकी यह कला उनकी अटूट साधना का सहज परिणाम थी, क्योंकि

---

१. श्रृंगार संग्रह—सं० सरदार कवि, पृ० १८, छं० सं० ५२
२. सुन्दरी तिलक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १४, छं० सं० ६१

मिलान करने पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य की प्रभूत उक्तियों में ऐसी दृष्टि और ऐसी मौलिक कल्पना ढूंढने से भी नहीं मिलती। रसात्मकता के प्रबल पोषक कविवर देव का मिलन विषयक एक छन्द लें—

भोरे बाल खेलन गई ही खोरे गोकुल के, गोरे मुख प्यारी पुर धोरे लीनो टेरि कै।
जोरे दृग सो दृग निहोरे मृगनैनी नेक, औरे करी गूजरी गंवारिनि गरेरि कै॥
चोरे चित चितवै निचोरे चित नेह नयो, मोरे मुख मोहन बुलाई मुख फेरि कै।
लाज की हिलोरें उठि लोयननि लोरे दीठि, डोरे लगी डोलति हिंडोरे हरि हेरि कै।[1]

प्रस्तुत छन्द में कविवर देव ने नेत्रों की सूक्ष्म चेष्टाओं का निरूपण जिस कौशल के साथ किया है, वह अन्य शृंगारिक कवियों में विरल है। मिलन के समय नेत्र से नेत्र का जोड़ना चित्त को चुराकर देखना तथा मानस के नवीन प्रेम को निचोड़ना आदि क्रियाएँ स्वत: कवि मानस के भावात्मक उन्मेष की ओर स्पष्ट सकेत करती हैं।

मिलन के अन्तर्गत लीला हाव का एक सरस उदाहरण पद्माकर के जगद्विनोद मे मिलता है। प्रसंग यह है कि कृष्णचन्द किसी गोपी का वेश बनाकर उस स्थल पर गये, जहाँ कृष्ण का रूप बनाकर कोई गोपिका बैठी है। जब कृष्ण रूप गोपी, गोपी रूप कृष्ण के हाथ को मींजती है तो गोपी रूप कृष्ण कृत्रिम रूप से अपनी पीड़ा का भाव व्यक्त करते हैं। किन्तु यौन प्रवृत्तियों के विपर्यय के कारण सारा नाटकीय व्यापार एक अपूर्व सरसता में पर्यवसित हो जाता है। प्रेम के ऐसे मधुर प्रसंगों की उद्भावना में पद्माकर जैसे कवियों की मौलिकता की श्लाघा स्वयं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी की है—[2]

रूप रचि गोपी को गोविन्द गो तंहाई जहाँ, कान्ह बनि बैठी कोऊ गोप की कुमारी है।
कहे 'पद्माकर' यों ऊलट कहै को कहा, कसकै कन्हैया कर मसकै जु प्यारी।
नारी तें न होत नर, नर तें न होत नारी, बिधि के करेहूं कहूं काहू ना निहारी है।
काम करता की करतूत या निहारी जहाँ, नारी नर होत नर होत लख्यौ नारी है॥[3]

मिलन युगल प्रेमियों की उस अवस्था का द्योतन करता है, जिसमें उनके मानस की प्रच्छन्न प्रेम वृत्तियाँ अपने समस्त बल और वेग के साथ सहसा प्रस्फुटित हो उठती है। यही नहीं, मिलन के विभिन्न प्रसंगों की अवतारणा करने में रीतिकाल के कवि कितने पटु थे और एक से एक अनूठी उक्तियों के विन्यास में उनकी प्रतिभा कितनी प्रखर थी, यह ऋषिनाथ के निम्न छन्द में द्रष्टव्य है—

---

१. भवानी विलास—देव, पृ० ७, छं० सं० २१
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३०६
३. पदमाकर पंचामृत (जगद्विनोद)—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० १६८ छ० स० ४२८

मेलन का बन कुजन म मुनि पु ज सखीन के सग गई रा
सामुहे भट भई ऋषिनाथ लख्या मनमोहन मैन म६ रा ।
छांड़ी न लाज छपाय कै अंचल घूंघुट ओट पिछोड़ी भई री ।
भीजति हाथ हिये पछितातो सुपीठि में दीठि दई न दई री ।[1]

उपर्युक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति बड़ी ही मार्मिक और सर्वथा मौलिक है। नायिका लज्जा के कारण अपने मुख को घूंघट से ढंक कर पीठ की ओर हो गई और अपने हाथों को मींजती हुई पश्चाताप करने लगी तथा कहने लगी, 'क्या कहूं, ब्रह्मा ने पीठ में दृष्टि नहीं दी ?' उक्ति कितनी सरस और हृदयग्राही है।

फाग वर्णन के अन्तर्गत बिहारी ने नायक-नायिका मिलन की चेष्टाओं का अंकन जिस खूबी के साथ किया है, वह अप्रतिम है। नीचे के दोहों में अनुभाव सौन्दर्य का ही विश्लेषण नहीं किया गया है, अपितु प्रेम भाव की मूक व्यंजना में भी इन छन्दों की महत्ता अक्षुण्ण है—क्योंकि पूर्ववर्ती शृंगारिक सतसइयों में ऐसे छन्द नहीं मिलते।

(क) छुटत मुठी संग ही छुटी लोक लाज कुल चाल ।
लगे दुहुनि इक बेर ही चलि चित नैन गुलाल ॥
(ख) रस भिजए दोऊ दुहुनि, तउ टिक रहे टरै न ।
छवि सों छिरकत प्रेम रंग, भरि पिचकारी नैन ॥[2]

रीति काव्य में विनोद और परिहास का निरूपण प्रायः दो प्रसंगों में हुआ है—

(१) प्रेम की छेड़छाड़ के प्रसंग में।
(२) संभोग के प्रसंग में।

यों कृष्ण काव्य की पूर्ववर्ती परम्परा में प्रेम की छेड़-छाड़ का भूरिशः वर्णन हुआ है, किन्तु भक्ति विरहित शृंगार के विस्तृत धरातल पर प्रेम व्यंजना के विस्तार और व्यंग्यगर्भित प्रेम की छेड़-छाड़ का जैसा कथन रीति काव्य में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

भक्ति युग में प्रेम की छेड़-छाड़ के अन्तर्गत दान लीला विषय के छन्दों की चर्चा अधिक हुई है। रीति काव्य में दान लीला विषयक छन्द अधिक नहीं हैं, क्योंकि मुक्तक छन्दों के युग में सानुबन्ध शैली में रचित दान लीला जैसे आख्यान अधिक चल भी नहीं सकते थे। इस कारण प्रेम की छेड़-छाड़ विषय के छन्द प्रायः मुक्तक शैली में अधिक लोकप्रिय हुए और उसी के अन्तर्गत व्यंजना का अनन्त व्यापार प्रदर्शित करने का अवकाश भी मिला। दानलीला के कुछ छन्द देव ने रचे हैं, कुछ छन्द रीति स्वच्छन्द धारा के प्रमुख कवि घनानन्द में मिलते हैं। दान लीला के अतिरिक्त प्रेम के

---

१. सुन्दरी तिलक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १०, छं० सं० ३८
२. बिहारी बोधिनी—ला० भगवानदीन, दो० सं० ५५५, ५५७

अन्य प्रसंगों में परिहास और विनोद मूलक प्रेम की छेड़-छाड़ का रीति काव्य बाहुल्य है।

कविवर देव ने दानलीला विषयक एक छन्द में विनोद की शालीनता का चि किस प्रकार दिया है, इसे देखें—

गूजरी ऊजरे जोबन को कछु मोल कहौ दधि को तब दैहौं,
देव इतो इतराहु नहीं, ईनहीं मृदु बोल न मोल बिकैहौं।
मोल कहा, अनमोल बिकाहुगी, ऐंचि जबै अधरा रसु लैहौं,
कैसी कही फिरि तौ कहौ कान्ह, अबै कछू हौ हूं कका की सौं कैहौं।[1]

प्रस्तुत छन्द में सम्वादात्मक शैली की प्रधानता है और कुट्टमित हाव द्वारा गोपी के हृद्गत प्रेम भाव की बड़ी ऋजु व्यंजना हुई है। विनोद का ऐसा मधुर स्वरूप कम देखने को मिलता है। मुबारक कवि ने 'किलकिंचित हाव के अन्तर्गत विनोद विषय का एक बड़ा ही रसग्राही छन्द प्रस्तुत किया है। इसमें भी छेड़-छाड़ की मधुर व्यंजना का उत्स स्वभावतया फूट पड़ता है—

वह सांकरी कुंज की खोरी अचानक राधिका माधव भेंट भई।
मुसक्यानि भली अंचरा की अली त्रिवली की बली पर दीठि गई॥
झहराइ झुकाइ रिसाइ ममारख बांसुरिया हंसि छीनि लई।
भृकुटी भटकाय गुपाल के गाल में आंगुरी ग्वालि गड़ाय गई॥[2]

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे शृंगार के चपलता भाव का एक अच्छा उदाहरण माना है।[3]

प्रेम की छेड़-छाड़ की दृष्टि से विनोद और हास्य की मधुर अवतारणा होली के भी अन्तर्गत हुई है। वास्तव में यह कथन अतिरंजना पूर्ण न होगा कि होली के अन्तर्गत विनोद मूलक प्रेम स्वरूप की जैसी सफल अभिव्यंजना हुई है, वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में भी विरल है। होली विषयक अन्य छन्दों का विशेष विवेचन यथा प्रसंग किया जायगा। यहाँ विनोद और हास्य विषय के कुछ छन्दों पर विचार कर लेना आवश्यक है। अब इस विषय का लछिराम कृत एक छन्द लीजिये—

होरी में सांवरे को गहि कै, बरजोरी सखी तिय भेष बनाई।
भूषन भार सवारि भलै, हरी कंचुकी झालरैं मोतिन छाई॥
मन्द हंस्यो लछिराम तहीं, बलि घांघरे चूनर की रुचि राई।

---

१. देवसुधा—टी० मिश्रबन्धु, पृ० ५०, छं० सं० ५६, प्र० सं०
२. काव्य प्रभाकर—जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' पृ० ३७८, पंचम मयूख
३. रस मीमांसा—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३२६

रीति काव्य में सम्भोग के आभोग में विनोद और परिहास की प्रचुरता है। सम्भोग के अन्तर्गत ऐसे-ऐसे विनोद की परिकल्पना की गयी है, जिसके जोड़ के छन्द पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य में प्रायः नहीं मिलते। सम्भोग से सम्बद्ध विषय के छन्दों में प्रेम की शालीनता के ऐसे-ऐसे चित्र बिखरे पड़े हैं, जिनमें उद्दण्डता औ उच्छृंखलता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम की तरलता में विनोद भी मानो मिल गया है और जिसकी स्फीतता सूक्ष्मता में परिणत हो गई हो। अब इस विषय के कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

दम्पति रात्रि में केलि करके अलसाते हुए अट्टालिका से उतरे हैं। भूल से नायिका का केसरिया दुपट्टा नायक ने ले लिया है। नायिका आंगन में अड़ी हुई उसे माग रही है। इधर नायिका की जेठानी नायक से मजाक कर रही है, उधर इसे सुनकर नायिका लज्जा से गड़ती जा रही है। मध्यवर्गीय परिवार का यह कितना सजीव और रससिक्त चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें विनोद मर्यादा के दृढ़ सूत्रों में नियन्त्रित हैं—

> अलसात जम्हात अटा पर तें, उतरे निशि में करि केलि बड़ी।
> इहि भांतिहि रावरो रूप लखे उर आनंद रासि हिये उमड़ी॥
> नृप शम्भु जू केसरिया दुपटा, सुतौ मांगति है अंगना में अड़ी।
> इतै हांसी जेठानी लला सों करै, उतै लाड़ली लाजन जाति गड़ी॥[1]

'नृप शम्भु' की ही भांति देव के एक छन्द में भी विनोद का वही रूप मौजूद है। प्रसंग भी बहुत कुछ एक है; किन्तु अनुभाव विधान की जैसी रमणीयता इस छन्द में व्याप्त है, वह उक्त छन्द में नहीं है।

नायिका अपनी सहेलियों के मध्य बैठी हुई है। इधर सेज से उठ कर नायक भी उसी समाज में पहुंच जाता है, फिर क्या था, नायिका की पीकें (पान का रस) नायक के गालों पर लगी हुई देखकर सखियों का सारा समाज हँसने लगा। नायिका पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ा कि मारे दुख के वह सखियों से नजर नहीं मिला पाती और लज्जा से गड़ती जा रही है।

> बैठी सलोनी सोहाग भरी सुकुमारि सखीन समाज मढ़ी सी।
> देव जू सेज सों आये लला मुख पै सुखमा उमड़ी घुमड़ी सी॥
> प्यारी की पीकें कपोलन पीकैं विलोकि सखीन हंसी उमड़ी सी।
> सोचन सोहैं न लोचन होत सकोचन लाड़िली जाति गड़ी सी॥[2]

---

१. मनरंजन संग्रह—सं० गौरीशंकर भट्ट, पृ० १४५, छं० सं० ३५
२ सुन्दरी तिलक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० ६२ छं० सं० ३२७

९—जल विहार वर्णन

रीति काव्य में कृष्ण काव्य की जिन पौराणिक कथा-रूढ़ियों की आवृत्तियाँ होती रहीं, उनमें जल-विहार का भी नामोल्लेख होता है। जल-विहार का कथन संभोग शृंगार के अन्तर्गत प्रेम की गोपनीय चेष्टाओं को लेकर हुआ है। भक्ति वाङ्-मय में गोपियाँ यमुना जल भरने के बहाने कृष्ण के दर्शन के निमित्त निकल पड़ती हैं। किन्तु रीति काव्य में जल-विहार का निरूपण प्रायः गुप्ता नायिका के सन्दर्भ में हुआ है। इसके अतिरिक्त नायिका की शृंगारिक चेष्टाओं के प्रदर्शन में भी जल-विहार का चित्रण मिलता है।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में ग्रीष्म समय में जल-क्रीड़ाओं में प्रवृत्त होने का स्पष्ट संकेत किया है।[1] प्राचीन भारत की विलास लीलाओं में भवन दीर्घिका (घर में बनाये हुए तालाब) की अधिक चर्चा हुई है। इनमें अन्तःपुरिकाएँ नाना प्रकार की विलास लीलाओं से अपना मनोरंजन करती थीं।[2] प्राचीन भारत की विलास लीलाओं की यह परम्परा कामसूत्र आदि ग्रन्थों के माध्यम से सदैव अक्षुण्ण रही और शनैः शनैः रीति परम्परा में जल विहार आदि लीलाएँ शृंगारिक आभोग को पाकर अपने विकास का प्रशस्त मार्ग ढूंढने लगीं।

यह कथन अधिक अतिरंजनापूर्ण न होगा कि रीति काव्य में जल विहार लीला का जैसा वर्णन हुआ है, वह पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य-परम्परा से इस बात में अवश्य भिन्न है कि वहाँ शृंगार के ऐसे मादक प्रसंगों को लेकर जल-विहार का कथन बिलकुल नहीं हुआ।

यों भक्ति वाङ्मय में यमुना जल विहार का कथन अधिक किया गया है, किन्तु रीति काव्य में यमुना और सरोवर दोनों की चर्चाएँ हुई हैं। हाँ, यमुना की अपेक्षा सरोवर के मध्य जल-विहार का कथन प्रायः कम हुआ है।

—गुप्ता नायिका के सन्दर्भ में

रीति काव्य में प्रेमतत्व का विवेचन जिस सन्दर्भ में हुआ है, उसमें अध्यात्मिक चिन्ता का महत्व प्रायः गौण है। उसका धरातल नितान्त लौकिक है और लक्ष्य नितान्त शृंगारिक। उसमें नायिकाओं के मिलन और वियोग की मधुर रस स्निग्ध

---

१. एतेन रचितोदग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीडागमनं व्याख्यातम् ॥२६॥
—कामसूत्रम्–हिन्दी टीका, देवदत्त शास्त्री, पृ० १४०

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४

अन्य प्रसंगों में परिहास और विनोद मूलक प्रेम की छेड़-छाड़ का रीति काव्य मे बाहुल्य है।

कविवर देव ने दानलीला विषयक एक छन्द में विनोद की शालीनता का चित्र किस प्रकार दिया है, इसे देखें—

> गूजरी ऊजरे जोबन को कछु मोल कहौ दधि को तब दैहौं,
> देव इतो इतराहु नहीं, ईनहीं मृदु बोल न मोल बिकैहौं।
> मोल कहा, अनमोल बिकाहुगी, ऐंचि जबै अधरा रसु लैहौं,
> कैसी कही फिरि तौ कहौ कान्ह, अबै कछू हौ हूं कका की सों कैहौं।[1]

प्रस्तुत छन्द में सम्वादात्मक शैली की प्रधानता है और कुट्टमित हाव द्वारा गोपी के हृद्गत प्रेम भाव की बड़ी ऋजु व्यंजना हुई है। विनोद का ऐसा मधुर स्वरूप कम देखने को मिलता है। मुबारक कवि ने 'किलकिंचित हाव के अन्तर्गत विनोद विषय का एक बड़ा ही रसग्राही छन्द प्रस्तुत किया है। इसमें भी छेड़-छाड़ की मधुर व्यंजना का उत्स स्वभावतया फूट पड़ता है—

> वह सांकरी कुंज की खोरी अचानक राधिका माधव भेंट भई।
> मुसक्यानि भली अंचरा की अली त्रिवली की बली पर दीठि गई॥
> झहराइ झुकाइ रिसाइ ममारख बांसुरिया हंसि छीनि लई।
> भृकुटी भटकाय गुपाल के गाल में आंगुरी ग्वालि गड़ाय गई॥[2]

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे शृंगार के चपलता भाव का एक अच्छा उदाहरण माना है।[3]

प्रेम की छेड़-छाड़ की दृष्टि से विनोद और हास्य की मधुर अवतारणा होली के भी अन्तर्गत हुई है। वास्तव में यह कथन अतिरंजना पूर्ण न होगा कि होली के अन्तर्गत विनोद मूलक प्रेम स्वरूप की जैसी सफल अभिव्यंजना हुई है, वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में भी विरल है। होली विषयक अन्य छन्दों का विशेष विवेचन यथा प्रसंग किया जायगा। यहाँ विनोद और हास्य विषय के कुछ छन्दों पर विचार कर लेना आवश्यक है। अब इस विषय का लछिराम कृत एक छन्द लीजिये—

> होरी में सांवरे को गहि कै, बरजोरी सखी तिय भेष बनाई।
> भूषन भार संवारि भलै, हरी कंचुकी झालरैं मोतिन छाई॥
> मन्द हंस्यो लछिराम तहीं, बलि घांघरे चूनर की रुचि राई।

---

१. देवसुधा—टी० मिश्रबन्धु, पृ० ५०, छं० सं० ५६, प्र० सं०
२. काव्य प्रभाकर—जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' पृ० ३७८, पंचम मयूख
३ रस मीमांसा—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३२६

काजर दै कही राधिका सों, अवलोकियो : नन्द की छोहरा आइ ॥[1]

होली के अवसर पर कृष्ण को पकड़ कर गोपियों ने बलात् उन्हें स्त्री का रूप बनाया। सखियों ने प्रथम भूषण और मोती विजड़ित हरी कंचुकी पहनायी और पुनः उन्हे कज्जल लगा कर राधिका से कहा कि 'देखिये, नन्द की लड़की आई है !' स्वतः कृष्ण चन्द्र भी घांघरे और चूनर की ऐसी सुन्दरता पर मुस्कराने लगे।

पद्माकर का प्रसिद्ध होली विषयक छन्द भी कुछ इसी ढंग का है, जिनमे गोपियाँ कृष्ण को आभीरों की मण्डली से पकड़ कर ले जाती है और पूर्ण दुर्दशा करने के पश्चात् अन्त में मुस्कराती हुई नेत्र भंगिमा से यह भी व्यंजित कर देती हैं, 'लला पुन होली खेलने आइयेगा ?'

फाग के भीर अभीरन में गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी ॥
छीन पितम्मर कंमर तें सुविदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी ॥[2]

पूरे छन्द में 'हेला हाव' के साथ ही अत्यन्त 'तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' स्पष्ट आभासित हो रही है। कविवर रघुनाथ ने होली के एक प्रसंग में अनुराग मूलक विनोद के निरूपण में अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। प्रस्तुत छन्द मे विनोद की चपलता की परिणति अनुराग की गहराई में किस प्रकार हो जाती है, इसे देखें—

खेलत फागु लखे पिय प्यारी यों सो सुख की समता कहा दीजै।
देखते ही बनि आयो समै रघुनाथ कहा है जो वारने कीजै ॥
ज्यों-ज्यों छबीली कहै पिचकारी ले एक लई अरु दूसरी लीजै।
त्यों-त्यों छबीलो छकै छवि छाक सों हेरे हँसे न टरै खरो भीजै ॥[3]

छन्द की तृतीय और चतुर्थ पंक्ति अधिक मार्मिक है। जैसे-जैसे नायिका पिचकारी लेकर कहती है, एक बार रंग डाल दिया, अब दूसरी पिचकारी का रंग लीजिये, वैसे-वैसे कृष्ण भी उसके सौन्दर्य और आंगिक चेष्टाओं पर मुग्ध होकर हंसते हैं, और रग डलवाने में किसी भी प्रकार की झिझक नहीं दिखाते। प्रेम और सौन्दर्य की प्रभविष्णुता का ही यह परिणाम है कि विनोद भी उसका एक अंग बनकर उसी में सिमट गया। ऐसी रचनाओं के आधार पर ही यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि सौन्दर्य और प्रेम के निरूपण में रीति कवियों की अपनी दृष्टि थी, जिसे अन्य काल की रचनाओं में ढूंढना सहज नहीं।

---

१. मनरंजन संग्रह—सं० गौरीशंकर भट्ट, पृ० १६५, छं० सं० ७०
२. पद्माकर पचामृत—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १७३, छं०सं० ४६०
३. काव्य कलाधर—कविवर रघुनाथ, पृ० १६, छं० सं० १२

रीति काव्य में सम्भोग के आभोग में विनोद और परिहास की प्रचुरता है। सम्भोग के अन्तर्गत ऐसे-ऐसे विनोद की परिकल्पना की गयी है, जिसके जोड़ के छन्द पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य में प्रायः नहीं मिलते। सम्भोग से सम्बद्ध विषय के छन्दो मे प्रेम की शालीनता के ऐसे-ऐसे चित्र बिखरे पड़े हैं, जिनमें उद्दण्डता औ उच्छृंखलता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम की तरलता में विनोद भी मानो मिल गया है और जिसकी स्फीतता सूक्ष्मता में परिणत हो गई हो। अब इस विषय के कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

दम्पति रात्रि में केलि करके अलसाते हुए अट्टालिका से उतरे हैं। भूल से नायिका का केसरिया दुपट्टा नायक ने ले लिया है। नायिका आंगन में अड़ी हुई उसे माँग रही है। इधर नायिका की जेठानी नायक से मजाक कर रही है, उधर इसे सुनकर नायिका लज्जा से गड़ती जा रही है। मध्यवर्गीय परिवार का यह कितना सजीव और रससिक्त चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें विनोद मर्यादा के दृढ़ सूत्रो मे नियन्त्रित हैं—

अलसात जम्हात अटा पर तें, उतरे निशि में करि केलि बड़ी।
इहि भांतिहि रावरो रूप लखे उर आनंद रासि हिये उमड़ी॥
नृप शम्भु जू केसरिया दुपटा, सुतौ मांगति है अंगना में अड़ी।
इतै हांसी जेठानी लला सों करै, उतै लाड़ली लाजन जाति गड़ी॥[1]

'नृप शम्भु' की ही भाँति देव के एक छन्द में भी विनोद का वही रूप मौजूद है। प्रसग भी बहुत कुछ एक है, किन्तु अनुभाव विधान की जैसी रमणीयता इस छन्द में व्याप्त है, वह उक्त छन्द में नहीं है।

नायिका अपनी सहेलियों के मध्य बैठी हुई है। इधर सेज से उठ कर नायक भी उसी समाज में पहुंच जाता है, फिर क्या था, नायिका की पीकें (पान का रस) नायक के गालों पर लगी हुई देखकर सखियों का सारा समाज हँसने लगा। नायिका पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ा कि मारे दुख के वह सखियों से नजर नहीं मिला पाती और लज्जा से गड़ती जा रही है।

बैठी सलोनी सोहाग भरी सुकुमारि सखीन समाज मढ़ी सी।
देव जू सेज सों आये लला मुख पै सुखमा उमड़ी घुमड़ी सी॥
प्यारी की पीकैं कपोलन पीकैं बिलोकि सखीन हंसी उमड़ी सी।
सोचन सोहैं न लोचन होत सकोचन लाड़िली जाति गड़ी सी॥[2]

---

१. मनरंजन संग्रह—सं० गौरीशंकर भट्ट, पृ० १४५, छं० सं० ३५
२ सुन्दरी तिलक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० ६२ छं० सं० ३२७

६ जल विहार वर्णन

रीति काव्य में कृष्ण काव्य की जिन पौराणिक कथा-रूढ़ियों की आवृत्तियां होती रहीं, उनमें जल-विहार का भी नामोल्लेख होता है। जल-विहार का कथन संभोग शृंगार के अन्तर्गत प्रेम की गोपनीय चेष्टाओं को लेकर हुआ है। भक्ति वाङ्मय में गोपियाँ यमुना जल भरने के बहाने कृष्ण के दर्शन के निमित्त निकल पड़ती हैं। किन्तु रीति काव्य में जल-विहार का निरूपण प्रायः गुप्ता नायिका के सन्दर्भ में हुआ है। इसके अतिरिक्त नायिका की शृंगारिक चेष्टाओं के प्रदर्शन में भी जल-विहार का चित्रण मिलता है।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में ग्रीष्म समय में जल-क्रीड़ाओं में प्रवृत्त होने का स्पष्ट संकेत किया है।[1] प्राचीन भारत की विलास लीलाओं में भवन दीर्घिका (घर में बनाये हुए तालाब) की अधिक चर्चा हुई है। इनमें अन्तःपुरिकाएँ नाना प्रकार की विलास लीलाओं से अपना मनोरंजन करती थीं।[2] प्राचीन भारत की विलास लीलाओं की यह परम्परा कामसूत्र आदि ग्रन्थों के माध्यम से सदैव अक्षुण्ण रही और शनैः शनैः रीति परम्परा में जल विहार आदि लीलाएँ शृंगारिक आभोग को पाकर अपने विकास का प्रशस्त मार्ग ढूंढने लगीं।

यह कथन अधिक अतिरंजनापूर्ण न होगा कि रीति काव्य में जल विहार लीला का जैसा वर्णन हुआ है, वह पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य-परम्परा से इस बात में अवश्य भिन्न है कि वहाँ शृंगार के ऐसे मादक प्रसंगों को लेकर जल-विहार का कथन बिलकुल नहीं हुआ।

यों भक्ति वाङ्मय में यमुना जल विहार का कथन अधिक किया गया है किन्तु रीति काव्य में यमुना और सरोवर दोनों की चर्चाएँ हुई हैं। हाँ, यमुना की अपेक्षा सरोवर के मध्य जल-विहार का कथन प्रायः कम हुआ है।

—गुप्ता नायिका के सन्दर्भ में

रीति काव्य में प्रेमतत्व का विवेचन जिस सन्दर्भ में हुआ है, उसमें अध्यात्मिक चिन्ता का महत्व प्रायः गौण है। उसका धरातल नितान्त लौकिक है और लक्ष्य नितान्त शृंगारिक। उसमें नायिकाओं के मिलन और वियोग की मधुर रस स्निग्ध

---

१. एतेन रचितोदग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीडागमनं व्याख्यातम् ॥२६॥

—कामसूत्रम्–हिन्दी टीका, देवदत्त शास्त्री, पृ० १४०

२ प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४

भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण यत्र-तत्र सर्वत्र मिलेगा ।[1] इस दृष्टि से लौकिक प्रेम के सगोपनीय व्यापारों का सुन्दर व्यंजना-वलित विवेचन जल-विहार लीला के नाना प्रसगों में हुआ है ।

रीति काव्य में गुप्ता नायिका के सन्दर्भ में जल विहार लीला के अन्तर्गत कथन-चातुरी के अनेक मनोरम, भावात्मक और सरल स्थल भी मिलेंगे, जिनकी तुलना में संस्कृत साहित्य में भी ऐसे कथन विरल हैं । प्रेममूलक कथन की रमणीयता का एक सहज चित्र द्रष्टव्य है—

उमगि अकेली आतुरी ह्वै यमुना में धँसी, नेसुक दई ती मन सलिल विहार में ।
बिछलो चरण युग सरकि अथाहैं परी, सरपट भई त्यों निपट वे संभार में ।
रंगपाल धाय पैरि बाहन हमारी गहि, जो न यह सांवरो ले आवतो करार में ।
कछू न बसाती जुपै लाखन लुटाती वीर, सोधहू न पाती बहि जाती जल-धार में ।[2]

पद्माकर ने 'अवहित्थ' संचारी के अन्तर्गत गुप्ता नायिका के प्रेम संगोपन व्यापार की कहानी कितने मधुर शब्दों में बतायी है ? नायिका किस प्रकार जल-केलि में उन्मत्त होकर यमुना की धार में प्रविष्ट हो जाती और किस प्रकार उत्तुंग तरंगों के लगने से उसका हार टूट जाता है और उसकी रंगीन कंचुकी भीग जाती है, आदि व्यापारों का वर्णन उसके शब्दों में इस प्रकार है—

भोर जगी जमुना-जल धार में धाइ धंसी जल-केलि की माती
त्यों पद्माकर पैग चलै उछलै जब तुंग तरंग विघाती ।।
टूटे हरा छरा छूटैं सबै सरबोर भई अंगिया रंगराती ।
को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गोविंद तो मैं बहि जाती ।।[3]

—व्यंग्य गर्भित प्रसंग में

जल-विहार के प्रसंग में रीति-कवियों ने कहीं-कहीं प्रेम-व्यंजना का निरूपण बड़ी गूढ़ और सांकेतिक प्रणाली से किया है । वचन-विदग्धा नायिकाओं की प्रसगोद्भावना में वचन की गूढ़ता का स्पष्ट संकेत मिलता है ।

---

1 They have no spiritual implications and are of the earth, earthly. The motive is predominantly secular and erotic. The poets indulge in elaborate descriptions of the female form, choosing as their subjects, scenes of union between lovers and their sweet-hearts or the pangs of seperation. —Hindi Literature. Page 68.
—Dr. R. Dwivedi.

२. प्रेम लतिका—रंगपाल, पृ० २५, छं० सं० ७४

३ पद्माकर पचामृत—स०-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र पृ० १८६

क्रिया विदग्धा नायिका प्रायः अपने अन्तर के अनुराग को सांकेतिक क्रियाओं द्वारा प्रकट करती है—विहारी ने जल विहार के प्रसंग में उसकी गूढ़ प्रेम-व्यंजना का एक चित्र इस प्रकार दिया है—

नहिं अन्हाय नहिं जायघर, चित चहुट्यो तकि तीर।
परस फुरहरी लै फिरत, बिहंसति धँसत न नीर।।[1]

सरल प्रेम व्यंजना के रूप में—जल-विहार के अन्तर्गत कभी-कभी हृदगत प्रेम की ऋजुता के विवेचन में इनकी सरल भाव-व्यंजना का सुन्दर परिचय मिलता है। ऐसे वर्णनों में गूढ़ प्रेम-व्यापारों की अपेक्षा सरल प्रेम-भाव की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। एक प्रसंग इस प्रकार है—

लोगन को वह घाट है लाल ! लुगाइन की यह घाट थली है।
जैये चले बलवीर उतै, जहं न्हाति अहीरन की अवली है।
संभु सखीन के ओट दुरै जल पैठे लजाति हमारी अली है।
कान्ह अन्हान इते मति आओ, अन्हाति इहाँ वृषभानु लली है।[2]

इसमें प्रेमालाप की सरलता स्वतः प्रकट है, व्याख्या अनपेक्षित है। इसी प्रकार अनेकश शृंगारिक रचनाओं में नदी और सरोवर के वातावरण की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। देव के 'ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसीं' और पद्माकर के 'तैरै जहाँ ही जहाँ वह बाल तहां तहां ताल में होति त्रिबेनी'। जैसे छन्दों में शृंगारिक चेष्टाओं का अङ्कन सरल, स्वाभाविक रूप से हुआ है और उनमें प्रेम की सरलता पूर्णतया प्रतिबिम्बित है।

७—शृंगारिक प्रसंगोद्भावना

शृंगारिक काव्य-परम्परा में गूढ़ प्रसंगों की अवतारणा ध्वनि और व्यंजना के गूढ़ व्यापारों के आधार पर अधिक की गयी है। रीति परम्परा के अन्तर्गत कुछ ऐसे शृंगारिक कवि अवश्य मिलेंगे, जिनकी शृंगारिक उक्तियाँ काव्य रूढ़ियों से मुक्त नये प्रसंगों के कारण अधिक सरल और मार्मिक बन गयी हैं। यद्यपि प्रसंगों की अति गूढ़ उद्भावना के कारण कहीं-कहीं ऐसी उक्तियां अधिक जटिल और चक्कर में डालने वाली हो गयी हैं, और उनका सहज स्वारस्य प्रायः क्षीण हो गया है। हिन्दी रीति काव्य में प्रसंग-विधान को दृष्टि में रख कर काव्य रचना करने वाले कवियों मे बिहारी और प्रतापसाहि की गणना की जाती है। किन्तु बिहारी की प्रसंगोद्भावना प्रतापसाहि की तुलना में अधिक भिन्न है। कारण यह है कि प्रतापसाहि पारस्परिक

---

१. बिहारी सतसई—कृष्ण कवि की टीका, दोहा सं० ५०६
२. रसकुसुमाकर—ददुआ साहब, छं० सं० २३८, पृ० ९२

काव्य रूढ़ियों में इतने अधिक बंधे हुए हैं कि उनकी समस्त उक्तियां वस्तु व्यंजना की सीमा से बाहर नहीं जा सकीं। यह वस्तु व्यंजना पहेली बुझौवल में ही अन्तर्भूत होती हे। किन्तु बिहारी की दृष्टि रीतिबद्ध कवियों से बहुत कुछ पृथक् थी। उन्होंने परम्परा की भित्ति पर नवीनता के सुन्दर और हृदयग्राही चित्रों को उरेहा है—जिसके कारण उनकी रचनाओं में पर्याप्त मौलिकता का दर्शन होता है। यद्यपि यह सत्य है कि पुरानी परम्पराओं की शृंगारिक सतसइयों का उन्होंने विधिपूर्वक अध्ययन किया था और उनका प्रभाव भी इन पर बहुत कुछ पड़ा था। फिर भी उन उक्तियों को सवारने और सजाने में उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूरा विनियोग किया है। इस तथ्य की सत्यता का सच्चा ज्ञान उन दोहों के तुलनात्मक अनुशीलन से सहज ही प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि शृंगारिक उद्भावना के क्षेत्र को अधिक विस्तृत बनाने का प्रयास तो रीति कवियों ने नहीं किया, किन्तु एक सीमित क्षेत्र में उनकी दृष्टि शृंगारिक चित्रो की नई साज-सज्जा में पर्याप्त रसमग्न दृष्टिगत हुई है। बिहारी और प्रतापसाहि की रचनाओं के आधार पर विवेच्य विषय का निरूपण अधिक औचित्य पूर्ण होगा।

नवीन प्रसंगोद्भावना की दृष्टि से पहले बिहारी के कुछ दोहों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

पारम्परिक दृष्टियों में उलझे होने पर भी बिहारी ने रूढ़ प्रसंगों में नवीनता का आरोप कहाँ-कहाँ किया है, इसे देखें—

पर तिय-दोष पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसुकर राखी मिश्रहू, मुँह आई मुसकानि॥[1]

प्रसग यह है कि कोई पुराण बांचने वाले पण्डित जी कथा के संदर्भ में पर स्त्री गमन दोष कीचर्चा कर रहे थे, इसे सुनकर उनकी परकीया मुसकराने लगी। पौराणिक महोदय उसकी व्यंग्य गर्भित और साभिप्राय मुस्कराहट के कारण अपनी मुस्कराहट रोक नहीं सके। इस दोहे में दीवाल पुरानी है, किन्तु उसपर नवीन रंग चढ़ाने का सफल प्रयास किया गया है।

रूढ़ि और कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध ऊहाओं से अलग होने पर बिहारी की शृगारिक प्रसंगोद्भावनाओं में ऐसी रसात्मकता मिलती है, जिसे पूर्ववर्ती शृंगारिक रचनाओं में पाना अति कठिन है। इस दृष्टि से बिहारी के एक मौलिक और रससिक्त शृगारिक प्रसंग का नमूना इस प्रकार है—

नाक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै, त्यौ कंकरीली गैल।[2]

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० दीन, दो० सं० ६३९
२ बिहारी दो० स० ६०६ प्र० स०

प्रसग इस प्रकार ह कि नायक और नायिका देव दर्शन के लिए जा रहे हैं। नायक ककरीले मार्ग पर चलरहा है और नायिका अच्छे मार्ग में जा रही है। कंकरीले मार्ग पर चलने के कारण नायक के पैर में कंकड़ लगने लगते हैं, नायिका नायक के इस कष्ट को देखकर अपनी नाक चढ़ाकर 'सीबी' करने लगती है। नायक को नायिका की यह मुद्रा अत्यन्त अच्छी लगती है। अतः इसे देखने के लिए वह जान-बूझकर ककरीले मार्ग पर ही चलता है।

बिहारी की मौलिक प्रसंगोद्भावना का स्वरूप ऐसे स्थलों पर भी प्रकट हुआ है, जहां उन्होंने नायिका भेदकी संकीर्ण सीमा से निकल कर अपनी दृष्टि यत्किंचित सामाजिक दोषों पर डाली है, तद्विषयक अधोलिखित छन्द द्रष्टव्य है —

बहु धन लै अहसान कै पारौ देत सराहि।
बैद बूध हंसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि ॥[1]

वैद्यजी स्वयं तो क्लीव हैं किन्तु दूसरे की क्लीवता दूर करने के लिए प्रशंसा के साथ बहुत धन लेकर पारा दे रहे हैं। वैद्य वधू इस रहस्य को जानकर मुस्करा रही है। उस युग में वैद्यों का स्तर कितना गिर चुका था और वे समाज में अपने आडम्बर पूर्ण व्यवहार के कारण कितने बदनाम थे, इसमें उसका जीता-जागता चित्र अंकित हुआ है।

रूढ़ियों पर टिकी हुई ऊहाओं के कारण प्रसंग-विधान की समस्त सरसता नष्ट तो अवश्य हो जाती है, किन्तु उसमें कवि की क्लिष्ट और दूरारूढ़ कल्पना के कारण उसकी योग्यता और प्रौढ़ क्षमता का भी प्रमाण मिलता है। प्रतापसाहि में प्रसग-विधान का समस्त संभार काव्य-रूढ़ियों पर ही हुआ है। हां, यह आवश्य है कि व्यजना का जितना चमत्कार प्रतापसाहि की रचनाओं में दृष्टिगत होता है, उतना बिहारी में नहीं। बिहारी ने सूक्ष्म, पिहित और गूढ़ोत्तर अलंकारों के माध्यम से शृंगारिक प्रसंगों की गूढ़ उद्भावना की है। प्रतापसाहि ने गूढ़ प्रसंगों की उद्भावना मे व्यंजना के विस्तृत व्यापारों का उपयोग किया है, यथा—

पूजतीं और सबै वनिता तिनके मन में अति प्रीति सुहाति है।
कौन की सीख धरी मन में चलि कै बलि काहे नजीक न जाति है।
औसर या बरसायत की बरसायत ऐसी न और दिखाति है।
कौन सुभाव री तेरो पर्‌यो बर पूजत काहे हिये सकुचाति है ॥[2]

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० दीन, दो० सं० ६१२
२. लखि गुरुजन बिच कमल सों, सीस छुवायो स्याम।
हरि सम्मुख करि आरसी हिये लगाई बाम ॥—बिहारी बोधिनी, दो०सं० ४५१
३ व्यंग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसाहि. पृ० ४. छं०सं० १६

नायिका वटसावित्री के अवसर पर वट की पूजा नहीं करती, व्यंग्यार्थ यह है कि वट का पर्याय नाम 'बर' है और बर पति का बोधक है, इस कारण वह दूसरा बर नहीं पूजती केवल अपने ही बर का पूजन करती है। नायिका भेद की दृष्टि से इसमें स्वकीया नायिका है, 'बर' शब्द में श्लेष है। बरसायत की दो बार आवृत्ति से यमकालंकार स्पष्ट है। वैसे पूरे छन्द में पिहित अलंकार की प्रधानता है। बिहारी ने भी इस ढग की प्रसंगोद्‌भावना की है, किन्तु ऐसे छन्द उनमें थोड़े हैं। एकाध उदाहरण लीजिए—

औरि सबै हरखी फिरैं गावत भरी उछाह।
तुही बहू बिलखी फिरै क्यों देवर के व्याह॥[1]

प्रतापसाहि की शृंगारिक प्रसंगोद्‌भावना की एक सबसे बढ़कर बात यह है कि उन्होंने नायिका भेद, अलंकार और शब्द शक्तियों का समवेत विवेचन बड़ी सफलता के साथ किया है, शृंगारिक परम्परा में 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' जैसी प्रौढ़ कृतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। यद्यपि यत्र-तत्र प्रसंगों की गूढ़ता के कारण सरल स्थल भी दुरूह और जटिल हो गए हैं, किन्तु अभिव्यंजन शैली की प्रावाहिकता के कारण इस प्रकार के दोष प्राय छिप जाते हैं।

प्रतापसाहि की दृष्टि प्रायः नायिका भेद की संकुचित परिधि में ही मंडराती रही, जीवन के अनेक पक्षों की सरल और मार्मिक उद्‌भावना में उसका अभिनिवेश नगण्य रहा। हाँ, काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों के अधिकाधिक उपयोग, विनियोग में उनकी प्रतिभा अधिकाधिक विकसित हुई है। यही कारण है कि जहां बिहारी ने शृंगार के क्षेत्र में नवीन प्रसंगोद्‌भावना करने में अधिक हाथ पैर हिलाया है और ज्योतिषी, वैद्य, पौराणिक जैसे पात्रों के रूप में अपने युग-सत्य का उद्‌घाटन अधिक प्रभविष्णुता के साथ किया है, वहां प्रतापसाहि की वाणी ज्ञात एवं अज्ञात यौवना की मनःस्थिति के विश्लेषण में ही अधिक तन्मय रही। फलतः उनकी संलग्नता का निदर्शन काव्य रूढ़ियों के बाहर नहीं मिलता, यह उनकी सबसे बड़ी त्रुटि थी।

८—नायिका भेद

यद्यपि रीति काव्य के शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत नायिका भेद का सांगोपाग निरूपण प्रस्तुत किया जा चुका है, किन्तु यहाँ नायिका भेद के काव्यात्मक उत्कर्ष का विश्लेषण लोक तात्विक दृष्टि से किया गया है। चूंकि नायिका भेद का यह लोक तात्विक विवेचन मौलिकता की दृष्टि से अत्यधिक महत्व रखता है। अतः इस सन्दर्भ मे हमने कतिपय मार्मिक स्थलों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। आलोचकों का

---

१ बिहारी बोधिनी दो० स० ६१५

अनुमान है कि सन् ईसवी के आस-पास ऐहिकता परक सरस काव्यों का प्रादुर्भाव हो चुका था, इसका ज्वलन्त प्रमाण भरत का नाट्यशास्त्र, भास के अनेक नाटक, नन्दिकेश्वर का अभिनय दर्पण, वात्स्यायन का कामसूत्र और कौटिल्य का अर्थशास्त्र है, जिसमें लोक तत्व समन्वित सरस मुक्तकों का प्रचुर भण्डार मिलता है।[1] हिन्दी रीति काव्य की परम्परा कियदंश में भक्ति युग की शृंगारिक काव्य-परम्परा से प्रभावित होते हुए भी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सरस ऐहिकतापरक मुक्तकों से पर्याप्त प्रभावित है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं।

शृंगारिक काव्य परम्परा के मुक्तकों में लोक तत्व का समावेश शनैः शनैः होता रहा, जिसकी सुदृढ़ और विशाल परम्परा रीति काल में भी निर्बाध गति से चलती रही। यद्यपि रीति काव्य में लोक तत्वों का समावेश इस परिमाण में नहीं हो पाया है, जैसा कि अपेक्षित था, फिर भी एक सीमा में रीति काव्य में लोक तात्विक बातों का समाहार होता अवश्य रहा। यों रीति काव्य में शास्त्रीय चिन्ता की प्रधानता के कारण जीवन के प्रति सहज एवं स्वाभाविक चित्रों की सरस अभिव्यक्ति तो न हो सकी, किन्तु जहाँ शास्त्र चिन्ता का पलड़ा जरा हलका रहा, वहाँ निश्चय ही रीति काव्य की मार्मिक एवं सरस उक्तियाँ अधिक संप्रेषणीय बन गयी हैं। शृंगारिक मुक्तकों में लोक तत्व की चर्चा करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार बड़े ही सारगर्भित प्रमाणित हुए हैं। रीति काव्य के सन्दर्भ में लोक तत्व का विवेचन करते हुए वे एक स्थल पर लिखते हैं—

'इस विशेष काल में जब कि शास्त्र चिन्ता लोक चिन्ता का रूप धारण करने लगी थी, वह पुरानी लौकिकता परक लोक काव्य धारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियों ने दुनिया को अपनी आंखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर लिया। नायिका भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सकता था, इस काल का उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है।[2] डा० द्विवेदी के विचारों का निष्कर्ष यह है कि रीति काव्य का समस्त नायिका भेद लोक काव्य धारा और शास्त्रीयता के समन्वय का परिणाम था।

इस दृष्टि से विचार करने पर शृंगार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत परिगणित समग्र नायिका भेद का विवेचन लोक तात्विक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होगा। कारण यह है कि नायिका भेद की लोकतात्विक दृष्टि परम्परा से बड़ी नवीन और मौलिक है। क्योंकि इधर प्राकृत की जिस गाथा सप्तशती और संस्कृत की आर्या सप्तशती की भूरिशः श्लाघा की जाती है, उसकी तुलना में रीति कवियों द्वारा नायिका

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२५

भेद का अधिक वैविध्य पूर्ण और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसके जोड का लोक तत्व समन्वित साहित्य बहुत कम मिलता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम रीति काव्य में उल्लिखित कुछ सरस शृंगारिक स्थलों की चर्चा यहां करेंगे।

वैवाहिक जीवन

रीति काव्य के अन्तर्गत वैवाहिक जीवन की सरस अनुभूतियों की व्यंजना मे रीति कवियों ने अपनी असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है। वस्तुतः प्रत्येक मानव के जीवन में जिन दो मुख्य घटनाओं का और बहुतों के जीवन में जिन तीन मुख्य घटनाओं का उल्लेख होता है, उनमें पहली घटना उसका जन्म, दूसरी घटना विवाह-दिन और तीसरी मृत्यु-दिवस है। इन तीनों में विवाह और मृत्यु का अवसर अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक माना गया है। क्योंकि विवाह द्वारा केवल वैवाहिक सूत्र मे आबद्ध दम्पति को ही सुख नहीं प्राप्त होता, वरन् किसी सीमा तक भावी पीढ़ी का सुख और आनन्द भी इससे प्रभावित होता है।[1]

अंग्रेज विद्वान के उपर्युक्त कथन से पूर्ण स्पष्ट है कि विवाह का इस लौकिक जीवन में कितना अधिक महत्व है। अतः जीवन के ऐसे सरस प्रसंगों की दृष्टि से रीति कवियों द्वारा वर्णित वैवाहिक जीवन की मधुर स्मृतियों का चित्रण अत्यन्त हृदयग्राही है। उदाहरणार्थ रीति वाङ्मय में अपनी मधुर और सरस पदावली के कारण लोकप्रिय एवं विश्रुत कवि मतिराम का एक छन्द लीजिए—

> गौने के द्यौस छ सातक बीते न चौथी कहा अबही चलि आई।
> लालन बाल के ताछिन मैं मतिराम परी मुख पै पियराई॥
> तू न बहू को पठाय अली यह देख दुहूंन की प्रीति सुहाई।
> रोए से रोचन भोये से लोचन, सोये न सोचन रैन बिताई॥[2]

यह छन्द मध्याप्रवत्स्यत्प्रेयसी नायिका से सम्बन्धित है। इसमें चौथी के अवसर पर दुखित दम्पति की मधुर भावनाओं का सुन्दर वर्णन है। चौथी विवाह से संबंधित एक रीति है, जिसके अनुसार दुलहिन प्रथम बार पति के यहाँ से अपने पिता के घर जाती है। नायक और नायिका में इतना गाढ़ा प्रेम सम्बन्ध हो गया है कि वे परस्पर वियुक्त हो जाने की सम्भावना से रात भर रोते रहे और रोने के कारण दोनों के नेत्र रोली मे रंगे हुए से लगने लगे। परम्परा के शृंगारिक काव्यों में इस प्रकार के वर्णन विरल हैं। इसमें नव दम्पति की प्रेमानुभूति की अभिव्यंजना में रसग्राहिता की प्रवृति स्पष्टतया लक्षित हो रही है।

---

1. See; Sylvanus Stall's What a young husband ought to know P. 179
२ मतिराम ग्रन्थावली—स० कृष्णबिहारी मिश्र पृ० ४४ छ० स० २०८

विवाह के पश्चात् नायक और नायिका के प्रेम-भाव का अधिक सुदृढ़ और प्रगाढ़ हो जाना स्वाभाविक है। विवाह के आनन्दमय अवसर के पश्चात् यदि वियोग की थोड़ी सी सम्भावना हो जाती है, तो प्रेम की प्रच्छन्न धारा संकोच और लज्जा की सुदृढ़ चट्टानों को तोड़ती हुई स्वतः निकल पड़ती है। रीति काव्य में ऐसे लोक-सामान्य जीवन की अनुभूतियों के न जाने कितनने सरल, सरस और मादक चित्र भरे पडे है, जिनमें पर्याप्त नवीनता है। यथा, उत्तर रीतिकालीन कवि नन्दराम ने अपने एक छन्द मे विवाह के पश्चात् परदेश जाने के लिए उद्यत नायक से निवेदन करती हुई नायिका का बड़ा ही मार्मिक और हृदय को प्रभावित करने वाला चित्र प्रस्तुत किया हैं—

जाड़े के विराम ब्याहि लाए बरसाने जाइ, आछी भाँति सांवरे व्यतीत भयो जाड़ौना।
कैसे लाल चलिबे की चरचा चलावत हो, छायो गयो व्याह कोसिरायो गयों माड़ौना।
फ्लह्व की मार तौ अयोग होत नन्दराम, मेरें कह्यो मानि ताहि व्रज वेगि ताड़ौना।
हसिनी की छौनी छोटी नीछ ते निकारि लायो, पीजंरा में पालि स्याम सुने भौन छाड़ौना।[1]

अभी विवाह का छाया हुआ मण्डप भी सिराया (बहाया) नहीं गया। अतः ऐसे अवसर पर नायक का परदेश जाना सर्वथा असमयोचित है। फिर नायकि को हंसिनी की छोटी छोनी की भांति पीजड़ा में पाला गया है, अर्थात् सुकुमार नायिका का पालन भी बडे स्नेह और प्यार में हुआ है। उसे त्याग कर जाना सर्वथा अनुचित है। विवाह हो जाने के पश्चात् प्रथम बार दूल्हन के मुख देखने की प्रथा आज भी हिन्दू परिवारों में पायी जाती है। मुख दिखायी में इसी समय दूल्हन को कुछ भेंटस्वरूप दिये जाने की रीति है। बिहारी ने इस अवसर का एक अति स्वभाविक चित्र प्रस्तुत किया है।

मानहु मुख दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग।
सासु सदन मन ललनहू, सौतिन दियो सोहाग॥[2]

मानो मुख दिखरावनी की रीति में नव वधू से प्रेम करके सास ने घर, प्रियतम ने अपना मन तथा सपत्नियों ने उसे अपना सोहाग दे दिया।

रीतिकाल में विवाह के कुछ ऐसे भी छन्द मिले हैं, जिनमें नायक-नायिका का यान सम्बन्ध अधिक उभरा हुआ नहीं है, अतः ऐसे छन्दों में वासना की उष्ण गंध का कहीं संकेत भी नहीं मिलता। आचार्य दास के एक छन्द में वैवाहिक अवसर की मधुर स्मृतियों का अंकन इस प्रकार हुआ है—

सखि तैंहू हुती निसि देखत ही, जिन पै वे भई ही निछावरियां।
तिन पानि गह्यौ हुतो मेरो तबै, सब गाइ उठी बृज डावरियां॥
असुआं भरि आवत मेरे अजौं, सुमिरैं उनकी पग-पावरियां।

---

१. शृंगार दर्पण—नन्दराम, पृ० ६२, प्र० सं०
२. बिहारी बोधिनी—दो० सं० १७२

कहि को हैं हमारे वे कौन लगैं जिनके संग खेलो ही भांवरियां ।।[१]

इस छन्द में विवाह के अवसर पर होने वाली भांवर आदि क्रियाएँ मात्र एक क्रीडा के रूप में अभिहित की गई हैं। इसी तथ्य का संकेत लाला सीताराम ने भी अपनी अंग्रेजी व्याख्या में किया है।[२]

—नैहर और ससुराल

वस्तुतः नैहर और ससुराल के रससिक्त एवं मादक प्रसंगों के वर्णन में रीति कवियों ने निश्चय ही अपनी गहरी रागात्मकता प्रकट की है। नैहर में नायिका का प्रियतम से मिलना और नायक का ससुराल की सखी सहेलियों से परिहास तथा विनोद आदि की चर्चा करना अपने आप में ऐसा रोचक प्रसंग है, जिसकी मधुर अभिव्यक्ति में रीति कवियों ने अपनी पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। यों भारतीय रमणियां अपनी लज्जा और शालीनता को बनाए रखने में सदैव तत्पर देखी गयी है, किन्तु नैहर में नायक के मिलने में उन्हें अधिक संकोच का अनुभव होता है। तथा अपने संकोच के कारण वे जल्दी मिल भी नहीं पाती। यदि किसी प्रकार मिलने का अवसर मिल भी गया तो अपने समस्त प्रेम व्यापारों की गोपनीयता में ही उन्हें परम आह्लाद प्राप्त होता है। इधर ससुराल में नायक अपनी समस्त लज्जा और संकोच वृत्ति को परित्यक्त किए हुए अकेले पड़ा रहता है और दिन में जैसे-जैसे अपनी सास के पास रात मे जागने के कारण वह अंगड़ाइयां लेता है और जम्हावे हुए अपने आलस्य को प्रकट करता है वैसे-वैसे बेचारी नायिका मारे शर्म के मरी जाती है—

सोए अकेले रहैं दिन में ससुरारि में काहुवैं नाहिं सकात हैं।
भोजन काज जगाए नेवाज उठे रति केलि थके अलसात हैं।
सारी निसा के जगे ढिग सासके ज्यों-ज्यों लला अंगिरात जम्हात हैं।
त्यों-त्यों इतै लखि लाडिली के बड़ लोचन लाजन ही गड़े जात हैं।[३]

यद्यपि मायके में स्त्रियाँ अधिक स्वतन्त्र होती हैं, किन्तु कभी-कभी नायक के सहसा पहुँच जाने पर वे जल्दी घूंघट भी नहीं काढ़ पातीं। ऐसी स्थिति में उनकी लज्जा की रक्षा केवल सिर नीचा कर लेने पर ही हो पाती है। पद्माकर ने अपने एक छन्द में

---

१. श्रृंगार निर्णय—आचार्य दास, छ०सं० १२८

२. Here the girl has been married and the going round the fire, the most Serious part of the ceremony, Which unites her to her lord for ever is regarded as mere play.
—Selections from Hindi Literature. Part V Page 16
(Introduction)—L. S. Ram

३ सुन्दरी तिलक—स० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० ६२

इसी भाव का अंकन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। नन्दलाल के सहसा आ जाने से नायिका जिस प्रकार अपनी माता के पीछे छिप जाती है, उसे निम्न पंक्तियो मे देखें—

> नन्द गाँव ते आइगो नन्दलला, लखि लाड़ली ताहि रिझाइ रही।
> मुख घूंघट घालि सकै नहि माइके माइ के पीछे दुराइ रही।।
> उचके कुच कोरन के पद्माकर कैसी कछू छबि छाइ रही।
> ललचाइ रही सकुचाइ रही सिर नाइ रही मुसुकाइ रही।।[1]

नायिका के लिए माइके में प्रियतम से मिलना अमृत पीने के समान सुखदायक होता है। मायके में बेचारी नायिका से सभी सखी सहेलियाँ और भाभी आदि मजाक करने को तैयार रहती हैं। इस कारण नायिका बहुत सँभल कर नायक को देख पाती है। वह बेचारी रति क्रीड़ा में भी बड़ी सावधानी बरतती है। यदि रसना के घुंघरू बजने लगते हैं तो उन्हें धीरे-धीरे दबाती रहती है, जिससे आवाज ज्यादा न होने पाये। केलि मन्दिर में जाते समय उसे अपने पैरों को बहुत धीरे-धीरे रखना पड़ता है जिससे किसी को उसके जाने की आहट तक न मिल सके। मतिराम ने इस भाव का सरस वर्णन अपने एक छन्द में बड़ी कुशलता के साथ किया है।[2] मायके में काम क्रीड़ा के समय किंकिणी के बजने से नायिका इतना डर जाती है कि वह प्रियतम की कटि पकड़ कर लिपट जाती है।[3]

—स्वकीया का आदर्श

हिन्दी के कृष्ण भक्ति वाङ्मय में अधिकांश शृंगारिक रचनाएँ परकीया प्रेम से परिपूर्ण हैं। चूंकि भक्ति में श्री कृष्ण की वृन्दावन व्यापिनी लीला ही ली गयी थी, इस कारण शृंगार काल के कवियों में अपभ्रंश या लोक-वाङमय की भाँति स्वकीया विषयक प्रेम-भाव की रचनाएँ नहीं मिलतीं।[4] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि

---

१. पद्माकर पंचामृत—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १३७, छं० सं० २६०
२. सुन्दरी तिलक, पृ० ५२
३. मायके में मनभावन की रति कीरति संभु गिराहू न गावति।
   हेरि हरे हरे हाहा करै, कर चांपि चुरीन के बोल छिपावति।
   पैंजनी मूंदै बजै बिछिया बिछिया गहे पैंजनी सोर मचावति।
   किंकिनी के डर पीतम की कटि सों लपटान लगी कटि आवति।।
   —सुन्दरी सर्वस्व, पृ० ५४, छं० सं० १७
४. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३६७

हिन्दी रीति काव्य में इसका सर्वथा अभाव है। हाँ, स्वकीया की तुलना में परकीया प्रेम की प्रचुरता अवश्य है। हिन्दी के उत्तर कालीन रीति कवियों में पद्माकर ने स्वकीया प्रेम विषयक अनुभूतियों के चित्रण में पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। हिन्दी के अधिकांश कवि राधा और कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं में इतने फंस गये हैं कि लोक सम्बद्ध जीवन के व्यापारों में उनकी प्रतिभा अधिक नहीं रम सकी। परिणाम यह हुआ कि रीति काव्य लोक तात्विक कसौटी पर खरा उतरने में प्रायः असफल रहा। किन्तु जो प्रतिभा सम्पन्न कवि थे और जिन्होंने लोकानुभूतियों का पर्याप्त अवगाहन और मंथन किया था, उनकी रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक मार्मिक और रसात्मक कोटि में परिगणित हुई। उदाहरणार्थ, पद्माकर का स्वकीया प्रेम विषयक एक छन्द इस प्रकार है—

प्रसंग यों है कि पत्नी को पति नैहर नहीं जाने देता और नायिका के नैहर के लोग उसके बिना दुखी हैं। अपनी इस बात को नायिका अपनी सखी से कितने सुन्दर ढग से कह रही है, यह द्रष्टव्य है—

> मो बिन माइ न खाइ कछू, 'पद्माकर' त्यों भई भाभी अचेत है।
> बीरन आये लिवाइवे को तिनकी मृदु बानि हू मानि न लेत है॥
> प्रीतम को समुझावति क्यों नहीं, ये सखी तू जु पै राखति हेत है।
> और तो मोहि सबै सुखरी, दुखरी यहै माइके जान न देत है॥[१]

ससुराल में पहुंच कर स्वकीया नायिका सब की बात बर्दाश्त करती है और इस प्रकार वह एक आदर्श और सहिष्णु नारी के उदात्त धर्म को पूर्ण प्रमाणित करती है। ससुराल में मिलने वाली उसकी अन्तरंग सहेलियाँ भी उसे सहिष्णुता का ही पाठ पढाती हैं—

> है नहिं माइको मेरी भटू यह सासुरो है सब की सहिबो करौ।
> त्यों 'पद्माकर' पाइ सोहाग सदा सखियानहु को चहिबो करौ।[२]

यद्यपि परकीया नायिकाओं की बहुलता के कारण रीतिकाल में आदर्श प्रेम का स्वरूप प्रायः प्रच्छन्न हो गया था, फिर भी ऐसी स्वकीयाओं का भी चित्रण हुआ है, जो परम्परा में उल्लिखित स्वकीयाओं से निश्चय ही अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इस सन्दर्भ में 'सोम' कवि का एक छन्द अधोलिखित है। इस छन्द में स्वकीया के नैतिक स्तर और उसके पुनीत पत्नी धर्म के निरूपण में कवि ने वस्तुतः नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। छन्द का भाव यह है कि स्वकीया का सास के समक्ष देखना तो दूर रहा, वह केवल अपनी ननंद को ही देखकर नेत्रों को नीचा कर लेती है। उसकी

---

१ पदमाकर पंचामृत पृ० १११ छं० सं० १३५

२ वही पृ० ११२ छ० स० १३८

चतुर ज्येष्ठा ने उसे कभी नहीं देखा कि वह कब पानी पीती है, कब बोलती है—

सासु कै सौहें चितैबो कहा ननदी लखि नैनन नीचे निहारति।
स्यानी जेठानी न जानी कबौ कब पानी पियै कब बानी उचारति।
सोम सकोच समानी रहै ठकुरानी सखीन सों सीलै संभारति।
साँसन साधिकै सेज पै सुन्दरि वारक बालम हूं सो बिहारति ॥[1]

रीति कवियों ने ऐसी भी स्वकीया का वर्णन किया है, जो अपने प्रियतम की क्लीवता को छिपाने में अपने आप को बन्ध्या कहलाना भी पसन्द करती हैं—

गुरुजन दूजे ब्याह को, प्रति दिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखे वहू, आपुन बांझ कहाइ ॥[2]

—ननंद और भाभी

मध्यवर्गीय परिवार में ननंद और भाभी के मधुर कथन का महत्वपूर्ण स्थान है। रीति कवियों ने ननंद और भाभी के सम्बन्ध में अनेकानेक सरस प्रसंगों की उद्भावना की है और इस सम्बन्ध में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। आज भी ननद और भाभी का सम्बन्ध हमें दो रूपों में देखने को मिलता है—

(१) ईर्ष्यामूलक
(२) प्रेममूलक।

ईर्ष्यामूलक सम्बन्ध में नायिका अपनी ननंद से सदैव अपनी स्वतन्त्र चेष्टाओं को छिपाने का प्रयास करती है, किन्तु यदि ननंद छोटी है तो वह अपनी भाभी का सकोच करती है और अपने सहज स्नेह को व्यक्त करने में पूर्ण आत्मीयता प्रदर्शित करती है, यथा, लछिराम के एक छन्द में छोटी ननंद अपनी भाभी से प्रियतम के बारे में पूछती है कि ये कौन हैं, कहाँ रहते हैं और बार-बार हमारी ओर देखकर क्यो मुँह मोड़ा करते हैं ?

बबा सामुहे में चुप साधै रहैं, भली भाई को संग निहोरत हैं।
लछिराम सुरंग सजो पटुका, सिरपेच को बाँधत छोरत हैं।
चलै संग हमारे न खेलिबे को, कर के छिऐं भौंह मरोरत हैं।
ए कहाँ रहैं भाभी ! बताइदै तू, जो हमें लखि यों मुखमोरत हैं ॥[3]

प्रस्तुत छन्द में स्पष्टतया अज्ञात यौवना का कथन हुआ है, जिसे अपने यौवन का ज्ञान नही है। लोक तात्विक विवेचन की दृष्टि से गुप्ता नायिकाओं के अन्तर्गत छोटी ननद

---

१ सुन्दरी सर्वस्व—मन्नालाल द्विज, पृ० ३२, छं० सं० १२
२. मतिराम सतसई, छं० सं० ६
३. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद—प्रभुदयाल मीतल, पृ० २३५, छं० सं०

के गोपनीय प्रेम व्यापारों का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन हुआ है। एक छन्द में ननंद अपने सिर को देने के लिए तैयार है, किन्तु ऊख का खेत देखने के लिए नहीं जाना चाहती। पूरे छन्द में भविष्य गुप्ता की गोपनीय क्रियाओं का कथन हुआ है—

दै हौं सको सिर तो कहें भाभी पै ऊख के खेत न देखन जैहौं।
जैहों तो जीउ डेरावन देखिहों बीच ही खेत के जाय छपैहौं।।
पैहों छरोरा जो पातन को फटिहै पट केहूं तो हौं न डरैहौं।
रैहों न मौन जो गेह के रोस करैंगे तो दोस मैं तेरोई दैहौं।।[1]

कभी-कभी नायिका को अपनी ननद की फटकार भी सुननी पड़ती है। ऐसी ननदें जो उम्र में नायिका से बड़ी होती हैं, वे अपनी छोटी भाभी को नाना प्रकार की ताड़ना देने के साथ ही उसे पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध अच्छी बातों की शिक्षा भी दिया करती हैं। मतिराम के एक छन्द में नवबधू के प्रथम पुत्र के होने पर ननद रात दिन उसकी निन्दा करती है और सास क्षण-क्षण अपना रोष प्रकट करती है, किन्तु नायिका प्रथम पुत्र को गोद में लेकर खिलाने में लज्जा का अनुभव करती है। प्रसग की दृष्टि से ऐसे छंद अभी तक पूर्ववर्ती शृंगार साहित्य में नहीं मिले। यह मतिराम की मौलिक उद्भावना कही जा सकती है।

निस दिन निंदति नंद है, छिन-छिन सासु रिसाति।
प्रथम भये सुत को बहू, अंकहि लेति लजाति।।[2]

—देवर और भाभी

यद्यपि गाथा और आर्या सप्तशती में देवर और भाभी की प्रणय गाथाओं की चर्चा हुई है, किन्तु रीति काव्य में देवर और भाभी के प्रसंग निरूपण में अधिक रसात्मकता प्रकट की गयी है। रीति काव्य में देवर भाभी के इतने पीछे पड गया है कि दरबान की भाँति वह दरवाजे पर बैठा रहता है और भाभी की समस्त करतूतों की पूरी जाँच किया करता है।[3] बिहारी ने देवर की उन करतूतों की चर्चा की है, जिससे उसकी धृष्ठता का पूरा परिचय मिलता है। विचारी 'कुलतिय' पारिवारिक कलह के भय से देवर की बदमाशी बतलाना पसन्द नहीं करती और दिनो-दिन उसी प्रकार सूखती जाती है, जैसे पिंजड़े का तोता अपने निकट बैठी हुई बिल्ली

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—मन्नालाल द्विज, पृ० ९१, छं० सं० ४
२. मतिराम सतसई—छं० सं० १५६
३. (क) लागो रहे देवर दुवारे दरबान सों।—शृंगार संग्रह—सरदार, पृ० ३७
(ख) देवर गाढो गढो रहै द्वारहि जेठी खरी खिरकी में अरी है।
सुधानिधि—तोष छद सख्या ८३

को देखकर सूखता जाता है।[१] बिहारी का यह दोहा गाथा के एक छन्द के आधार पर रचा गया है,[२] किन्तु बिहारी ने "पिंजरगत मंजार ढिग सुक लों सूकत जात" शब्दावली को प्रयुक्त करके निश्चय ही मौलिकता प्रदर्शित की है। कृष्ण काव्य की वह धारा जो भक्ति तत्व से पूर्ण समन्वित थी, रीतिकाल में पहुंचते-पहुंचते नितान्त लौकिक उपादानों से संबलित हो गई। परिणाम यह हुआ कि सूर और नन्ददास के ब्रज बल्लभ भगवान श्री कृष्णचन्द्र रीति काल में आकर देवर बन बैठे तथा उनका ईश्वरत्व शनैः शनैः समाप्त हो गया, यथा—

चोखी जात गैया कोऊ और न दुहैया देव,
देवर कन्हैया कहा सोवत सबारेई।[३]

देवर के प्रच्छन्न प्रेम की भी चर्चा हुई है। यहाँ तक कि देवर के विवाह में सभी लोग हर्षित होकर मंगल गीत गा रहे हैं, लेकिन नायिका जिसमें देवर के प्रति अधिक स्नेह है, दुखी है—

औरि सबै हरखी फिरैं, गावत भरी उछाह।
तुही बहू बिलखी फिरै क्यों देवर के व्याह॥[४]

सास और वधू

मध्यकाल में सास द्वारा प्रताड़ित वधुओं का बहुविध उल्लेख हुआ है। रीतिकाल से पूर्व गाथा सप्तशती में ऐसी वियोगिनी पुत्र वधुओं का कथन हुआ है, जिनके हाथ के कंगन (दुर्बलता के कारण) निकल कर गिर जाने पर पाषाण हृदया सास का भी दिल पिघल पड़ता है।[५] परन्तु ऐसे भी प्रसंग मिले हैं, जिनमें परस्पर सास और वधू की लाग-डाट का भी निरूपण हुआ है।[६]

रीति कवियों ने सास से लड़ने वाली पुत्र-वधुओं का कथन प्रायः नहीं किया। यह इनकी एक नवीन दृष्टि है जो परम्परा से मेल नहीं खाती। रीति युग की पुत्र-

---

१. कहत न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिग सुकलों सूकत जाति॥५९५॥
—बिहारी बोधिनी, पृ० २७७

२. असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुटुम्बविहडणभएण तणुआआए सोह्ना।—गाथा सप्तशती १।५९

३. सुखसागर तरंग—देव, पृ० २६०' छं० सं० ७८३

४. बिहारी बोधिनी, पृ० २८७, दो० सं० ६१५

५. गाथा सप्तशती १।९३

६. वही, ७।२४

वधुओं का जहाँ भी प्रसंग आया है, वे सास की परम आज्ञाकारिणी और उसके इशारों पर चलने वाली देखी गयी हैं। ग्वाल कवि ने अपने एक छन्द में सास की आज्ञाकारिणी पुत्र वधू का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। नायिका को जामन लेने के निमित्त भेजने वाली सास कितनी कठोर है कि उसके डर से बेचारी को तदर्थ जाना ही पड़ता है। लेकिन जाने से मार्ग में नायिका की क्या दुर्गति होती है, इसकी सम्भावना करती हुई वह कहती है कि हे सास, जब दौड़ कर जल्दी-जल्दी पैर उठाने से कंचुकी फट जायेगी, विंदुली खसक जायेगी, तब तुम दुखी होगी तथा हमें व्यर्थ ही कलंक दोगी—

सासु ! तू पठावै लैन जामन सितावै अब,
जाएँ बनि आवै, पर कांपत है अंकरी।
ग्वाल कवि गैयन की भीर मांहि जैबो-ऐबो,
दौरि कै उठैंबो पग, लागत है संकरी।
अंगिया मसकि जैहैं, विन्दुली खसक जैहैं,
तब तू दुखैहै, दैहै नाहक कलंक री ॥[1]

इसमें भविष्य गुप्ता ने बड़ी चतुराई से अपनी वास्तविकता को छिपाया है। कभी-कभी पुत्र वधुएँ सास की शुभ चिन्तना और उसकी महनीयता की श्लाघा मुक्त कंठ से करती है, और कभी किसी संकट से बच जाने पर वे अपनी सास की ही कृपा समझती हैं—

ग्वाल कवि बेंदी गई, छरा फंस्यौ आंगी चली,
छिदे ये कपोल, देखौ अति उरझारे ते।
आस हो न जीवन की राम ने बचाय राखी,
मरु कै बची हो सास ! धरम तिहारे ते।[2]

मध्ययुगीन पुत्र वधुओं के लिए सास का इतना त्रास होता था कि वे प्रातःकाल पक्षियों की ध्वनि सुनकर शीघ्र ही सेज से उठकर ड्योढ़ी तक पहुंच जाती थीं—

त्यों नंदराम विहंगन की धुनि कान परे चपरी अकुलानी।
सासु के त्रास ते बेगि उठी देहरी लौं गई फिरि सेज समानी ॥[3]

—सपत्नी

रीतिकाल में सपत्नियों की जितनी अधिक चर्चायें हुई हैं, कदाचित् ही किसी

---

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद—प्रभुदयाल मीतल, पृ० २८६
२ वही पृ० २८५
३ शृंगार दर्पण पृ० १५ छ० स० ७४

काल में हुई हों। यों रीति कवियों ने 'असूया' संचारी के अन्तर्गत सपत्नियों का मार्मिक विश्लेषण किया है, किन्तु श्रृंगार के अन्य सन्दर्भों में सपत्नी विषयक प्रेम भावना की जैसी रसात्मक अभिव्यक्ति हुई है, वह पूर्ववर्ती श्रृंगारिक काव्य में दुर्लभ है।

'खण्डिता' के प्रकरण में सपत्नियों का कथन प्रायः व्यंग्यगर्भित शैली में हुआ है किन्तु कुछ ऐसे भी मधुव्रती कवि हो गये हैं, जिनकी वाणी में परम्परा की मात्र अनुकृति ही नहीं मिलेगी, अपितु भावानुभूतियों की सहजता उसमें स्वतः प्रस्फुटित हुई है।

रीति काव्य में सपत्नियों को लेकर ऐसी रागात्मकता व्यंजित की गयी है जिससे लगता है कि रीति कवि केवल श्रृंगारिक रूढ़ियों के ही पोषक न थे, वरन उनमें भावात्मक प्रसंगों की नव उद्भावना करने की अपूर्व क्षमता थी। एक उदाहरण लें—कोई नायिका सपत्नी प्रति अपने प्रियतम की अत्यधिक आसक्ति देख कर अपनी अन्तरंग सहेली से कहती है—

आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतहूं के गृह जैये।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रान पियारे कों देखन पैये॥[१]

इसी भाव का विस्तार करते हुए ठाकुर ने मुहावरे के योग से अत्यधिक मार्मिकता उत्पन्न की है। अन्तिम पंक्ति में नायिका अपनी विवशता का उल्लेख करती हुई कहती है कि हे सखी, अपने अटकने पर निज सौत के मायके भी जाना पड़ता है, कारण यह है कि प्रियतम की प्राप्ति सौत के ही निकट हो पाती है—

पिय प्यार करैं जेहि पै सजनी तेहि की सब भांतिन सइयत है।
मन मान करौं तो परौं भ्रम में फिरि पीछे परैं पछतइयत है।
कवि ठाकुर कौन की कासों कहौं दिन देखि दसा बिसरइयत है।
अपने अटके सुन एरी भटू, निज सौत के मायके जइयत है॥[२]

रीति काव्य में कुछ ऐसी भी आदर्श रमणियाँ मिलेंगी जो अपनी सौतों से लड़ना पसन्द नहीं करतीं।[३] कहने का तात्पर्य यह कि रीति काव्य में सपत्नी विषयक नाना प्रकार की सरस और मौलिक उक्तियाँ भरी पड़ी हैं जिनके जोड़ की उक्तियाँ संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं में भी नहीं मिलतीं।

---

१. काव्य निर्णय—आचार्य दास, ४।२७

२. ठाकुर ठसक—सं० लाला भगवानदीन, पृ० ३६, छं० सं० १५८

३. सबै जग जानत देव सुहाग की संपति मौन रही भरिबेन।
कहा कियो सौंनि कहाय कैं काहू लरो पिय लोभतऊ लरिबेन॥ देवसुधा, पृ०११३

—नव वधू

पुराकाल में नव वधुएँ पर्दे में रहा करती थीं। वे आज की भाँति अवगुंठन हीन नहीं हो गयी थी, वरन् उनका सिर सदैव ढका रहता था। उन्हें हर समय नही देखा जा सकता था। उनके देखे जाने के चार अवसर थे, यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वन गमन।[1] रीतिकाल में भी चूंकि पर्दे की प्रथा बहुत काफी थी। इस कारण उस युग की नव वधुएँ अधिक लज्जा शील और संकोची प्रकृति की होती थीं।

रीतिकाल में ऐसी लज्जाशील और संकोची वधुओं के निरूपण में शृंगारिक कवियों ने बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है। अब कुछ सरस उदाहरण लीजिये—

ससुराल में नव वधुएँ जब पहले पहल आती हैं तो सास, नंनद और जेठानी उन्हें रसोई का कार्य सौंपती हैं। कारण यह है कि चतुर गृहिणी की कुशलता एवं उसकी बुद्धिमत्ता का पूर्ण परीक्षण प्रथमतः उसकी पाक-कला मर्मज्ञता से ही होता है। जो नव वधू भोजन बनाने में जितनी पटु होती है परिवार में उसकी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा उसी परिणाम में संवर्धित होती है, किन्तु नव वधुओं में कुछ ऐसी वधुएँ होती हैं, जो अपने सहज संकोच और लज्जा के कारण रसोई गृह में प्रवेश करते समय जरा हिचकती हैं और कुछ अपने सहज सौकुमार्य और कोमलता के भी कारण रसोई गृह में अधिक समय तक ठहरने में सक्षम नहीं होती। इधर सास, जेठानी, नंनद आदि सदैव उस नव वधू पर नाराज रहती हैं और उसे बार-बार रसोई गृह में जाने के लिये बाध्य करती हैं। बेचारी नव वधू की ऐसी कारुणिक दशा देखकर उसकी कोई अन्त-रंगिणी सखी अपनी सखी से कह रही है—

> बिरझानी सी सासु रिसानी सी नंद जेठानी कछू अनखानी रहै।
> पिय प्यारे कि प्यारी दुलारी बहू अब ताहि रसोई में जाने कहै।
> कवि मंडन बोलत भावतो हो सखि कोऊ न एतो सयान रहै।
> यह सोने सो अंग सोहाग भरो कही कैसे कै आगी की आंच सहै॥[2]

इधर नववधू संकोच के कारण अपनी परेशानी बता नहीं पाती, उधर आग के सामने अधिक देर तक ठहर नहीं पाती—इन दो भिन्न मन:स्थितियों के चित्रण मे कवि ने निश्चय ही अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है।

कभी-कभी नववधू के सहज संकोच और लज्जा के कारण ससुराल की सहेलियां और नँनद आदि को विनोद और आनन्द का सुन्दर अवसर प्राप्त हो जाय करता है। इस सम्बन्ध में नृपशंभु का एक छन्द इस प्रकार है—

---

१. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० द्विवेदी, पृ० ७३

२ प्रयाम विलास—स० बन्दीदीन दीक्षित पृ० ११

राजै रसोई नई दुलही सजनी हंसि हेरि हरै सकुचावै ।
बैठि रहै अधजैंये लला वह तो कुछ देह जवै कोउ घावै ॥
संभु हंसै सबरे घर की यह कौतुक देखत ही बनि श्रावै ।
लाज ते मांगत ये न कछू न उतै वह लाजही ते कछु लावै ।[1]

प्रसंग यह है कि नववधू रसोई-गृह में शोभित है । सहेलियां उसे देखकर हंस रही हैं और लज्जित कर रही हैं । कारण यह है कि इधर नायक अधजेंएं—आधा भोजन किए हुए—बैठा हुआ है, उधर नायिका भी संकोच के कारण कुछ नहीं दे पाती, वह तो तभी परोस सकती है, जब उसे परोसने के लिए कहा जाय । इस कौतुक को देखकर घर के सभी लोग आनन्द ले रहें हैं । किन्तु स्थिति यह है कि नायक न तो लज्जा के कारण कुछ मांग रहा है और न नायिका लज्जा के कारण कुछ दे रही है । वास्तव में मध्य-वर्गीय परिवार की ऐसी सरस अनुभूतियों के चित्रण आर्या एवं गाथा सप्तशती में ढूंढने से ही मिलेंगे ।

सामाजिक रूढ़ियां एवं अन्धविश्वास: भूत-प्रेत पर विश्वास, जादू-टोना, ज्योतिष, शकुन एवं अशकुन

सामाजिक रूढ़ियां एवं अन्धविश्वास

सामाजिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों की दृष्टि से हिन्दी रीति वाङ्मय का अनुशीलन अत्यन्त रोचक और मनोरंजक है । सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के अन्तर्गत भूत-प्रेत, जादू-टोने, ज्तोतिष विद्या में प्रगाढ़ आस्था, स्त्रियों के वाम अंग के फकड़ने में विश्वास, खाली घड़ों से अशकुन की सम्भावना करना आदि परिगणित होते है । अब एक-एक विषय का वर्णन इस भांति है—

भूत प्रेत पर विश्वास

मध्यकाल में भूत और प्रेतों के प्रति इतना अधिक विश्वास जम गया था कि हिन्दी के शृंगारिक काव्यों में उसकी उपेक्षा नहीं की गयी । भंजन कवि ने स्वयं दूती नायिका के सन्दर्भ में भूत-प्रेत के सम्बन्ध में अपना विश्वास इस प्रकार व्यक्त किया है —

अंबरचार पयोधर देखि कै कौन को धीरज जो न गयो है ।
भंजन जू नदिया इहि रूप की नाउ नहीं रविहू अथयो है ॥

---

[1] सुधासर—नवीन कवि प्रथम तरंग छं० सं० २८८ डा० भवानीशंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से

पंथिक आज बसो इहि देस भलो तुमको उपदेश दयो है।
या मग बीच लगै यक नीच सुपावक में दहि प्रेत लयो है ॥[1]

अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट है कि इस मार्ग में एक प्रेत लगता है जो आग में जल-कर अकाल में ही मर गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालीन कवियों में यह दृढ़ विश्वास था कि आग आदि में जल कर मरने से लोगों को प्रेत योनि की प्राप्ति होती है। स्वयं दूती ने इस संकेत द्वारा पथिक को आगे जाने से वर्जित किया है और अपने पास बसने की उसे स्पष्ट सलाह दी है।

जादू-टोना

मध्यकालीन शृंगारिक काव्य में जादू-टोना की बहुविध चर्चा हुई है। यों भक्त कवियों में सूर और तुलसी ने कृष्ण और राम के सौन्दर्य वर्णन में जादू-टोना का कथन किया है, किन्तु रीति कवियों ने शृंगारिक परिवेश में गोरे अंगों के नजर लगने के भय से तृण तोड़ने और 'राई नोन बारने' का स्पष्ट संकेत किया है। एक स्थल पर उत्तर-कालीन रीति कवि हनुमान ने अन्य संभोग दुखिता के प्रसंग में उपर्युक्त बातों का कथन इस प्रकार किया है—

नेक थिर ह्वै कै बैठि राई लोन वारों तोपै,
तू तो 'हनुमान' मेरी साथिन है बारे की।
बजर परो री मोपै पठई कहाँ ते तहाँ,
नजर लगी री तोहि जुलफन वारे की ॥[2]

इसमें व्यंग्य द्वारा नायिका के ऊपर 'राई लोन' वारने का कथन हुआ है, राई लोन के प्रयोग से नजर दूर हो जाता है, ऐसी धारणा तत्कालीन समाज के लोगों में ही न थी, अपितु आज भी लोक में नजर दूर करने के लिए राई लोन उतारने की रीति प्रचलित है।

ज्योतिष

रीति काव्य में ज्योतिष विषयक मान्यताओं पर पूर्ण विश्वास प्रकट किया गया है। आलम और ठाकुर जैसे रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में ज्योतिष शास्त्र की बातों पर पूर्ण आस्था व्यक्त की गयी है। आलम ने इस प्रसंग की उद्‌भावना स्वयं दूती नायिका के रूप में की है। स्वयं दूती ज्योतिषी जी को बड़ी चतुराई के साथ

१. शृंगार संग्रह—सरदार, पृ० ५४, छं० सं० १२
२. शृंगार सुधाकर—मन्नालाल द्विज, पृ० १६५, छं० सं० १

अपने घर पर आमन्त्रित कर रही है और अपनी व्यञ्जनावलि न शब्दावली में कह रही है कि 'यदि तुम वैद्य हो तो मेरी बांह पकड़ कर विरहाग्नि को दूर करने की औषधि बताओ, और यदि तुम ज्योतिषी हो तो हमारे घर चलो और प्रियतम के आने की शुभ घड़ी बताओ, आगे मत जाओ; क्योंकि घने बादलों के घिर जाने और घनघोर जंगल के मिलने से तुम्हें बहुत कष्ट होगा—

पोथी लये पुनि बाट चले हम बूझति हैं जो कहां कित जैहौ ।
बैद हौ तौमेरी बांह गहौ बिरहानल औषधि मांहि बतै हौ ॥
ज्योतिषी हौ तो चलो घर मेंप्रिय आवन की जुधरी सुभ दैहौ ।
आलम आगे घने वन हैं घन के उनए ते घने दुख पैहौ ॥[1]

लोक में ज्योतिषी की बातों पर गहरा विश्वास प्रकट करने के साथ ही उसे अत्यधिक सम्मान दिया गया है। गांवों में आज भी घर की स्त्रियाँ ज्योतिषी जी को बुलाकर अपने कष्ट और दुख दर्द की बातों की चर्चा करती हैं और ज्योतिषी जी से उसके निवारण का उपाय भी पूछती हैं। ठाकुर ने लोक जीवन की ऐसी अनुभूतियों का निरूपण अपने एक छन्द में इस प्रकार किया है —

को हौ ? ज्योतिसी हौं, कछू जोतिषे विचारत हौ ?
मेरी सुभ धाम काम जाहिर हमारो तो,
आओ बैठ जाओ पानी पियौ पान खावौ फेर,
होय कै सुचित नेक गणित निकारो तो ।
ठाकुर कहत प्रेम नेम को परेखो देखि,
इच्छा की परिच्छा भली भांति निरधारो तो,
मेरो मन मोहन सो लागत है भांति भांति,
मोहन को मन मोसों लागिहै विचारो तो ॥[2]

लोक तात्विक दृष्टि से विचार करने पर इसमें उक्ति और प्रत्युक्ति रूप में जन सामान्य के जीवन में व्याप्त ज्योतिष की आस्थाओं की सरस अभिव्यक्ति हुई है।

शकुन एवं अशकुन

रीति काव्य में शकुन और अशकुन विषयक कथित प्रतीकों का स्पष्ट संकेत मिलता है। लोक में प्राय: ऐसी विश्रुति है कि यदि कोई स्त्री खाली घड़े को लेकर जाते समय मिल जाय तो यात्रा अमांगलिक हो जाती है। मतिराम ने इस बात का

---

१. शृंगार संग्रह—सरदार, पृ० ५४, छं० सं० ११
२. ठाकुर ठसक—सं० लाला भगवानदीन, पृ० १७, छं० सं० ६३

कथन इस प्रकार किया है—

नागरि नवेली रूप आगरि अकेली रीती,
गागरी लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट में ।[१]

इसी प्रकार नायिका के वाम अङ्ग के फड़कने से उसके लिए शुभ शकुन की कल्पना की गयी है और ऐसा विश्वास उस समय अधिक मान्य होता है जब उसका प्रियतम परदेश से आने वाला हो । बिहारी ने अपनी 'सतसई' में इसका स्पष्ट संकेत इस प्रकार किया है—

बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवन मूरि ।
तो तोही सों भेंटिहौं, राखि दाहिनी दूरि ।।[२]

लोक में काग के बोलने पर भी अधिक विश्वास प्रकट किया गया है। विशेषकर आगतपतिका नायिकाओं के लिए काग का बोलना अधिक मांगलिक समझा गया है । लोक गीतों में 'कागा बोलै मोर आंगनवा अइहैं आज सजनवा ना' की बड़ी मार्मिक व्यंजना हुई है । रीति कवियों में तोष ने अपने एक छन्द में इस बात की चर्चा बड़े मौलिक रूप में की है—

पैंजनी गढ़ाय, चोंच सोने में मढ़ाय दैंहौं, कर पर लाय, पर रुचि सो सुधरिहौं ।
कहै कवि तोष छिन अटक न लैहौं कवौं, कंचन कटोरे अटा खीर भरि धरिहौं ।।
एरे कारे काग ! तेरे सगुन संजोग आज, मेरे पति आवैं, तौ वचन ते न टरि हौं ।
करती करार, तौंन पहिलै करौंगी सब, आपने पिया को फिरि पाछै अंक भरिहौं ।।[३]

आगतपतिका प्रियतम के आगमन का शकुन मनाती हुई कौवे से कह रही है कि 'हे काग, तुम्हारे पाँवों में पैंजनी बनवा कर पहना दूंगी और तेरी चोंच को सोने से मढ़वा दूंगी । यही नहीं, तुझे अपने हाथ पर प्रेमपूर्वक बैठाकर तुम्हारे पंखों को सुधारूंगी और अविलम्ब तेरे भोजन के लिए सोने के कटोरे में खीर भर कर अट्टालिका पर रख आऊँगी । मैं सत्य कहती हूं कि अपने वचन से कभी न हटूंगी । यदि तुम्हारे बोलने से हमारे प्रियतम आज आ जायेंगे तो उक्त सभी कार्य पहले करूँगी, तदनन्तर पति से भेंटूंगी ।

इस प्रकार की सरस उक्तियां प्राचीन साहित्य में भूरिशः मिलेंगी, किन्तु ऐसे प्रसगों का मौलिक विधान वहाँ विरल है ।

लोकतात्विक विवेचन के अन्तर्गत कुछ ऐसी बातों की भी चर्चा की गयी है, जो परम्परागत शृंगारिक काव्यों में मिलती अवश्य है, किन्तु रीति कवियों की मौलिकता

---

१. रसराज—मतिराम, छं० सं० २१२ ।
२. बिहारी बोधिनी—टी० लाला भगवानदीन, पृ० २५५, छं० सं० ५४५
३. सुधा निधि—तोष, छं० सं० १८३

इस बात में थी कि उन्होंने एक ही प्रसंग को अपनी कथन चातुरी के द्वारा कुछ परिवर्तन करके उसमें नवीन प्रसंगों का आक्षेप किया और इस प्रकार पुरानी उक्तियों को अपनी प्रतिभा द्वारा अधिक रसमयता प्रदान की।

६—षड्ऋतु वर्णन

जिस प्रकार शृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का विस्तृत निरूपण संस्कृत और हिन्दी रीति काव्य-परम्परा में हुआ है, उसी प्रकार शृंगार के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत नख शिख और षड्ऋतुओं के वर्णन की बहुलता है। चूँकि हिन्दी रीति काव्य की परम्परा पर मध्यकालीन संस्कृत काव्य परम्पराओं का सम्यक् प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। अतः स्वभावतया रीति कवियों के भी ऋतु वर्णन पर पारम्परिक विशेषताओं की वही छाप सुस्पष्ट है जैसी माघ और कालिदास की रचनाओं में दृष्टिगत होती हैं। फिर भी, रीति परम्परा के अन्तर्गत कुछ ऐसे कवि भी मौजूद हैं, जिन्होंने परम्परा के निर्मोक को त्याग कर प्रकृति के स्वच्छन्द एवं उसके उन्मुक्त सौन्दर्य के सूक्ष्म विवेचन में अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है।

मध्यकालीन संस्कृत काव्यों की भाँति अपभ्रंश काव्य, भक्ति काव्य और लोक गीतात्मक विरह काव्यों में भी आलम्बनगत प्रकृति-चित्रण का पूर्ण अभाव है। अपभ्रंश काव्य में प्रकृति चित्रण मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्यों में अधिक हुआ और नख शिख वर्णन और ऋतु वर्णन की समस्त रूढ़ियाँ अपभ्रंश के चरित काव्यों में बहुत ज्यादा मिलती हैं।

रीति काव्य में षड्ऋतु और बारह मासा दोनों की परम्पराएँ समान रूप से चलती रहीं। यदि संयोग में षड ऋतुओं की प्रधानता मिलती है तो वियोग में षड्ऋतुओं के साथ ही बारहमासा की। इन दोनों परम्पराओं के उत्स के सम्बन्ध में लोगों का अनुमान है कि षड्ऋतु काव्य की परम्परा संस्कृत काव्य से आयी है और बारहमासा की परम्परा लोकगीतों से,[1] क्योंकि संस्कृत काव्य में बारहमासा की कोई परम्परा नहीं मिलती। इधर रीति पूर्व काव्यों में यत्र-तत्र बारहमासा से सम्बन्धित कुछ रचनाएं उपलब्ध हुई हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख हम विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ संयोग शृंगार के अन्तर्गत ऋतुओं के उन रूपों का विवेचन अभीष्ट है, जिनमें उनकी मौलिकता एवं नूतनता की पूरी झलक मिलती है।

रीति कवियों ने ऋतुओं के वर्णन में स्थान-स्थान पर पारम्परिक वर्णन प्रणाली से बहुत कुछ पृथकता प्रदर्शित की है। यथा, संस्कृत में स्वयं कालिदास ने

---

१ बारहमासा—डा० श्रीकृष्णलाल. जनरल आफ बनारस युनिवर्सिटी, खण्ड २

ऋतुओं का वर्णन अषाढ़ से प्रारम्भ किया है, यह उनके प्रसिद्ध विरह काव्य 'मेघदूत' से स्पष्ट है।[१] किन्तु 'ऋतु संहार' में उन्होंने इस क्रम में परिवर्तन कर दिया है और उसमें ग्रीष्म ऋतु से प्रारम्भ किया है। इधर हिन्दी रीति कवियों ने षड्ऋतुओं के वर्णन में प्रथम स्थान बसन्त ऋतु को दिया है। अतः क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम बसन्त का ही निरूपण हुआ है।

यह तथ्य भी विशेष विचारणीय है कि रीति काव्य में अन्य ऋतुओं के वर्णन की अपेक्षा बसन्त और वर्षा विषयक छन्दों की प्रचुरता है। संयोग में विशेषतया बसन्त का सौन्दर्य निरूपण हुआ है और वियोग में वर्षा की सूक्ष्मताओं का नानाविध कथन हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि बसन्त और वर्षा के चित्रण में रूढ़िबद्धता की दृष्टि इतनी अधिक उभरी हुई है कि उसके कारण उनकी मौलिकता और नवीनता के समक्ष प्रायः प्रश्नवाचक चिन्ह लग जाता है। फिर भी, यत्र-तत्र मार्मिक उक्तियो के विनियोग और उनके चारुतापूर्ण कथन से परम्परा अभुक्त रूपों का भी दर्शन होता है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं किया जा सकता। हम यथास्थल इस कथन की पुष्टि के लिए षड्ऋतुओं के कुछ मार्मिक स्थलों की चर्चा करेंगे, जिससे तथ्यातथ्य का विचार आसानी से किया जा सके।

यह कथन पूर्णतया सत्य है कि 'रीतिकाल के कवियों ने षड्ऋतुओं का भी बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों में ऋतुओं के नैसर्गिक सौन्दर्य की अपेक्षा उनके उद्दीपन प्रभाव का अधिक कथन किया गया है।'[२] फिर भी आलम्बनगत प्राकृतिक सौन्दर्य-निरूपण का जहाँ कहीं अवसर मिला है, इन रीति कवियों ने परम्परागत चित्रण की तुलना में निश्चयरूपेण अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। प्रकृति के आलम्बनगत सौन्दर्य विधायक रूपों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति में जिन कवियों की चर्चा होती है, उनमें सेनापति, बिहारी, देव, द्विजदेव आदि कवियों का प्रमुख स्थान है।

बसन्त : उन्मुक्त सौन्दर्यनिरूपण, मानवीय क्रियाओं का आरोप, समी

बसन्त : उन्मुक्त सौन्दर्य निरूपण

वस्तुतः बसन्त समस्त ऋतुओं में श्रेष्ठ माना गया है, इसी से इसे 'ऋतुराज' की संज्ञा दी गयी है। जिस समय अपने समस्त सौन्दर्य श्री से सम्पन्न बसन्त का

---

१. आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुंवप्रक्रीडा परिणत गजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२
—मेघदूत पूर्वार्धम्, टी० राजा लक्ष्मण सिंह, सन् १८९३ ई० का संस्करण

२ साहित्य का नायिका भेद ले० मीतल पृ० ८० द्वि० स०

आगमन इस विश्व में होता है, जड़ चेतन यावत् पदार्थ एक लोकोत्तर आह्लाद और उल्लास के साथ सहसा स्पंदित हो जाते हैं। विश्व का कण-कण नवचेतना और मदिर गत्यात्मकता के साथ झूम उठता है। बसन्त के ऐसे नैसर्गिक सौन्दर्य की उद्भावना करते हुए कविवर द्विज जी लिखते हैं—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज, विनोद लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तानि वितान, सबै विधि चित्त चुरायो करैं।।
द्विज देव जू देखि अनोखी प्रभा, अलि चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो बसन्त सदा द्विजदेव, प्रसूनन की झरि लायो करैं।।[1]

संस्कृत काव्यों में वर्णित जिस बसन्त की भूरिशः श्लाघा करते मन नहीं अघाता, उसकी तुलना में द्विजदेव का बसन्त विषयक यह चित्रात्मक सौन्दर्य विधान किसी भी अर्थ में कम नहीं है। इसमें परम्परा की स्वीकृति का आग्रह कहीं भी नहीं मिलेगा।

ऋतुराज बसन्त के प्रभाव के सूक्ष्म अंकन में कविवर द्विजदेव ने कहीं-कहीं परम्परा से सर्वथा पृथक् कौशल प्रदर्शित किया है। इनके वर्णन में अतिरंजना और दूरारूढ़ कल्पना के स्थान पर प्रकृति के सहज स्वाभाविक सौन्दर्यपरक चित्रों की प्रधानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का मानस स्वतः बसन्तोत्सव मनाने के लिए जड़ चेतन पदार्थों के उल्लास के साथ मदोन्मत्त होकर त्वरित गति से भागता चला जा रहा है—

लटपटी पाग सिर साजत उनीदे अंग, द्विजदेव ज्यों-त्यों कैं संभारत सबै बदन।
खुलि-खुलि जाते पट वायुके झकोर, भुजा डुलि-डुलि जाती अति आतुरी सौं छन-छन।
ह्वै कै असवार मनोरथ ही के रथ पर, 'द्विजदेव' होत अति आनंद मगन मन।
सूने भये तन, कछु सूनेई सुमन, लखि, सूनी सी दिसान लख्यो सूनेई दृगन बन।।[2]

पूरे छन्द में वातावरण के सन्नाटा पन के सूक्ष्म चित्रण के कारण पर्याप्त प्रभावोत्पादकता आ गयी है। बसन्त के वर्णन में द्विजदेव ने कहीं-कहीं ऐसी मौलिकता दिखायी है, जिसके समक्ष कालिदास के भी बहुत से बसन्त विषयक छन्द फीके मालूम होते हैं। कारण यह है कि द्विजदेव जी ने अपने बसन्त वर्णन में अन्य रीतिबद्ध कवियों की भांति केवल शास्त्र में परिगणित बातों की ही चर्चा नहीं की है, वरन् अनुभव गोचर दृश्यों के रूप-विधान में उन्होंने अपनी पूर्णरसज्ञता प्रकट की है। यथा बसन्त की

---

१. शृंगार लतिका सौरभ—द्विजदेव, सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ८०, छं० सं० २४

२. शृंगार लतिका सौरभ—द्विजदेव, सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ३७, छं० सं० ६

व्याप्त मादकता का सकारण विवेचन करते हुए वे लिखते हैं कि स्वर के भार से ही तोने मंदिरों को त्याग करके अन्यत्र गमन नहीं करते। उसी प्रकार मोगरे, मरुए तथा दोने के वृक्ष पवन से झुके हुए नहीं है, अपितु अपने मकरन्द भार से झुक करके झूम रहे हैं। चन्द्र भी चाँदनी के भार से झुका हुआ दृष्टिगत हो रहा है और हवा भी सुगन्ध के भार से मन्द मन्द बह रही है।

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिर न त्याग करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्यौंही मधु भारन अपारन सों,
नेक झुकि झूमि रहें मोगरें मरुव दौन॥
खोलि इन नैनन निहारों तौं निहारों,
कहा सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन-भौन।
चाँदनी के भारन देखात उनयौ सो चन्द,
गन्ध ही के भारत बहत मन्द मन्द पौन॥[१]

बसन्त के समय प्रकृति व्यापी इन व्यापारों की जैसी सहज कल्पना इस छन्द मे की गयी है, क्या कालिदास के 'ऋतु संहार' के उस छन्द में वही कल्पना और स्वारस्य विद्यमान है, जिसमें उन्होंने आम्र रस से मदोन्मत्त कोयल को अपनी प्रियतमा का चुम्बन करते हुए प्रदर्शित किया है?[२]

यद्यपि यह सत्य है कि रीति काव्य की सुदीर्घ परम्परा के अन्तर्गत अधिकाश प्राकृतिक वर्णन अलंकार और उक्ति वैचित्र्य मूलक प्रवृत्तियों से पूर्णतया प्रभावित है, किन्तु ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है, जिनमें रीत कवियों की स्वतन्त्र उद्भावना के अनेकशः चित्र अपनी नवीनता के कारण अधिक हृदय ग्राही और सरस प्रमाणित हुए हे इस तथ्य की पुष्टि के लिए बिहारी, देव, द्विजदेव आदि की रचनाएं उठा लीजिए, इनमें स्थल-स्थल पर प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के साथ ही इन कवियों की प्रगाढ तन्मयता और इनके हृदय की सच्ची भावुकता की झलक मिलेगी।

संस्कृत वाङ्मय में कालिदास ने प्रकृति निरीक्षण में अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय अवश्य दिया है, किन्तु रीति परम्परा के ऐसे कवियों की भी मौलिक दृष्टि स्वीकार करनी पड़ती है, जहाँ उन्होंने बसन्त के समय प्रातः चटकने वाली कलियों तक

---

१. शृंगार लतिका सौरभ—द्विजदेव, सं० जवाहर लालचतुर्वेदी, पृ० २२, छ० सं० ४
२. पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्तः प्रियां चुम्बेति रागहृष्टः। ऋतुसंहार छं० सं० १५

का वर्णन बड़ी निष्ठा के साथ किया है ।[1]

यों रीति कवियों ने बसन्त सौन्दर्य के निरूपण में मानवीय क्रियाओं का आरोप अधिक किया है, किन्तु अपनी उद्भावना शक्ति से कहीं-कहीं बसन्त के चित्रों को अधिक आकर्षक बनाने की भी चेष्टा की है। इस दृष्टि से संस्कृत आदि पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं में बसन्त का इतना वैविध्यपूर्ण वर्णन प्रायः नहीं हो सका है, इस तथ्य की प्रामाणिकता के लिए रीति कवियों द्वारा वर्णित बसन्त विषयक प्रकरण उठा लीजिए, वहाँ बसन्त को कहीं सन्त, कहीं चारण, कहीं बंदरा (दूलह), कहीं जौहरी, कहीं वैद्य कहीं वजीर आदि रूपों में कल्पित किया गया है—

क—कन्त बनमाली को पठायो लाली सों लसंत,
आली री बसन्त धनि सन्त बनि आयो है ।[2]

ख—कागद रंगीन में प्रवीन ह्वै बसन्त लिखे,
मानो काम चक्कवे के विक्रम कवित्त हैं ।[3]

ग—जोहन से मोहन बहार बनरी है संग,
सोहन बसन्त बंदरा सो बनि आयो है ।[4]

घ—यतन जलूस जोर रतन रसाल रंग,
अतन अनन्द हेत जौहरी बसन्त भो ।[5]

ङ—रिझवार मोहन के आगे गुण प्रगटत,
आजु बन देखुरी बसन्त वैद आयो है ।[6]

च—बीर बिरहिन के करेज रेज करिबे को,
आजु तो बसन्त यों उजीर बनि आयो है ।[7]

---

१. (क) मदन महीप जू को बालक बसन्त,
ताहि प्रात ही जगावत गुलाब चटकारी दे ।—देव
—शृंगार सुधाकर, छं० सं० १८, पृ० २८७

(ख) खिली गए लोचन हमारे इक बार सुनि,
आहट गुलावन के अखिल खिलन की ।
—शृंगार लतिका सौरभ, छं० सं० ३ पृ० १६

२. षट्ऋतु काव्य संग्रह—हफीजुल्ला खाँ, पृ० १२
३. ,, ,, ,, पृ० २६
४. ,, ,, ,, पृ० २५
५. ,, ,, ,, पृ० ५५
६. ,, ,, ,, पृ० ५३
७. ,, ,, ,, पृ० ५०

रीति कवियों में बिहारी ने प्रकृति में मानवीय क्रियाओं के आरोप द्वारा कहीं कहीं अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है, जिसके कारण उनके उद्दीपन भाव वाले चित्र भी आलम्बन जैसे प्रतीत होते हैं। यथा, वासन्ती मधु से उन्मत्त भौंरों का झुण्ड स्थान-स्थान पर झांपता हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो मधुपों (शराबियों) की मण्डली नशे में चूर होकर झूम रही हो। कवि ने इस चित्र को ऐसे कौशल से उरेहा है, जिससे उसकी आलम्बन गत प्रकृति चित्रण की शैली स्वभावतया प्रकट हो रही है और बसन्त का वर्णन करके सखी द्वारा मानिनी के मान छुड़ाने का समस्त प्रसंग प्राय इस तरह गौण हो जाता है, कि वहाँ तक काव्य-रसिकों की दृष्टि जल्दी पहुँच ही नही पाती। अब पूरा चित्र लीजिए—

छकि रसाल सौरभ, सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर झौंर मधु-अंध॥[1]

इसी भाव का छन्द भर्तृहरि कृत 'शृंगार शतक' में भी मिलता है, किन्तु वहाँ उद्दीपन भाव से किया गया प्रकृति चित्रण का रूप सुस्पष्ट है, बिहारी जैसी प्रभवोत्पादकता और चित्रमयता का पूर्ण अभाव है।[2] बिहारी की ही भाँति महाकवि देव ने प्राकृतिक सौन्दर्य के अन्तर्गत फाग की चित्रोद्भावना करने में असामान्य नैपुण्य प्रदर्शित किया है। कवि ने जिस चित्रफलक पर बसन्त की सौन्दर्य-रेखाओं को अंकित करने का प्रयास किया है, वह उसके मस्तिष्क की स्वतंत्र सूझ ही कहा जा सकता है। पूरा छन्द लीजिए—

माधुरी झौरनि फूलनि भौंरनि बौरनि बौंरनि बेलि बची है।
केसरि किस कुसंभ कुरौ किरवार कनैरनि रंग रची है॥
फूले अनारनि चंपक डारनि लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि नूत परागनि देखुरी, बागनि फागु मची है॥[3]

समीर

बसन्त वर्णन के अन्तर्गत बसन्त समीर की भी चर्चा हुई है। हिन्दी रीति कवियों ने यत्र-तत्र वसन्त समीर के भव्य एवं कल्पना प्रवण चित्रों की अवतारणा मे बडी नवीन और मौलिक दृष्टि का विनियोग किया है। कहीं-कहीं तो ऐसे स्थल भी देखने को मिल जाते हैं, जहाँ संस्कृत और प्राकृत आदि के पुराने कवियों की भी

---

१. बिहारी रत्नाकर—टी० बा० जगन्नाथदास रत्नाकर, छं० सं० ४९६
२. सहकार कुसुम केशर निकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते॥
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कंठा॥८८॥—शृंगार शतकम्-भर्तृहरि,
३. देव सुधा—सं० मिश्र बंधु, पृ० ५८। टी०—प्रो० रामदास राय, पृ० १२३

दृष्टि नहीं पहुँच सकी। ऐसे वर्णन निस्संदेह मौलिकता की कोटि में परिगणित होते हैं।

बिहारी ने वसन्त के मन्द-मन्द समीर का वर्णन करते हुए कल्पना की ऐसी मनोहारिणी सृष्टि की है, जो अपने आप में अप्रतिम एवं बेजोड़ है। इस छन्द के समस्त कलात्मक विधान में कवि ने अपनी अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की है। अधोलिखित छन्द द्रष्टव्य है—

चुवतु सेद मकरंद-कन, तरु-तरु तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं, थक्यौ बटोही बाइ॥[1]

दक्षिण देश से आने वाली हवा का आरोप दक्षिण दिशा से आने वाले श्रान्त पथिक पर किया गया है। पूरे छन्द से स्पष्ट आभासित हो रहा है कि वसन्त ऋतु का दक्षिण समीर मन्द-मन्द आ रहा है, क्योंकि 'तरु-तरु तरु बिरमाइ' जैसे शब्दों द्वारा उसकी गतिशीलता और नादात्मक सौन्दर्य की बड़ी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। 'इम्पीरियल गजटियर' का अंग्रेज लेखक ने भी इसकी भूरिशः श्लाघा की है और बिहारी के ऐसे प्राकृतिक दृश्यों के अंकन की कुशलता का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है।[2]

संस्कृत वाङ्मय में वसन्तकालीन दक्षिण समीर का उल्लेख हुआ है, किन्तु बिहारी जैसा सूक्ष्म और लावण्यमय कथन वहां नहीं मिलता।[3] हाँ, रीतिमुक्त कवियो मे 'सेख' ने अवश्य ही पवन परेवा के निरूपण में अपनी मौलिकता प्रकट की है। प्राचीन काल में संदेश-प्रेषण का कार्य प्रायः परेवा से ही लिया जाता था, अतः उसके कठ में पत्र बाँध दिया जाता था, जिसे वह अभीष्ट स्थानों में निरापद पहुंचा दिया करता था। वसन्त पवन में परेवा के आरोप द्वारा इसी तथ्य की व्यंजना हुई है—

सघन अखंड पूरि पंकज पराग पत्र,
अच्छर मधुप शब्द घंटा झहनातु है।
बिरमि चलत फूली बेलिनि की बास रस,
मुख के संदेसे लेत सबनि सुहातु है॥
सेख' कहि सीरे सरबरनि के तीर तीर,
पीवत न नीर परसे ते सियरातु है।

---

१. बिहारी रत्नाकर, दो० सं० ३९०

२. Imperial Gazetter of India. Vol. II Page 423.

१. पथि पथि लता लोलाक्षीभिः सुवन्मधुसीकरं कुसुमनिकरं वर्षन्तीभिः सहर्ष मिवार्चितः।
मधुकरवधूपीतासक्तं कुरंगकमास्थितः प्रसरति वने मन्दं मन्दं वसन्त समीरणः॥१२
—सुभाषित सुधारत्नभाण्डागारम पृ० २०३

आवन बसन्त मन भावन घने जतन,
पवन परेवा मानो पाँती लीने जातु है ।।[१]

महाकवि देव ने प्रातः कालीन बसन्त पवन का वर्णन करते हुए उसमें चंचल नायक की समस्त क्रियाओं का आरोप बड़ी कुशलता से किया है । अठखेलियाँ करता हुआ बसन्त पवन और प्रत्येक नायिका से चुम्बन और काम सुलभ चेष्टाओं को व्यक्त करने वाला नायक दोनों के गुण और क्रिया-साम्य के कारण मानवीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूपेण लक्षित हो रही है—

अरुन उदोत सकरन ह्वै अरुन नैन,
तरुन–तरुन तन तूमत फिरत है ।
कुँज-कुंज केलि कै नवेली बाल बेलिन सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत है ।।
अम्बकुल बकुल समीड़ि पीड़ि पाड़रनि,
मल्लिकानि मीड़ि घन घूमत फिरत है ।
दुमन दुमन दल दूमत मधुप देव,
सुमन सुमन मुख चुंमत फिरत है ।।[२]

ग्रीष्म

संस्कृत की शृंगारिक काव्य-परम्पराओं में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन प्रायः उद्दीपन विभाव की ही दृष्टि से किया गया है । वहाँ ग्रीष्म का अति विलासमय चित्रण हुआ है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है—'अति स्वच्छ चन्दन रस से भीगी हुई मृगनयनियाँ धारागृह, खिले हुए फूल, चांदनी रात, पवन, सुन्दर पुष्प और श्रेष्ठ महल की छतें ग्रीष्म में मद एवं मदन दोनों की संवृद्धि करती हैं ।[३] शृंगार के ऐसे आभोग में अत्यधिक बंध जाने के कारण संस्कृत में ग्रीष्म का उन्मुक्त एवं यथार्थ चित्र नेत्रों के समक्ष न आ सका । हाँ, हिन्दी रीति काव्य की परम्परा में सेनापति और बिहारी के कुछ ऐसे चित्र अवश्य हैं, जिनमें ग्रीष्म का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ और संवेदनात्मक रूप अङ्कित हुआ है ।

---

१. आलमकेलि—सम्पादक— लाला भगवानदीन, पृ० १०२, छं० सं० २४२

२. देवसुधा—सं० मिश्रबन्धु, पृ० ४५, छं० सं० ५३

३. अच्छाच्छचन्दनसार्द्रतरा मृगाक्ष्यो धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च ।
मन्दो मरुत्सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति ।।८६।।
——— भर्तृहरि पृ० १२४

यद्यपि यह सत्य है कि सेनापति और बिहारी दोनों में प्रकृति-चित्रण की वही शैली मिलती है जो परम्परा में अन्य कवियों को मिली है, किन्तु इनके ऋतु वर्णन को देखने से भली भाँति मालूम होता है कि इनके हृदय में प्रकृति के प्रति सच्चा अनुराग था और उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किये गये प्रकृति वर्णनों में भी इनकी काव्योचित भावुकता स्पष्टतया झलक रही है। किन्तु ऐसे स्थलों पर जहां इन कवियों ने परम्परा से हटकर स्वतंत्र और आलम्बन विभाव की दृष्टि से प्राकृतिक सौन्दर्य का ग्रंकन किया है, वहाँ निश्चय ही इनकी मौलिकता व्यक्त है। इनकी कुछ रचनाओं से इस तथ्य का विश्लेषण अधिक सुकर होगा। पहले सेनापति के ग्रीष्म विषयक कुछ चित्र लीजिए—

वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल वरसत है।
तचति धरनि, जगजरत झरनि, सीरी,
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी बिरमत है।
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत,
धमका विषम, ज्यों न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनौ'
घरी एक बैठि कहूं घामै वितवत है।[1]

इस छन्द में कवि ने ग्रीष्म के मध्याह्न का बड़ा ही सजीव और यथार्थ स्वरूप अंकित किया है। दोपहर के ढलने पर हवा के सहसा बन्द हो जाने से किसी समय ऐसी उमस पैदा हो जाती है कि रहना मुश्किल हो जाता है। इस यथार्थ अनुभूति की कल्पना करते हुए सेनापति जी कहते हैं मेरी समझ में हवा भी किसी शीतल स्थान को प्राप्त करके एक घड़ी के लिए धूप से अपनी रक्षा कर रही है। यथार्थानुमोदित कल्पना के कारण समस्त चित्र में पर्याप्त स्वाभाविकता आ गयी है।' न पात खरकते के द्वारा सेनापति ने दोपहर के समय की निस्तब्धता का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। ऐसे चित्र संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में प्रायः नहीं मिलते। स्वयं कालिदास ने 'ऋतुसंहार' में ग्रीष्म का वर्णन किया अवश्य है, किन्तु तुलना मे सेनापति का उक्त छन्द कालिदास से कहीं उत्तम है। कालिदास ग्रीष्म का ऐसा सवाक् एवं सजीव चित्रण नहीं कर सके। उनके ग्रीष्म चित्रण का एक नमूना इस भांति है—

सफेनलोलायतवक्त्रसंपुटं
विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम्।

---

१ कवित्त रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल तीसरी तरंग छं० सं० ११

तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरा-
दवेक्ष्यमाणं महिषी कलं जलम् ।।२१।।

अर्थात् महिषीगणों के मुखसंपुट (दोनों ओष्ठभाग) लार और झागों से लिप्त रहे है, उसी सने हुए मुख में से लाल लाल जीभ कुछेक बाहर को निकल रही है वे प्यास से व्याकुल होकर ऊपर को मुख उठाये जल को देखती हुई पर्वतों की कन्दराओं मे से बाहर को निकलती है ।[१] इस छन्द में ग्रीष्म की एक झलक मात्र है, ग्रीष्म की व्याप्ति का वैसा सूक्ष्म अंकन नहीं है, जैसा सेनापति में है । कहीं-कहीं तो सेनापति ने दोपहर के सन्नाटेपन की अभिव्यक्ति में अपूर्व कुशलता दिखायी है । कवि के अनुसार जेठ मास की दोपहरी ऐसी मालूम होती है, मानो अर्धरात्रि है—

लागे हैं कपाट सेनापति रंग मन्दिर के,
परदा परे, न खरकत कहुं पात हैं ।
कोई न भनक, ह्वैं कै चनक मनक रही,
जेठ की दुपहरी कि मानो अधरात है ।[२]

बिहारी के ग्रीष्म विषयक छन्दों मे चित्रमयता की अपेक्षा प्रभावोत्पादकता अधिक पायी जाती है । उन्होंने ग्रीष्म की प्रचण्डता के निरूपण में अतिशयोक्ति मूलक प्रवृति अवश्य ग्रहण की है, लेकिन उससे ग्रीष्म के प्रभावोत्पादक स्वरूप की व्यंजना मे अन्तर नहीं पड़ता—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-मन माह ।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौ चाहति छांह ।।[३]

कुछ स्थलों पर ग्रीष्म की भयंकरता का संकेत जंगल के व्याकुल प्राणियों की दशा द्वारा किया गया है । इस प्रकार के मूक चित्र-विधान में बिहारी ने निश्चय ही अधिक सफलता प्राप्ति की है और ऐसे स्थलों पर अपनी दृष्टि की नवीनता भी लक्षित करायी है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ।।[४]

रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य ग्वाल ने ग्रीष्म काल में क्षण-क्षण उत्पन्न होने वाली प्यास का वर्णन बहुत ही स्वाभाविक ढंग से किया है । प्रायः ग्रीष्म की प्रचण्डता के बढ़ जाने पर लोग बार-बार पानी पीते हैं, लेकिन पिपासा की तीव्रता इतनी बढ़ जाती है कि प्रयास करने पर भी वह बुझ नहीं पाती—

---

१. ऋतु संहार—टी० ब्रजरत्नभट्टाचार्य पृ० १३
२. कवित्तरत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, तीसरी तरंग, छं० सं० ४०
३. बिहारी रत्नाकर—दो० सं० ५२
४. „ „ छं० सं० ४८६

क—जब पियौ, तब पियौ, अब पियौ फेर अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापिनी।[१]
ख—कुंड पिये, कूप पिये, सर पिये, नद पिये,
सिंधु पिये, हिम पिये, पीयवोई करिये।[२]

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कृतियों में इस ढंग का ग्रीष्म वर्णन देखने को नहीं मिला। अतः निश्चय ही रीति कवियों का ग्रीष्म वर्णन अत्यधिक मौलिक है।

पावस

पूर्व पृष्ठों में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि रीति कवियों के षडऋतु वर्णन में बसन्त और वर्षा विषयक छन्दों की बहुलता है। और इन दोनों ऋतुओं का वर्णन शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष के अनुसार भी किया गया है। संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत अधिकांशतः बसन्त वर्णन विषयक रचनाएँ प्राप्त हैं और वियोग शृङ्गार के आभोग में अधिकतर पावस से सम्बन्धित रचनाएँ प्रणीत हुई हैं।

पावस ऋतु के वर्णन में हिन्दी रीति कवियों ने प्रायः परम्परा का ही अवलम्ब ग्रहण किया है। स्वयं कालिदास ने 'ऋतु संहार' के वर्णन में परम्परा की जैसी प्रवृति प्रदर्शित की है, रीति कवियों में भी वही प्रवृति प्रकारान्तर से मिलती है। हाँ, कुछ ऐसे कविगण भी मिलेंगे, जिनमें परम्परा का वैसा आग्रह नहीं है। यथा—सेनापति, देव और बेनी जैसे कवियों के छन्द उठा लीजिए, उनमें पावस के उन्मुक्त स्वरूप के निरूपण की अपूर्व क्षमता मौजूद हैं। उनके द्वारा वर्णित पावस के ऐसे चित्र सर्वथा मौलिक और नव्य प्रतीत होते है।

संस्कृत साहित्य में आदि कवि ने पावस ऋतु का आलम्बनगत चित्रण जिस निष्ठा के साथ किया है, चित्रणगत वैसी निष्ठा परवर्ती संस्कृत साहित्य में नहीं मिलती। यद्यपि हिन्दी रीति काव्य पर अन्य प्रवृत्तियों के साथ रिक्थ रूप में संस्कृत के परवर्ती साहित्य में वर्णित ऋतुओं की वर्णन प्रणाली का पूर्ण प्रभाव है, फिर भी देव जैसे कवियों ने परम्परा पालन की बहुत सी बातों के प्रति अपनी पूर्ण पराङ्मुखता व्यक्त की है। उन्होंने पावस के चित्रों की नव उद्भावना में कहीं-कहीं कालिदास जैसे कवियों को भी पीछे छोड़ दिया है। इस विषय के कुछ छन्द इस प्रकार हैं—

सोखे सिंधु सिंधुर से, बन्धुर ज्यों बिंध्य, गंधमादक के बन्धु से गरज गुरवानि के।
झमकारे झूमत गगन घने घूमत, पुकारे मुख चूमत पपीहा मोखानि के॥

---

१. कवि हृदय विनोद—ग्वाल कवि, पृ० २८, छं० सं० ३८
२. कवि हृदय विनोद—ग्वाल कवि, पृ० २७, छं० सं० ३७

नदी नद सागर डगर मिलि गये देव, डगर न सूझत नगर पुरवानि के।
भारे जल-धरनि अंध्यारे धरनी धरनि, धराधर धावत धुमारे धुखानि के ॥[1]

इस छन्द में बादलों के झूमन, गरजने और आकाश में इतस्ततः दौड़ने की चपल क्रियाओं के अंकन में कवि ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। समष्टिरूपेण यह छन्द गत्यात्मक चित्र का एक उत्कृष्ट नमूना है।

रीति-परम्परा के अन्तिम आचार्य कवि ग्वाल ने वर्षा के चित्र-विधान मे जैसी मौलिकता दिखायी है, वह अन्य कवियों में कठिनाई से मिलेगी। वर्षा के समय क्षण-क्षण पर उठने वाले बादलों के विभिन्न व्यापारों के अंकन में उन्होंने बड़ी ही कवि सुलभ भावुकता प्रकट की है। लगता है कवि का मानस भी उन बादलों के साथ साथ भाग रहा हो और जैसे-जैसे बादल अपने क्रीडात्मक विधान में व्यस्त है, उसी प्रकार कवि का मन भी उन क्रीड़ाओं के चित्रांकन में पूर्णतया निमग्न है। कुछ नमूना लीजिए—

झूम झूम चलत चहूंधा घन घूम घूम, लूम लूम भूमि छवै छ्वै धूम से दिखात है।
तूल के से पहल, पहल पर उठे आवै, महल महल पर सहल सुहात हैं।।
'ग्वाल कवि' भनत, परम तम सम केते, छम छम छम बूंद डारे दिन रात हैं।
गरजि गये हैं एक, गरजन लागे देखो, गरजत आवें एक, गरजत जात हैं ॥[2]

इसी प्रकार एक अन्य छन्द में ग्वाल कवि ने जल्दी-जल्दी लुप्त होने वाली और प्रकट होने वाली घनघटाओं का अति स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया हैं। कवि की शब्दावली से घनघटाओं का स्वरूप स्वतः कैसे प्रकट हो रहा है, उसे देखें—

ग्वाल कवि कारी, धौरी, धुमरारी, गहरारी,
धुखारी, बरसारी, झुकी तौरातौर है।
ये आई, वो आई ये गई, वो गई,
और ये आई, उठी आवत वे और हैं ॥[3]

सेनापति ने वर्षाकाल के सघन बादलों के वर्णन में कल्पना और अनुभूतियो का अपूर्व समन्वय किया है। उन्होंने ऐसे चित्रों के विधान में पर्याप्त मौलिकता प्रकट की है, एक छन्द इस प्रकार है—

रबि गयो दबि मानो ससि सोऊ धँसि गयो,
तारे तोरि डारे से न कहूं फटकत हैं।
मानो महा तिमिर तें भूलि परी बाट, तातें,

---

१. सुखसागर तरंग—देव, पृ० ५१, छं० सं० १५०
२. कवि हृदय विनोद—ग्वाल कवि, पृ० ३५, छं० सं० ४९
३ छं० सं० ४८

रबि ससि तारे कहूं भूले भटकत हैं ॥[1]

कवि के कथनानुसार बादलों के महा अंधकार से सूर्य, चन्द्र और तारेगण अपना रास्ता भूल गये और कहीं भटक रहे हैं। वास्तव में वर्षाकाल में घोर अंधकार के कारण सूर्य, चन्द्र आदि का लुप्त हो जाना स्वाभाविक है, किन्तु कवि ने अपनी कल्पना शक्ति से इस सत्य को अति रमणीय बनाने की चेष्टा की है।

कभी-कभी वर्षाकाल में आकाश बादलों से इतना आच्छादित हो जाता है कि लगता है, अपार वृष्टि होगी, लेकिन जब थोड़ी ही देर में बादल आकर चले जाते है तो चातक मयूर आदि प्राणियों को बड़ी निराशा होती है। कविवर सोमनाथ ने वर्षा के ऐसे तथ्यपूर्ण चित्रण में जैसी कुशलता प्रदर्शित की है, वह द्रष्टव्य है—

रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहूं बूंदाबूंदहू न करिगे।
सोर भयो घोर चहूं ओर नभमण्डल में,
आए घन, आए घन, आय के उघरि गे ॥[2]

यद्यपि ऋतु वर्णन में परिपाटी बद्धता की प्रवृत्ति अधिक बाधक सिद्ध हुई है, किन्तु जो सच्चे और भावुक कवि थे, उनके हृदय का सच्चा अनुराग परिपाटीबद्ध रचनाओं में भी दब नहीं सका। इस तथ्य की प्रामाणिकता के लिए बेनी कविकृत वर्षा विषयक एक छन्द ले लीजिए। यों इस छन्द में वर्षा ऋतु का वर्णन उद्दीपन विभाव की ही दृष्टि से हुआ है, किन्तु कवि की सच्ची रागात्मकता के कारण उद्दीपन विभाव की सभी विशेषताएँ छिप-सी गयी हैं—

बियत बिलोकत ही, मुनि मन डोलि उठे, बोलि उठे बरही बिनोद भरे बन-बन।
अकल बिकल ह्वै बिकाने रे पथिक जन, ऊर्ध्वमुख चातक अधोमुख मरालगन ॥
बेनी कवि कहत मही के महा भाग भये, सुखद संयोगिनि बियोगिनि के ताप तन।
कज पुंज गंजन सुखीदल के रंजन सो, आये मान भंजन ये अंजन बरन घन ॥[3]

आकाश की ओर देखते हुए मुनियों का मन चंचल हो गया। विनोद भरे मयूर बन-बन में बोलने लगे, बिचारे पथिकगण इसलिए व्याकुल हो गए कि वर्षा से आवागमन बन्द हो जायेगा। चातक स्वाती बूंद की आशा से अपना मुख ऊपर किए हुए हैं, किन्तु बेचारे हंसों ने वर्षा से निराश होकर अपना मुख झुका लिया है—वर्षाकाल में हंस गण मानसरोवर चले जाते हैं, वर्षाकाल में हंसों का रहना सम्भव नहीं।

---

१. कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, छं० सं० २६

२. रस कुसुमाकर—ददुआ साहब, पृ० १७, छं० सं० ३०

३. पावस कवित्त रत्नाकर, सं० परमानन्द सुहाने, पृ० ३६, छं०सं० १८२, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में सन १८६३ में मुद्रित

समष्टित: कवि ने वर्षाकाल में आकाश में घिरे बादलों के प्रभाव का हृदयग्राही चित्रण किया है, विशेषतया चातक और मराल गणों के मुद्रा विधान में उसकी बड़ी पैनी दृष्टि व्यक्त हुई हैं।

समीर

रीति कवियों ने वर्षा के समीर में हरी लताओं के झुक जाने के साथ ही उनसे उत्पन्न होने वाली सनसनाती ध्वनियों के शब्द चित्र-विधान में असामान्य निपुणता प्रकट की है। इस प्रकार की ध्वन्यात्मक रमणीयता पूर्ववर्ती कवियों से उत्कृष्टतर है। इस विषय का देवकृत एक छन्द द्रष्टव्य हैं—

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की चहूं ओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन मे सखि रागत राग अचूकनि सों।।
कवि देव घटा उनई जो नई सब भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर की झूकनि सों।।[1]

यद्यपि इस छन्द में उद्दीपन भाव की झलक मिल सकती है, किन्तु प्रकृति के यथातथ्य एवं स्वाभाविक सौन्दर्य निरूपण के कारण यह आलम्बनगत प्रकृति चित्रण मे परिगणित होता है। इससे मिलता-जुलता ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का जो चित्र अपभ्रंश कवि ने प्रस्तुत किया है, वह स्वारस्य एवं रमणीयता में देव के उक्त छन्द से निश्चय-रूपेण न्यून है। नमूना इस भाँति है—

झिरमिर झिरमिर झिरमिरए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए बादला दहंति।।[2]

—हिंडोला वर्णन

जिस प्रकार वसन्त के अन्तर्गत फाग का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार वर्षा के अन्तर्गत हिंडोले का कथन हुआ है। यों संस्कृत काव्यों में वर्षा के सन्दर्भ में दोला क्रीड़ा वर्णन हुआ अवश्य है,[3] पर हिन्दी रीति काव्य जैसा वैविध्यपूर्ण चित्रण का वहां सर्वथा अभाव है। हिन्दी भक्ति वाङ्मय में हिंडोले की चर्चा पावस ऋतु के अन्तर्गत हुई अवश्य है, किन्तु रीति काव्य में हिंडोले का उल्लेख वर्षा के आनन्द और विलासमय रूपों के संदर्भ में हुआ है।

शृंगारिक परिवेश में झूला वर्णन एक विशिष्ट महत्व रखता है। झूला झुलते समय नायिका के अंगों की क्या स्थिति होती है और वे किस प्रकार अपने प्रिय के साथ

---

१. सुखसागर तरंग—देव, पृ० ५१. छं० सं० १५१
२. हिन्दी काव्य धारा—राहुल
३. सुभाषित सुधारत्नभाण्डागारम्—पृ० २१६

झूलने में आनन्द का अनुभव करती है, इन बातों के सूक्ष्म एवं भावपूर्ण कथन में रीति कवियों ने अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। रीतिकाव्य परम्परा के अन्तर्गत बिहारी, देव और पदमाकर ने झूले का अधिक चित्रात्मक वर्णन किया है। देव का एक छन्द इस प्रकार है—

आली झुलावति झूंकनि सो झुकि जाति कटी झननाति झकोरे।
चंचल अंचल की चपला, चल बेनी बड़ी सो गड़ी चित चोरे।।
या विधि झूलत देखि गयो तब ते कवि देव सनेह के जोरे।
झूलत है हियरा हरि को हिय मांह तिहारे हरा के हिंडोरे।।[1]

अन्तिम पंक्ति द्वारा प्रेमपूर्ण भावों की सूक्ष्म अभिव्यंजना में कवि ने अपनी कलात्मकता का असाधारण परिचय दिया हैं। कृष्ण का हृदय नायिका के हिलते हुए हार रूप हिंडोले मे झूल रहा है। इसी भाव को अधिक उत्कर्ष प्रदान करते हुए रीति परम्परा के प्रसिद्ध कवि पद्माकर लिखते हैं।

काम झूले उर में उरोजन में दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अंखियान में।[2]

प्रस्तुत छन्द में शरीर पर उमड़ती हुई मन की तरलता का सूक्ष्म अंकन हुआ है। एक ओर जहाँ उरोजों में दाम (माला) झूलना भाषा की अभिधा शक्ति को व्यक्त कर रहा है, वहां दूसरी और 'उर में काम झूलना' उसकी लाक्षणिकता को स्पष्टतया संकेतित कर रहा ह। आँखों की श्यामता में वर्ण साम्य के कारण कृष्ण की (श्याम की) कल्पना सारोपा गौणी लक्षणा के उत्कर्ष को प्रकट कर रहा है। 'काम' और 'स्याम' की ऐसी सूक्ष्म कल्पना वस्तुतः कवि की अटूट भावात्मक एवं कलात्मक साधना का परिणाम है।

झूला झूलते समय नायिका के विभिन्न अवयवों के हिलने और उसके वस्त्रो आदि के उड़ने की विभिन्न क्रियाओं का अति चित्रमय निरूपण हुआ है। कुछ नमूना इस प्रकार हैं—

क—ज्यों ही ज्यों मचत लचकत लचकीली लंक,
संकन अंकक मुखी अंकन लपटि जात।—तोष कवि[3]

ख—हट जात घूँघट, लटक लांबी लट जात,
फट जात कंचुकी, लचकि लौनी कटि जात।[4]

---

१. सुख सागर तरग, देव, पृ० ५५, छं० सं० १६२
२ पद्माकर पंचामृत—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ०२७६, छ०सं०३०
३ ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य—सं० प्रभुदयाल मीतल, पृ० ११६
४. ,, ,, ,, ,, पृ० १२०

ग—झूलन समै की सुधि भूलत न हूलत री,
उझकन, झुकन, झकोरन भुजान की[1]

घ—उड़न दुकूलन की, छवि भुजमूलन की,
काम मन हूलन की झूलन दुहुंन की ।।[2]—नाथ कवि

ङ—भूलत न भामिनी की गावन गुमान भरी,
सावन में श्रीपति मचावन हिंडौरे की ।[3]—श्रीपति कवि

संस्कृत काव्यों में झूले का इतना विशद वर्णन नहीं हुआ है । इस विषय की जो उपलब्ध रचनाएँ है, उनमें रीति कवियों जैसी प्रगाढ़ तन्मयता का स्वरूप प्रायः प्रस्फुटित नहीं है ।

—शरद

हिन्दी रीति वाङ्मय में बसन्त और पावस की अपेक्षा शरद का वर्णन कम हुआ है । संस्कृत काव्यों में शरद का कथन अवश्य हुआ है, किन्तु वहाँ भी बसन्त और वर्षा की तुलना में शरद विषयक छन्द कम है ।

हिन्दी रीति कवियों ने शरद का वर्णन दो दृष्टियों से किया है—

१—शरद का स्वतन्त्र वर्णन

२—शरद का रास सम्बद्ध वर्णन

शरद के स्वतन्त्र वर्णन में परम्परा पालन की प्रवृत्ति अधिक है । अधिकतर वर्णन शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से हुए हैं । लेकिन कुछ ऐसे भी कवि मिलेंगे जिनकी दृष्टि निश्चय ही परम्परा अभुक्त चित्रों की अवतारणा में अधिक कुशल प्रमाणित हुई है । कविवर देव के शरद विषयक कुछ छन्दों में बड़ी नवीन और मौलिक दृष्टि की झलक मिलती है । पूर्ववर्ती काव्यों में इतनी विराट् कल्पना और प्रकृति निरीक्षण की ऐसी सूक्ष्म दृष्टि का प्रायः अभाव है । कुछ नमूना इस प्रकार है ।

आस पास के पूरण प्रकास के पगार सूझे बनन अगार डीठि गली ह्वै निबरते ।
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी, बिधु बरम्हंड उतरात विधि बरते ।।
सरद जुन्हाई जह्नु पूरन सरूर धाई, जाई सुधा सिंधु नभ सेत गिरिवर ते ।
उमड़ो परतु जोति मंडल अखंड सुधा, मंडल मही में इंदु-मंडल बिवरते ।।[4]

---

१. व्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य—सं० प्रभुदयाल मीतल, पृ० १२०
२. ,, ,, ,, ,, पृ० १२१
३. ,, ,, ,, ,, पृ० १२१
४ सुखसागर तरंग—देव पृ० ५८ छं० सं० ७१

उपर्युक्त छन्द में शरद की अपार ज्योत्स्ना में निमज्जित विश्व का एक उदात्त एवं विराट् चित्र अंकित हुआ है। कवि के कथनानुसार चतुर्दिक पारा का अपार समुद्र लहरा रहा है उसमें दशों दिशाएँ डूब गयी हैं तथा चन्द्र और ब्रह्माण्ड दोनों ब्रह्मा के वरदान से उतरा रहे हैं। कवि की दूसरी कल्पना है कि मानो आकाश के श्वेत पर्वत स्थित सुधा सिंधु से उत्पन्न शरद की ज्योत्सना रूपी गंगा सहस्र धाराओं में निकल पड़ी। अंतिम पंक्तियों में नवीन चित्रोद्भावना करते हुए कवि लिखता है कि अपार एवं अखण्ड ज्योति मण्डल रूप सुधा मंडल चन्द्रमण्डल के छिद्र से मानो उमड़ा पड़ रहा है। वस्तुतः कवि ने शरद-ज्योत्स्ना की व्याप्ति के निरूपण में एकदम नवीन कल्पना-शक्ति का विनियोग किया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर देव ने आकाश स्थित शरद चन्द्र की कल्पना सुधा सरोवर में तैरते हुए हंस के रूप में की है। परम्परा की लीक पर चलने वाले अन्य कवियों के जोड़ में यह कल्पना नितान्त अनूठी है—

सुधा के सरोवर सों अम्बर उदित ससि मुदित मराल मनु पैरिबे को पैठ्यो है।
बेला के विमल फूल फूलत समूल मानो, गगन ते उड़ि उडुगण गण बैठ्यो है॥[1]

सेनापति ने क्वार के बादलों का स्वरूपांकन करते हुए बड़ी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। क्वार के बादल शारदीय ज्योत्स्ना से दीप्तमान होने के साथ ही अधिक देर तक ठरने वाले नहीं होते। कवि ने इस दृष्टि से उनके रंग और गति का रूप विधान इस प्रकार किया है—

सलिल सहल मानो सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥[2]

रीति कवियों ने शरद के ऐसे सौन्दर्य का भी निरूपण किया है, जिसका सम्बन्ध कृष्ण की वंशी और रासलीला से अधिक है। रास सम्बद्ध शरद वर्णन की प्रेरणा इन्हें श्रीमद्भागवत और उसका अनुसरण करने वाले ब्रजभाषा भक्त कवियों से मिली है। श्रीमद्भागवत में ऐसा कथन है कि शरद ऋतु की मनोहारिणी चाँदनी रात में भगवान कृष्ण की विश्व विमोहिनी मुरली की ध्वनि सुनकर सहस्रों गोपियां अपनी सुधि-बुधि खोकर अकेली निकल पड़ी और पहुँचने पर कालिन्दी तट पर रचित रास मण्डल के अपूर्व आनन्द को प्राप्त किया।

रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य पद्माकर ने रास सम्बद्ध इसी प्रकार के शरद वर्णन में अपनी पैनी दृष्टि का एक उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत किया है। पूरा छन्द इस प्रकार है—

---

१. शब्द रसायन—देव, पृ० ६८
२. कवित्त रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, तीसरी तरंग, छं० सं० ३८

तालन में ताल पै तमालन पै मालन पै, वृन्दाबन बीथिन बहार बंटीबट पै।
कहैं पद्माकर अखंड रास मण्डल पै, मंडित उमंडि महा कालिंदी के तट पै॥
छिति पर छान पर छाजत छतान पर, ललित लतान पर लाड़िली के लट पै।
आई भली छाई यह सरल जुन्हाई जिहि, पाई छवि आजु ही कन्हाई के मुकुट पै।[1]

शरद के उस अपार ज्योत्स्ना में जिस समय रास मंडल में नृत्य-गान आरम्भ होता है, उस समय सारा आकाश मन्डल और दिशि दिशाएँ चूड़ियों की खनकार, सितार आदि के पंचम स्वरों और घुंघरुओं की झंकार से गुंजरित हो जाती है—

कहैं नन्दराम तैसैं तार औ सितार मिलि,
चूरी खनकार सुन पंचम उचार है।
भूतल, दिसान-विदिसान, आसमान हू लौं,
छम-छम छाई घुंघरू की झनकार हैं।[2]

इस प्रकार के शरद विषयक छन्दों से सुस्पष्ट है कि रीतिकवियों की दृष्टि परम्परा से बंधकर भी यथास्थल अवकाश मिलने पर नवीन पथ का मार्ग अवश्य ढूँढती रही।

—हेमन्त और शिशिर

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्यों की भांति हिन्दी रीति काव्य में भी हेमन्त और शिशिर विषयक छन्द अधिक नहीं हैं। जो छन्द उपलब्ध हैं, उनमें अधिकांशतः शृंगार के उद्दीपन विभाव से सम्बद्ध हैं। हेमन्त और शिशिर के उन्मुक्त स्वरूप के चित्रण का प्रयास प्रायः नहीं किया गया। स्वयं कालिदास ने हेमन्त और शिशिर के वर्णन में प्रायः पारम्परिक दृष्टि का उपयोग किया हैं। इस कथन की पुष्टि के लिये 'ऋतु संहार' के अधिकांश छन्द लिये जा सकते हैं, किन्तु इन सब के होते हुए भी सेनापति ने हेमन्त और शिशिर के सौन्दर्य निरूपण में यत्र-तत्र पर्याप्त मौलिकता दिखाई है। कुछ छंद इस प्रकार हैं—

आयो जोर जड़काली, परत प्रबल पालौ,
लोगन को लालौ पर्यौ, जियें कित जाइ कै।
ताप्यौ चाहैं बारि कर, तिन न सकत टारि,
मानों हैं पराये, ऐसे भये ठिठराइ कै॥[3]

जाड़े के समय लोगों की कैसी स्थिति हो जाती है, उसका यथार्थ चित्र इस छंद में चित्रित किया गया है। अधिक ठंडक के कारण प्रायः लोग आग जलाकर तापने

---

१. पद्माकर पंचामृत—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १६०, छं० सं० ३८६
२. शृंगार दर्पण—नन्दराम, पृ० ६१, छं० सं० ५०
३. कवित्त रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, तीसरी तरंग, छं० सं० ५५

की प्रबल इच्छा रखते हैं, किन्तु अंग पाले से इतने ठिठुर जाते हैं कि उनमें तृण जैसी हलकी वस्तु को भी हटाने की शक्ति नहीं रह जाती। वे ठंडक के कारण पराये जैम हो जाते हैं। इसी प्रकार आलम्बन विभाव की दृष्टि से रचित एक अत्यन्त उत्तम छद का नमूना अधोलिखित है—

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन में जाइ कै।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिर रहैं,
हियलौं लगाइ रहैं नैक सुलगाइ कै।
मानों सीत जानि, महासीत तें पसारि पानि,
छतियों की छांह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥[1]

सामान्यतया ग्रामीण अंचलों में वस्त्राभाव के कारण गरीब लोग आग जला कर जाड़े से अपनी रक्षा करते हैं, किन्तु उस समय की स्थिति अधिक कारुणिक एव दयनीय हो जाती है। जब अलाव के पास बैठे लोग धुएँ से परेशान हो जाते हैं अर्थात् धुएँ के लगने से उनके नेत्रों से पानी बह रहा है—फिर भी वे आग के ऊपर टूट रहे हैं—आग को हृदय से लगा रहे हैं। सामान्य जीवन की कितनी सच्ची अनुभूति का चित्रण इस छंद में किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जीवन की अनेकरूपता का कवि को पर्याप्त अनुभव था, इसी कारण मानवीय संवेदना का इतना यथार्थ एवं प्रकृत चित्र खींचने मे सेनापति को आशातीत सफलता मिली है। ऐसे ही छन्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती हेमन्त और शिशिर से सम्बन्धित छन्दों में इस प्रकार की मानव हृदय को स्पर्श करने वाली संवेदना का बहुत कुछ अभाव है। सेनापति जी के ऐसे छद अपनी मौलिकता एवं प्रभविष्णुता में यथार्थतः अद्वितीय हैं, इसमें किंचित् सन्देह नहीं किया जा सकता।

पर्वोत्सव : अखती, बरसाइत, गनगौर, तीज, सलोनो, दशहरा, दीपावली, गणेश चतुर्थी, होली

—पर्वोत्सव

किसी भी काव्य में वर्णित पर्वोत्सव से स्पष्ट आभास मिलता है कि जन-विशेष की सांस्कृतिक धारा किन-किन रूपों में प्रवाहित होती रही और उसका सांस्कृ-

---

१. कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, छं० सं० ४५

िक जीवन अपने पोषण के लिये किन-किन अक्षय तत्वों का समाहार करता रहा। यद्यपि यह सत्य है कि युग की बदलती हुई परिस्थितियां हमें अपने अतीत से बहुत दूर कर देती है, किन्तु समय-समय पर आने वाले ये उत्सव और पर्व हमारी विस्मृत प्राय सांस्कृतिक चेतना को प्रायः बार-बार उद्बुद्ध कर दिया करते हैं। इस दृष्टि से इन पर्व और उत्सवों का सांस्कृतिक सम्बन्ध सर्वतोभावेन मान्य है।

वर्ण व्यवस्था के अनुसार भारतीय त्योहारों में मुख्यतया श्रावणी, दशहरा, दीपावली एवं होली की गणना होती है। किन्तु वर्ण व्यवस्था के अतिरिक्त हमारे देश मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्रत्येक ऋतु में किसी न किसी पर्वोत्सव मनाने का आयोजन किया जाता था। सम्भव है, कि कालान्तर में ऋतु सम्बद्ध इन त्योहारों एवं पर्वों को वर्ण व्यवस्था के अनुसार विभाजित कर दिया गया हो।

पर्व और त्योहार हमारे नित्य-प्रति के जीवन में इतने घुल-मिल गये हैं कि रीति काव्य में भी उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकी। फलतः इन त्योहारों और पर्वों से सम्बद्ध एक विशाल वाङमय रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त दोनों काव्यों में उपलब्ध है। रीतिबद्ध कवियों में बिहारी, देव, पद्माकर और ग्वाल आदि ने अपने सरस छंदो मे इन त्योहारों, उत्सवों और पर्वों की महत्वपूर्ण अवतारणा की है। रीतिमुक्त कवियो मे टाकु र, घनानन्द जैसे कलाकारों ने अपने मधुर उद्‌गारों की अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट नमूना इन त्योहारों और पर्वों के वर्णन में स्वभावतया प्रस्तुत किया है।

बुन्देलखण्ड के जन-जीवन में अन्य प्रदेशों के जन-जीवन की अपेक्षा कतिपय विशिष्ट त्योहारों एवं पर्वों के सरस स्वरूपों के प्रति अधिक उल्लास दिखायी पडता है। रीतिमुक्त कवि ठाकुर ने अखती, सलोनो, होली आदि की रसमय उद्‌भावना मे अपनी मौलिकता का अप्रतिम निदर्शन प्रस्तुत किया है। यों संस्कृत वाङ्मय में विशिष्ट पर्वों एवं त्योहारों का उल्लेख अवश्य हुआ है, किन्तु रीति कवियों ने जिस उल्लास और उमंग के साथ होली आदि पर्वों का वर्णन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नीचे हम कुछ विशिष्ट पर्वों एवं त्योहारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करेंगे, जिससे इस तथ्य पर भी पूर्ण प्रकाश पड़ सके कि इन त्योहारों के वर्णन में इन कवियों ने किस प्रकार का नवीन योगदान किया।

—अखती

बुन्देलखण्ड के लोकजीवन से सम्बद्ध एक ऐसा पर्व है, जिसकी चर्चा पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं मिलती। इस विषय के कुछ छन्द बुन्देलखंडी कवि ठाकुर ने प्रस्तुत किए हैं। 'अखती' बैसाष शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) को पड़ती है। इस दिन बुन्देल-खण्ड के रहने वाले स्त्री-पुरुष खूब शृंगार आदि करके नगर के बाहर वट वृक्ष पूजन को जाते हैं और परस्पर गुलाब अथवा चमेली की छड़ी चलाते हैं तथा पुरुष से पत्नी

और पत्नी से पुरुष का नाम लिखाते हैं। इस विषय का ठाकुर कृत एक छन्द इस प्रकार है—

> अखती रची राधिका मोहन सों बधू को हठि नाम लिखावती हैं।
> झहरावती भौंह झुकावती फेरि लिये कर लोद खिझावती हैं।।
> कहि ठाकुर काम गुरू के कहे ते कहौ जू कहौ जू सुनावती हैं।
> रस रीति के प्रीति के प्रीतम को बिसरे मनो अंक पढ़ावती हैं।।[1]

एक दूसरे छन्द में कृष्ण से निवेदन करती हुई सखी कह रही है कि हे लाल, यदि ऐसे ही नाम उच्चरित करवाना चाहते हैं तो उसके लिए तैयार हैं, पर चमेली की गांठ वाली छड़ी से मत मारिये, क्योंकि कोमल शरीर में कहीं चोट लग जायगी पुन इस प्रकार मारने से भला आपको क्या आनन्द मिलेगा ?

> गांठ गठीली चमेली की बोदर घालो न कोऊ अनूतरी कैहै।
> ऊसइ नाम लेवाओ तो लेहैं पैं घाले ते लाल कहा रस रैहै।।
> ठाकुर कंज कली सी लली बलि या जड़ चोट सरीर न सैहै।
> बाल कहै कर जोर हहा यह बोदर लाल हमैं लग जैहै।।[2]

—बरसाइत

यह पर्व ज्येष्ठ की अमावस्या के दिन पड़ता है। उस दिन सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पति की आयुष्कामना के निमित्त वटवृक्ष का पूजन करती हैं। संस्कृत और अन्य पूर्ववर्ती साहित्य में उसका काव्यात्मक कथन प्रायः नहीं हुआ। कहा जाता है कि बरसाइत संस्कृत के 'वट सावित्री' का विकृत रूप है, अतः सावित्री द्वारा अपने पति को पुनर्जीवित करा लेने वाली कथा से ही इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। रीति कवियों में प्रतापसाहि ने अपनी व्यंजनावलित शब्दावली में इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है—

> पूजती और सबै वनिता तिनके मन में अति प्रीति सुहाति है।
> कौन सी सीख धरी मन में चलि कै बलि काहे नजीके न जाति है।
> औसर या बरसायत को बर सायत ऐसीं न और दिखाति है।
> कौन सुभाव री तेरो पर्‌यो बर पूजत काहे हिये सकुचाति है।।[3]

नायिका बर इसलिये नहीं पूजती कि 'बर' वट वृक्ष के अतिरिक्त बर

---

१. ठाकुर ठसक—सं० ला० भगवानदीन, पृ० २४, छं० सं० १०२
२, वही, पृ० २५, छं० सं० १०५
३. व्यंग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसाहि, पृ० ४, छं० सं० १६

(प्रियतम) का भी बोधक है। अन्य वर न पूजने से उसके पस्त्रित तत्व का संकेत मिलता है।

—गनगौर

राजस्थान में गनगौर पर्व की अधिक चर्चा होती है। वस्तुतः यह पर्व कुमारी लड़कियों से अधिक सम्बद्ध है, क्योंकि अभीष्ट वर प्राप्ति की कामना से प्रेरित होकर राजस्थान की कुमारियाँ इस व्रत को रखती हैं और इस दिन गणेश और गौरी की पूजा करती हैं। गनगौर पर उदयपुर में चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को एक विशाल मेला लगता है। हिन्दी रीति कवियों में पद्माकर ने इस पर्व का उल्लेख अपने एक छन्द में इस प्रकार किया।

द्यौस गनगौर के सु गिरिजा गुसाइन की,
छाई उदयपुर में बधाई ठौर-ठौर है।
देखो भीम राना या तमासो ताकिबे के लिए,
माची आसमान में बिमानन की झौर है।
कहै 'पद्माकर' त्यों धोखे में उमा के गज,
गौनिन की गोद में ग॰ानन की दौरि है।
पारावार हेला महा मेला में महेस पूछैं,
गौरन में कौन सी हमारी गनगौर है।[1]

—तीज

इसे संस्कृत में 'हरितालिका' नाम से बोधित किया गया है। यह स्त्रियों के महत्वपूर्ण त्योहारों में परिगणित होती है। स्त्रियाँ इस दिन निराजल व्रत रखती हैं। यह पर्व भादों के शुक्ल पक्ष की तृतीया में पड़ता है। रीति कवियों में बिहारी, पद्माकर आदि शृंगार साधकों ने इसकी पूर्ण चर्चा की है। पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य-परम्परा में इस पर्व का प्रतिपादन प्रायः नहीं हुआ। बिहारी ने अपने एक दोहे में इसका कथन इस प्रकार किया है—

तीज परव सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुंह करी इहीं मरगजैं चीर॥[2]

तीज के अवसर पर जहाँ अन्य सौतों ने नाना प्रकार के सुन्दर भूषण एवं वस्त्रों से अपना शृंगार किया—नायिका ने अपनी मैली साड़ी से उनके मुख को मलिन

---

१. पद्माकर पंचामृत—आमुख, सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १४
२ बिहारी रत्नाकर—टी० बाबू रत्नाकर दो० सं० ३१५ प्र० सं०

कर दिया अर्थात् नायिका अपने सहज लावण्य के कारण मैली साड़ी में अच्छी लग रही थी।

—सलोनो

श्रावण पूर्णिमा के दिन बुन्देलखण्ड में रक्षाबन्धन और कजली का विशेष महत्व है। यह त्योहार उत्तर प्रदेश में भी प्रचलित है और इसे श्रावणी के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दिन बहनें अपने भाइयों की कलाई पर रक्षा बन्धन बाँध कर अपने को धन्य समझती हैं। सलोनो का वर्णन अन्य कवियों में नहीं मिला। केवल बुन्देलखण्डी कवि ठाकुर ने इस विषय का एक अत्यन्त अनूठा छन्द प्रस्तुत किया है—

घर के न बाहर के काहे को करत घेर,
गरजी तमासे की हों बरजी न रैहे मैं।
आज सुभ सावन सलोनो की परब पाय,
अंग अंग सुभग सिंगारन बनैहे मैं॥
ठाकुर कहत संग संग ब्रज बालन के,
रंग भरे राछरे उमंगन सों गैहे मैं।
देखि रक्षा बन्धन गोविन्द जू के हाथ साथ,
राधे की कजलिया सिरावन को जैहे मैं॥[1]

—दशहरा

विजया दशमी का महोत्सव भारत के विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण त्योहारों में परिगणित होता है। इस विषय की रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। केवल बिहारी और ठाकुर ने इस सम्बन्ध में यत्किंचित् रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। बिहारी ने अपनी एक अन्योक्ति में दशहरा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

कालि दसहरा बीति है, धरि मूरख जिय लाज।
दुर्यो फिरत कत द्रुमन में नील कंठ बिन काज॥[2]

उपर्युक्त दोहे से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि दशहरे के दिन नीलकण्ठ का दर्शन शकुन सूचक होता है। ठाकुर ने दशहरा का जैसा उल्लासमय वर्णन किया है, उसकी एक झलक अधोलिखित छन्द में प्रस्तुत है—

---

१ ठाकुर ठसक—सं० लाला भगवानदीन, पृ० ३१, छं० सं० १२५
२. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, दो० सं० ७२५

धम धम धौंसन की धुनि सुनि लाजें घन, फहरैं निसान आसमान अंग छैठे हैं।
केहरि करिन्द हय हंस मूसा नादियाहू और सब बाहर उमाहन उमैठे हैं ॥
ठाकुर कहत सुर-असुर समूह नर नारिन के जूह नंद मन्दिर में पैठे हैं।
आओ चलें लीजिये जू कीजिये जनम धन्य, करुणा निधान कान्ह पान देन बैठे हैं।[1]

—दीपावली

दीपमालिका का वर्णन शरद ऋतु के प्रसंग में किया गया है। रीति कवियों के पूर्व जायसी, सूर और तुलसी के काव्यों में इस विषय का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। अन्य त्योहारों की भाँति दीपमालिका का उतना उल्लासमय निरूपण नहीं किया गया। केशव और दिवाकर जैसे थोड़े से शृंगारिक कवियों ने इस त्योहार का कथन किया है।

—गणेश चतुर्थी

माघ बदी ४ को पड़ने वाला संकट चौथ का व्रत गणेश चतुर्थी के नाम से भी अभिहित होता है। इस दिन हिन्दू स्त्रियाँ चन्द्रोदय होने पर गणेश जी की पूजा करती हैं और अपने व्रत को भंग करती हैं—फलाहार करती हैं। बिहारी ने शृंगारिक परिवेश में इसका इस प्रकार कथन किया है—

तू रहि सखी हौं ही लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल।
सबही बिनु ससि ही उदैं देहैं अरघु अकाल ॥[2]

सखी नायिका से कहती है कि हे सखी! मैं चढ़कर देखती हूं कि चन्द्रोदय हुआ कि नहीं। तू अट्टालिका पर मत चढ़, क्योंकि तुम्हारे चढ़ने से चन्द्रमुख के भ्रम से बिना चन्द्रोदय के ही अन्य स्त्रियाँ चन्द्र को अर्घ देने लगेंगी और इस प्रकार उनका व्रत टूट जायगा। पूरे छन्द में पर्यायोक्ति अलंकार द्वारा कवि ने नायिका के मुख चन्द्र के उत्कर्ष की श्लाघा की है। इसी प्रकार उन्होंने अपने एक अन्य दोहे में भी गणेश चतुर्थी का वर्णन किया है। प्रसंग इस प्रकार है कि नायिका चन्द्रोदय होने पर अर्घ देने के लिये अट्टालिका पर चढ़ी है। उसकी सखी उसके चन्द्रमुख की प्रशंसा करती हुई कहती है कि तुम तो चन्द्र को अर्घ दे चुकी अब नीचे चलो, अन्य स्त्रियां भी सावधान होकर चन्द्र पूजन करें और अपना व्रत तोड़ें। तुम्हारे रहने से उन्हें दो चन्द्र के कारण भ्रम होगा और वे अपना व्रत तोड़ न सकेंगी—

---

१. ठाकुर ठसक—सं० ला० भगवानदीन, पृ० ३१, छ० सं० १२६
२ बिहारी बोधिनी टी० ला० भगवानदीन दो० सं० २८६

दियो अरघ नीचे चलो मकट भान जाय
सुचिता ह्वै औरो सब, ससिहि विलोक जाय ।।[1]

पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य परम्परा में गणेश चतुर्थी का वर्णन नहीं मिलता। अत रीति काव्यान्तर्गत यह नवीन प्रसंगोद्भावना है।

—होली

पूर्व पृष्ठों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि होली का वर्णन बसन्त के प्रसंग में किया गया है। वस्तुतः भारतीय त्योहारों में होली ही एक ऐसा पर्व है जिसमें हमारे सांस्कृतिक जीवन की सच्ची झलक मिलती है। अन्य पुनीत पर्वों की तुलना में होली के अवसर पर हमारे हृदय के अनाविल उल्लास और प्रेम की जैसी दिव्य प्रभा प्रस्फुटित होती है, वैसी प्रभा अन्य अवसरों पर बहुत कम देखने को मिलती है। यही कारण है कि हिन्दी रीति कवियों ने अन्त त्योहारों की अपेक्षा होली विषयक प्रचुर छन्दों की रचना की है और यह कथन अधिक अतिरंजना पूर्ण न होगा कि होली से सम्बन्धित जैसा विशाल वाङ्मय हिन्दी रीति कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया, वैसा विशाल साहित्य भारत की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं होता।

प्राचीन भारत में वसन्त के अवसर पर मदनोत्सव, सुवसंतक, अशोकोत्तंसिका जैसे नाना प्रकार के उत्सव मनाये जाने का उल्लेख मिलता है। मदनोत्सव फाल्गुन से चैत्र मास तक मनाया जाता था और जिस दिन इस भूमण्डल पर वसन्त का आगमन होता था उस दिन 'सुवसंतक' नाम से उत्सव मनाया जाता था। किन्तु होलिकोत्सव शिशिर और वसन्त के संक्रान्ति काल में पड़ने के कारण वसन्तोत्सव का ही एक विशिष्ट एवं अभिन्न अंग माना जाता है।

हिन्दी रीति कवियों ने होली से सम्बन्धित नाना प्रकार की उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यों भक्ति वाङ्मय में भी इस विषय की रचनाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु ऐसी रसमयता का वहां सर्वथा अभाव है। हिन्दी रीति कवियों में बिहारी, देव, पद्माकर ठाकुर और ग्वाल जैसे कवियों ने होली की रसात्मक व्यंजना में जैसी कुशलता दिखायी है, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। यद्यपि 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' में इस विषय के कुछ छन्द प्राप्त है, किन्तु व्रजभाषा रीति कवियों जैसी अनूठी भाव-व्यंजना का दर्शन वहाँ नहीं होता। 'गाथा सप्तशती' का एक नमूना इस भाति है—

फग्गुच्छणणिद्दोखं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं।

---

१. बिहारी बोधिनी, टी० लाला भगवानदीन, दो० सं० २६०

थण अलसमुहृपलोट्टन्तसे अधोअं किणो धुअसि ॥[1]

अर्थात् फागुन के उत्सव में अनिन्द्य माना हुआ कीचड़ का प्रसाधन किसी ने तुम्हारे (वक्ष के) ऊपर किया जो तुम्हारे कुचकलश के मुख से बहते हुए स्वेद से धुल गया। (अब उसे) धुला क्या रही हो?

अब कुछ ब्रजभाषा रीति कवियों की अनूठी एवं मौलिक उक्तियों का निदर्शन लीजिए—

वस्तुत: उत्तर प्रदेश में ब्रजमण्डल की होली की जितनी ख्याति है, उतनी ख्याति अन्यत्र सुनने को नहीं मिलती। ऐसे अवसर पर सारा ब्रजमण्डल लाल, गुलाल, केसर और अबीर से रंग जाता है, कोई भी ऐसा स्थल दिखायी नहीं पड़ता, जहां रगों की भरमार न हो, इसका एक चित्र पद्माकर ने इस प्रकार दिया हैं—

झेलामेल झोरिन की मूठिन की मेला मेल, रेला रेल रंग की उमंग सरसत है।
कहै पद्माकर गवैयन की ऐल परी, गैल गैल फैल फैल फाग परसत है॥
धूमधधकोअन की धधकी बजत, तामै ऐसो अति ऊधम अनोखो सरसत है।
ग्वाल पर ग्वाल तेहि ग्वाल पर नन्दलाल, लाल नन्दलाल पैं गुलाल बरसत है।[2]

होली के सन्दर्भ में अन्तर के उमड़ते हुए अनुराग के सूक्ष्म विश्लेषण मे इन रीति कवियों की उक्तियां अधिक श्लाघनीय है। देव और पद्माकर के छन्द इस सम्बन्ध में अधिक मौलिक है—

क—लाल के रंग सौं भीजि रहीं सुगुलाल के रंग सौं चाहति भीज्यो[3]—देव

ख—एरी मेरी वीर जैसे तैसे इन आंखिन सों,
कढ़ि गो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं॥[4]

राधा कृष्ण के प्रणय व्यापारों को लेकर इन रीति कवियों ने ऐसे-ऐसे सरस प्रसंगों की उद्भावना की है, जिनके जोड़ की उक्तियाँ संस्कृत आदि भाषाओं में नही मिलतीं। कुछ छंद अधोलिखित हैं—

कृष्ण रंग डालने के लिए आए हुए हैं, नायिका उन्हें रंग खेलने के लिए सहर्ष आमंत्रित करती है, किन्तु उसका एक नम्र निवेदन यह अवश्य है कि बलवीर आँखे बचाकर रंग डालें, अन्यथा वह उनका दर्शन नहीं कर सकेगी—

खेलिए फागु निसंक ह्वै आजु, मयंक दुखी कहै भाग्य हमारो।
लेहु गुलाल दुहूं कर में पिचकारिन रंग हिये मंह मारो॥

---

१. गाथा सप्तशती—टी० डा० परमानन्दशास्त्री ४।६९
२. श्रृंगार संग्रह—सरदार, पृ० २७४
३. सुखसागर तरंग—देव, पृ० ४१, छं० सं० ११२
४. पद्माकर पंचामृत—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १८० छन्द सं० ४६९

भावै तुम्हें सो करो मोहि लाल पै पाव परी जिन घघुंट टारो
बीर की सौं हम देखि हैं कसे अबीर तो आंख बचाय के डारो ।।[1]

कभी-कभी प्रेम-प्रसंगों में सहज विनोद एवं हास्य प्रियता की प्रवृत्ति सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ करती हैं। होली के प्रसंग में नायिका कृष्ण के कम्बल का उपहास करती हुई कहती है कि जहाँ रेशमी वस्त्रों के पाँवड़े बिछाए जाते हैं, वहां तुम्हारी कमरी पर कौन रंग डालेगा—

शंभु समूह गुलाब के शीशन ढारि को केसर गारि बिगारि है।
पामरी पाँवड़े होति जहाँ तहां को लला कामरी पैं रंग डारि है ।।[2]

होली के सन्दर्भ में रची गयीं पद्माकर की कुछ रचनाएं अधिक भाव प्रवण एव प्रभविष्णु कही जाती हैं। कभी-कभी तो उनके छन्दों में अनाविल प्रेम की ऐसी झलक मिल जाती हैं, जिससे निश्चय ही उनकी गम्भीर रसमयता का बोध होता है—

'भाल में लाल गुलाल गुलाब सों गेरि गरे गजरा अलबेलो।
यों बनि बानिक सों पद्माकर आये जु खेलन फागु तौ खेलौ ।।
पैं एक या छबि देखिबे के लिए मो विनती कैं न झोरिन झेलौ।
रावरै रंग-रंगी आँखियान में ए बलबीर अबीर न मेलौ ।।[3]

होली खेलते समय कृष्ण नायिका के प्रेम-पाश में इस प्रकार बंध गए कि उसकी सखी को नितान्त आश्चर्य हुआ। अपने इस आश्चर्य भाव को प्रकट करती हुई वह कह रही है—

मूठी में, गुलाल में कि ख्याल में तिहारे प्यारी,
लाये भरी मोहिनी, सो भयो लाल मूठी में ।[4]

होली के अवसर पर होने वाली ऊधमबाजी के वर्णन में भी इन रीति कवियों ने पर्याप्त अभिरुचि प्रदर्शित की है। इस विषय का ठाकुर कृत एक छन्द इस प्रकार है—

जानि झुकाझुकी भेख छिपाय के गागरी लै घर से निकरी ती।
जानो नहीं मैं कबै केहि ओर ते आय जुरे जहाँ होरी धरी ती ।।
ठाकुर दौरि परे मोहि देखत भागि बची जू कछू सुधरी ती।
बीर जो द्वार न देहु केवार तो मैं होरिहारन हाथ परी ती ।।[5]

---

१. सुन्दरी तिलक—सं० भारतेन्दु, पृ० ७३, छं० सं० ८८
२. ,, ,, पृ० ७५ ,, ९८
३. पद्माकर पंचामृत, पृ० ९६, छं० सं० ५६
४. ग्वाल कवि—सं० प्रभुदयाल मीतल, पृ० १२१, छं० सं० १०३
५. ठाकुर ठसक—सं० ल० भगवानदीन, पृ० २४, छं० सं० १०१

ठाकुर ने अपने छंदों में प्रेम-द्वन्द्व के अनोखे चित्रों की अवतारणा की है। कुछ नमूने लीजिए---

क---ठाकुर जो बरजोरी करौ तुम हौंहू नहीं कछु दीन परैया।
फोरिहौ काहू की आँख लला रहो नीखे गुपाल गुलाल डरैया ॥[1]

ख---मेरी आँखिन माँझ गुलाल गयौ अब लाल हहा रहियो रहियो।[2]

देव कवि ने अपने एक छंद में शोभा काम और अबीर की दीप्ति का ऐसा संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया जिससे लगता है कि ऐसे प्रसंगों के वर्णन में इन रीति कवियों में कितनी प्रगाढ़ तन्मयता विद्यमान थी---

संबरारि उंबर में बूड़ि रहे दोऊ मुख शोभा के अड़बर अंबर अबीर में।[3]

(ख) विप्रलम्भ शृङ्गार

शृंगार का दूसरा पक्ष विप्रलम्भ कहा जाता है जिसकी उपादेयता और महत्ता प्रायः प्रत्येक वाङ्मय में स्वीकार की गयी है। कालिदास ने 'मेघदूत' में वियोग की प्रभविष्णुता की मुक्त कंठ से श्लाघा की है। उनके अनुसार वियोग में प्रेम का उपयोग न होने के कारण वह राशीभूत हो जाता है।[4] साहित्यदर्पणकार ने विप्रलम्भ शृंगार की व्याख्या करते हुए लिखा है 'जहाँ अनुराग तो अति उत्कट है, परन्तु प्रिय समागम नहीं होता उसे' विप्रलम्भ (वियोग) कहते हैं।[5] पुनः उन्होंने विप्रलम्भ के चार भेदों का संकेत किया है---१-पूर्वराग, २-मान, ३-प्रवास, ४-करुण।[6]

हिन्दी रीति काव्य में पूर्वोक्त चारों भेदों में केवल तीन भेदों---पूर्वराग, मान और प्रवास की अधिक चर्चा की गयी है, 'करुण पर उतना विचार नहीं हुआ। कुछ हिन्दी रीतिकारों ने तो कहीं-कहीं केवल तीन ही भेदों का उल्लेख किया है---

सोहे तीन प्रकार को, इक पूरबानुराग।
दूजो मान प्रवास ये, तीनों भेद अराग ॥[7]

---

१. ठाकुर ठसक---सं० ला० भगवानदीन, पृ० २३, छं०सं० ६६
२. ,, ,, पृ० ६७
३. सुख सागर तरंग---देव, पृ० २५, छं० सं० ७६
४. स्नेहानाहु : किमपि विरहव्यापदस्ते ह्यभोग्या
दृष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥११२॥ मेघदूत, उत्तरार्धम्, पृ० ८८
५. यत्र तु रतिः प्रकृष्टानाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ---
साहित्य दर्पण--हिन्दी टीकाकार--शालग्राम शास्त्री, चतुर्थ सं०, पृ० १०६
६. ,, ,, ३।१८७
७ शृंगार सुधाकर---द्विज पृ० १६८

अब विप्रलम्भ के प्रत्येक भेद की पृथक्-पृथक् विवेचना प्रस्तुत की जायगी, जिससे तद्-विषयक रीति कवियों की मौलिक दृष्टि एवं उनकी नूतन उपलब्धि का सहज स्वरूप पूर्णतया बोधगम्य हो सके। प्रथमतः 'पूर्वराग' लीजिए।

(१) पूर्वराग

संस्कृत वाङ्मय में संयोग एवं वियोग की स्थिति का निरूपण प्रायः सुखात्मक एवं दुखात्मक अनुभूतियों के आधार पर हुआ है। आलम्बन की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का महत्त्व वहाँ गौण है। यथा, पूर्वराग में आलम्बन की उपस्थिति का अभाव प्रत्येक दशा में सम्भव नहीं, फिर भी इसे वियोग के अन्तर्गत माना गया है। इसी प्रकार 'मान' की अवस्था में तो नायक-नायिका की उपस्थिति बराबर बनी रहती है, किन्तु मनःस्थिति की असमानता के कारण इसे भी वियोग में अन्तर्भूत किया जाता है।[1]

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्वराग की स्थिति पर विचार करते हुए लिखा है कि 'जब तक पूर्व राग आगे चलकर पूर्ण रति या प्रेम के रूप में परिणत नहीं होता तब तक उसे हम चित्त की कोई उदात्त या गम्भीर वृत्ति नहीं कह सकते। हमारी समझ में तो दूसरे के द्वारा चाहे वह चिड़िया हो या आदमी—किसी पुरुष या स्त्री के रूप-गुण आदि को सुनकर चट उसकी प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करने वाला भाव लोभ मात्र कहला सकता है, परिपुष्ट प्रेम नहीं।[2]

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'पूर्व राग' के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए इस पर गम्भीरता से विचार किया है। उनके अनुसार 'प्रिय का संयोग होने के पूर्व उसके गुण, श्रवण, दर्शनादि के कारण जो तड़प या वेदना होती है वही पूर्वराग है। अभिलाष की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अभिलाषहेतुक' भी कहा गया है।[3] अन्यत्र उन्होंने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हुए पूर्वराग के अन्तर्गत वेदना की गम्भीरता का अभाव स्वीकार किया है। और पूर्वानुराग के अन्तर्गत नाना प्रकार की व्याधियों का समावेश किया जाना भी उन्होंने अधिक औचित्यपूर्ण नहीं माना।[4]

दोनों आचार्यों के उक्त विचारों से स्पष्ट है कि 'पूर्वराग' में अभिलाष की तीव्रता ही प्रमुखतया होती है, जिसमें वेदना विवृति की अधिक गुंजाइश नहीं होती।

---

१. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० १०२
२. जायसी ग्रन्थावली—सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, चतुर्थ सं०, भूमिका भाग, पृ० ३०
३. बिहारी—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १०९
४ बिहारी पृ० ११०

इसी से [illegible] काव्यों में तो इसकी विकासिक स्थिति की सम्भावना की जा सकती है, किन्तु मुक्तक काव्यों में जहाँ पूर्ण रसानुभूति के लिए अधिक कलात्मकता अपेक्षित होती है—इसकी पूर्ण प्रेम-परिणति की अवस्था प्रायः संदिग्ध रहती है।

साहित्य दर्पणकार ने सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका के समागम से पूर्व दशा का नाम पूर्व राग अभिहित किया है। आगे इसका विस्तार करते हुए उन्होंने लिखा है कि गुणों का श्रवण दूती, बन्दी अथवा सखी द्वारा होता है और दर्शन इन्द्रजाल, चित्र, स्वप्न अथवा साक्षात्-रूपेण होता है।[१]

हिन्दी रीति ग्रन्थों में चित्रादिदर्शन का निरूपण प्रायः नायक भेद के सन्दर्भ में किया गया है और कुछ रीतिकारों ने स्पष्टतया 'दर्शन भेद' शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिकाओं के अन्तर्गत किया है।[२] इसके अतिरिक्त हिन्दी रीति ग्रन्थों में श्रवण, स्वप्न, चित्र और प्रत्यक्ष नामक जिन चार भेदों की कल्पना की गयी है, उनमें 'श्रवण' नामक दर्शन साहित्य दर्पण और रसमंजरी[३] में अनुल्लिखित है, क्योंकि इसे उन्होंने निरर्थक माना है। संस्कृत रीति ग्रन्थों में चित्रादि दर्शन 'पूर्वराग' से असम्पृक्त नहीं है, वरन् पूर्वराग में ही उसकी स्थिति मानी गयी है। इधर हिन्दी रीति ग्रन्थों मे पूर्वराग मान और प्रवास का कथन तो विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत हुआ है किन्तु दर्शन का पूर्ण विवेचन पृथक् से हुआ है। पर हिन्दी के पुराने 'शृंगार संग्रह' जैसे ग्रन्थो में चित्रादि दर्शन के क्रम में ही पूर्वानुराग का कथन हुआ है, जो अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है।[४]

इसी प्रकार वियोग की अभिलाषादि दशाओं का वर्णन हिन्दी के प्रसिद्ध रीति कवि देव ने 'पूर्वानुराग' के अन्तर्गत किया है। नायिकाओं में उन्होंने अभिलाषादि दशाओं का सन्निवेश मुग्धा पूर्वानुरागिनी में किया है,[५] क्योंकि मुग्धा नायिकाओं मे

---

१. दशा विशेषोयोऽप्राप्तो पूर्वरागः स उच्यते।
श्रवणं तु भवेत्तत्र दूती बन्दी सखी मुखात्। १८८
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम्॥ १८९—साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद

२. दरसन आलबंनहिं मैं, छवि मतिराम सुजान। श्रवन स्वप्न अरु चित्त त्यो पुनि प्रत्यक्ष बखान॥
रसराज—मतिराम, छं० सं० २७५

३. स्वप्नचित्र साक्षाद्भेदेन दर्शन त्रिधा—रसमंजरी, भानु, पृ० १२४

४. शृंगार संग्रह, सरदार, पृ० १५५, १५६

५. सुखसागर तरंग—देव, पृ० १८०

भावातिरेक की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उसके कारण अभिलाषादि मानसिक अवस्थाएँ अधिक तीव्र हो जाती हैं। सम्भवतः इन्हीं कारणों से देव ने इन अवस्थाओं का अन्तर्भाव मुग्धा में करना अधिक समीचीन समझा, किन्तु हिन्दी के दूसरे रीतिकारों ने इन अवस्थाओं का समावेश प्रवास या वियोग में किया है।[1]

समष्टिरूपेण 'पूर्वानुराग' का मूल उत्स श्रवणादि दर्शन ही है, अतः रीति कवियों द्वारा वर्णित तद्विषयक सरस एवं मधुर उक्तियों का पृथक् विवेचन अधिक उचित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से पहले श्रवण दर्शन विषयक सरस एवं मनोहारिणी रचनाएं लीजिए—

श्रवण दर्शन

राधिका सों कहि आई जु तूँ सखि सांमरे की मृदु मूरति जैसी।
ता छिन तें पद्माकर ताहि सुहात कछू न बिसूरति बैसी॥
मानहु नीर भरी घन की घटा आंखिन में रही आनि उनैसी।
ऐसी भई सुनि कान्ह कथा जु बिलोकहि गी तब होइगी कैसी॥[2]

वस्तुतः अन्तर के उमड़ते हुए अनुराग का यह अत्यन्त मनोमुग्धकारी चित्र है। जो यह कहा करते हैं कि उक्तियों के वैचित्र्य-विधान में ही काव्य की समस्त सरसता सन्निहित रहती है, उन्हें पद्माकर की ऐसी सहज एवं रससिक्त शब्दावली पर ध्यान देना चाहिए। संस्कृत और प्राकृत आदि काव्यों में प्रायः इस कोटि की रचनाएँ नहीं मिलती। इसी प्रकार की उक्तियों के आधार पर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पद्माकर की श्लाघा करते हुए लिखा हैं-'ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बांधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी।'[3]

इसी प्रकार 'शम्भु' कवि के एक छन्द में 'श्रवण दर्शन' का एक उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत हुआ है। प्रसंग यों है कि कृष्ण की कथा सुनकर नायिका उनमें इतनी तन्मय हो गई है कि वह सोते-जागते उन्हीं के रंग में रंगी रहती है। एक दिन अपनी ध्यानावस्था में उसे ऐसा मालूम हुआ कि कृष्ण ने उसके अधरों पर दन्त क्षत कर दिया है। बस, स्वयं दीपक के समीप अर्ध रात्रि में आरसी लेकर उस दाग को देखने लगी—

---

१. क—रसराज—मतिराम, पृ० २२०, छं० सं० ३६८
   ख—सुधानिधि—तोष, पृ० १८३, छं० सं० ४२२
   ग—जगद्विनोद—पद्माकर पृ० ६१५
२. पद्माकर ग्रन्थावली सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १५१, छं० सं० ३२७
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१०

कान्हर की नित 'संभु' कथा सुनि कै इमि कामिनी कौतुक पागी ।
सोवत जागत हू जो मनै मन में मोहन के रंग रागी ।।
दंत को दाग दियो पिय ध्यान में ध्यानहीं तें तब सोवत जागी ।
आपु दिया ढिग आरती लै अधरा अधरातक देखन लागी ।।[1]

विकासोन्मुख प्रेम की जिस अवस्था का बोध इस छन्द से होता है, उससे स्पष्टतया प्रकट है कि इन रीति कवियों में केवल काव्य-कौशल प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति प्रधान न थी, अपितु संवेदनात्मक स्थलों के निरूपण में इनकी दृष्टि शुद्ध रागात्मकता से अनुप्राणित थी । मतिराम अपनी भाव-व्यंजना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । उन्होंने श्रवण दर्शन के सन्दर्भ में जिस छन्द की रचना की है, वह वस्तुतः अत्यन्त अनूठा होने के साथ भावों की सांद्रता के द्योतन में पूर्ण सक्षम है—

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द-विलास विलोचन देखे ।
अंबर पीत लसै चपला छवि अंबुद मेचक अंग उरेखे ।।
कामहुं ते अभिराम महा मतिराम हिये निहचै करि लेखे ।
तै बरनैं निज बैनन सो सखी मै निज नैननसों जनु देखे ।।[2]

चित्र दर्शन

नायक के गुणों को श्रवण करने के पश्चात् नायिका के मानस में उसके रूप-दर्शन की पिपासा शनैः शनैः बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति में दूती अथवा सखियों द्वारा प्राप्त नायक के चित्र से प्रेम की तन्मयता अधिक सान्द्र एवं उत्कट हो जाती है । वह निरन्तर नायक के चित्र दर्शन में विभोर रहती है और उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो नायक का प्रकृत साक्षात्कार हो गया । हिन्दी रीति कवियों ने चित्र दर्शन से सम्बंधित नाना प्रकार की नूतन एवं मौलिक उक्तियों की उद्भावना की है । इस विषय की कुछ रचनाओं से तद्विषयक तथ्य अधिक स्पष्ट हो सकता है । बेनी प्रवीन का एक छन्द इस प्रकार है—

मूरति मोहनी मोहन की लिखि, लाइ जहां सखियान की भीरै ।
बेनी प्रवीन विलोकत राधिका, चित्र लिखी सी भई तेहि तीरै ।।
जोरी किसोरी किसोर की रीझ सराहती है गुन ग्वालि गंभीरै ।
चित चितेरी रही चकि सी जकि, एकतै ह्वै गई ह्वै तसवीरै ।।[3]

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—सं० द्विज मन्नालाल, पृ० १८८, छं० सं० ४
२. रसराज—मतिराम, छं० सं० २७६
३. नवरसतरंग—बेनीप्रवीन पृ० ३५ छं० सं० २१६

इस छन्द में तन्मयता की प्रगाढ़ स्थिति चित्रित की गई है। छन्द का भाव यह है कि चितेरी राधा और कृष्ण की मूर्ति अंकित करके वहाँ ले गई जहाँ, सखियों के मण्डल में राधिका भी मौजूद थी। चित्र को देखते ही उनकी भी वही स्थिति हो गई जो चित्र की थी अर्थात् चित्र पर वे इस प्रकार रीझ गई की उन्हें अपनी अन्तस्संज्ञा का ज्ञान बिलकुल न रहा—वे पूर्णतया जड़वत् हो गई। चितेरी भी परम चकित-सी रह गयी कि ये एक से दो तस्वीर कैसे हो गयीं ? इस प्रकार की तादात्म्यमूलक स्थिति का निरूपण करने वाले अनेकश: छन्द रीति कवियों द्वारा रचे गए हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी छन्द मिलेंगे, जिनमें कवि की अनूठी भाव-व्यंजना के साथ प्रेम-प्रसंगों की अवतारणा का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है। एक चित्र इस प्रकार है—

न्यौते गई वृषभान लली ललिता के जहाँ पति प्रीति पढ़ी है।
भीतमैं पीतमैं देखि लिखे नवला के हिये नव लाज बढ़ी है।।
आखिन भीजी सी अंग पसीजी सी छोभन छीनी सी मोह मढ़ी है।
चौकी चकी सतकी न सकी चितै मित्र की मूरति चित चढ़ी है।।[1]

भाव यह है कि राधा ललिता के यहां निमन्त्रण में गई, किन्तु वहां दीवाल पर प्रियतम की चित्रित मूर्ति देखकर उन्हें अतिशय अनुराग उत्पन्न हुआ और समीपस्थ सखियों को देखकर उनका हृदय लज्जा में पूर्ण निमज्जित हो गया अनुभावों के ऐसे स्वाभाविक विधान के कारण छन्द में पूरी सजीवता आ गयी है, और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस छन्द का उत्कर्ष निश्चय ही बढ़ गया है। अतिशय अनुराग का पर्यवसान प्रकार लज्जा किस भाव में हो जाता है, इसे मनःतत्व के ज्ञान से अभिज्ञ व्यक्ति ही समझ सकेंगे; दूसरे नहीं।

—स्वप्न दर्शन

मनोविज्ञान के अन्तर्गत स्वप्न के महत्व को पूर्णतया स्वीकार किया गया है। फ्रायड ने स्वप्न के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। यों सभ्य देशों की लोक कथाओं और लोकगीतों में तो इसकी महत्ता मानी ही गई है, असभ्य जातियों में भी इसे महत्वपूर्ण माना गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के उदय के साथ ही स्वप्नों पर द्रुतिगति से विविध दृष्टिकोणों से अध्ययन होने लगा है।[2]

हिन्दी रीति काव्य में स्वप्न दर्शन विषयक नाना प्रकार के उत्तम छन्द उपलब्ध हैं, जिनमें रीति कवियों की प्रतिभा प्रगल्भता का वास्तविक दर्शन होता है। स्वप्न विषयक उक्तियां संस्कृत में भी मौजूद हैं। स्वयं कालिदास ने 'मेघदूत' में इस विषय की बड़ी उदात्त कल्पना की है। उन्होंने अपने एक छन्द में विरही यक्ष की

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—द्विज मन्नालाल, पृ० १८६, छं० सं० ४
२. यौन मनोविज्ञान—हेवलाक एलिस—अनु०—मन्मथनाथ गुप्त, पृ० १०८

कान्हर की नित 'संभु' कथा सुनि कै इमि कामिनी कौतुक पागी।
सोवत जागत हू जो मनै मन में मोहन के रंग रागी ।।
दंत को दाग दियो पिय ध्यान में ध्यानहीं तें तब सोवत जागी।
आपु दिया ढिग आरती लै अधरा अधरातक देखन लागी ।।[1]

विकासोन्मुख प्रेम की जिस अवस्था का बोध इस छन्द से होता है, उससे स्पष्टतया प्रकट है कि इन रीति कवियों में केवल काव्य-कौशल प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति प्रधान न थी, अपितु संवेदनात्मक स्थलों के निरूपण में इनकी दृष्टि शुद्ध रागात्मकता से अनुप्राणित थी। मतिराम अपनी भाव-व्यंजना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन्होंने श्रवण दर्शन के सन्दर्भ में जिस छन्द की रचना की है, वह वस्तुतः अत्यन्त अनूठा होने के साथ भावों की सांद्रता के द्योतन में पूर्ण सक्षम है—

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द-विलास विलोचन पैखे।
अंबर पीत लसै चपला छवि अंबुद मेचक अंग उरेखे ।।
कामहुं ते अभिराम महा मतिराम हिये निहचै करि लेखे।
तै बरनैं निज बैनन सो सखी मै निज नैननसों जनु देखे ।।[2]

चित्र दर्शन

नायक के गुणों को श्रवण करने के पश्चात् नायिका के मानस में उसके रूप-दर्शन की पिपासा शनैः शनैः बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति में दूती अथवा सखियों द्वारा प्राप्त नायक के चित्र से प्रेम की तन्मयता अधिक सान्द्र एवं उत्कट हो जाती है। वह निरन्तर नायक के चित्र दर्शन में विभोर रहती है और उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों नायक का प्रकृत साक्षात्कार हो गया। हिन्दी रीति कवियों ने चित्र दर्शन से सम्बंधित नाना प्रकार की नूतन एवं मौलिक उक्तियों की उद्‌भावना की है। इस विषय की कुछ रचनाओं से तद्‌विषयक तथ्य अधिक स्पष्ट हो सकता है। बेनी प्रवीन का एक छन्द इस प्रकार है—

मूरति मोहनी मोहन की लिखि, लाइ जहां सखियान की भीरैं।
बेनी प्रवीन विलोकत राधिका, चित्र लिखी सी भई तेहि तीरैं ।।
जोरी किसोरी किसोर की रीझ सराहतीं है गुन ग्वालि गंभीरै।
चित चितेरी रही चकि सी जकि, एकतै ह्वै गईं द्वै तसवीरैं ।।[3]

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—सं० द्विज मन्नालाल, पृ० १८८, छं० सं० ४
२. रसराज—मतिराम, छं० सं० २७६
३. नवरसतरंग—बेनीप्रवीन पृ० ३५ छं० सं० २३९

इस छन्द में तन्मयता की प्रगाढ़ स्थिति चित्रित की गई है। छन्द का भाव यह है कि चितेरी राधा और कृष्ण की मूर्ति अंकित करके वहाँ ले गई जहाँ, सखियों के मण्डल में राधिका भी मौजूद थी। चित्र को देखते ही उनकी भी वही स्थिति हो गई जो चित्र की थी अर्थात् चित्र पर वे इस प्रकार रीझ गई की उन्हें अपनी अन्तस्संज्ञा का ज्ञान बिलकुल न रहा—वे पूर्णतया जड़वत् हो गई। चितेरी भी परम चकित-सी रह गयी कि ये एक से दो तस्वीर कैसे हो गयीं? इस प्रकार की तादात्म्यमूलक स्थिति का निरूपण करने वाले अनेकशः छन्द रीति कवियों द्वारा रचे गए हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी छन्द मिलेंगे, जिनमें कवि की अनूठी भाव-व्यंजना के साथ प्रेम-प्रसंगों की अवतारणा का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है। एक चित्र इस प्रकार है—

> न्यौते गई वृषभान लली ललिता के जहाँ पति प्रीति पढ़ी है।
> भीतमै पीतमै देखि लिखे नवला के हिये नव लाज बढ़ी है॥
> आंखिन भीजी सी अंग पसीजीं सी छोभन छीजी सी मोह मढ़ी है।
> चौंकी चकी ससकी न सकी चितै चित्र की मूरति चित चढ़ी है॥[1]

भाव यह है कि राधा ललिता के यहां निमन्त्रण में गई, किन्तु वहाँ दीवाल पर प्रियतम की चित्रित मूर्ति देखकर उन्हें अतिशय अनुराग उत्पन्न हुआ और समीपस्थ सखियों को देखकर उनका हृदय लज्जा में पूर्ण निमज्जित हो गया अनुभावों के ऐसे स्वाभाविक विधान के कारण छन्द में पूरी सजीवता आ गयी है, और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस छन्द का उत्कर्ष निश्चय ही बढ़ गया है। अतिशय अनुराग का पर्यवसान प्रकार लज्जा किस भाव में हो जाता है, इसे मनःतत्व के ज्ञान से अभिज्ञ व्यक्ति ही समझ सकेंगे; दूसरे नहीं।

—स्वप्न दर्शन

मनोविज्ञान के अन्तर्गत स्वप्न के महत्व को पूर्णतया स्वीकार किया गया है। फ्रायड ने स्वप्न के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। यों सभ्य देशों की लोक कथाओं और लोकगीतों में तो इसकी महत्ता मानी ही गई है, असभ्य जातियों मे भी इसे महत्वपूर्ण माना गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के उदय के साथ ही स्वप्नों पर द्रुतिगति से विविध दृष्टिकोणों से अध्ययन होने लगा है।[2]

हिन्दी रीति काव्य में स्वप्न दर्शन विषयक नाना प्रकार के उत्तम छन्द उपलब्ध हैं, जिनमें रीति कवियों की प्रतिभा प्रगल्भता का वास्तविक दर्शन होता है। स्वप्न विषयक उक्तियां संस्कृत में भी मौजूद हैं। स्वयं कालिदास ने 'मेघदूत' में इस विषय की बड़ी उदात्त कल्पना की है। उन्होंने अपने एक छन्द में विरही यक्ष की

---

१. सुन्दरी सर्वस्व—द्विज मन्नालाल, पृ० १८६, छं० सं० ४

२. यौन मनोविज्ञान—हेवलाक एलिस—अनु०—मन्मथनाथ गुप्त, पृ० १०८

दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह विरही एक दिन की घटना स्मरण करके कहने लगा एक दिन की सुधि मैं तुझे दिलाता हूँ कि तू मेरे गले लगकर सोती थी। अकस्मात् जग कर रोने लगी। मैंने बार-बार पूछा कि क्यों रोती है? तुमने हंसकर उत्तर दिया कि 'हे छलिया स्वप्न में तुम्हें किसी स्त्री से मिलते देखा है?'[1] अब इसी भाव से मिलता-जुलता एक छन्द महाकवि देव का देखें—

संग सोवत ही पिय के मुख सो मुख सों नहि योग वियोग सहै।
सपने मंह स्याम विदेश चले सुकथा कवि देव कहां लौं कहै॥
तिय रोइ सकी न सुनी सिसकी हंसि प्रीतम त्यौं भरि अंक गहै।
बड़ भागी लला उर लागी जऊ तिय जागी तऊ हिलकीन रहै॥[2]

कालिदास के छन्द में नायिका इसलिए रोने लगी कि प्रियतम ने दूसरी स्त्री से मिलने की चेष्टा की। किन्तु देव के छन्द में नायिका की हिचकियाँ इसलिए बन्द नहीं हो रहीं हैं कि स्वप्नावस्था में उसने कृष्ण को विदेश जाते हुए देखा है। वस्तुत मार्मिक संवेदना की दृष्टि से देव का यह छंद निश्चय ही कालिदास के छंद से उत्कृष्टतर है। देव के इस छन्द में रस-मग्नता की जैसी क्षमता विद्यमान है, प्राचीन काल के बहुत से कवियों के लिए वह विरल है। किसी प्राचीन उक्ति को नये प्रसंग विधान के अन्तर्गत विन्यस्त करना देव की बहुत बड़ी मौलिकता मानी जाती है।

हिन्दी के एक प्राचीन संग्रह ग्रन्थ में स्वप्न विषय का एक ऐसा उत्कृष्ट छन्द प्राप्त हुआ है, जिसके जोड़ का अन्य छन्द अभी तक देखने को नहीं मिला। वह छद इस प्रकार है—

छहरि-छहरि झीनी बूँदन गिरत मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आय कही कान्ह मोसों चलो आप झुलिबे कों,
फूली न समात भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहति उठ्यो सो उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग जागि मेरी वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौं तौं न घन हैं न घनस्याम,
वेई छाई बूंदैं मेरे आँसू ह्वै दृगन में॥[3]

---

१. 'भूयश्चापि त्वमसि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे।
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सत्वरं विप्रबुद्धा॥
सान्तर्हासं कथितमसकृत् पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टस्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति। १११। मेघदूत उत्तरार्द्ध'

२ अष्टयाम—देव, पृ० ३४, छं० सं० १६

३. शृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, पृ० २६७, छं० सं० ६८

इस छंद की अपेक्षित व्याख्या इन प्रकार होगा वियोगिना नायिका प्रियतम का स्मरण करती हुई सो गयी। सोने पर वह स्वप्न में क्या देखती है मानो आकाश मे गरजने वाली घटाएं छायी हुई हैं। पानी की झीनी बूंदों की झड़ी लगी हुई है। इसी बीच घनश्याम ने उसे झूलने के लिए कहा। इस बात को सुनकर नायिका अत्यन्त प्रसन्न हुई और वह उठने ही वाली थी कि उसकी निगोड़ी नींद उठ गई। इस प्रकार उसके भाग्य जाग कर भी इस जगने की अवस्था में सो गए। उसके पश्चात् जब वह आँख खोलकर देखती है तो न स्वप्नगत घन ही है और न घनश्याम ही, बल्कि स्वप्न में दृष्टिगत होने वाली बूंदें उसकी आँखों के आंसुओं में परिणत हो गयीं। इसमें कवि ने अतिरंजना को बचाते हुए एक भावात्मक चित्र के विभिन्न अवयवों के संघटन म अपने अतिरिक्त कौशल का प्रमाण दिया है। यद्यपि छंद का विषय अति प्राचीन है, उसमें मौलिकता की कोई गुंजाइश नहीं, फिर भी भावना की सान्द्रता और कलात्मक विधान के उचित सामंजस्य के कारण छंद की प्रभविष्णुता स्वभावतया बढ़ गयी है। वस्तुतः कवि ने जिस 'कैनवस' पर अपनी भावनाओं की सूक्ष्म रेखाओं का अंकन किया है, वह अधिक विस्तृत एवं उदात्त है और रीति युग के अन्य चित्रों से यह इस अर्थ में अवश्य पृथक् है कि इसमें स्थूल ऐन्द्रियता का वह गाढ़ा रंग लक्षित नहीं होता, जिसके कारण रीति कविता अधिक बदनाम है।

इसी प्रकार की उक्तियाँ केशव और मतिराम में भी मिलेंगी, किन्तु ऐसी सान्द्र रसार्द्रता का वहाँ सर्वथा अभाव है। देव और पद्माकर की यही सबसे बडी मौलिकता थी कि वे पूर्ववर्ती उक्तियों को ग्रहण करके भी उसे अपने ढाँचे में ढालकर सर्वथा नूतन कलेवर दे देते थे।

रीतियुक्त कवियों में द्विजदेव अपनी सहज भावानुभूतियों और सुकुमार कल्पना के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने स्वप्न विषयक एक छन्द में हृदय की तरलता और भावावेग की सूक्ष्मता का अंकन इस प्रकार किया है—

काहू काहू भांति राति लागि ती पलक,
तहां सपने में आय केलि रीति उन ठानीरी।
आय दुरे जाय मम नैनन मुंदाय कछु,
हौंहूँ बब्भारी ढूंढ़िबे को अकुलानी री॥
एरी मेरी आली या निराली करता की गति,
द्विजदेव ने कहु न परत पिछानी री।
जौ लौं उठि आपनो पथिक पिय ढूढ़ौं,
तौ लौं हाय इन आँखिन ते नींद ई हिरानी री॥[1]

---

१. शृंगार बत्तीसी—द्विजदेव, पृ० १२, छं० सं० ३६

वास्तव में ऐसे ही छन्दों के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि रीति कवि कला की अतल गहराई में उतरने पर भी काव्योचित रसमयता से किसी भी रूप में अनभिज्ञ नहीं रहा। और यही कारण है कि रीति कवियों की कविताएं पारम्परिक विशेषताओं से पूर्ण संपोषित होने पर भी संस्कृत की बहुत सी उक्तियों से श्रेष्ठतर प्रमाणित हुई हैं।

बहु चर्चित विषयों पर नवीन दृष्टि से सोचना और उनमें नवीन भावभंगिमा का समावेश करना अपने-आप में रीति कवियों की बड़ी प्रौढ़ कलात्मक साधना का परिणाम था। इस दृष्टि से विचार करने पर वैसे स्वप्न से संबधित नाना प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें मौलिकता की दृष्टि से कितनी सफल हैं इसे उक्तिगत नवीनता और परम्परा अभुक्त सूक्ष्मताओं के आधार पर ही जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ, स्वप्न विषयक कुछ रचनाए उद्धृत की जा रही हैं, उनसे इस तथ्य का सहज ही बोध हो सकता है कि प्राय: विषय की एकरूपता के होने पर भी उनमें कथन का वैभिन्य स्पष्ट है और उनसे कवि की स्वतन्त्र प्रतिभा के उन्मेष की पूर्ण झलक मिल रही है—

क—बूझे समाचार न सुखागर संदेसौ कछु,
कागद लै कोरौ हाथ दयौ लैके सखियां।
छतियां सों पतियां लगाइ बैठी बांचिबे को,
जौलौं खोलों खांम, तौलों खुलि गई अंखियां॥[1]

ख—कहा आयो कौन को है कौन है प्रवीन बेनी,
यह कछु जानन न पायो बनिवोही है।
जौ लौं भरि नैननि निहारि देखौं मेरी बीर,
तौलौं मेरी बैरिनि जगाय दीन्हीं मोही है।[2]

ग—जौ लौं हंसि हंसि गरे लाऊंरी रसिक लाल,
तौलौं तौ बजरमारे गजर बजायो है॥[3]

प्रत्यक्ष दर्शन

रीति काव्य में प्रत्यक्ष दर्शन का निरूपण भावना के जिस स्वरूप का बोधक है, उससे लगता है कि ऐसी रचनाओं में भक्ति काव्य जैसी गम्भीरता भले ही न हो, किन्तु उनमें कवि सुलभ सच्ची भावुकता और रसमयता का भी अभाव है, ऐसा कथन

---

१. काव्य निर्णय—सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ८१ पर उद्धृत छन्द
२. नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, पृ० ३५, छं० सं० २३७
३. शृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, पृ० २६८, छं० सं० ७०

समतामावन उचित नहीं प्रतीत होता। वास्तव में प्रत्यक्ष दर्शन के वर्णन में दो दृष्टियां अधिक स्पष्ट है—१—चित्रमयता, २—भावात्मकता।

चित्रमयता का विधान ऐसे स्थलों पर अधिक हुआ है, जहाँ प्रिय के दर्शन में पारिवारिक मर्यादा और लोक-लज्जा अधिक बाधक हुई है। ऐसी स्थिति में बेचारी प्रियदर्शन की पिपासा से व्यग्र नायिकाएं कभी छिपकर प्रिय का दर्शन कर लेतीं कर ले अन्यथा ज्येष्ठा नायिकाओं के मध्य बैठी हुई नायिका शीशे की अंगूठी में ही प्रिय को देख पाती हैं।[1] कभी-कभी तो ऐसा भी अवसर प्राप्त हो जाता है जब नायिका अपनी सास की पुतली में प्रतिबिम्बित नायक के स्वरूप का दर्शन करके अपने को कृत कृत्य समझती है। एक नमूना इस प्रकार है—

> बैठी हुती गुरुमण्डली मैं मन मैं मनमोहन को न बिसारत
> त्यों नन्दराम जू आइ गये वन तें तहां मोर पखा सिर धारत॥
> लाज ते पीठि दै बैठी बहू पति मातु की आँखि ते आँखि न टारत।
> सासु की नैनन की पुतरीन में पीतम के प्रतिबिम्ब निहारत॥[2]

नायिका भेद की दृष्टि से इसमें क्रिया विदग्धा नायिका लक्षित होती है। उसके दर्शन की तन्मयता का इस छन्द में कितना चित्रमय वर्णन किया गया है। लज्जा के कारण बधू अपनी सास की आँख से आँख नहीं हटा रही है, क्योंकि नायक के सूक्ष्म प्रतिबिम्ब का उसे स्पष्ट आभास मिल रहा है। इस प्रकार का 'प्रत्यक्ष दर्शन' विषयक चित्रमय निरूपण प्राकृत एवं संस्कृत में भी हुआ है, किन्तु रीति कवियों जैसी रसमग्नता और सूक्ष्म कौशल का वहाँ बहुत कुछ अभाव है। नमूने के लिए एक छंद इस प्रकार है—

> तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिण णेसि अराणत्तो।
> एण्हि सच्चेअ अहं तेअ कवीला ण सा दिट्ठी॥[3]

अर्थात् तब तो मेरे कपोल से निमग्न दृष्टि हटाकर अन्यत्र नहीं ले जाते थे, परन्तु अब जब नायिका चली गयी तो मैं तो वहीं हुं और मेरे दोनों कपोल भी वे ही है, परन्तु आपकी दृष्टि कुछ और ही हो गई है। भाव यह है कि किसी सखी के

---

१. क—जेठी बड़ीन में बैठी बहू उत पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसी की मुदरी दृग दै पिय को प्रतिबिम्ब लखै दुखमोचन॥
—भवानी विलास—देव छंद सं० ४१

ख—कर मुंदरी की आरसी प्रतिबिम्बत प्यौ पाय।
पीठि दिये निधरक लखै इकटक डीठि लगाय॥
—बिहारी बोधिनी, टी० ला० भगवानदीन पृ० १७२ छं० सं० ३५३

२. शृंगार दर्पण—नन्दराम, पृ० २५ छं० सं० ३०

३. काव्य प्रकाश—मम्मट, टी० हरिमंगल मिश्र, पृ० ४४३।१६

कपालों पर राधा के प्रतिबिम्बित सौन्दर्य को देखकर कृष्णचन्द्र ने अपनी निगाह नहीं हटाई, किन्तु राधा के चले जाने पर जब प्रतिबिम्ब नष्ट हो गया तो कृष्ण ने भी अपनी दृष्टि वहाँ से हटा ली। अब इस छंद को नन्दराम के छंद से मिलाकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि अपने सूक्ष्म कलात्मक विधान और कल्पना के ऐसे सजीव चित्र के कारण निश्चय ही नन्दराम का छंद उक्त प्राकृत रचना से श्रेष्ठतर है। यद्यपि प्रत्यक्ष दर्शन से संबंधित इसी प्रकार का एक छंद गोस्वामी तुलसी दास की 'कविता-वली' में भी मिला है।[1] किन्तु ऐसी सूक्ष्म उक्ति का दर्शन वहाँ नहीं होता।

रीति कवि बिहारी की नायिका किस प्रकार अंगुलियों से टट्टी को फाड़ कर बड़ी देर से नायक को देख रही है, यह अधोलिखित दोहे में द्रष्टव्य है—

देखत कछु कौतुक इतै देखौ नेकु निहारि।
कब की इकटक डटि रही टटिया अंगुरिन फारि॥[2]

इसी प्रकार के चित्रमय वर्णनों से रीति काव्य भरा पड़ा है, जिसकी सम-कक्षता के छंद संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते। हाँ, कृष्ण भक्ति काव्य के अन्तर्गत 'प्रत्यक्ष दर्शन' की चित्रमयता अवश्य श्लाघ्य है, पर अपनी काव्यात्मक अभिव्यंजना में सजग रीति कवि कभी-कभी ऐसे-ऐसे चित्रों की उद्-भावना कर बैठता है, जिनके जोड़ के चित्र हमें भक्ति मूलक काव्यों में भी नहीं मिलते एक नमूना इस प्रकार है—

आली वृषभान की किसोरी जू के संग आज, गई हम वृन्दावन बाट बंसी बट की।
साँवरो सलोनो जहाँ गैयन चरावै धीर मुरली बजावै गावै रागिनी सुलट की॥
दौरि कै कही की मग भूली हौ इतै ह्वै जाहु, तासमै की सोभा मेरे नैनन में अटकी।
टेरन कपट की औ हेरन निपट की वा फिरन मुकुट की फहरान पीतपट की॥[3]

अन्तिम दो पंक्तियों में प्रेम के सहज व्यापार की व्यंजना के साथ ही कृष्ण के गत्यात्मक सौन्दर्य की बड़ी मार्मिक झलक प्रस्तुत की गयी है।

नायक के सौन्दर्य चित्रों की अवतारणा करते समय पद्माकर जैसे कवियों ने मानव-हृदय को सहज संवेदना से सम्पृक्त चित्रों को अधिक महत्व प्रदान किया है। ऐसे चित्रों में कलात्मक उत्कर्ष को उभारने का उतना प्रयास नहीं किया गया, जितना मानव-हृदय के सहज उद्गारों को अधिकाधिक प्रभविष्णु बनाने का। यथा—

---

१. राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाँही।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥
—कवितावली, टी० ला० भगवानदीन, पृ० १३, छं० सं० १७

२. बिहारी बोधिनी, पृ० १३३ दो सं० २८०

३. शृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, पृ० २६०, छंद सं० ७७

आई भले नौं चली सखियान मे पाई गुविंद के रूप का झाँकी ।
ह्याँ पद्माकर हारि दियो गृहकाज कहा अरु लाज कहाँ का ।।
है नख तें सिख लौं मृदु माधुरी बाँकियै भौंहैं विलोकनि बाँकी ।
आज की या छबि देखि भटू अब देखिबे कों न रह्यौ कछु बाकी ।।[1]

इसमें भावात्मकता का सहज स्वरूप स्वतः व्यक्त है । ऐसे ही भावात्मक स्थलों पर भक्तियुगीन काव्य की चेतना रीति काव्य में इतनी घुल मिल गयी है कि कभी-कभी रीतिकाव्य के कटु आलोचकों को भी वह अपनी सहज रमणीयता और आकर्षण के कारण मोह लेती है । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस छंद को संतोष भाव का एक उत्कृष्ट निदर्शन माना है । इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है—

'प्रिय का साक्षात्कार होने पर उसके रूप दर्शन और वचन-श्रवण से नेत्रों और कानों का तृप्त होना संतोष ही कहा जायगा ।'[2] निस्सन्देह पद्माकर की यह एक मौलिक रचना है ।

(२) *मान*

यह कहा जा चुका है कि मान में नायक और नायिका का संयोगावस्था प्रायः बनी रहती है, किन्तु मनः स्थिति के वैषम्य के कारण वे एक-दूसरे से मिल नहीं पाते । इसी से काव्यशास्त्र के आचार्यों ने 'मान' को भी वियोग शृंगार के अन्तर्गत अन्तर्भूत किया है । यों संस्कृत एवं परवर्ती शृंगारिक काव्य परम्परा में 'मान' के आधार पर नानाविध मानिनी नायिकाओं की अन्तर्वृत्तियों का मार्मिक निरूपण तो हुआ ही है, इधर हिन्दी काव्य में भी मान की विभिन्न स्थितियों, मानमोचन विषयक नाना प्रकार के उपायों और तदसम्बन्धित अनेक प्रेम प्रसंगों की बड़ी मौलिक अवतारणा की गयी है । साहित्य दर्पणकार ने मान के उत्पन्न होने की दो बड़ी स्थितियाँ मानी हैं—१–प्रणय, २–ईर्ष्या । अतः इस दृष्टि से उन्होंने इसके दो भेद किए हैं—१–प्रणयमान[3], २–ईर्ष्यामान । किन्तु संस्कृत की शृंगारिक काव्यधाराओं के मान के तीन भेदों की परिकल्पना की गयी है—

१–लघुमान, २–मध्यमान, ३–गुरुमान

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १५२, छं०सं० ३३३

२. रसमीमांसा—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २३७

३. मानः कोपः स तु द्वैधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः—साहित्य दर्पण, टी० शालग्राम शास्त्री ३।१९८

ये ही भेद हिन्दी रीति काव्य में भी स्वीकृत हुए हैं। इन्हीं भेदों के आधार पर केशव, बिहारी, मतिराम, देव, दास, पद्माकर और ग्वाल आदि रीति कवियों ने नाना प्रकार की सरस एवं भाव प्रवण उक्तियों के प्रणयन में अपनी असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं ऐसे छन्द भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें कवि की अनूठी भाव-भंगिमा का सुन्दर दर्शन होता है और विषय के प्राचीन और बहुप्रचलित होने के कारण भी उनमें नवीनता का स्वरूप प्रच्छन्न नहीं हो सका है। इस तथ्य की प्रामाणिकता के लिए गुरुमान विषयक एक ऐसे छन्द की चर्चा की जा रही है, जिसके रचयिता का लोग नाम भी नहीं जानते। यों कलात्मक दृष्टि से इस छन्द का महत्त्व नगण्य है, किन्तु मान की अवधि में नानाविध मानसिक अवस्थाओं के सूक्ष्म विश्लेषण में इसकी महत्ता, सर्वोपरि है। छन्द इस प्रकार हैं—

मान्यो न मानवती गयो प्रात ह्वै सोच तें सोय रहे मनभावन।
तेह तें सासु कह्यो दुलही! भई बार कुमार को जाहु जगावन॥
मान को सोच जगैवै की लाज, लगी पग नूपुर पाटी बजावन।
सो छबि हेरि हेराय रहे हरि, कौन को रूसिबो काको मनावन॥[1]

प्रस्तुत छन्द में नायक मानवती नायिका को मनाते-मनाते हार गया और सोच में सो गया। प्रातःकाल नायक को अधिक देर तक सोते हुए देखकर नायिका की सास ने क्रोधावेश में उसे जगाने के लिए कहा, किन्तु नायिका की बड़ी विचित्र मानसिक स्थिति थी। एक ओर उसमें मान की चिन्ता थी और दूसरी ओर जगाने की लज्जा, क्योंकि यदि वह जगाती है तो उसकी मानोचित मर्यादा भंग होती है। और न जगाने पर उसे सास का कोपभाजन होना पड़ता है। ऐसी द्विधा की स्थिति का परिहार करने के लिए उसने एक अच्छा सा उपाय निकाला, उसने अपने पैरों के नूपुरों को पर्यंक की पाटी पर बजाना शुरू किया, इस क्रिया से नायक की निद्रा भंग हो गयी और जागने पर वह नायिका के सौन्दर्य पर इतना मुग्ध हो गया कि उसे यह नहीं मालूम हुआ कि कौन रुष्ट थी और किसे वह मना रहा था? पूरे छन्द में भावों की सूक्ष्म एवं कोमल रेखाओं द्वारा जैसा चित्र निर्मित हुआ है, उसमें कलात्मक सौन्दर्य की स्फीत रेखाओं को कवि ने जान-बूझकर बचाया है, क्योंकि ऐसी ही रेखाओं से रागात्मकता को उद्बुद्ध करने वाले चित्र प्रायः धूमिल पड़ जाते हैं। अनलंकृत शैली का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। इसमें कवि ने शृंगार के परिवेश में प्रणयि युग्म के विकसित अनुराग की जैसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, वह हिन्दी की नहीं संस्कृत के भी बहुत से कवियों के लिए सम्भव न थी। वस्तुतः लज्जा और सोच के झूले में दोलायित मानस का यह एक ऐसा चित्र है, जिसमें प्रच्छन्न प्रेम के अनेकशः सूक्ष्म एवं

---

१ —————————दवुआ साहब छं० सं० १०४ पृ० ४७

साथ अनुस्यूत हैं, इन सूत्रों को अपेक्षित स्थलों पर जोड़ना ही कवि की कुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

यों मोचन के अनेकशः छन्द शृंगारिक रचनाओं में प्राप्त हैं और मानिनी नायिकाओं के मानमोचन के लिए उनकी सखियों द्वारा नाना प्रकार के अनुनय और विनय भरे शब्दों के सुन्दर प्रयोग रीतिकाव्य में मिलते हैं। पर कहीं-कहीं वचन-भंगिमा के सुष्ठु प्रयोगों के कारण रीति कवियों की उक्तियाँ अधिक प्रभावोत्पादक हो गई हैं। प्रमाणार्थ मानमोचन का एक ऐसा छन्द प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका भाव पूर्ववर्ती सूर काव्य में प्राप्त हो जाता है, किन्तु रीति कवि ने उसे ऐसे कौशल के साथ सजाया है, जिसके कारण सूर की उक्त रचना अधिक प्रभाव नहीं डाल पाती। दोनों कवियों के छन्द इस प्रकार हैं—

(क) यह ऋतु रूसिबे की नाहीं।
बरसत मेघ मेदिनी कैं हित प्रीतम हरषि मिलाहीं।
जेती बेलि ग्रीष्म रितु डाहीं ते तरुवर लपटाहीं॥
जो जल बिनु सरिता ते पूरन मिलन समुद्रहिं जाहीं।
जोबन धन है दिवस चारि कौ ज्यों बदरी की छाहीं॥[१]

(ख) घोर घटा उमड़ी चहुं ओर ते ऐसे में मान न कीजै अजानी।
तू तो बिलंबति है बिन काज बड़े-बड़े बूंदन आवत पानी॥
सेख कहै उठि मोहन पै चलि को सब राति कहै गो कहानी।
देखु री ए ललिता सुलता अब तेउ तमालन सों लपटानी॥[२]

उपर्युक्त छन्दों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूर और सेख दोनो ने मान-मोचन के लिए मानवेतर प्रेम-सम्बन्धों की मधुर अवतारणा की है। वस्तुतः मान-मोचनार्थ सखी का यह कथन सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है कि जब लताएँ अपने प्रियतम वृक्षों से मिल रही हैं और नदियाँ समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं तो नायिका का प्रियतम से न मिलना उचित नहीं है। इन छन्दो में शेख का छन्द इस दृष्टि से अधिक उत्तम प्रतीत होता है कि उन्होंने मानवेतर प्रेम सम्बन्धों की चर्चा करते हुए भी छन्द की तीसरी पंक्ति द्वारा शुद्ध रागात्मकता के उस स्वरूप की व्यंजना की है, जहाँ मान की समस्त कठोरता रसार्द्रता के सहज प्रवाह में स्वतः बह जाती है। इसी भाव को अंग्रेज कवि ने भी अपने 'प्रेम दर्शन' शीर्षक काव्य में प्रस्तुत किया है।[३]

---

१. सूरसागर, द्वि० ख०, पृ० १०६४, पद सं० ३२६४ का० ना० प्र० सं०
२. सेलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिटरेचर—सं० ला० सीताराम, पांचवां भाग, भूमिका अंश, पृ० १२
३. Palgrave's The Golden Treasury. Book I. page 216.

मान के समय मानिनी की ऐसी मुद्रा का भी चित्रण हुआ है, जिसमें उसकी कजरारी, अनियारी, झपकारी, रतनारी आँखों का चित्र उसकी विशिष्ट मानसिक अवस्था का पूर्ण द्योतन करता है। ऐसे समय मान-मोचन के निमित्त नायिका की सखी जिन विशेषणों का प्रयोग करती है, उनमें भावावेग की क्षमता स्वतः प्रकट है—

कब के बिहारी बलि करत हहारी, तू तो कहत कहारी सबै सरस विचारिये।
जग की जियारी दया देखि घटा कारी उठी आय बनवारी तू कहै तो पाइ पारिये ॥
जिन्हें देखि हारी मृगचारी मृगनारी सारी, काम की करारी सबै प्रेम मतवारिये।
कारी कजरारी उजियारी अनियारी, झपकारी रतनारी प्यारी आँखें इत डारिये ॥[1]

संस्कृत के 'अमरु शतक' आदि शृंगारिक मुक्तकों में मान के ऐसे छन्द अवश्य मिलेंगे, किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति की ऐसी प्रौढ़ता का दर्शन वहाँ नहीं होता। इस कथन की पुष्टि के लिए अमरु शतक का एक छन्द इस प्रकार है—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोऽच्छूननयना ॥[1]

परित्यक्तं सर्वं हसित पठितं पंजरशुकैस्तवावस्थाचेयं विसृज कठिन मानमधुना[2]।

अर्थात् हे कठिने ! बाहर तेरा प्राणनाथ नीचा मुख करके धरती कुरेद रहा है, सखियों ने कुछ खाया पिया नहीं है और उनकी आँखें निरन्तर रोने से सूज गयी हैं, पिंजरे के तोते ने हँसना, पढ़ना सब छोड़ दिया है और तेरी यह दशा है, इसलिए अब भी मान छोड़ दे।

यद्यपि मान की समस्त परिस्थितियों का इसमें सूक्ष्म अंकन हुआ है, पर उक्त रीति छन्द जैसा कलात्मक विधान का उत्कर्ष इसमें नहीं है।

रीति कवियों ने मान के सरस प्रसंगों की उद्भावना प्रायः कलहांतरिता खंडिता और धीरादि के सन्दर्भों में की है और ऐसे वर्णनों में उनकी प्रगाढ़ तन्मयता और हृदय की सहज तरलता का प्रस्फुटन स्वतः हुआ है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर जैसे रीति युग के कलाकारों ने कहीं व्यंग्य गर्भित शैली द्वारा सीधे-सादे ढंग से अवसाद और विषाद की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। मान करने के पश्चात् पश्चाताप करने वाली देव की कलहांतरिता विषयक यह छन्द 'गोरो गोरो मुख आजु ओरो सों बिलानो जात' काव्य रसिकों में अति लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है। इसके अतिरिक्त गंग आदि के छन्दों से स्पष्ट है कि मान के वर्णन में इनकी प्रतिभा अधिक सफल हुई है।

---

१. हफीजुल्लाखाँ का हजारा—पृ० ३३६, छं० सं० ३७
२. अमरुशतक—टी० ऋषीश्वरनाथ भट्ट, पृ० ११, छं० सं० ६

(३) प्रवास

साहित्य दर्पणकार ने 'प्रवास' पर विचार करते हुए लिखा है कि कार्यवश, शापवश, अथवा सम्भ्रम (भय) वश नायक के अन्य देश में चले जाने को 'प्रवास' कहते हैं।[१] वस्तुतः प्रवास विप्रलम्भ शृंगार के अन्य अंगों की तुलना में अधिक प्रभावशाली एवं मानवीय संवेदना को कहीं ज्यादा उद्‌बुद्ध करने वाला कहा गया है। यही कारण है कि प्रवास चर्चा शृंगारिक काव्य परम्परा में अति निष्ठापूर्वक की गयी है। कुछ लोगों का कथन है कि प्रवासजन्य वियोग वर्णन में रीति कवियों का मन नहीं रमा है, क्योंकि उनकी भोगमूलक सामन्तीय दृष्टि इसके अनुकूल नहीं थी।[२] वास्तव में इस प्रकार के कथन समस्त रीति कवियों के सम्बन्ध में उचित और तर्क सगत नहीं प्रतीत होते। कम से कम देव, मतिराम और पद्‌माकर की बहुत सी उक्तियाँ हमारी दृष्टि में अधिक मार्मिक और वियोग की गम्भीर दशाओं का हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करने में अधिक रसग्राहिणी प्रमाणित हुई है।

हिन्दी के गम्भीर आलोचक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रीति काव्य की परिमित जीवन दृष्टि की प्रायः शिकायत की है। उनके अनुसार 'रीतिग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी है। प्रकृति की अनेक-रूपता, जीवन की भिन्नभिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई।[3]

शुक्ल जी का यह कथन उनकी उस गम्भीर जीवनदृष्टि का परिणाम है' जिसमें उन्होंने परिस्थिति की गम्भीरता को सर्वोपरि महत्व दिया है। रीति काव्य जिन परिस्थितियों में निर्मित हुआ था, उसमें गम्भीर जीवनदृष्टि की आशा करना केवल एक दुराशा मात्र है, किन्तु परिस्थिति की गम्भीरता से अनुप्राणित होने के कारण ही शुक्ल जी को गोपियों के वियोग में वह गम्भीरता नहीं लक्षित हुई जो सीता के प्रवास जन्य वियोग में लक्षित हुई है। आचार्य शुक्ल जी के इस प्रकार के विचार अधिक तर्क पुष्ट और अनुभवसिद्ध होने पर भी सर्वत्र घटित नहीं होते, क्योंकि रीति युग के कई ऐसे रससिद्ध कवि मिलेंगे, जिनके वियोग-वर्णन में वैसी शिथिलता नहीं मिलेगी, जैसी प्राय देखी जाती है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि रीति कवियों की जीवनदृष्टि सूर और तुलसी की भाँति व्यापक न थी और उनके जैसी जीवन की अनेकरूपता और

---

१. प्रवासो भिन्न देशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्। साहित्य दर्पण—टी० शालग्राम शास्त्री ३।२०४
२. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना—डा० बच्चन सिंह, पृ० २०४
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २३७

विराट्ता का भावन भी इन रीति कवियों ने नहीं किया, जिससे एक बड़ी सीमा तक मानव की स्पृहणीयआकांक्षाएं प्राय: सन्तुष्ट हो जाती हैं। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए हम वियोग वर्णन से सम्बन्धित नाना प्रकार की गम्भीर एवं मार्मिक उक्तियों का विश्लेषण विभिन्न सन्दर्भों में प्रस्तुत करेंगे।

—वियोग की मार्मिक व्यंजनाएँ

नायिका भेद के अन्तर्गत मुग्धा नायिका का वियोग वर्णन अधिक मर्मस्पर्शी कहा जाता है। मुग्धा नायिका स्वभाव से गम्भीर होती है और वियोग की उत्कट पीड़ा के अनुमानमात्र से वह अत्यन्त शोक-संतप्त हो जाया करती है। मुग्धा होने के कारण इन नायिकाओं में नारी सुलभ शालीनता और लज्जा की मात्रा भी अधिक पाई जाती है। अपनी सहज लज्जा के कारण पारिवारिक लोगों के मध्य वह अपनी वियोग-जन्य पीड़ा को प्रकट भी नहीं कर पाती। मतिराम ने इस प्रकार मुग्धा नववधुओं की वियोगावस्था का जैसा भावमय विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह परम्परा के अधिकांश कवियों के लिए सुलभ न था। अधोलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

जा दिन तें चलिबे की चलाई तुम, ता दिन तें वाके पियराई तन छाई है।
कहै मतिराम छोड़े भूषन वसन पान, सखिन सों खेलनि हंसनि बिसराई है॥
आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीत बाके चित, ऐसे में चलो तो लाल रावरी बड़ाई है।
सोवत न रैन दिन रोवत रहति बाल, बूझे ते कहति मायके की सुधि आई है॥[1]

लोगों के पूछने पर उसका उत्तर है कि 'मायके की सुधि आ गई है, इस कारण रो रही हूं। वास्तव में गोपनीय प्रेम-भाव की जैसी मधुर और सटीक व्यंजना इस छन्द में हुई है, उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पर्याप्त महत्व है। कभी-कभी अपने व्यावहारिक जीवन में न बतलाने वली बातों को हम छिपाना चाहते हैं और सहसा उसके प्रकट हो जाने पर हम उसे किसी दूसरे प्रयोग या वार्ता में परिवर्तित करने की प्राय: सफल चेष्टा करते हैं। यही तथ्य उक्त छन्द में भी प्रतिपादित हुआ है।

रीतिकाल में प्रोषितपतिका नायिकाओं की मन:स्थिति के विश्लेषण में कहीं-कहीं बड़ी सूक्ष्मता प्रकट की गयी है। ढूंढ़ने पर भी उस कोटि की रचनाएँ अन्यत्र प्राय: नहीं मिलती। हिन्दी रीति काव्य के वासनात्मक उद्‌गारों की भर्त्सना करने वाले आलोचक भी ऐसी रचनाओं की मुक्त कण्ठ से सराहना करते हैं। उदाहरणार्थ एक छन्द इस प्रकार है—

जा दिन ते परदेश गये पिय ता दिन ते तन छीजतु है।
निशिवासर भौन सुहात नहीं सुधि आये उसासन लीजतु है।

---

१. मतिराम ग्रन्थावली—सं० कृष्ण विहारी मिश्र, पृ० २४८, छं० सं० २०६

अब और उपाय उन न कछु अनुभौ इतनौ मुख व्यवतु है
उन प्यारे पिया की उन्हारि सखा ननदा मुख देखिकै जावतु है ॥[1]

यह छन्द मनोवैज्ञानिक कसौटी पर पूर्ण खरा उतरा है। क्योंकि इसमें प्रतिपादित तथ्य साहचर्य नियम के अन्तर्गत आसानी से रखा जा सकता है। वस्तुतः साहचर्य नियम का सर्वप्रथम प्रतिपादन अरस्तू द्वारा हुआ था और उसका प्रभाव करीब १८ वीं और १९ वीं शताब्दी तक बराबर बना रहा। अरस्तू के अनुसार 'साहचर्य' के तीन नियम थे—

१—समीपता का नियम, २—समानता का नियम, ३—विरोध का नियम। प्रायः एक स्थान और एक समय के अनुभव में कई अनुभूतियाँ होती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक के उपस्थित होने पर अन्य का स्मरण स्वभावतया हो जाता है। यथा, राम के स्मरण होते ही सीता का स्मरण समीपता के कारण होता है। इसी प्रकार कभी-कभी समान आकृति, गुण आदि की अनुभूतियों में भी साहचर्य स्थापित हो जाता है। यथा, एक काले व्यक्ति को देखकर उसी के समान अन्य काले व्यक्ति की याद प्रायः आ जाती है। विरोधी अनुभूतियों में भी साहचर्य नियम स्थापित होता है। यथा, रात को स्मरण करते ही दिन की याद हो जाती है और सुख का नाम लेते ही दुख पर हमारी अनुभूतियाँ केन्द्रित हो जाती हैं। इस विवेचन से अब स्पष्ट हो गया कि उपर्युक्त छन्द में समानता का साहचर्य नियम' कवि ने कितनी कुशलता से स्थापित किया है। प्रसंग इस प्रकार है कि प्रोषितपतिका प्रिय के परदेश चले जाने पर दिनों-दिन क्षीण होती जा रही है, उसे खान-पान कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हाँ, भाई बहन की समान आकृति होने के कारण वह अपनी ननद के मुख को देखकर प्रिय को आकृतिजन्य अनुभव के आनन्द को कभी-कभी प्राप्त करके संतोष और धैर्य अवश्य धारण कर लेती है। यह सत्य अधिक व्यापक होने के साथ ही व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार मिल गया है कि आज भी सामान्य लोगों के मुख से यह बराबर सुना जाता है कि 'नदी परखिये नारे बधू रखिये सारे'। रीति युग में जिस कलाकार ने ऐसी मार्मिक उक्ति की कल्पना की है उसका नाम भी हम नहीं जानते। फिर भी ऐसी प्रभावोत्पादक रचना के कारण उसकी श्लाघा प्रायः करनी ही पड़ती है। संस्कृत ही नहीं, अन्यभाषाओं में भी इस प्रकार की संवेदनात्मक उक्तियाँ कम मिलती है। इस दृष्टि से यह छन्द सर्वथा मौलिक प्रतीत होता है।

—ऊहा और अतिशयोक्तिमूलक प्रवृत्तियाँ

वियोग वर्णन में ऊहा और अतिशयोक्तिमूलक प्रवृत्तियों की प्रधानता के कारण

---

१. प्रयागनारायण विलास—सं० पं० बन्दीदीन दीक्षित, पृ० ४०

फारसी और उर्दू की काव्य-परम्परा पर्याप्त बदनाम है। इस दृष्टि से हिन्दी रीति काव्य की परम्परा एक ओर जहां संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य से भूरिश प्रभावित है, वहां दूसरी ओर इसपर फारसी और उर्दू काव्य की परम्परा काभी प्रभाव कम नहीं हैं। पर इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रीति काव्य प्रभाव-ग्रहण करने पर भी अपनी दृष्टि और अपनी विशेषताओं से असम्पृक्त नही रहा। उसकी अपनी वर्णन प्रणाली थी, यत्नसाधित अपनी कलात्मक दृष्टि थी, जो प्रयास करने पर भी अन्यों के लिए विरल थी। इस तथ्य का प्रतिपादन हम उनकी कुछ रचनाओं के आधार पर करेंगे।

फारसी और संस्कृत आदि की वियोग विषयक काव्य रूढ़ियों को जिन रीति कवियों ने अक्षरशः पालन किया वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो सके। किन्तु जिनकी काव्य-चेतना रूढ़ियों से अधिक संग्रस्त नहीं थी, वे घिसे-पिटे विषयों में भी अपनी नवीनता की छाप प्रायः छोड़ गये हैं। यद्यपि रीतिबद्ध कवियों में बिहारी ने फारसी के 'मुबालगा' से प्रभावित होकर पर्याप्त ऊहा का प्रयोग किया है और इसके कारण उनकी बहुत सी उक्तियाँ खेलवाड़ भी बन गयी हैं, किन्तु जिन स्थलों पर मार्मिक भाव व्यजना की कसावट में कमी नहीं आने पाई है, वहाँ निश्चय ही उनकी उक्तिया अधिक मौलिक और प्रभावशालिनी हो गयी हैं। इसकी विवेचना हम यथास्थल करेंगे। यहाँ प्रसंगतः हम कुछ सामान्य रीति कवियों के ऐसे अतिरंजनापूर्ण कथन पर विचार कर लेना समीचीन समझते हैं, जहां उनकी भाव-व्यंजना और अनुभूतियों की मार्मिक प्रभविष्णुता का अंश क्षीण नहीं होने पाया है। एक नमूना द्रष्टव्य है—

बाल सों लाल विदेश के हेतु हरे हंसि कै बतियां कछु कीनी।
सो सुनि बाल गिरी मुरझाइ धरी हरि धाय गरे गहि लीनी॥
मोहन प्रेम पयोधि भयो जुरि दीठि दुहूं की गई रस भीनी।
माँगि बिदा को बिदा को करै मिलि दोऊ बिदा को बिदा करि दीनी॥[1]

इस छन्द में अतिशयोक्ति मूलक प्रवृत्ति का मार्मिक चित्रण किया गया है। अन्तिम दो पंक्तियों में अतिशयोक्ति किस प्रकार रसार्द्रता और भावानुभूतियों के सहज प्रवाह में विलीन हो जाती है, यह द्रष्टव्य है। उर्दू आदि भाषाओं में ऊहा की कारीगरी पर जैसा मजमून बाँधा गया है, वह अन्ततः अस्वाभाविकता में परिणत हो गया है। यहां प्रणयि युग्म की प्रेमदृष्टियों के परस्पर जुड़ जाने पर प्रेम का अनन्त सागर उमड आया और उसमें दोनों डूब गये। जब चेतन मानस का समस्त व्यापार उस प्रेम की दिव्यता में अन्तर्हित हो गया तो दोनों प्रेम की प्रगाढ़ तन्मयता में अपनी सुधि-बुध खो बैठे। स्थिति यहां तक आ गई कि कौन परदेश प्रस्थान के लिए बिदा मांगे और कौन

१. दिग्विजय भूषण—सं० आचार्य गोकुल, पृ० १११, छं० सं० १७५

विदा करे ? इस विदा माँगन और विदा करने की अवस्थाओं में विचारी विदा को ही बिदा हो जाना पड़ा। उक्ति में रसमयता के कारण पर्याप्त प्रभावशालिता और नवीनता स्वभावतया आ गयी है। यद्यपि रीतिकाल में फारसी काव्य-परम्परा के कारण ऊहा और अतिरंजना की प्रवृत्ति काव्य का एक अभिन्न अंग बन गयी थी, परन्तु जो काव्य की रसमय चेतना में निष्णात थे, और भावमग्नता की दशा से परिचित नहीं थे वे ऊहा के चक्कर में पड़कर भी उसके साथ खेलवाड़ कभी नहीं कर सके यों ऊहा पर टिकने वाली उक्तियाँ प्रायः अपनी सहज सरसता को खो देती हैं। किन्तु कवि की थोड़ी-सी सजगता समस्त चमत्कार को ऐसी स्वाभाविकता में परिणत कर देती है जिसके कारण निस्पन्द एवं निष्प्राण लगने वाली रचना में भी पर्याप्त सजीवता आ जाती है। इस कथन की पुष्टि के लिए रीति युग के 'महराज' नामक एक सामान्य कवि की उक्ति दी जा रही है। छन्द में वर्णित बातें मुग्धा प्रवत्स्यत्-पतिका नायिका से सम्बन्धित हैं—

बात चली चलिबे की जहीं तहीं बात सुहानो न गात सुहानो।
भूषण साज सकै कहु को 'महराज' गयो छूटि लाज को बानो॥
यों कर मींजत हैं बनिता सुनि प्रीतम को परभात पयानो।
आपने जीवन को तकि अन्त सु आयु की रेख मिटावत मानो॥[1]

रीति युग में उक्ति-परिष्करण की प्रतिद्वन्द्विता इस सीमा तक बढ़ गयी थी कि कोई भी कवि अपनी उक्ति को अधिकाधिक मार्मिक एवं प्रभावशाली बनाने में चूकता नहीं था। यह प्रवृत्ति वास्तव में फारसी काव्य की उस परम्परा की ओर ध्यान आकृष्ट करती है, जिससे प्रभावित होकर कविगण दरबारों में एक से एक बढ़कर चमत्कारमूलक उक्तियों से अपनी प्रतिभा और कौशल का सुन्दर परिचय देते थे। यथा, प्रकार की एक उक्ति सुन्दर कवि की भी है, परन्तु महराज कवि की तुलना में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। सुन्दर कवि का छन्द इस प्रकार है—

भोर भये मथुरा कों चलैंगे यों बात चली हरि नन्द लला की।
बोल सकी न सकोचनि तें सुनि पीरी भई मुख जोति पिया की॥
हाथ टिकाइ ललाट सों बैठी रहै उपमा कवि सुन्दर ताकी।
देखै मनो तिय आयु के आखर और कछू है रहे अबै बाकी॥[2]

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से सुन्दर का समय महराज से पूर्व माना जाता है। परन्तु प्रतिभा की कोटियाँ भिन्न होने के कारण उक्ति में जैसी नवीनता और मौलिकता पूर्व के छन्द में आ सकी है, वह परवर्ती छन्द में नहीं दृष्टिगत होती।

---

१. शृंगार संग्रह—सरदार, पृ० ११३, छं० सं० १
२. सुन्दर शृंगार—सुन्दर कवि, पृ० ४१, छं०सं० ८१ सन् १८६५ ई० का संस्करण

दोनों कवियों ने इस उक्ति को जिस छन्द से ग्रहण किया है, वह संस्कृत के भानु कवि द्वारा रचित माना जाता है, एतदर्थ भानु का छन्द द्रष्टव्य है—

गन्तुं प्रिये वदति निश्श्वसितं न दीर्घ
मासीन्न वा नयनयोर्जलभाविरासीत् ।
आयुर्लिपिं पठितुमेणदृशः परन्तु
भालस्थलीं किमु कचः समुपाजगाम ॥[1]

अर्थात् जब प्रियतम ने परदेश जाने की चर्चा की तब नायिका ने दीर्घ निःश्वास तक नहीं लिया और न उसकी आंखों में आँसू आये। केवल उसकी आयु अब शेष है या नहीं क्या इसे जानने के लिये उसके भाल स्थल पर फैले केश आयु लिपि पढ़ने के लिए चले आये हैं?

उपर्युक्त छन्दों से इसकी तुलना करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत छन्द से अधिक उत्तम उक्ति सुन्दर की है और सुन्दर से भी अधिक मर्मस्पर्शी उक्ति महाराज कवि की है। बहुत कुछ समानता होने पर भी एक दूसरे ने अपनी प्रतिभा का ऐसा सूक्ष्म रंग भरा है, जिससे कथित छन्दों में पर्याप्त विभिन्नता आ गयी है।

—कृशता और ताप निरूपण

विरह मूलक जिन शृंगारिक काव्यों में ऊहा और अतिशयोक्ति का आश्रय ग्रहण किया जाता था, उनमें नायिका की शारीरिक कृशता और ताप का निरूपण कवियों का अभीष्ट एवं प्रिय विषय होता था। क्या संस्कृत, क्या प्राकृत क्या अपभ्रंश और क्या फारसी सभी काव्य परम्पराओं में इस विषय की प्रधानता मिलती है। अतः शृंगारिक काव्य परम्परा में ऐसा कोई भी कलाकार न मिलेगा, जिसने वियोग के प्रसंग में कृशता और ताप से सम्बद्ध अतिरंजना पूर्ण उक्तियों द्वारा अपनी काव्य-कला कुशलता का परिचय न दिया हो।

पुरानी काव्य परम्परा में विरह ताप के निरूपण एवं नायिका की शारीरिक दुर्बलता के प्रदर्शन में इतनी अधिक ऊहात्मक पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं कि उनसे काव्य की स्वाभाविक मर्यादा का बहुत कुछ अतिक्रमण हो गया है। हाँ, कुछ संयम और शालीनता का अनुसरण करने वाले कवियों ने अवश्य अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का मौलिक रूप प्रकट किया है। यथा, मतिराम का एक दोहा द्रष्टव्य है—

पियराईतन में परी, पानिप रह्यौ न देह।
राख्यौ नंद कुंवार ने, करि कुंवार को मेह ॥[2]

---

१. रस मंजरी—भानु—टी० जगन्नाथ पाठक, पृ० ८७, छं० सं० ८५
२. मतिराम ग्रन्थावली—सं० पं० कृष्णविहारी मिश्र, पृ० १९५, दो० सं० २३५

यह विरह अवस्था का एक यथार्थ चित्र है। अतिशयोक्ति का मुलम्मा चढ़ाने पर भी इसमें स्वाभाविकता का रंग कम नहीं हो पाया है। वस्तुतः यथार्थ जीवन के मेल में जिन उपमानों का प्रयोग होता है, उनसे अनुभूति की उत्कटता सामान्यतया बढ़ जाती है। यहाँ भी विरहावस्था में शरीर की कांति क्षीण हो जाने पर उसका विवर्ण हो जाना स्वाभाविक है। कवि ने इस तथ्य की व्यंजना के लिए 'पानिप' शब्द का प्रयोग किया है। 'पानिप' कांति के अतिरिक्त पानी का भी द्योतक है। इस आधार पर श्लेष का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए कवि ने लिखा है मानो कृष्ण ने उसके शरीर के 'पानिप' को क्वार मास का मेघ बना रखा है, अर्थात् जिस प्रकार क्वार मास के बादलों में पानी की मात्रा कम होती है, उसी प्रकार उस नायिका के शरीर की कान्ति बहुत थोड़ी रह गई है। अतिशयोक्ति के होते हुए भी उसकी प्रकृत दुर्बलता और शरीर का पीलापन स्पष्टतया आभासित हो रहा है। अब ऐसे स्थलों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है, जहाँ ऊहात्मक पद्धतियाँ 'मुबालगा' का एक भद्दा और कृत्रिम रूप खड़ा कर देती हैं। इस प्रकार के चित्र फारसी काव्य परम्परा में तो मिलेंगे ही प्राकृत के शृंगारिक मुक्तकों में भी इनकी कमी नहीं है। नमूना इस प्रकार है—

चूडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल जाल झलक्किअउ वाह-सलिल संसित्तउ॥[1]

भाव यह है कि हे मुग्धे, कपोलों पर हाथ रखने से तुम्हारी चूड़ियाँ श्वासानल की ज्वाला से संतप्त होकर और तप्त आँसुओं के जल से भीग कर टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगी।

'मुबालगा' की ऐसी लहर से केवल बिहारी ही नहीं प्रभावित हुए, अन्य रीति कवि भी इससे बच नहीं सके। पर अपनी विशिष्ट उद्भावना-शक्ति के कारण उनकी प्रतिभा प्राकृत कवियों से सदैव आगे बढ़ती रही। अतः उक्त प्राकृत कविता के मेल में एक छन्द रीति कवि का भी लीजिये—

प्यारो परदेस को गनावै दिन जोतिषी सों,
व्याकुल ह्वै लखत लगन लीक खांच तें।
सुनत सगुन तन तरुनी को मैंन तयो,
प्रान गयो पिघलि सरस कांचे कांच तें।
सास कह्यो इतै आउ रोचन रुचिर लाउ,
अतिही दुखित कर गह्यो लाज पांच तें।
थार गयो चटकि पटक नारियर गयो,
मुद्रा औटि चाँदी भई विरह की आंच तें॥[2]

---

१. प्राकृत—हेमचन्द्राचार्य—सं० डा० पी० एल० वैद्य, ४।३९५
२. शृंगार सुधाकर—मन्नालाल द्विज, पृ० २३४, छं० सं० २३०

प्रस्तुत छन्द में अतिशयोक्ति का प्रयोग शृंगार की परम रमणीय प्रसंगोद्-भावना के अन्तर्गत हुआ है। इसी से अतिरंजना का रूप इस सरस और हृदयग्राही चित्र में बहुत कुछ सिमिट गया है। छन्द का भाव यों है कि किसी मध्या प्रवत्स्यत् प्रेयसी का पति परदेश जाने के निमित्त ज्योतिषी महाराज से शकुन पूछ रहा है। नायिका व्याकुल होकर ज्योतिषी द्वारा खींची गयी लग्न की रेखाओं को देख रही है। ज्योतिषी द्वारा प्रिय के जाने का शुभ शकुन जानकर नायिका का शरीर कामाग्नि मे संतप्त हो गया और उसका प्राण कच्चे कांच की भाँति पिघल गया। इसी बीच नायिका की सास ने उसे रोचन लाने को कहा। उसने दुखित होकर सलज्ज हाथों को ज्यो ही बढ़ाया उसी समय उसकी विरहाग्नि से थाल तो चटक गया, नारियल पटपटा गया और मुद्रा पिघल कर चाँदी हो गई।

जिन रीति कवियों ने विरह की रूढ़ियों को ग्रहण करते हुए रसानुभूतियो की अतल गहराई में उतरने का प्रयास किया है, उनकी अतिशयोक्ति एवं ऊहा प्रधान रचनाएँ भी विरह के स्वाभाविक गाम्भीर्य-अभिव्यंजन में अधिक सफल प्रमाणित हुई है। उदाहरणार्थ रीति युग के प्रसिद्ध कवि देव का एक छन्द द्रष्टव्य है। कवि ने इसमे नायिका की कृशता का वर्णन जिस मार्मिक प्रसंग के अन्तर्गत किया है, उसे देखें—

> लाल बिदेस वियोगिनि बाल वियोग की आगि भई जरि झूरी।
> पौन औ पानी सों प्रेम कहानी सों पान ज्यों प्रानिनि राखत हूरी॥
> देव जू आजुहि ऐबे की औधि सुबीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
> हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥[1]

भाव यह है कि विरहिणी नायिका प्रियतम की अवधि व्यतीत होते देख कर अत्यन्त व्याकुल हो गयी। इसी बीच कौआ आकर बोलने लगा। कौओं का बोलना आगत पतिकाओं के लिए शकुन सूचक माना गया है। विरहिणी ने ज्योंही अपना हाथ उस काग को उड़ाने के लिए उठाया, उसी समय विरह की कृशता के कारण उसके हाथ की चार चूड़ियाँ ढीली होकर कौवे के गले में जा गिरीं। वस्तुत: अनुभूति एवं भावों की गम्भीरता के कारण ऐसे छन्दों का स्वारस्य नष्ट नहीं होने पाया है और यह रचना सहज ही सहृदय संवेद्य बन गई है। अब इसी छन्द के भाव से मिलता हुआ एक प्राकृत छन्द इस प्रकार है—

> वायसु उड्डावन्तिअये पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
> अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टतडत्ति॥[2]

काग उड़ाते समय जैसे ही सहसा नायिका को उसका पति दिखायी पड़ा, दुर्बलता के कारण उसके हाथों की आधी चूड़ियाँ तो पृथ्वी पर गिर पड़ीं और प्रिय-

---

१. भवानी विलास—देव, पृ० ५१, छ० सं० ४७

२ प्राकृत	सं० डा० पी० एल० वैद्य ४ ३५२

दर्शनजन्य प्रसन्नता से हाथों के पहले से मोटे हो जाने पर आधी चूड़ियाँ तड़तड़ा कर टूट गयीं। वस्तुतः मिलन के समय चूड़ियों का टूट जाना अधिक अमंगल सूचक है।

उपर्युक्त दोनों छन्दों को मिला कर देखने से स्पष्ट विदित होता है कि देव के छद में भाव-गाम्भीर्य के कारण रस-मग्नता एवं सहृदय संप्रेषणीयता की जैसी क्षमता मौजूद है, वह प्राकृत छन्द में अस्वाभाविक बन्धान के कारण प्रायः नष्ट हो गई है। अतः निश्चय ही देव का यह छन्द 'मुबालगा' की कोटि में होते हुए भी अधिक मौलिक और श्रेष्ठतर है। यद्यपि यह सत्य है कि कृशता और विरह ताप के वर्णन में बिहारी की दृष्टि अधिक रूढ़िग्रस्त और संकीर्ण है, पर संस्कृत और प्राकृत के छन्दो को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ बिहारी से बढ़कर रूढ़ि संग्रस्त छन्दों की रचना हुई है। प्राकृत का एक छन्द उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

> बिरहापाल जाल करालिअउपहिउ कोवि बुडि्डविठिअउ।
> अनु सिसिर कालि सीअल जलहु धूमु कहन्तिहुउट्ठिअउ ॥[1]

अर्थात् बिरहानल से संतप्त किसी पथिक ने जल में अवश्य ही डुबकी लगाई होगी, अन्यथा शिशिर काल में शीतल जल से धुएँ कैसे उठ सकते हैं? बिहारी ने विरह ताप विषयक इस काव्य रूढ़ि को अधिक चमत्कार मूलक बनाने की चेष्टा की है और प्राकृत कवि से अपनी कल्पना शक्ति का प्रसार कहीं अधिक किया है— नमूना द्रष्टव्य है—

> सुनत पथिक मुंह माह निस लुवैं चलत वहि गाम।
> बिन बूझे बिनही कहे, जियत बिचारी बाम ॥[2]

पथिक के मुँह से यह सुनकर कि माघ महीने की रात में भी उस गाँव में लुएँ चला करती हैं नायक ने विना पूछे और बिना कहे ही समझ लिया कि मेरी स्त्री जीती है अर्थात मेरे वियोग में संतप्त नायिका के शरीर के ताप का ही यह प्रभाव है कि उस गांव की हवा इतनी गर्म हो गई है कि माघ की शीतल रात्रि में भी लुएँ चलती है, इस दृष्टि से निश्चय ही बिहारी की दृष्टि रूढ़ियों के मध्य मौलिकता का विधान करने में अधिक सजग थीं, इसी प्रकार की उनकी एक अन्य अतिशयोक्ति (दो० स० ४६७) की श्लाघा करते हुए लाला भगवानदीन ने लिखा है कि बिहारी की अत्युक्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी है। फ़ारसी और उर्दू वाले देखें कि इससे बढ़कर तो क्या इसकी समता का भी कोई 'मुबालगा' उनके साहित्य में है?[3]

इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी की दृष्टि अधिक वस्तुपरक होने के कारण

---

१. प्राकृत व्याकरण—हेमचन्द्राचार्य-सं० डा० पी० चल० वैद्य, ४।४१५

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, पृ० २३५, दो० सं० ४६८

२. वही, पृ० २३५

प्रस्तुत छन्द में अतिशयोक्ति का प्रयोग शृंगार की परम रमणीय प्रसंगोद्भावना के अन्तर्गत हुआ है। इसी से अतिरंजना का रूप इस सरस और हृदयग्राही चित्र में बहुत कुछ सिमिट गया है। छन्द का भाव यों है कि किसी मध्या प्रवत्स्यत् प्रेयसी का पति परदेश जाने के निमित्त ज्योतिषी महाराज से शकुन पूछ रहा है। नायिका व्याकुल होकर ज्योतिषी द्वारा खींची गयी लग्न की रेखाओं को देख रही है। ज्योतिषी द्वारा प्रिय के जाने का शुभ शकुन जानकर नायिका का शरीर कामाग्नि से सतप्त हो गया और उसका प्राण कच्चे कांच की भाँति पिघल गया। इसी बीच नायिका की सास ने उसे रोचन लाने को कहा। उसने दुखित होकर सलज्ज हाथों को ज्यो ही बढ़ाया उसी समय उसकी विरहाग्नि से थाल तो चटक गया, नारियल पटपटा गया और मुद्रा पिघल कर चाँदी हो गई।

जिन रीति कवियों ने विरह की रूढ़ियों को ग्रहण करते हुए रसानुभूतियो की अतल गहराई में उतरने का प्रयास किया है, उनकी अतिशयोक्ति एवं ऊहा प्रधान रचनाएँ भी विरह के स्वाभाविक गाम्भीर्य-अभिव्यंजन में अधिक सफल प्रमाणित हुई है। उदाहरणार्थ रीति युग के प्रसिद्ध कवि देव का एक छन्द द्रष्टव्य है। कवि ने इसमे नायिका की कृशता का वर्णन जिस मार्मिक प्रसंग के अन्तर्गत किया है, उसे देखें—

लाल बिदेस वियोगिनि बाल वियोग की आगि भई जरि झूरी।
पौन औ पानी सों प्रेम कहानी सों पान ज्यों प्राननि राखत दूरी॥
देव जू आजुहि ऐबे की औधि सुबीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥[1]

भाव यह है कि विरहिणी नायिका प्रियतम की अवधि व्यतीत होते देख कर अत्यन्त व्याकुल हो गयी। इसी बीच कौआ आकर बोलने लगा। कौओं का बोलना आगत पतिकाओं के लिए शकुन सूचक माना गया है। विरहिणी ने ज्योंही अपना हाथ उस काग को उड़ाने के लिए उठाया, उसी समय विरह की कृशता के कारण उसके हाथ की चार चूड़ियाँ ढीली होकर कौवे के गले में जा गिरीं। वस्तुतः अनुभूति एवं भावों की गम्भीरता के कारण ऐसे छन्दों का स्वारस्य नष्ट नहीं होने पाया है और यह रचना सहज ही सहृदय संवेद्य बन गई है। अब इसी छन्द के भाव से मिलता हुआ एक प्राकृत छन्द इस प्रकार है—

वायसु उडडावन्तिअये पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टतडत्ति॥[2]

काग उड़ाते समय जैसे ही सहसा नायिका को उसका पति दिखायी पडा, दुर्बलता के कारण उसके हाथों की आधी चूड़ियाँ तो पृथ्वी पर गिर पड़ीं और प्रिय-

---

१. भवानी विलास—देव, पृ० ५१, छ० सं० ४७
२ प्राकृत सं० डा० पी० एल० वैद्य ४ ३५२

दर्शनजन्य प्रसन्नता से हाथों के पहले से मोटे हो जाने पर आधी चूड़ियाँ तड़तड़ा कर टूट गयीं। वस्तुत: मिलन के समय चूड़ियों का टूट जाना अधिक अमंगल सूचक हैं।

उपर्युक्त दोनों छन्दों को मिला कर देखने से स्पष्ट विदित होता है कि देव के छंद में भाव-गाम्भीर्य के कारण रस-नग्नता एवं सहृदय संप्रेषणीयता की जैसी क्षमता मौजूद है, वह प्राकृत छन्द में अस्वाभाविक बन्धान के कारण प्राय: नष्ट हो गई है। अत: निश्चय ही देव का यह छन्द 'मुबालगा' की कोटि में होते हुए भी अधिक मौलिक और श्रेष्ठतर है। यद्यपि यह सत्य है कि कृशता और विरह ताप के वर्णन में बिहारी की दृष्टि अधिक रूढ़िग्रस्त और संकीर्ण है, पर संस्कृत और प्राकृत के छन्दों को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ बिहारी से बढ़कर रूढ़ि संग्रस्त छन्दों की रचना हुई है। प्राकृत का एक छन्द उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

> विरहापाल जाल करालिअउपहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअउ।
> अनु सिसिर कालि सीअल जलहु धूमु कहन्तिहुउट्ठिअउ॥[1]

अर्थात् विरहानल से संतप्त किसी पथिक ने जल में अवश्य ही डुबकी लगाई होगी, अन्यथा शिशिर काल में शीतल जल से धुएँ कैसे उठ सकते हैं? बिहारी ने विरह ताप विषयक इस काव्य रूढ़ि को अधिक चमत्कार मूलक बनाने की चेष्टा की है और प्राकृत कवि से अपनी कल्पना शक्ति का प्रसार कहीं अधिक किया है— नमूना द्रष्टव्य है—

> सुनत पथिक मुंह माह निस लुवैं चलत वहि गाम।
> बिन बूझे बिनही कहे, जियत बिचारी वाम॥[2]

पथिक के मुँह से यह सुनकर कि माघ महीने की रात में भी उस गाँव में लुएँ चला करती हैं नायक ने बिना पूछे और बिना कहे ही समझ लिया कि मेरी स्त्री जीती है अर्थात मेरे वियोग में संतप्त नायिका के शरीर के ताप का ही यह प्रभाव है कि उस गांव की हवा इतनी गर्म हो गई है कि माघ की शीतल रात्रि में भी लुएँ चलती हैं, इस दृष्टि से निश्चय ही बिहारी की दृष्टि रूढ़ियों के मध्य मौलिकता का विधान करने में अधिक सजग थीं, इसी प्रकार की उनकी एक अन्य अतिशयोक्ति (दो० सं० ४६७) की श्लाघा करते हुए लाला भगवानदीन ने लिखा है कि बिहारी की अत्युक्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी है। फारसी और उर्दू वाले देखें कि इससे बढ़कर तो क्या इसकी समता का भी कोई 'मुबालगा' उनके साहित्य में है?[3]

इसमें सन्देह नही कि बिहारी कीं दृष्टि अधिक वस्तुपरक होने के कारण

---

१. प्राकृत व्याकरण—हेमचन्द्राचार्य-सं० डा० पी० चल० वैद्य, ४।४१५

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, पृ० २३५, दो० सं० ४६८

२. वही, पृ० २३५

चमत्कार की चकाचौंध में अक्सर फँस जाती थी, लेकिन ऐसे स्थलों पर जहाँ संवेदना की सांद्रता का संस्पर्श उन्हें थोड़ा भी मिल जाता था, उनके वस्तुपरक चित्रों में भी आत्मपरकता का गुण सहज ही आ जाता था और उसमें मौलिकता का रंग अनायास ही झलकने लगता था, उदाहरणार्थ—

नेकु न जानी परतियों पर्‌यो बिरह तन छाम ।
उठति दिया लौं नादि हरि लिये तिहारो नाम ।।[1]

हे कृष्ण ! राधिका का शरीर विरह के कारण इतना क्षीण हो गया है कि उससे यह मालूम ही नहीं पड़ता कि वह है । केवल नाम लेने पर वह बुझते दिए की भांति प्रकाशित हो उठती है । इसी तथ्य का पतिपादन उर्दू कवि नासिख ने भी किया है,[2] किन्तु बिहारी जैसी मार्मिक प्रभावोत्पादकता का गुण उनमें नहीं मिलता । वे 'मुबालगा' के चक्कर में पड़ कर विरहावस्था का ऐसा स्वाभाविक चित्र नहीं दे सके । उनकी उक्ति को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने विरह की मार्मिक और स्वाभाविक व्यंजना पर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

रीतिकाल में विरह की कृशता की सूक्ष्म एवं कोमल अनुभूति प्रस्तुत करने मे देव का स्थान अधिक महत्व का है । उन्होंने अपने चित्रों में 'मुबालगा' और स्वाभाविकता का ऐसा सुन्दर सामन्जस्य प्रदर्शित किया है कि उससे उनकी रचनाओ मे मौलिकता का रूप अधिक प्रस्फुटित हुआ है । नायिका की कृशता का एक सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है —

मोहन मित्र चितेरे विचित्र कि चित्रन देव चरित्र तनाई ।
सेज पै ज्यों रँगरेज मनोज सलोने के सोने की बेलि बनाई ।।[3]

अपनी दुर्बलता के कारण राधा की यह दशा है कि मानो मोहन रूप चित्रकार ने एक विचित्र चित्र अंकित किया है, अथवा सेज पर रंगरेज रूप कामदेव ने मानो सोने की बेल बना दी हो अर्थात् विरह में क्षीण नायिका सेज में इस प्रकार चिपट गई है, जैसे सोने की वेलि छाप दी गयी हो । इसमें एक ओर फारसी काव्य की अतिरंजनापूर्ण पद्धति का समावेश किया गया है और दूसरी ओर इसकी अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए हृदय की रसमयी अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का विनियोग किया गया है । यही कवि की मौलिकता थी जो न तो फारसी और उर्दू कवियो मे आ सकी और न संस्कृत और प्राकृत कवियों में ही इसका दर्शन होता है ।

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, पृ० ३३५, दो० सं० २७८

२. इन्तहाये लागरी से जब नजर आया न मैं ।
हंस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिये ।—नासिख

३ सुख सागर तरंग देव सं० पं० बालदत्त मिश्र पृ० २०५ छं० सं० ६१०

रीति कवियों की दृष्टि इतनी सजग थी कि वे पूर्ववर्ती उक्तियों को ग्रहण करते समय किसी न किसी नवीन उद्भावना के समावेश द्वारा अपनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय देते थे। ऐसा नहीं है कि इनके काव्यों में मात्र प्राचीन युग की रूढ़ियाँ ही हों, अपितु कुछ तो ऐसे चित्र मिलेंगे जिनसे भावानुभूतियों की बड़ी सटीक और यथार्थ व्यंजना हुई है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश काव्य की प्रसिद्ध रचना 'सन्देश रासक' के एक छन्द की तुलना सुन्दर कवि के एक छन्द से कीजिये। दोनों का मौलिक अन्तर स्पष्ट मालूम हो जायगा। और यह भी ज्ञात हो जायगा कि अब्दुल रहमान के भावों को सुन्दर ने किस चतुराई से ग्रहण किया है और उसमें किस प्रकार कतर-ब्योंत करते हुए अपनी मौलिकता की स्पष्ट छाप लगायी है। दोनों के छन्द अधो-लिखित हैं—

१—सुन्नारह जिम मह हियउ पिय उक्किंख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ॥[1]

अर्थात् स्वर्णकार की भाँति मेरा हृदय पहले प्रिय की उत्कंठा उत्पन्न करता है। पुनः विरहाग्नि में मुझे जलाकर आशा के जल में सींचता है। स्वर्णकार प्रथम स्वर्ण को आग में तपाता है फिर उसे जल में डुबाकर ठंडा करता है।

२—सुख सेज सुगन्ध सुधाकर सीत समीर सुहाति नहीं सखियाँ।
कविराज कहै इहि भांतिनि कैसे बिना जग जीवन जाय जियो॥
कबहूं विरहागिन में तचवै कबहूं दृग नीर में बोरि दयो।
पिय के बिछुरे हियरा इहि काम लोहार के हाथ को लोह कियो॥[2]

सुन्दर कवि की उक्ति जितनी सहृदय संवेद्य है, उतनी अब्दुल रहमान की नहीं मालूम पड़ती। सुन्दर ने अपने छन्द की अन्तिम दो पंक्तियों में मार्मिकता का बड़ा कोमल रूप खड़ा किया है, जिसे पढ़कर वियोगिनी की दशा का प्रकृत चित्र नेत्रों के समक्ष खिंच जाता है। भाव यह है कि कामदेव ने उसके हृदय को लोहार का लोहा बना रखा है। जिस प्रकार लोहार लोहे को आग में तपाता है और पुनः जल में शीतल करता है, उसी प्रकार कामदेव उसके हृदय रूपी लोहे को कभी बिरहाग्नि में तपाता और कभी नेत्रों के आँसुओं में डुबो कर उसे शीतल करता है। उक्त दोनों छन्दों में पर्याप्त भाव साम्य होते हुए भी उक्तिगत मौलिकता के विधान में सुन्दर ने निश्चय ही अपनी असामान्य कुशलता प्रकट की है, इस तथ्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

संस्कृत के शृंगारिक काव्यों में विरह ताप के वर्णन में कहीं-कहीं रूढ़ियों का इतना अधिक आग्रह है कि उसके कारण सारी सरसता नष्ट हो गई है। यद्यपि यह

१. सन्देश रासक—अब्दुल रहमान—सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, २।१०८
२. सुन्दर शृंगार—सुन्दर कवि, पृ० ७६, छं० सं० १३

आग्रह रीति काव्य में भी मिलेगा, किन्तु वहां पुराने पैटर्न में नव-नव कल्पनाओं के उपयोग के कारण चित्रों में नवीनता बराबर बनी रही। इस कथन की पुष्टि के लिए संस्कृत की एक उक्ति दी जा रही है। इस उक्ति से विहारी कवि के विरह ताप विषयक एक दोहा से मिलाकर देखने से दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है—

कलयति मम चेतस्तल्पमंगारकल्पं ज्वलयति मम गात्रं चन्दनं चन्द्रकश्च।
तिरयति मम नेत्रे मोह जन्माऽन्धकारो विकृत बहुविकार मन्मथो मां दुनोति ॥[1]

अर्थात् विरही के पर्यंक अंगारों के समान कलपाता है—दुख देता है। चन्दन और कर्पुर उसके शरीर को जलाए जा रहा है। मोहान्धकार उसके नेत्रों को डुबा दे रहा। विहारी ने विरह की संतप्तावस्था का चित्र जिस स्वाभाविकता के साथ खींचा है, वह द्रष्टव्य है—

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि, छनकपोल ठहराय।
अंसुवा परि छतिया छिनक छन छनाय छपि जात ॥[2]

यद्यपि विहारी ने इस दोहे की रचना 'कुमार संभव' के एक श्लोक के आधार पर की है,[3] किन्तु उन्होंने भाप बनकर आंसुओं के तिरोहित हो जाने की कल्पना द्वारा सारे प्रसंग को अपेक्षाकृत सरस बनाने की सफल चेष्टा की है।

वस्तुत: रीतिमुक्त कवियों के वियोग वर्णन पर जितना प्रभाव फारसी काव्य-परम्परा का लक्षित होता है, उतना संस्कृत का नहीं। फिर भी, इन रीतिमुक्त कवियो ने फारसी काव्य की विकृत-पद्धतियों को कभी महत्व नहीं दिया। यही इनकी मौलिक दृष्टि थी, जिसके कारण इनकी रचना में परम्परा अभुक्त रूपों का स्पष्ट दर्शन होता है। रीति मुक्त कवियों में बोधा, आलम और घनानन्द की रचनाएं विदेशी प्रभाव से से जितना संत्रस्त हैं, उतना ठाकुर की रचनाएँ नहीं। ठाकुर में उन्मुक्त प्रेम-व्यंजना का प्रकृष्ट रूप दृष्टिगत होता है और वियोग की मार्मिक अनुभूतियाँ का यथास्थल बहुत ही उत्तम चित्रण हुआ है। ठाकुर की कुछ ऐसी रचनाएं भी उपलब्ध हुई हैं, जिनमें विरह वेदना और ताप का बहुत प्रभावकारी रूप प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि अन्तर्वेदना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए यत्र-तत्र ऊहात्मक पद्धतियाँ ग्रहण की गयी हैं, फिर भी भाव-गाम्भीर्य की इयत्ता किसी भी रूप में नष्ट नहीं होने पाई है—

---

१. सुभाषित रत्नभाण्डागारम्—पृ० ११७, छं० सं० २४
२. विहारी बोधिनी—दो० सं० ४८७
३. स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपात् चूर्णिताः
वलाषु तस्याः स्खलितः प्रपेदिरे—
चिरेण नाभिं प्रथमोद बिन्दवः ॥—कुमारसंभव ४।२४

वरुनीन में नैन झकैं उझकैं मनो खंजन प्रेम के जाल परे
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिए निज प्रीति करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखिबे को अब लाले परे।[1]

ठाकुर की द्वितीय पंक्ति की मार्मिक व्यंजना की तुलना प्राकृत के एक इसी ढग के छंद से करने पर सहज ही ज्ञात हो जाता है कि ठाकुर ने अपनी उक्ति को जिस रूप में संवारा है, वह अपने आप में सर्वथा मौलिक हो गयी है। प्राकृत का छंद नीचे दिया जा रहा है—

जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण।
ताराणन्तिए अंगुलिउ जज्जरि आउ नहेण॥[2]

प्रवास के समय प्रियतम द्वारा मुझे अवधि के जो दिन दिये गये थे, उन्हें गिनते-गिनते नाखून से अंगुलियाँ जर्जरित हो गयी हैं—अंगुलियों में घाव हो गए हैं। ठाकुर की विरहिणी का यह कथन कि 'अँगुलियों के पोरों में छाले पड़ गये हैं। अतः अवधि के दिनों को कैसे गिनूं', अत्यन्त प्रभावशाली है। जर्जरित होने की अपेक्षा अंगुलियों के पोरो मे छाले पड़ जाना अधिक संवेदनात्मक और करुणार्द्र कहा जाता है। इधर आलम के जो छंद उपलब्ध हैं, उनमें विरह-ताप के निरूपण में प्रायः फारसी ढंग का 'मुबालगा' मिलता है। ऐसे छंदों में अन्तर्ज्वाला का वह सच्चा रूप नहीं दिखायी पड़ता जिसके कारण छंद की प्रभाव क्षमता अपेक्षाकृत प्रायः बढ़ जाती है। उनमें 'मुबालगा' का स्वरूप बहुत विकृत हो गया है। एक नमूना द्रष्टव्य है—

अब कत पर घर मांगन है जाति आगि,
आँगन में चाँदु चिनगारी चारि झरि लै।
साँझ भई भौन संझवाती क्यों न देति है री,
छाती सो छुवाय दिया बाती क्यों न बारिलै॥[3]

मतिराम ने तो यहां तक लिख दिया है कि नायिका इतनी दुबली हो गई है कि चारपाई पर दिखायी नहीं देती। हाँ उसके संतप्त शरीर की आँच से ही उसकी स्थिति का अनुभव होता है।[4] किन्तु घनानन्द के छंदों में पर्याप्त मौलिकता विद्यमान

---

१. ठाकुर ठसक—सं० ला० भगवानदास, पृ० १७, छं० सं० ६८
२. प्राकृत व्याकरण—सं० डा० पी० एल० वैद्य ४।३३३
३. आलमकेलि—सं० ल० भगवानदीन, पृ० ६६, छं० सं० २२८
४. देखि परै नहिं, दूबरी, सुनियो स्याम सुजान।
जान परै परजंक मैं, अंग आँच अनुमान॥ —मतिराम ग्रंथावली—सं० प० कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० ८६, छं० सं० ४२३

है। उन्होंने शारीरिक कृशता और विरह के मार्मिक स्वरूप के वर्णन में जैसी कुशलता दिखायी है, वह न तो संस्कृत में मिलती है और न फारसी ही में, इस विषय का एक नमूना अलम् होगा—

आवत ही मन जान सजीवन ऐसो गयौ जु करी नहिं लौटनि।
द्यौस कछू न सुहाय सखी, अरु रैनि बिहाय न हाय करौटनि॥
अंग भये पियरे पट लौं मुरझैं बिन ढंग अनंग सरौटनि।
हौं सुचितै घन आनंद पै हमैं मारति है विरहागिनि औटनि॥[1]

इस छंद की तृतीय पंक्ति में भावाभिव्यक्ति के लिए जैसी मौलिक उक्ति की उद्भावना की गयी है, वह ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। तीसरी पंक्ति का भाव यह है कि अंग पीले वस्त्र की भांति पीला हो गया है तथा उस पर काम की बेढंगी शिकनें पड़ने के कारण वह मुरझा गया है। यों शरीर के पीले पड़ जाने की कल्पना तो काव्य परम्परा में बराबर की जाती रही, पर काम की शिकनें पड़ जाने की कल्पना सर्वथा नवीन है।

मानसिक अवस्था का निरूपण

वियोग के अन्तर्गत जिस प्रकार शारीरिक कृशता एवं ताप आदि का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार मन:स्थिति की सूक्ष्मताओं का अंकन करने के लिए काम की दस दशाओं का वैविध्यपूर्ण विवेचन हुआ है। काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में काम की जिन दस दशाओं का उल्लेख हुआ है, उनके नाम इस प्रकार हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण।[2]

वास्तव में वियोग-वर्णन के सन्दर्भ में मानसिक अवस्थाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति मे रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा रीति मुक्त कवियों ने अधिक मौलिकता प्रकट की है। हा, रीतिबद्ध कवियों में देव और पद्माकर की उक्तियाँ अधिक संवेदनात्मक और भावप्रवण होने के कारण बहुत ही प्रभावकारिणी सिद्ध हुई हैं। पद्माकर की अपेक्षा देव का मानसिक धरातल अधिक उदात्त और व्यापक है। इसका मूल कारण यह है कि एक ओर उनमें जहाँ रीतियुग की शृंगारिक चेतना को उसकी गतानुगतिकता के परिवेश से अलग करके सर्वथा नव्य एवं विशाल पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित करने की उत्कट ललक मौजूद है, वहीं दूसरी ओर रोमाँटिक भाव भूमियों पर टिकी हुई उनकी प्रगाढ़ रसात्मक चेतना और सान्द्र रागात्मकता भक्तियुग के कवियों जैसी तादात्म्य मूलक स्थिति के निर्माण में भी पर्याप्त सक्षम प्रतीत होती है। इसी से देव

---

१. घनानन्द कवित्त—सं० आ० विश्वनाथ मिश्र, पृ० १०१ छंद सं० १८१
२ साहित्य दर्पण—टी० शालग्राम शास्त्रीय ३।१६०

की काव्यात्मक अभिव्यक्ति पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही काव्यों की तुलना में अत्यधिक मौलिक है। यथा 'गुण कथन' विषयक एक छंद द्रष्टव्य है—

देव मै सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यौ।
कंचुकी मैं चुपरयौ करि चोवा लगाइ लियो उर सो अभिलाख्यौ॥
कै मखतूल गुहै गहने रसमूरतिवन्त सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ॥[1]

नायिका ने वियोग में शृंगारादि करना छोड़ दिया है। उसकी चित्तवृत्ति कृष्ण के श्यामले रंग में पूर्णतया निमज्जित रहती है। वह कृष्ण के प्रति अपनी अभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए सभी शृंगारिक वस्तुओं में श्याम वर्ण को सर्वोपरि स्थान देती है। अतः वह शृंगारादि यदि करती भी है तो श्याम रंग की वस्तुओं से। ऊपर के छंद में दाम्पत्य प्रेमका जैसा अनाविल स्वरूप व्यंजित हुआ है, वह संस्कृत आदि भाषाओं में अभी तक देखने को नहीं मिला। वास्तव में देव काव्य की भाव भूमिगा कवि की सघन रागात्मक चेतना से पूर्ण संवलित होने के कारण बहुत ही असाधारण एव समृद्ध है, इसमें किंचित् संदेह नहीं किया जा सकता। वियोग में मानसिक स्थिति की परिवर्तन शीलता का निरूपण करने वाले रीति कवि मनस्तत्व के इतने सूक्ष्म ज्ञाता थे कि उनकी तुलना में पीछे रह जाने वाले कवि काव्य के आन्तरिक स्वरूप का प्रकृत उद्घाटन न कर सके। पर जिनकी दृष्टि भावों के संश्लिष्ट व्यापारों के विधान में अत्यधिक कुशल थी, उन्हें इस क्षेत्र में आशातीत सफलता मिली है। देव का प्रलाप विषयक एक छंद लीजिए। इससे वास्तविकता का पूर्ण अनुमान लगाया जा सकता है—

कान्हमई वृषभानु सुताभई प्रीति नई जनई जिय जैसी।
जानै को 'देव' बिकानी सी डोलै लगै गुरु लोगन देखि अनैसी।
ज्यों-ज्यों सखी बहरावति बातनि त्यौं-त्यौं बकै वह बावरी ऐसी।
राधिका प्यारी हमारी सों तू कहि कालि की वेनु बजाई मैं कैसी॥[2]

इसमें आश्रय और आलम्बन के एकात्म भाव का उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में प्रेम की चरम परिणति भी इसी अवस्था में होती है। परिवर्तित मनःस्थिति की इस प्रकार की भावात्मक अवतारणा रीति युग के प्रत्येक कवि के लिए सम्भव भी न थी। उसमें देव जैसे भावुक एवं रसानुभूतियों की अतल गहराई मे उतरने वाले कवि ही ठहर सके हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त छद मे राधा की प्रगाढ़ तन्मयता का एक राससिक्त चित्र अंकित हुआ है। राधा कृष्ण के रूप

१. भवानी विलास—देव, पृ० ४५, छं० सं० २९
२ सुन्दरी सर्वस्व—स० द्विज मन्नालाल, पृ० २७९, छं० सं० २

मे इस प्रकार एकात्म हो गई है कि उन्हें अब स्पष्टतया आभासित होने लगा है कि वे अब राधा न होकर कृष्ण हो गयीं हैं और कृष्णमय हो जाने पर वे राधा से पूछती हैं कि बताओ तो कल मैंने किस प्रकार की बंशी बजायी थी ? यह वस्तुतः सेक्स परिवर्तन की स्थिति न होकर प्रेम की उस पराकाष्ठा का परिणाम है, जहाँ आश्रय आलम्बन का भावन करते-करते स्वतः आलम्बन हो जाता है। अतः यहाँ शरीर परिवर्तन की वह स्थिति नहीं है, जहाँ शरीर विज्ञानवेत्ता इसका निराकरण 'यौन परिवर्तन' के विशिष्ट सिद्धान्तों एवं नियमों में खोजते हैं।

यद्यपि पद्माकर की काव्य-चेतना का धरातल देव से निश्चय ही निम्न है, फिर भी जिन स्थलों पर उनकी रसग्राहिणी काव्य-चेतना अधिक सजग एवं सचेष्ट है, वहाँ उन्होंने वाग्विधान के ऐसे मार्मिक रूपों का उद्घाटन किया है. जहाँ हिन्दी ही नहीं, संस्कृत और प्राकृत आदि के भी कवि नहीं पहुंच सके हैं। पद्माकर के एक छंद से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जायगा—

आम को कहति अमली है अमली को आम, आकही अनारन को आंकिबोंकरति है।
कहैं पद्माकर तमालन को ताल कहै तालनि तमाल कहि ताकिबो करति हैं।।
कान्है कान्ह काहू कहि कदली कदंबन को मेंटि परिरंभन मैं छाकिबो करति है।
सांवरे जू रावरे यों बिरह बिकानी बाल बन-बन बावरी लौं बाकिबो करति है।।[1]

प्रलाप की स्थिति का यह बहुत ही यथातथ्य चित्र है। प्रायः देखा जाता है कि जब हम अपनी मानसिक स्थिति का संतुलन खो देते हैं तो हमारी दशा उस प्रलापी व्यक्ति की भाँति हो जाती है, जो आम को इमली कहता है और इमली को आम समझता है। इस छन्द में भी नायिका के उस मानसिक असंतुलन का वर्णन हुआ हैं, जिसमें पड़कर मनश्चेतना औचित्य और अनौचित्य का विवेक नष्ट कर देती है।

स्वच्छन्द काव्य धारा के कवियों ने वियोग में उत्थित होने वाली नाना अन्तर्वृत्तियों की जैसी रसमयी व्यंजना की है, वह प्रायः अन्यत्र लक्षित नहीं होती। स्वच्छन्द कवियों में घनानन्द ने मानस की विभिन्न भाव भूमियों का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह अनेकशः मनोविज्ञान के मर्मज्ञों के लिए भी सम्भव न था। कहीं-कहीं उन्होंने विरहमूलक ऐसे दैन्य भाव का निरूपण किया है, जहाँ भक्ति युग की काव्य-चेतना स्वभावतया सिमिट गयी है, नमूना इस प्रकार है—

हम सों हित कै कितकौ हित ही चित बीच वियोगहि बोय चले।
सु अखैबट बीज लौं फैलि पर्‌यौ वनमाली कहां धौं समोय चले।।
घन आनंद छाय बितान तन्यो हम ताप के आतप खोय चले।
कबहूं तिहि मूल तो बैठिये आय सुजान ज्यों ख्वाय के रोय चले।।[2]

---

१ शृगार सुधाकर—सं० द्विज मन्नालाल पृ० ३८०. छं० सं० १७
२ घनानन्द कवित्त—सं० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ७४ छ० सं० १३३

वियोग का बीज अक्षयबट वृक्ष की भाँति फैल गया है किन्तु विरोध की स्थिति तो यह है कि उसकी शीतल छाया के बीच बिरह की ज्वाला और बढ़ जाती है। वेदना की चरमावस्था का चित्र तो अन्तिम पंक्ति में अधिक स्पष्ट हुआ है, जहां वियोगिनी कितने दैन्य भाव से प्रिय को संबोधित करती हुई कहती है कि मेरे प्राण तो असह्य वेदना के कारण दूसरों को रुला कर और स्वयं रोकर निकले जा रहे हैं, किन्तु अभी आपके लिए अवसर है कि इस वटवृक्ष की जड़ पर आकर बैठते और मेरी असह्य पीड़ा का किंचित् अनुभव करते।

स्वच्छन्द काव्य-धारा के अन्य कवियों में आलम, बोधा और ठाकुर की मार्मिक भाव-व्यंजना मानस की पीड़ा, अवसाद, विषाद और क्षोभ का सुन्दर रूप उद्‌घाटित करती है। आलम ने स्मृति कथन के द्वारा मानस की विवशता, मोहावस्था तथा उद्विग्नता का अभिव्यंजन अति कौशलपूर्वक किया है—

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सौं करी बहु बात सु ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें॥[1]

अन्तर्वृत्तियों के निरूपण में ठाकुर की अपेक्षा बोधा पर विदेशी प्रभाव की छाप अधिक है। किन्तु ऐसे स्थलों पर जहाँ वेदना की सघनता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई है, बोधा का हृदय विदेशी प्रभाव से बहुत कुछ असम्पृक्त हो गया है और उसमें अन्तर्वेदना की वही झलक मिलती हैं जो वैष्णव भक्तों की रचनाओं में मौजूद है। एक नमूना इस प्रकार है—

कबहूं मिलिबो कबहूं मिलिबो यह धीरज ही मैं धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै गरै ते फिरै मन की मनही में सिरैबो करैं॥
कवि बोधा न चाउ सरी कबहूं नित ही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै॥[2]

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी देखने को मिलती है, जब भोले मानस को ऐसी-ऐसी बातें सहनी पड़ती हैं, जिन्हें उसने पहले नहीं सहा और ऐसी बातें कहनी पडतीं हैं जिन्हे पहले नहीं कहा। सुकुमार मन की ऐसी विवशता के चित्रण में रीति-मुक्त कवि ठाकुर ने अपनी वास्तविक रसग्राहिता प्रकट की है। यों विवशता का वर्णन फारसी और संस्कृत में भी हुआ है, किन्तु भाव गाम्भीर्य और हृदय की ऋजुता का

---

१. आलमकेलि—सं० ला० भगवानदीन, भूमिका, भाग, पृ० ४
२. इश्कनामा—बोधा, पृ० २१

जैसा रागात्मक अभिव्यंजन ठाकुर के इस छन्द में हुआ है, वह अप्रतिम एवं बेजोड़ है—

> दहने परी देह बियोग बिथा अब आजु लौं काहू दही नइयाँ।
> कहने परी लाजहि छाड़ इती जिती कौनहूं ठाँव कही नइयां।
> कवि ठाकुर लाल अचाहि करी तिहि तें सहिये जु सही नइयाँ।
> मन मोहन को हिलिबो मिलिबो सपने लौं भयो हमरी गुइयां ॥[1]

संदेश-प्रेषण

कामशास्त्रीय ग्रन्थों में संदेश-प्रेषण द्वारा दौत्य कर्म का संकेत किया गया है वहाँ धोबी, नाई, माली, गन्धी, सौरिक (सुरा विक्रेता), भिक्षुक, ग्वाला, तमोली, सुनार, पीठमर्द, विट, विदूषक आदि की चर्चा नायक और नायिका के मध्य प्रेम सम्बन्ध स्थापित किये जाने के सन्दर्भ में हुई है। वात्स्यायन ने यहाँ तक कहा है कि धोबी, माली, नाई और तमोली आदि की स्त्रियों को भी मित्र बनाकर इनसे दौत्य कार्य लेना चाहिए।[2] चूँकि इन स्त्रियों का सम्बन्ध अन्तः पुरिकाओं से अधिक होता है इस दृष्टि से इनका प्रवेश अन्तःपुर में प्रायः साध्य होता है। आगे चलकर काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में दूत और दूतियों की उद्भावना इन्हीं कामशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर हुई और वहाँ भी नाना प्रकार की जाति वाली स्त्रियों द्वारा संदेश-प्रेषण का कार्य लिया जाने लगा।

शृंगारिक काव्य-परम्परा में संदेश-प्रेषण इतना रूढ़ हो गया कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और फारसी –उर्दू के सभी कवियों ने इसकी भूरिशः चर्चा की है। संस्कृत में 'नैषधचरित' और 'मेघदूत' जैसे काव्यों में संदेश-प्रेषण का कार्य क्रमशः हंस, पक्षी और मेघ द्वारा लिया गया है। 'पवनदूत' की चर्चा रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने की है[3] और इसकी परम्परा आधुनिक काल के प्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' तक अक्षुण्ण रही है।[4] मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक काव्यों में पवनदूत के साथ ही भ्रमर एवं काग से भी संदेश प्रेषित किये जाने का उल्लेख है।[5] उर्दू और फारसी काव्यों में

---

१. ठाकुर ठसक—सं० ला० भगवानदीन, पृ० १६, छं० सं० ७६
२. हिन्दी काम सूत्रम्—टी० देवदत्त शास्त्री, पृ० १७७, ५।३४
३. घनानन्द कवित्त सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४२ छं० सं० ७० प्र० सं०
४. प्रिय प्रवास—हरिऔध, षष्ठसर्ग
५. पद्मावत—सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

नामावर' एव कासिद (संदेशवाहक) द्वारा नामा व प्याम प्रेम-पत्र तथा प्रेम संदेश) दिए जाने का कथन हुआ है।

हिन्दी रीति काव्य परम्परा में रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने संदेश । प्रेषण के के संदर्भ में प्रेम-मार्ग के जिन सम-विषम भूमियों का विवेचन किया है, वे अन्यत्र सुलभ नहीं है। प्रेमतत्व का निरूपण करते समय उन्होंने प्रिय की निष्ठुरता और निर्दयता का बड़ा ही सजीव एवं मार्मिक कथन किया है। यद्यपि फारसी और उर्दू काव्यों में उपालम्भ मूलक रचनाएँ अनेकशः मिलेगी, किन्तु घनानन्द जैसी गम्भीरता और भाव-तन्मयता की दृष्टि से उनका महत्व नगण्य है। उदाहरणार्थ घनानन्द की एक रचना उद्धृत की जा रही है, जिसमें विरहिणी ने मेघ द्वारा स्व संदेश प्रियतम के समीप भेजा है। मेघ से अनुनय-विनय करती हुई विरहिणी प्रिय की निष्ठुरता की चर्चा किन शब्दों में करती है, इसे अधोलिखित छन्द में देखें—

> परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
> निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ।।
> धन आनंद जीवन-दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
> कबहूं वा बिसासी सुजान के आंगन मो अंसुवानहिं लै बरसौ।।[1]

वास्तव में इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में निराश हृदय (फस्ट्रेटेड हार्ट) की जैसी कोमल और द्रावक भावना व्यंजित हुई हैं, वह न तो 'मेघदूत' में लक्षित होती है और न उर्दू की उन रचनाओं में ही जिनमें 'कासिद' की लाश खत के जवाब मे पहुंच जाती है[2] तथा 'कासिद' के आते-आते प्रेम-पात्र के खत का जवाब लिख लिया जाता हैं।[3] ऐसी रचनाओं का बहुत कुछ स्वारस्य 'मुबालगा' पर ही आधारित है, अन्यथा सहृदय संप्रेषणीयता की वैसी क्षमता इन रचनाओं में नहीं मिलती।

रीतिबद्ध रचनाओं में पत्र-विलेखन द्वारा मानस की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म आलेखन हुआ है। कविवर देव ने अपने एक छन्द में प्रेम की उस तादात्म्य मूलक स्थिति का संकेत किया है, जिसमें प्रेमिका प्रेम-पात्र का ध्यान करते-करते कभी प्रेमपात्र की स्थिति में पहुंच जाती है और उसमें अपने अस्तित्व को पूर्णतया तिरोहित कर देती है

---

१. घनानन्द कवित्त —सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ७१, छं० स० १२८

२. क्या जाने लिख दिया उसे क्या इज्तिराब में,
कासिद की लाश आई है खत के जवाब में।—'मोमिन' शेर ओ शायरी, पृ० ८५

३. कासिद के आते-आते खत इक और लिख रखूं ?
मैं जानता हूं जो वो लिखेंगे जवाब में।—गालिब-शेर-ओ-शायरी—स० प्रकाश पंडित पृ० ८५

और कभी अपनी स्थिति में पहुंचने पर वह पूर्व मानसिक अवस्था से पृथक् हो जाती है।—

राधिका कान्ह कौ ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अंसुवा बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै॥
राधै ह्वै जात तहीं छिन मैं वह प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपु मैं आपुन ही उरझै सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै॥[1]

इसी भाव के एक अन्य छन्द में मानसिक भावों के उतार-चढ़ाव का दिव्य स्वरूप अंकित हुआ है। प्रेम के सन्दर्भ में रूढ़ एवं बहु प्रचलित विषयों को लेकर जैसी नवीनता रीति कवियों द्वारा 'उत्पन्न की गयी है, वह बहुत से प्राचीन कवियों के लिए सुलभ न थी। प्रसंग यों है कि राधा पत्र लिख रही हैं। वे पत्र में अपनी ओर से सभी बातें लिखना चाहती हैं, किन्तु मनःस्थिति के परिवर्तन के कारण कृष्ण की ओर की बातें लिख उठती हैं। पुनः राधा कृष्ण की स्थिति में होकर कहती हैं कि प्यारी दया करके शीघ्र मिलो, क्योंकि अब मैन की व्यथा सहते नहीं बनती। वे स्वयं पत्र को पढ़कर छाती में लगाती हैं और कहती हैं कि चित चोर की चिट्ठी कौन ले आया, किन्तु पुनः मनःस्थिति के बदल जाने पर प्रातःकाल तक राधा-राधा की धुनि लगाते वे नन्दकिशोर की मूर्ति बन गयीं—

आपने ओर की चाहै लिखी लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी दयाकर वेगि मिलौ सहि जाति व्यथा नहिं मैन मरोर की॥
आपुहि बांचि लगावति अंग अहो किन आनौ चिठी चित चोर की।
राधिके राधे रही जकि भोर लौं ह्वै गई मूरति नन्दकिसोर की॥[2]

इसी प्रकार बिहारी, पद्माकर और रघुनाथ आदि रीति कवियों ने पत्र-विलेखन के सम्बन्ध में अनेक मार्मिक एवं संवेदनात्मक उक्तियां प्रस्तुत की हैं, जिनमें भाव व्यंजना के उत्कर्ष के साथ ही उनकी मौलिक सूझ-बूझ का उत्तम परिचय मिलता है

(४) वियोग में षड्ऋतु एवं बारहमासा वर्णन

संयोग शृंगार के सन्दर्भ में हमने षड्ऋतुओं का उल्लेख मुख्यतया आलम्ब विभाव के अन्तर्गत किया था तथा उद्दीपन विभाव की दृष्टि से वर्णित षड्ऋतुओं क उल्लेख केवल पर्वों एवं त्योहारों आदि विषयों के सन्दर्भ में हुआ था। यहां षड्ऋतुअ के निरूपण में उद्दीपन विभाव की दृष्टि से विचार किया जायगा और उन तथ्यों क

१. भवानी विलास-देव, पृ० ४४, छं० सं० ३४०
२ सुन्दरी तिलक—स० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० ६४ छ० स० ३४०

ा उद्घाटन होगा, जिनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो सकेगा कि रीति कवि परम्परा के त्रों में बंधकर भी अपनी 'कहन' में अकेले थे और जिन विषयों के विवेचन में उनकी चित्तवृत्ति अधिक रमी है, उनमें उनकी दृष्टि के नवोन्मेष का सहज एवं प्रकृत दर्शन होता है इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

यह कथन अतिरंजनापूर्ण न होगा कि षड्ऋतुओं में बसन्त और पावस की रमणीय उक्तियां कहीं-कहीं इतनी प्रभावोत्पादक हो गयी हैं कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में ऐसी उक्तियों के जोड़ प्रायः नहीं मिलते। पहले हम बसन्त विषयक कुछ मार्मिक एवं रससिक्त रचनाओं की चर्चा करेंगे।

बसन्त ऋतु के वर्णन में हिन्दी रीति कवियों ने अपनी कवि-प्रतिभा का जितना उपयोग-विनियोग किया है, वह अन्यत्र कम देखने को मिलता है। वास्तव में वियोग में बसन्त विरहिणियों के लिए इतना दुःखदायी है कि इसकी चर्चा पूर्ववर्ती काव्य परम्परा में स्थल-स्थल पर हुई है हिन्दी रीति कवियों ने बसन्त और उससे सम्बद्ध होली के भावमय निरूपण में विरही हृदय के अवसाद और गम्भीर व्यथा का जैसा चित्र अंकित किया है, उससे लगता है, मानो कवि का हृदय भी उस चित्र के साथ साथ लिपटा हो। देव का एक छन्द लीजिए—

> को बचि है यह बैरी बसन्त पै आवत जो बन आगि लगावत।
> बौरत ही करि डारत बौरी भरे विष बैरी रसाल कहावत।।
> होत करेजन की किरचैं कवि देव जू कोकिल बैन सुनावत।
> बीर की सौं बलवीर बिना उड़ि जायगे प्राण अबीर उड़ावत।।[1]

यों संस्कृत में 'ऋतु संहार' की प्रसिद्धि अत्यधिक है और उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किये गये उसके ऋतु वर्णन की श्लाघा भी पण्डितों एवं काव्यरसिकों की मण्डली में भूरिशः होती है, परन्तु देव के उक्त छन्द के जोड़ की एक भी रचना उसमें नहीं मिलती। महाकवि देव ने इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में जैसी करुणाचलित अनुभूति का चित्रण किया है, वह अपने आप में नितान्त भावात्मक है। बिना कृष्ण के अबीर उड़ाते समय विरहिणी के प्राण उड़ जाने की कल्पना अतिरंजनापूर्ण होने के साथ ही व्यथासिक्त हृदय से निकला हुआ एक मार्मिक उद्गार है।

इसी प्रकार अपने एक छन्द में कविवर रघुनाथ ने बसन्तान्तर्गत होली के सन्दर्भ में एक अत्यन्त संवेदनात्मक एवं हृदयग्राही चित्र अंकित किया है। यहां भी उद्दीपन विभाव की प्रधानता है—

> दे कहि मीरसिकारिन को इहि बाग न कोकिल आवन पावै।
> मूंदि झरोखनि मन्दिर के मलयानिल आय न छा वन पावै।।

---

१. सुन्दरी तिलक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ७२, छं० सं० २८६

आये बिना रघुनाथ बसन्त के ऐबो न कोऊ सुनावन पावै ।
प्यारी को चाहै जियाओ धमार तौ गाँव में कोऊ न गावन पावै ।।[१]

विरहिणी अपनी सखी से कहती है कि वह मीर शिकारियों को सचेत कर दे कि इस बाग में कोकिल आने न पावे तथा गृह की खिड़कियों को भी वह बन्द कर दे जिनसे मलयानिल प्रवेश न करने पावे । चूंकि ये सभी पदार्थ विरहिणियों के लिए उद्दीपक माने गए हैं, इस कारण वियोगिनी नायिका इनका वर्जन करती है । वास्तव में इन पंक्तियों में अन्तर-स्पर्श की ऐसी प्रभाविष्णुता मौजूद है जिसके कारण बहुत काल से ये पंक्तियाँ सहृदयों के कण्ठ का हार बनी रहीं ।

इस युग में बसन्त एवं पावस ऋतु वर्णन विषयक उक्तियां अत्यन्त अनूठे ढंग से प्रस्तुत की गई । अतः ऋतु वर्णन की समृद्धि की दृष्टि से शृंगार काल बेजोड़ दिखायी पड़ता है । सत्य तो यह है कि इतनी मौलिकता एवं नवीनता संवलित उक्तिया अन्य युगों में शायद ही मिलें । इस सम्बन्ध में रीति काव्य के मर्मज्ञ विद्वान पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के विचार द्रष्टव्य हैं—

'शृंगार काल जो हिन्दी का वास्तविक साहित्य काल था, ऋतु वर्णन की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध दिखायी देता है । भिन्न-भिन्न प्रकार की उक्तियाँ नये नये चमत्कारो से संवलित होकर सामने आयीं ।[२] आचार्य मिश्र के ये विचार विशेषतया बसन्त और पावस के सम्बन्ध में व्यक्त हुए हैं, क्योंकि ऋतुओं की अनूठी उक्तियों के अन्तर्गत बहुत कुछ बसन्त और पावस विषयक रचनाएं ही परिगणित होती हैं, किन्तु आवेग एव उन्माद की स्थिति में संयम का अतिक्रमण होने पर बसन्त के समय विरहिणियो के उद्गार प्रायः प्रभावहीन प्रमाणित हुए हैं । ऐसे स्थलों पर विरहिणियों की मानसिक व्यथा का सच्चा चित्र प्राय: अंकित होने से रह गया । यथा——

फूले ना पलास ये पलास कै बसन्त बाज,
फाड़ि कै करेजा डार डारन पै डारिगो ।[३]

लेकिन उन स्थलों पर जहां आवेग की इयत्ता अतिरंजना के पाश में उलझी हुई होने पर भी मर्मान्तिक प्रभाव से पृथक् नहीं होने पाती, वहां भावात्मक धरातल की उदात्तता का स्पष्ट संकेत मिलता है । उदाहरण इस प्रकार है—

एरी तसवीर तौ दिखा दे मोहि मोहन की,
आखिर कदम्बन की डारैं मारि डारैंगी ।[४]

१. सुन्दरी तिलक—सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ७२, छं० सं० ८३
२. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय खण्ड—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४०३
३. हफीजुल्लाखाँ का हजारा, पृ० ४४८, छं० सं० ४६
४ — ४५

कहीं-कहीं कल्पना और अनुभूति का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है जिससे रचना की प्रौढ़ता और उत्कर्ष बढ़ गया है और ऐसा लगता है कि पारम्परिकता से पूर्ण अनुबद्ध होने पर भी कवि की तीव्र आवेगमयता बराबर उभरी हुई है और उसके कारण उसकी कलात्मक प्रौढ़ि नष्ट नहीं हो पायी है—

आब ढुरकाय दे गुलाब खस केवड़ा को चन्दन चमेली बेली माधवी निवारी मैं।
जुही सौनजुही जाहि चम्पक कदम्ब मिली सेवती समेत एला मालती निकारी मैं।।
रघुनाथ इनको विलोकिवो न भावै हमैं कन्त बिन आयो है बसन्त फुलवारी मैं।
भागि चलो भीतर अनार कचनारन ते आगि उठी आवति गुलाल की कियारी मैं।।[1]

बसन्त के पश्चात् षड्ऋतुओं में पावस ही ऐसी ऋतु है, जिसके वर्णन में ब्रज-भाषा रीतिकवियों की असामान्य प्रतिभा का दर्शन होता है। पावस का वर्णन जितना वियोग के अन्तर्गत किया गया है, उतना संयोग में नहीं। पावस का समय वियोगिनियों के लिए अत्यन्त दुखद माना गया है। यों परम्परा में पावस के अन्तर्गत वियोगिनी नायिकाओं की अन्तर्वेदना और उनकी उन्मादावस्था का अत्यन्त भावपूर्ण चित्रण हुआ है, पर ब्रजभाषा रीति कवियों ने जिस गहराई और जैसी तन्मयता के साथ पावस काल की विरहिणी नायिकाओं का वर्णन किया है, वह अन्य भाषाओं में बहुत कम देखने मिलता है। पावस में वियोगिनी की रात कितनी बड़ी हो जाती है, इसकी मौलिक उद्भावना करते हुए सेनापति लिखते हैं—

बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतिया।[2]

वस्तुतः वियोगावस्था के अन्तर्गत पावस का वर्णन करते समय यथास्थल ऊहात्मक पद्धति का आश्रय ग्रहण अवश्य किया गया है, किन्तु कवि की सहज संवेद-नीयता के कारण कहीं-कही पर ऐसे छन्दों का भी अभाव नहीं है, जिनमें मर्मस्पर्शिता का गुण पूर्णतया बिखरा है। कहने के लिए कालिदास के 'ऋतुसंहार' में वर्णित पावस सौन्दर्य की चर्चा प्रायः की जाती है, पर वियोग की मार्मिक अनुभूतियों की दृष्टि से उसका उतना महत्व नहीं है। इस कथन की पुष्टि के लिए उदयनाथ कवीन्द्र का एक सरस छन्द द्रष्टव्य है—

राजैं रसमै री तैसी बरसा समै री चढ़ी चंचला नचै री चक चौंधा कौंधा बारैं री।
पतिव्रत हारैं हिये परत फुहारैं कछु छोरैं कछु धारैं जलधर जलधारैं री।।
भनत कविन्द्र कुंज भौन पौन सौरभ सो कौन को कंपाय के न परहथ पारैं री।
काम के तुका से फूल डोलि डोलि डारैं मन औरैं किये डारैं ये कदम्बन की डारैं री।।[3]

---

१. षड्ऋतु काव्य संग्रह—हफीजुल्लाखाँ, पृ० ३२, छं० सं० ६
२. कवित्त रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल
३. षड् ऋतु काव्य संग्रह—हफीजुल्ला खां, पृ० ८६, छं० सं० ४०

वियोग में जब विरहिणी नायिका का मानसिक सन्तुलन खो जाता है, तो उस समय पावस ऋतु कभी यमराज के रूप में लक्षित होती है, कभी योद्धा के समान कभी तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो 'फिरैं धनकारे नाग पावस खिलारी के'।[1] किन्तु जब दुःख की सीमा अधिक बढ़ जाती है तो विरहिणी के हृदय की उद्विग्नता सघन होकर एक स्थान पर केन्द्रीभूत हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उसे पावस का रूप उस पापी के समान दिखाई पड़ता है, जिससे उससे जीने की आशा बहुत कम रह जाती है। आचार्य चिन्तामणि ने अपने एक छन्द में विरहिणी की इस प्रकार की मानसिक उद्विग्नता का एक बहुत भावमय चित्र प्रस्तुत किया है—

सरद ससी से अधससी ह्वै बची हौं कवि चिन्तामणि तिमि हिम सिसिर झमकते।
मारत मरू कै बची बधिक बसन्तहू ते पावक प्रचार बांची ग्रीषम लमक ते॥
आयो पापी पावस ये प्रान अकुलान लागे भागेरी असान घोर घन की घमकते।
ताप ते तचौंगी जो पै अमिय अचौंगी, आली अब न बचौंगी चपलान की चमकते॥[2]

विरहिणी नायिका प्रत्येक ऋतु के कष्टों से अपने प्राण की रक्षा तो किसी प्रकार से कर लेती है, लेकिन पापी पावस के आने पर उसे घोर निराशा होती है, क्योंकि इससे वह अपनी रक्षा अब न कर सकेगी। इसी प्रकार की उत्तम रचनाओं से रीति काव्य भरा है तथा देव, मतिराम, पद्माकर, दास तथा ग्वाल आदि रीतियुग के प्रकृष्ट कलाकारों द्वारा प्रस्तुत विरहिणी नायिकाओं की मधुर एवं कोमल अनुभूतियों का भन्डार सुरक्षित है। रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द की उक्तिया अधिक स्वानुभूतिपरक है, इस कारण इनमें नवीनता का स्पष्ट दर्शन होता है। इन्होंने वियोग के वर्णन में रीतिबद्ध कवियों की भांति ऊहा और वस्तु व्यंजना का आधार कम ग्रहण किया है और जहां ऊहात्मक उक्तियां आयी भी हैं वहां इनकी स्वानुभूतियो के कारण अति स्वाभाविक हो गयी हैं। यथा, वियोग में वर्षा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

अथिर उदेग गति देखिकै अनंद घन, पौन बिडर्‌यौ सोबन बीथिन रर्‌यौ करौ।
बूंदें न परनि मेरे जान जान प्यारी, तेरे विरही को हार मेघ आंसुनि झर्‌यौ करैं॥[3]

अर्थात् वियोगिनी की सहानुभूति में पवन वनवीथियों में रोदन किया करता है और मेघ विरहिणी की दशा को देखकर आंसुओं की झड़ी लगाया करता ह। वियोग शृंगार के अन्तर्गत षड्ऋतुओं के समावेश के साथ बारहमासा का भी कथन हुआ है, इसका उल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। बारहमासा के सम्बन्ध में

---

१. षड् ऋतु काव्य संग्रह—सं० हफीजुल्ला खां, पृ० ६३, छं० सं० ५५
२. षड्ऋतु काव्य संग्रह—सं० हफीजुल्लाखा, पृ० ६०, छं० सं० ४४
३. घन आनन्द—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ७४ छं० सं० २२६

लोक साहित्य में जितना विचार हुआ है, उतना साहित्यिक परम्पराओं में इसे महत्व नहीं प्राप्त हुआ। यों रीति काव्य परम्परा के पूर्व भी इस पर विचार हुआ है और विद्यापति, कबीर, तुलसी के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में इसकी एक दीर्घ एवं अटूट शृंखला प्राप्त है, फिर भी शुद्ध शृंगारिक काव्यों में सर्व प्रथम इस परम्परा का दर्शन रीति प्रस्तावना युग के कवि सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' में ही होता है। सेनापति ने बारहमासा और षड्ऋतुओं का ऐसा सुन्दर समन्वय किया है जिससे स्पष्ट पता चलता है कि वे बारहमासा का पृथक् महत्व स्वीकार नहीं करते थे। अन्' षड्ऋतुओं के वर्णन क्रम में बारहमासा का भी युगपत् समावेश उनकी मौलिक उद्भावना के अन्तर्गत होता रहा। सेनापति से पूर्व षड्ऋतुओं और बारहमासा का एक साथ वर्णन नहीं हुआ। संस्कृत काव्य में बारहमासा पर बिलकुल विचार नहीं हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्यों में भी इसकी योजना नहीं की गयी। पर हिन्दी रीति काव्य परम्परा के अन्तर्गत बारहमासा एवं बारहमासी विषयक स्वतंत्र रचनाएं प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं।[१]

बारहमासा का आरम्भ आषाढ़ मास से बतलाया गया है किन्तु आचार्य केशवदास ने इसका आरम्भ चैत मास से माना है।[२] वास्तव में वर्षा का नवारम्भ (नवसंवत्सर) चैत्र मास से माना गया है, किन्तु अन्य कवियों ने बारहमासा लिखने समय आषाढ़ से ही इसका प्रारम्भ करना उचित समझा। इसका मूल कारण यह है कि आषाढ़ मास विरहिणियों के लिए अत्यन्त दुःखद माना गया है।

केशव के पश्चात् बारहमासा का वर्णन रसलीन ने अपने 'रसप्रबोध' में किया है। उसमें उन्होंने वियोग के सन्दर्भ में इसकी ललित योजना की है। इन्होंने भी आचार्य केशवदास की भांति बारहमासा का आरम्भ चैत्र मास से माना है।[३]

निष्कर्षतः हिन्दी साहित्य में बारहमासा की तीन शैलियां लक्षित होती हैं —

१—कथात्मक काव्यों के अन्तर्गत वर्णित बारहमासा

२—स्फुट शृंगारिक काव्यों में उल्लिखित बारहमासा।

३—स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में रचित बारहमासा।

सूफी काव्यों में बारहमासा की योजना कथात्मक शैली में की गयी है, किन्तु शृगार एवं शृंगारेतर काव्यों में बारहमासा का विनियोग मुक्तक शैली में हुआ है।

वर्णन-शैली की दृष्टि से बारहमासा अनलंकृत एवं प्रांजल पद्धति की रचना

---

१. ब्रजभाषाविद् पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'ब्रजभाषा रीति' शास्त्र ग्रन्थ-कोश' में खोज रिपोर्ट्स के आधार पर बारहमासा एवं बारसमासी विषयक ग्रन्थों की एक लम्बी सूची दी है।

२. कवि प्रिया-केशवदास, दसवाँ प्रभाव

३. रस प्रबोध—रसलीन, पृ० १२५, भारत जीवन प्रेस, काशी का संस्करण

वियोग में जब विरहिणी नायिका का मानसिक सन्तुलन खो जाता है, तो उस समय पावस ऋतु कभी यमराज के रूप में लक्षित होती है, कभी योद्धा के समान कभी तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो 'फिरैं धनकारे नाग पावस खिलारी के'।[1] किन्तु जब दुःख की सीमा अधिक बढ़ जाती है तो विरहिणी के हृदय की उद्विग्नता सघन होकर एक स्थान पर केन्द्रीभूत हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उसे पावस का रूप उस पापी के समान दिखाई पड़ता है, जिससे उससे जीने की आशा बहुत कम रह जाती है। आचार्य चिन्तामणि ने अपने एक छन्द में विरहिणी की इस प्रकार की मानसिक उद्विग्नता का एक बहुत भावमय चित्र प्रस्तुत किया है—

सरद ससी से अधससी ह्वै बची हौं कवि चिन्तामणि तिमि हिम सिसिर झमकते।
मारत मरू कै बची बधिक बसन्तहू ते पावक प्रचार बांची ग्रीषम तमक ते॥
आयो पापी पावस ये प्रान अकुलान लागे भागेरी असान घोर घन की धमकते।
ताप ते तचौंगी जो पै अभिय अचौंगी, आली अब न बचौंगी चपलान की चमकते॥[2]

विरहिणी नायिका प्रत्येक ऋतु के कष्टों से अपने प्राण की रक्षा तो किसी प्रकार से कर लेती है, लेकिन पापी पावस के आने पर उसे घोर निराशा होती ह, क्योंकि इससे वह अपनी रक्षा अब न कर सकेगी। इसी प्रकार की उत्तम रचनाओं से रीति काव्य भरा है तथा देव, मतिराम, पद्माकर, दास तथा ग्वाल आदि रीतियुग के प्रकृष्ट कलाकारों द्वारा प्रस्तुत विरहिणी नायिकाओं की मधुर एवं कोमल अनुभूतियों का भन्डार सुरक्षित है। रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द की उक्तिया अधिक स्वानुभूतिपरक है, इस कारण इनमें नवीनता का स्पष्ट दर्शन होता है। इन्होंने वियोग के वर्णन में रीतिबद्ध कवियों की भांति ऊहा और वस्तु व्यंजना का आधार कम ग्रहण किया है और जहां ऊहात्मक उक्तियां आयी भी हैं वहां इनकी स्वानुभूतियो के कारण अति स्वाभाविक हो गयी हैं। यथा, वियोग में वर्षा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

अथिर उदेग गति देखिकै अनंद घन, पौन बिडर्‌यौ सोवन बीथिन रर्‌यौ करै।
बूंदैं न परनि मेरे जान जान प्यारी, तेरे विरही को हार मेघ आंसुनि झर्‌यौ करै॥[3]

अर्थात् वियोगिनी की सहानुभूति में पवन बनबीथियों में रोदन किया करता है और मेघ विरहिणी की दशा को देखकर आंसुओं की झड़ी लगाया करता ह। वियोग शृंगार के अन्तर्गत षड्ऋतुओं के समावेश के साथ बारहमासा का भी कथन हुआ है, इसका उल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। बारहमासा के सम्बन्ध मे

---

१. षड् ऋतु काव्य संग्रह—सं० हफीजुल्ला खां, पृ० ६३, छं० सं० ५५
२. षड्ऋतु काव्य संग्रह—सं० हफीजुल्लाखा, पृ० ६०, छं० सं० ४४
३. घन आनन्द—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ७४ छं० सं० २२६

लोक साहित्य में जितना विचार हुआ है, उतना साहित्यिक परम्पराओं में इसे महत्व नहीं प्राप्त हुआ। यों रीति काव्य परम्परा के पूर्व भी इस पर विचार हुआ है और विद्यापति, कबीर, तुलसी के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में इसकी एक दीर्घ एव अटूट शृंखला प्राप्त है, फिर भी शुद्ध शृंगारिक काव्यों में सर्व प्रथम इस परम्परा का दर्शन रीति प्रस्तावना युग के कवि सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' में ही होता है। सेनापति ने बारहमासा और षड्ऋतुओं का ऐसा सुन्दर समन्वय किया है जिससे स्पष्ट पता चलता है कि वे बारहमासा का पृथक् महत्व स्वीकार नहीं करते थे। अत षड्ऋतुओं के वर्णन क्रम में बारहमासा का भी युगपत् समावेश उनकी मौलिक उद्भावना के अन्तर्गत होता रहा। सेनापति से पूर्व षड्ऋतुओं और बारहमासा का एक साथ वर्णन नहीं हुआ। संस्कृत काव्य में बारहमासा पर बिलकुल विचार नहीं हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्यों में भी इसकी योजना नहीं की गयी पर हिन्दी रीति काव्य परम्परा के अन्तर्गत बारहमासा एवं बारहमासी विषयक स्वतंत्र रचनाएं प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं।[1]

बारहमासा का आरम्भ आषाढ़ मास से बतलाया गया है किन्तु आचार्य केशवदास ने इसका आरम्भ चैत मास से माना है।[2] वास्तव में वर्ष का नवारम्भ (नवसंवत्सर) चैत्र मास से माना गया है, किन्तु अन्य कवियों ने बारहमासा लिखते समय आषाढ़ से ही इसका प्रारम्भ करना उचित समझा। इसका मूल कारण यह है कि आषाढ़ मास विरहिणियों के लिए अत्यन्त दुःखद माना गया है।

केशव के पश्चात् बारहमासा का वर्णन रसलीन ने अपने 'रसप्रबोध' में किया है। उसमें उन्होंने वियोग के सन्दर्भ में इसकी ललित योजना की है। इन्होंने भी आचार्य केशवदास की भांति बारहमासा का आरम्भ चैत्र मास से माना है।[3]

निष्कर्षतः हिन्दी साहित्य में बारहमासा की तीन शैलियां लक्षित होती हैं —

१—कथात्मक काव्यों के अन्तर्गत वर्णित बारहमासा

२—स्फुट शृंगारिक काव्यों में उल्लिखित बारहमासा।

३—स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में रचित बारहमासा।

सूफी काव्यों में बारहमासा की योजना कथात्मक शैली में की गयी है, किन्तु शृंगार एवं शृंगारेतर काव्यों में बारहमासा का विनियोग मुक्तक शैली में हुआ है।

वर्णन-शैली की दृष्टि से बारहमासा अनलंकृत एवं प्रांजल पद्धति की रचना

---

१. ब्रजभाषाविद् पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'ब्रजभाषा रीति' शास्त्र ग्रन्थ-कोश' में खोज रिपोर्ट्स के आधार पर बारहमासा एवं बारसमासी विषयक ग्रन्थों की एक लम्बी सूची दी है।

२. कवि प्रिया-केशवदास, दसवां प्रभाव

३. रस प्रबोध—रसलीन, पृ० १२५, भारत जीवन प्रेस, काशी का संस्करण

माना जाता है तथा प्रबन्धात्मक काव्यों में इसका जितन
शृंगारिक मुक्तकों में नहीं। फिर भी शृंगारिक मुक्तको
महत्व उसमें व्यक्त ललित उद्गारों के कारण स्वीकार कि
रूप में रचित बारहमासा एवं बारहमासी विषयक रचनाएँ ८
के माधुर्य के कारण अधिक लोकप्रिय हो गयी हैं।

———

चतुर्थ अध्याय

कला एवं अलंकरण विवेचन

चतुर्थ अध्याय

कला एवं अलंकरण विवेचन

सौन्दर्य सत्य का वाहक है या सत्य सौन्दर्य का, इस तथ्य पर युगों से विचार होता रहा, पर इतना तो स्पष्ट है कि काव्य में सत्य की अभिव्यक्ति सदैव सौन्दर्य के ही माध्यम से होती रही और सत्य के सैद्धान्तिक पक्ष का निरूपण काव्य की इयत्ता का कभी भी स्पृहणीय विषय नहीं बन सका। यों यह ठीक है कि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि सत्य के अनावृत स्वरूप की व्यंजना के लिए कवि या कलाकार को सौन्दर्य की विकलांगता बलात् वरण करनी पड़ी है। जहाँ भी ऐसा किया गया है, वहाँ काव्य का रमणीय एवं मधुर उक्तियाँ स्वभावतया नीति या उपदेशप्रवणता में परिणत हो गयी हैं और अपने सहज सौन्दर्य-बोध को प्रायः खो बैठी।

जिस प्रकार काव्य में सत्य के अभिव्यंजन के लिए सौन्दर्य उसका अनिवार्य तत्व माना गया है, उसी प्रकार काव्य में शिल्प और कला की अवस्थिति के लिए सौन्दर्य रूपों की अनिवार्यता स्वीकार की गयी है। पाश्चात्य जगत के विचारकों ने भी सच्ची कला का दर्शन उसके सौन्दर्य विधायक मूल तत्वों में ही किया है, क्योंकि किसी भी कला का अपनी प्रकृत अभिव्यक्ति के लिए सौन्दर्यपूर्ण होना आवश्यक है।[१] इस दृष्टि से रीति युग के कलाकार या कवि अजस्र एवं अप्रतिहत कला साधक ही बने रहे तथा पाश्चात्य साहित्य के कला विषयक बहु विश्रुत सिद्धान्त 'कला कला के लिए' (आर्ट्स फार आर्ट्स सेक) का आस्था पूर्वक समर्थन करते रहे। दूसरे शब्दों में रीति कवि भी पश्चिम की भाँति शुद्ध कलात्मक दृष्टि एवं उसकी मान्यताओं पर पूर्ण विश्वास करने वाले थे।

वस्तुतः इस युग के काव्य में अलंकार साधित असामान्य कलात्मकता विद्यमान है। इसका मुख्य कारण यह है कि तत्कालीन राज दरबारों में अलंकृत शैली का काव्य और चमत्कारमूलक उक्तियों से पूर्ण रचनाएँ अधिक सम्मान की दृष्टि से देखी जाती

---

१. Another theory, which calls itself 'aesthetic' or 'art for art's sake' holds that the essence of true art lies in the beauty of its form; that for art to be true, it is necessary that what it presents should be beautiful. —What is art—Talstoy, p. 48

थी। इसका ज्वलंत प्रमाण रीति काव्य के समानान्तर रची जाने वाली फारसी रचनाएँ भी हैं, जिनमें अतिरंजना और उक्तिवैचित्र्यपूर्ण तत्वों की स्थल-स्थल पर प्रधानता है। रीति काव्य में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग कवि के विशिष्ट सौन्दर्य-बोध का ही ज्ञापन नहीं करता, अपितु उस युग की शुद्ध साहित्यिक-चेतना का धरातल कैसा था और शुद्ध साहित्यिक निर्माण की क्षमता किस स्तर तक पहुंच चुकी थी आदि बातों का संकेत इससे भली भाँति मिलता है। पश्चिम के आलोचकों ने भी सर्वत्र कलात्मक कृतियों में सौन्दर्य की अनिवार्य महत्ता को न स्वीकार करते हुए भी इतना तो माना ही है कि शिल्प या कला की अपूर्णता में उसके प्रभाव को हम ठीक से नहीं ग्रहण कर पाते और इसी से काव्य की अभिव्यंजना भी उस तरह नहीं हो पाती जो कवि या कलाकार का अभीष्ट है।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि काव्य में कलात्मक अभिव्यक्ति की पूर्णता और प्रौढ़ता उसके उत्कर्ष के लिए अति अनिवार्य है। शृंगार काल के इस प्रकार के साहित्यिक उत्कर्ष को दृष्टि में रखकर ही आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक स्थल पर कहा है—'हिन्दी की समस्त रचना का यदि साहित्यिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो हिन्दी का शृंगार काल ही उसका अनारोपित काव्यकाल दिखता है। उसमें जितने अधिक उत्कृष्ट कवि हुए उतने किसी युग में नहीं। उस युग की रचना भी परिणाम में बहुत है। यदि उसका सारा वाङ्मय प्रकाशित किया जाय तो युगों में प्रकाशित हो सकेगा। शृंगार की एक से एक उत्कृष्ट उक्तियाँ उसमें प्रभूत परिमाण में हैं।[2] इतना अधिक है कि संस्कृत साहित्य अत्यन्त समृद्ध होने पर भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

अब हम कला और अलंकरण को दृष्टि में रखकर इस युग के विभिन्न साहित्यिक उत्कर्ष के प्रसाधनों पर विचार करेंगे।

१—अभिव्यंजना-कौशल

अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से रीति काव्य की समता करने वाला काव्य न तो रीति पूर्व शृंगारिक काव्य-परम्परा में लक्षित होता है और न परवर्ती काव्य-

---

१. There are many who speak as if beauty belongs specially to the "artistry", the skill and knowledge of his craft by which an artist Produces a certain effect. It is true without perfection of technique the effect cannot be attained without it there will be no adequacy of expression, on showing of what the artist meant to show. Making of literature —R. A. Scott James. P. 347. (1963)

२ हिन्दी साहित्य का अतीत शृंगार काल विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ५१५

परम्परा में ही इस प्रकार का प्रयास कहीं देखने को मिला हैं। सत्य तो यह है कि यह युग ही अभिव्यंजना कौशल, चमत्कार एवं वैलक्षण्य प्रदर्शन का युग था, जिसमें जो जितना ही कुशल शिल्पी और कलाकार प्रमाणित होता था, उसे उसी परिमाण मे राज-सभा में बड़प्पन प्राप्त होता था। अभिव्यंना-कौशल को लक्ष्य करके ही रीति मुक्त कवि ठाकुर ने अक्षरों को 'मोतिन कैसो मनोहर माल' गूंथने पर पर्याप्त बल दिया था और इस प्रकार का शैलिपक चेष्टा के अभाव में केवल गतानुगतिकता का पल्ला पकड़ कर काव्य-रचना करने वाले कवियों की जी भर की उन्होंने विगर्हणा भी की थी और उनके काव्य को मिट्टी के ढेले से अधिक महत्व नहीं दिया।[1] अत: अभिव्यंजना-कौशल के सन्दर्भ में सर्वप्रथम हम रीति कवियों की शब्द-साधना और उनके विशिष्ट शब्द-प्रयोग पर विचार कर लेना उचित समझते हैं।

शब्द-साधना

रीति कवियों के शिल्पगत उत्कर्ष का सच्चा रूप उनकी शब्दगत साधना मे परिलक्षित होता है। क्या वर्ण मैत्री, क्या शब्द-मैत्री क्या अर्थ लावण्य—सभी दृष्टियो से रीति युग का सजग कलाकार पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं से अग्रणी रहा है। हाँ, शब्दालंकृति की अतिशयता ने कहीं-कहीं काव्य के प्रकृत सौन्दर्य को विकृत करने में भी पर्याप्त योग दिया है, इसमें किंचित सन्देह नहीं किया जा सकता। फिर भी समष्टि रूपेण उस युग के शब्द-चयन की असामान्य कुशलता, नाद-सौन्दर्य की विवृत्ति के सफल प्रयास और शब्दों की काट-छांट एवं छन्दानुरूप उन्हें सन्तुलित बनाने की सुष्ठु योजना की श्लाघा रीति काव्य के आलोचकों ने सच्चे मन से की है। इस सम्बन्ध में डा० भगीरथ मिश्र का कथन है—"रीति काव्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता कवियों की शब्द-साधना में प्रस्फुटित हुई है। शब्द को खोजना, उसका शोधकर, माज कर प्रयोग करना, उसके भीतर नाद सौन्दर्य अर्थ-चमत्कार और उक्ति वैचित्र्य भरना, यह सब रीति कवियों की सामान्य विशेषता है।[2]" सच्चे अर्थों में रीति कवि विदग्ध एवं निपुण शब्द-शिल्पी थे। इसी से उनकी सुष्ठु शब्द-योजना (डिक्शन) की अनुकृति अन्य भाषाओं में प्रायः नहीं हो सकी। संस्कृत और प्राकृत जैसे समृद्ध वाङमय में भी शब्दों की ऐसी कारीगरी एवं कलाबाजी का नमूना नहीं मिलता।

---

१. डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त करिबो खेल करि जानो है।
—ठाकुर ठसक—सं० लाला भगवानदीन, छं० सं० १२

२. हिन्दी रीति साहित्य—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १३५, प्र० सं०

संस्कृत के माघ और भारवि की प्रशंसा करने वाले आलोचक भी रीति कवियों के आयास साध्य शब्दों के चयन, संगुम्फन, वर्ण-मैत्री एवं अप्रतिभ नादान्विति की बलात् सराहना करने में थोड़ा भी संकोच नहीं कर पाते। अब इस कथन की संपुष्टि के लिए हम देव और बेनी प्रवीन के कतिपय छन्दों को उद्धृत कर रहे हैं—

(क) चैत को रुचिर चन्द चांदनी सी चांदनी में,
चांदीं सो चंदोवा चाभीकर चोब चारि को।
चूना के चवारे आगे चमकत हाटक को,
फटिक चबूतरा उठत थंत्र बारि को॥
चन्दन कीं चौकी चढ़ि चन्दमुखी देव चहूं,
ओर ते चलत चारु चौर मनुहारि को।
चोरी सी चिराको चकी चाकरैं चकोरैं,
ऐसी त्रिलवति रूप रानी राधा राजद्वार को॥[1]

(ख) चुनी सी चरन चांदनी में चमकत चक,
चौंधत चकोर चिनगी के चोप दून री।
चाभीकरहूते चाहि चौगुनी चमक चोखीं,
चम्पक बरन चोली चुभी चंचुकन री॥
चन्दमुख चन्द्रिका ते चकई चपति चित,
चोपत प्रवीन बेनी चैत चन्दहून री।
चुई सी परत चपला सी चैं चपल चख,
चंचल चितौनि चटकींली चारु चूनरी॥[2]

(ग) देव कछू अपनो बसु न रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगहि बूड़ि गई पखियां अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी॥[3]

(घ) कंकन करन कल किंकिनी कलित कटि,
कंचन कंगूरा कुच केस कारी जामिनी।
कानन करनफूल कोमल कपोल कण्ठ,
कम्बुक कपोत कीर कोकिल कलामिनी॥
केसरि कुसुम्भ कलधौत की कछू न कान्ति,
कोविद प्रवीन बेनी कविवर गामिनी।
कोक कारिका सी किन्नरी की कन्यका सी किल,
काम की कला सी कमला सी कहै दामिनी॥[4]

---

१. सुख सागर तरंग—देव, छं० सं० २२, पृ० ७
२. नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, छं० सं० २२८, पृ० ३३४
३. देव सुधा—सं० मिश्रबन्धु, छं० सं० १०२, पृ० ७४, प्र० सं०
४ नवरस तरंग बेनी प्रवीन, छं० सं० २१८ पृ० ३३

ऐसे छंदों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि एक ओर जहाँ इन रीति कवियों में नाद-सौन्दर्य संवर्धन का प्रबल आग्रह है, वहाँ दूसरी ओर इनमें विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग की व्यापक चेष्टा भी लक्षित होती है। यथा, 'क' छन्द के अन्तर्गत बेनी प्रवीन ने एक ओर जहाँ संस्कृत के 'चय' जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने अपूर्व शब्द-चयन कुशलता का परिचय दिया है, तो दूसरी ओर 'ख' छन्द के अन्तर्गत अरबी के 'कलाम' से 'कलामिनी' शब्द गढ़कर अपने भाषा प्रयोग की असाधारण क्षमता भी व्यक्त की है। यही नहीं, 'किल' जैसे अप्रचलित संस्कृत शब्दों के ग्रहण में उन्होंने किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया। वस्तुतः उस युग के ऐसे शब्द-चयन और वर्ण-मैत्री के व्यापक प्रयोग को देखकर ही पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने इसकी अत्यधिक शिकायत की है। वे इस काल की अनुप्रास प्रियता तथा शब्दालंकार के ऐसे विशद अनुरणन एवं नाद झंकृति से अधिक सन्तुष्ट नहीं हैं। 'पल्लव' की भूमिका में उनके एतद्विषयक उद्गार इस प्रकार हैं—

"जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु समुदाय' ही दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं। ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं।[1] पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने जिस दृष्टि से रीति कवियों के वर्ण मैत्री, अनुप्रास आदि प्रयोगों पर विचार किया है, उससे लगता है कि वे रीति युग को अधिकांश रचनाओं में इसके औचित्य पूर्ण प्रयोग और संगतियों पर अधिक विश्वास नहीं करते, उनकी दृष्टि में शब्दों और वर्णों के घटाटोप में स्वस्थ वाणी का लावण्य प्रायः प्रच्छन्न हो गया है। पर अधिक सजग दृष्टि डालने पर स्पष्ट पता चलता है कि रीति कवियों के सम्बन्ध में लगाये गये ऐसे आरोप बहुत उचित नहीं प्रतीत होते। अनुप्रासों की अराजकता उन कवियों के सम्बन्ध में तो किसी सीमा तक ठीक जंचती हैं, जो घटिया दर्जे के कवि थे और जिनकी शब्द-चयन विषयक कलात्मक प्रौढ़ि बहुत न्यून स्तर की थी, किन्तु देव, पद्माकर, बेनी प्रवीन जैसे कवियों के सम्बन्ध में पन्त जी की उक्त धारणा अधिक चरितार्थ नहीं होती। इसमें सन्देह नहीं कि रीति युग के ऐसे भी कवि मिलेंगे, जिनका लोग नाम भी नहीं जानते, पर उनकी वाणी शब्दों के प्रयोग में ही नहीं, अर्थाभिव्यक्ति के कौशल और लावण्य में अपनी विशिष्टता की एक अमिट छाप लगा देती है। हम इस कथन की प्रामाणिकता के लिए प्राचीन संग्रह ग्रन्थ से प्राप्त एक अज्ञात नामा कवि की रचना उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं कर सकते—

---

१. पल्लव की भूमिका, पृ० ३१ सातवां संस्करण

संस्कृत के माघ और भारवि की प्रशंसा करने वाले आलोचक भी रीति कवियों के आयास साध्य शब्दों के चयन, संगुम्फन, वर्ण-मैत्री एवं अप्रतिभ नादान्विति की बलात् सराहना करने में थोड़ा भी संकोच नहीं कर पाते। अब इस कथन की संपुष्टि के लिए हम देव और बेनी प्रवीन के कतिपय छन्दों को उद्धृत कर रहे हैं—

(क) चैत को रुचिर चन्द चांदनी सी चांदनी में,
चांदी सो चंदोवा चाभीकर चोव चारि को।
चूना के चवारे आगे चमकत हाटक को,
फटिक चबूतरा उठत धंत्र बारि को॥
चन्दन कीं चौकी चढ़ि चन्दमुखी देव चहूं,
ओर तें चलत चारु चौंर मनुहारि को।
चोरी सी चिराको चकी चाकरै चकोरै,
ऐसी चितवति रूप रानी राधा राजक्वार को॥[1]

(ख) चुनी सी चरत चांदनी में चमकत चक,
चौंधत चकोर चिनगी के चोप दून री।
चाभीकरहूते चाढ़ि चौगुनी चमक चोखीं,
चम्पक बरन चोली चूभी चंचुकन री॥
चन्दमुख चन्द्रिका ते चकई चपति चित,
चोपत प्रवीन बेनी चैंत चन्दहून री।
चुई सी परत चपला सी चै चपल चख,
चंचल चितौनि चटकीली चारु चूनरी॥[2]

(ग) देव कछू अपनो बसु न रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगहि बूड़ि गई पखियां अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी॥[3]

(घ) कंकन करन कल किंकिनी कलित कटि,
कंचन कंगूरा कुच केस कारी जामिनी।
कानन करनफूल कोमल कपोल कण्ठ,
कम्बुक कपोत कीर कोकिल कलामिनी॥
केसरि कुसुम्भ कलधौत की कछू न कान्ति,
कोविद प्रवीन बेनी कविवर गामिनी।
कोक कारिका सी किन्नरी की कन्यका सी किल,
काम की कला सी कमला सी कहै दामिनी॥[4]

---

१. सुख सागर तरंग—देव, छं० सं० २२, पृ० ७
२. नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, छं० सं० २२८, पृ० ३३४
३. देव सुधा—सं० मिश्रबन्धु, छं० सं० १०२, पृ० ७४, प्र० सं०
४ नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, छं० सं० २१८ पृ० ३३

ऐसे छन्दों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि एक ओर जहाँ इन रीति कवियों में नाद-सौन्दर्य संवर्धन का प्रबल आग्रह है, वहाँ दूसरी ओर इनमें विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग की व्यापक चेष्टा भी लक्षित होती है। यथा, 'क' छन्द के अन्तर्गत बेनी प्रबीन ने एक ओर जहाँ संस्कृत के 'चय' जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने अपूर्व शब्द-चयन कुशलता का परिचय दिया है, तो दूसरी ओर 'ख' छन्द के अन्तर्गत अरबी के 'कलाम' से 'कलामिनी' शब्द गढ़कर अपने भाषा प्रयोग की असाधारण क्षमता भी व्यक्त की है। यही नहीं, 'किल' जैसे अप्रचलित संस्कृत शब्दों के ग्रहण में उन्होंने किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया। वस्तुतः उस युग के ऐसे शब्द-चयन और वर्ण-मैत्री के व्यापक प्रयोग को देखकर ही पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने इसकी अत्यधिक शिकायत की है। वे इस काल की अनुप्रास प्रियता तथा शब्दालंकार के ऐसे विशद अनुरणन एवं नाद झंकृति से अधिक सन्तुष्ट नहीं है। 'पल्लव' की भूमिका में उनके एतद्विषयक उद्‌गार इस प्रकार हैं—

"जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'वटु समुदाय' ही दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं। ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं।[1] पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने जिस दृष्टि से रीति कवियों के वर्ण मैत्री, अनुप्रास आदि प्रयोगों पर विचार किया है, उससे लगता है कि वे रीति युग की अधिकांश रचनाओं में इसके औचित्य पूर्ण प्रयोग और संगतियों पर अधिक विश्वास नहीं करते, उनकी दृष्टि में शब्दों और वर्णों के घटाटोप में स्वस्थ वाणी का लावण्य प्रायः प्रच्छन्न हो गया है। पर अधिक सजग दृष्टि डालने पर स्पष्ट पता चलता है कि रीति कवियों के सम्बन्ध में लगाये गये ऐसे आरोप बहुत उचित नहीं प्रतीत होते। अनुप्रासों की अराजकता उन कवियों के सम्बन्ध में तो किसी सीमा तक ठीक जंचती हैं, जो घटिया दर्जे के कवि थे और जिनकी शब्द-चयन विषयक कलात्मक प्रौढ़ि बहुत न्यून स्तर की थी, किन्तु देव, पद्‌माकर, बेनी प्रवीन जैसे कवियों के सम्बन्ध में पन्त जी की उक्त धारणा अधिक चरितार्थ नहीं होती। इसमें सन्देह नहीं कि रीति युग के ऐसे भी कवि मिलेंगे, जिनका लोग नाम भी नहीं जानते, पर उनकी वाणी शब्दों के प्रयोग में ही नहीं, अर्थाभिव्यक्ति के कौशल और लावण्य में अपनी विशिष्टता की एक अमिट छाप लगा देती है। हम इस कथन की प्रामाणिकता के लिए प्राचीन संग्रह ग्रन्थ से प्राप्त एक अज्ञात नामा कवि की रचना उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं कर सकते—

---

१. पल्लव की भूमिका, पृ० ३१ सातवां संस्करण

मैं मुरलीधर की मुरली लई मेरी लई मुरलीधर माला।
मैं मुरली अधरान ठई उन कंठ ठई मुरलीधर माला।।
मैं मुरली धर की मुरली दई मेरी दई मुरलीधर माला।
मैं मुरली धर की मुरली भई मेरी भये मुरलीधर माला।।[1]

प्रस्तुत छन्द को देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि कुछ परिमित शब्दों के प्रयोग से कवि ने सुष्ठु भाव-योजना की रक्षा किस कलात्मकता से की है। क्या मजाल कि भाव-व्यंजना के उत्कर्ष में किसी भी प्रकार की न्यूनता आ पायी हो। केवल 'मुरलीधर', 'मुरली' और 'माला' की आद्यन्त आवृत्तियों के द्वारा पूरे प्रसंग को जैसी रसमयता और मार्मिकता प्रदान की गयी है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शब्दगत कौशल के मूल में सन्निहित भावान्विति का ऐसा प्रयास नितान्त मौलिक कहा जा सकता है।

रीति काल के शब्द-चयन और ध्वनि सन्तुलन के सन्दर्भ में प्रायः पद्माकर और पजनेश का नाम इसलिए लिया जाता है कि ये दोनों कवि इस कला में पूर्ण सिद्धहस्त थे। ऐसी सिद्धहस्तता देव को भी प्राप्त थी, पर उनकी सब से बढ़ कर विशेषता यह थी कि वे शाब्दिक चमत्कार-प्रदर्शन के साथ ही रूप लिप्सा में तन्मय मन की संवेगात्मक अवस्था का निरूपण करना कभी नहीं भूलते थे। यद्यपि पजनेश ने ध्वनि-सौन्दर्य निरूपण में अधिकांशतः परुष वृत्तों के सघटन का सफल प्रयास किया है, पर जहाँ कहीं इस वाग्जाल से वे मुक्त होते हुए दिखायी पड़ते हैं, वहाँ निश्चय ही उनका वाग्विधान अधिक भाव संपुष्ट और हृदयग्राही बन गया है और उनका समस्त कलात्मक संभार अपेक्षाकृत सम्मोहक और नवीन भंगिमा से दीप्त हो उठा है। एक नमूना इस प्रकार है—

चन्द्रिका में मुकुट मुकुट में सु चन्द्रिका है,
चन्द्रिका मुकुट मिलि चन्द्रिका अजोर की।
नगन में अङ्ग अङ्ग नग नग अंगन में,
कवि पजनेस लखैं नजर करोर कीं।।
तनु विज्जु दाम मध्य विज्जु तनु मध्य तनु,
विज्जु दाम मिलि देह दुति दुहूं ओर की।
तीन लोक झांकी ऐसी दूसरी न झांकी जैसी,
झांकी हम झांकी झांकी जुगुल किसोर की।।[2]

यमक, वीप्सा और श्लेष की चारुता के इतने अधिक प्रयोग रीति काल में

---

१. प्रबोध रस सुधारस—संग्रहकर्ता—नवीन कवि, प्रथम तरंग, छं० सं० ४१२, डा० भवानी शंकर याज्ञिक के प्राप्त हस्तलेख से।
२. पजनेस प्रकाश—सं० श्री कृष्ण वर्मा छं० सं० ४ पृ० २ तृ० सं० सन १९१३

हुए हैं कि उनसे तत्कालीन काव्यात्मक शैली पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। यद्यपि यमक आदि के भोड़े एवं विकृत प्रयोगों के कारण कहीं-कहीं संगीतात्मक मार्दव और काव्यात्मक सरसता का सहज प्रवाह क्षीण हो गया है, पर जहाँ थोड़ा भी संयम से काम लिया गया है, वहाँ निश्चय ही भावों की सहजता अक्षुण्ण बनी हुई है। यमक के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) नेह बरसाने तेरे नेह बरसाने देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे।
साजु लाल सारी लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री लाल देखे सुख पावैंगे।
तू ही उरबसी उरबसी नहिं और तिय,
कोटि उरबसी तजि तोसों चित्त लावैंगे।
साज बनवारी बनवारी तन आभरन,
गोरे तन वारी बनवारी आजु आवैंगे॥[1]

(ख) हौं भई दूलह वे दुलही उलही सुख बेलि सी केलि घनेरी।
मैं पहिरौं पिय को पियरो, पहिरी उनरी चुनरी चुन मेरी॥
देव कहा कहौं कौन सुनै री कहा कहे होत कथा बहुतेरी।
जेहरि मेरी धरैं पग जेहरि तेहरि चेरी के रंग रचेरी॥[2]

सूर आदि भक्त कवियों की रचनाओं में यमक का ऐसा सुष्ठु एवं प्रांजल प्रयोग ढूंढ़ने पर ही मिलेगा। वहाँ 'सारंग' शब्दों की अनेकशः आवृत्तियों द्वारा चमत्कारवर्धन की प्रवृत्ति इतनी अधिक मुखरित है कि उससे पदों की स्वाभाविक रसार्द्रता प्रायः नष्ट हो गई है। इसी प्रकार कुशल शब्द चित्रकार बिहारी का यह दोहा यमक का एक उत्कृष्ट नमूना है—

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तें, हरि नीके ये नैन॥[3]

कुन्तक ने यमक के सौष्ठव को दृष्टि में रखते हुए जिन तीन बातों[4] (प्रसाद गुण, श्रुति पेशल और औचित्य योग) का उल्लेख अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ में

---

१. साहित्य प्रभाकर—सं० रामशंकर त्रिपाठी, छं० सं० ४, पृ० १५५
२. सुख सागर तरंग—देव, सं० छं० ७१५, पृ० २३९
३. बिहारी रत्नाकर—टी० बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, दो० सं० ६७, प्र० सं०, सं० १९८३
४. समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम् औचित्ययुक्तमाद्यादिनियस्थानशोभियत्।६।
—वक्रोक्ति जीवितम्—द्वि० उ०—सं० एस० के० डे०

किया है, बिहारी के उक्त दोहा में यमक के वे सभी गुण मिलते हैं। अनुप्रास तथा वीप्सा द्वारा पदावृत्ति की सहज तरलता और मधुर कोमल ध्वनियों की रमणीयता स्वत: प्रकट हो जाती है। देव ने वीप्सा के प्रयोग में अपनी मौलिक क्षमता का परिचय कई स्थलों पर दिया है। स्वयं डा० नगेन्द्र ने देव को दृष्टि में रखकर ही अनुप्रास और वीप्सा के महत्व पर इस प्रकार विचार किया है—"उनके पदबन्धो मे सर्वत्र अनुक्रम और सन्तुलन है, जिसके कारण सभी पद छोटी-छोटी लड़ियाँ बनाकर एक कोमल झंकार में गुंथ जाते हैं। पदबन्धों का यह कलात्मक गुंफन प्राय: अनुप्रास तथा वीप्सा एवं पदावृत्ति के विभिन्न प्रयोगों पर आश्रित रहता है।[1] वीप्सा में शब्दो के सन्तुलन का इतना अधिक ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उसके विकृत प्रयोगो से स्वरों की एकता न भंग हो जाय। देव ने स्वरों के सामंजस्य विधान में वीप्सा से किस प्रकार का काम लिया है, यह अधोलिखित छन्द में द्रष्टव्य है—

रीझि रीझि रहसि रहसि हंसि हंस उठै सांसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि औचक उचकि देव थकि थकि बकि बकि उठति बई बई।
दुहुन के गुन रूप दोऊ बरनत फिरैं धरत थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई।[2]

कहीं कहीं सौन्दर्यानुभूति जन्य आवेग की व्यंजना में कवि जिन शब्दो का प्रयोग करता है, उनमें स्वराघात (आक्सेन्ट) की प्रवृत्ति स्वत: लक्षित होती है। यह प्रवृत्ति अन्य शृंगारिक काव्य कृतियों में प्राय: नहीं मिलती, नमूना इस प्रकार है—

तोही सुनि सुनि अवराधा अब राधा जस जानत न देव कोई कहा धों अनूप है।
तेज है कि तप है कि सील है कि सम्पत्ति है, राग है कि रंग है कि रस है कि रूप है।[3]

इसी प्रकार शब्दों के सन्तुलित प्रयोग के कारण कहीं-कहीं पर पद-बन्ध पर्याप्त अश्लथ होने के साथ ही भारी भरकम शब्द-ध्वनियों के मसृण वैभव से पूर्ण मण्डित हो गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व स्वर अपने उत्तरवर्ती स्वरों को द्विगुणित वेग से आगे बढ़ा रहा है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

थोरे थोरे जोबन वियोरे देत रूप रासि,
गोरे मुख भोरे हंसि जोरे लेति हित को।
तोरे लेति रति दुति मोरे लेति मति गति,
जोरे लेति लोक लाज चोरे लेति चित को॥[4]

---

१. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० २२१, प्र० सं०
२. भवानी विलास—देव, छं० सं० ३६, पृ० ११
३. रस विलास—देव, छं० सं० १७, पृ० ३६, प्र० सं०
४ सुख सागर तरग देव छं० सं० ३७६ पृ० १३०

भावों की अतल गहराई में उतरने वाले रीति कवियों ने शब्दों के विन्यास और ध्वनियों के सौन्दर्य पूर्ण संघटन से भी आगे जाने की चेष्टा की है। उनके ऐसे कला समन्वित रूप का दर्शन पद-विन्यास के यथोचित आरोह और अवरोह मे स्पष्ट रूप में होता है, यथा—

गोरी के रंग में भीजिगो सांवरे सांवरे के रंग भीजि गैं गोरी।[1]

इसमें बाह्य रंगों के प्रयोग में सूक्ष्मतया व्यक्त प्रेम रंग के कारण चित्र का केवल आन्तरिक पक्ष ही शेष रह जाता है—उसका शरीरी या मांसल पक्ष मूलतः क्षीण हो जाता है। वास्तव में यही रीति कवियों की सचेष्ट कलात्मकता थी, जिसने उनकी भावागत सज्जा और अलंकृति में भी अनुभूति की सान्द्रता को तिरोहित नहीं होने दिया और सर्वत्र एक सन्तुलन तथा शब्द और अर्थ के सामंजस्य को बराबर बनाये रखा। रीति कवियों में शाब्दिक चमत्कार का आग्रह अत्यधिक बढ़ गया था। समस्त रीति वाङमय इसका सजीव प्रमाण है कि उसमें कहीं अनुप्रासों की झड़ी लगायी गयी है तो कहीं यमक का कौशल विद्यमान है और कहीं श्लेष मूलक प्रवृत्तियाँ पूर्णतया व्याप्त हैं। हिन्दी साहित्य में अलंकारों के कुछ विशिष्ट प्रयोगों के सम्बन्ध में कुछ कवि अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। दूसरे शब्दों में रूपक लिखने मे गोस्वामी तुलसीदास, परिसंख्या में आचार्य केशवदास, लोकोक्ति विधान में ठाकुर कवि, अन्योक्तियों के प्रयोग में दीनदयाल गिरि जिस प्रकार अधिक कुशल प्रमाणित हुए हैं, उसी प्रकार श्लेष वर्णन में सेनापति का नाम अप्रतिम है।[2] वस्तुतः संस्कृत काव्य में श्लेष का विशेषकर सभंग श्लेष का महत्व अधिक है। इसका मूल कारण यह कि भाषा के पाण्डित्य और कवि की शैल्पिक चेष्टा का वास्तविक परिचय उसके खण्ड या सभंग श्लेष से ही मिलता है। हिन्दी में खण्ड श्लेष का प्रयोग सेनापति मे ही विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। वस्तुतः खण्ड श्लेष का प्रयोग जैसा सरल प्रतीत होता है, वैसा है नहीं। यदि कवि अधिक सजग नहीं है और उसका शब्द भण्डार खूब समृद्ध नहीं है तो इस कला में उसे अभीष्ट सफलता प्रायः नहीं मिल पाती। हिन्दी में इस दृष्टि से आचार्य केशव की तुलना में सेनापति को श्लेष के लिखने मे अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। इसका मूल कारण यह है कि केशवदास श्लेष के चमत्कार प्रदर्शन में पूर्णतया संस्कृत शब्द भण्डार पर आश्रित हैं—इसी से उन्हें श्लेष रचना में अधिक सफलता नही मिली है। इधर सेनापति ने देशी भाषाओं के प्रचुर शब्द भण्डार से अत्यधिक लाभ उठाया है और अधिकांशतः सभंग श्लेष विषयक छन्दों की रचना की है। अाप इस आधार पर केशव की तुलना में सेनापति के श्लेष-

---

१. पद्माकर पंचामृत—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

२. हिन्दी साहित्य का अतीत—श्रृंगारकाल—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४६७

गत कौशल और नैपुण्य को जितनी आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, उतनी आसानी से केशव के श्लेषगत वैशिष्ट्य को नहीं प्राप्त कर सकते, जिसमें संस्कृत के प्रचलित एवं अप्रचलित शब्दों का बराबर प्रयोग किया गया है। अतः निश्चय ही श्लेष विधान में सेनापति का स्थान अधिक मौलिक है।

यों श्लेष में प्रायः वाच्यार्थ की प्रधानता होती है, पर सेनापति के श्लिष्ट प्रयोगों में कहीं-कहीं व्यंग्यार्थ की व्याप्ति भी मिलती है, जिसके कारण उनकी रचना में स्वारस्य का अन्तर्भाव सहज ही हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सेनापति ने यत्र-तत्र श्लेष द्वारा उक्ति की भंगिमा का अच्छा निर्वाह किया है, क्योंकि श्लेष की चमत्कारिकता के साथ ही साथ अर्थ सौष्ठव को बढ़ाने वाली उक्तियों की रमणीयता प्रायः सुग्राह्य होती हैं। यथा,

तेरे उर लगिबे कों लाल तरसत महा, रूप गुन बांध्यौ तू न ताकों उमहति है।
यह सुनि बाल जौ लों ऊतर कों देइ तो लों आइ परी सास बात कैसे निबहति है।
रूखी जौ कहति तौ तौ प्रीति न रहत जौ डाट नेह की कहति सास बनि दहति है।
सेनापति यातें चतुराई सों कहति बलि हार करों ताहि जाहि लाल तू कहति है।।[1]

प्रस्तुत छन्द में लाल (नायक) और 'हार' शब्द द्वारा छेकापह्नुति का प्रयोग अति कौशल के साथ हुआ है तथा सास के सहसा पहुंच जाने पर अन्तर्द्वन्द्व की विचित्र दशा का चित्रण कवि ने बहुत ही सूक्ष्मरूपेण किया है। भावसंधि की व्यप्ति भी दर्शनीय है। यही नहीं, शृंगार रस के इस सूक्ष्म चक्र के मध्य मनोविज्ञान और आलंकारिक विदग्धता दोनों की स्वाभाविक अन्विति का प्रयास श्लाघ्य है। जो भी हो, उक्ति की सहज रमणीयता और रसानुभूति की स्वाभाविक चित्रमयता की दृष्टि से यह छन्द निश्चय ही बेजोड़ है।

(ख) रीति कवियों की भाषा

हिन्दी की मध्ययुगीन शृंगारिक काव्य रचनाएं जिस भाषा में प्रस्तुत की गयी, उसे ब्रजभाषा के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त इसे 'भाखा' मध्यदेशी, 'अन्तर्वेदी', 'ग्वालेरी' तथा राजस्थान में 'पिंगल' नाम से भी पुकारा जाता रहा। अब एक-एक नाम के सम्बन्ध में विचार कर लेना समीचीन होगा।

जहां तक 'भाखा' का प्रश्न है, मध्यकाल में यह शब्द ब्रजभाषा के अलावा अवधी भाषा के लिए भी बराबर प्रस्तुत होता रहा। स्वयं तुलसीदास ने 'भाषा' का

---

१. कवित्त रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, प्रथम तरंग, छं० सं० ६४

उल्लेख कई स्थलों पर किया है।[1] तुलसीदास के प्रयोगों से स्पष्ट मालूम होता है कि उनके अनुसार 'भाखा' का अभिप्राय अवधी है जो ब्रजभाषा के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। तुलसी के बाद नन्ददास ने भी अपनी रास पंचाध्यायी में 'भाखा' का संकेत किया है।[2] यहां निश्चय ही 'भाखा' ब्रजभाषा के अर्थ में प्रस्तुत हुई है। आचार्य केशवदास ने 'भाखा' का प्रयोग अपनी 'कविप्रिया' में किया है।[3] यहां 'भाखा' का अर्थ ब्रजभाषा के लिए स्पष्ट है। आचार्य कुलपति मिश्र ने 'भाखा' का प्रयोग उस युग के सामान्य जन के मध्य में समझी जाने वाली 'ब्रजभाषा' अर्थ में ही किया है।[4] जो भी हो, 'भाखा' विषयक विस्तृत विवेचन का प्रयास इन ग्रन्थों में प्रायः नगण्य रहा। हां, सर्वप्रथम मिरजा खां ने इसकी स्पष्ट और विशद व्याख्या द्वारा अपेक्षाकृत अधिक विचार किया। उनके अनुसार संस्कृत और प्राकृत के अलावा जितनी अन्य बोलियां हैं, वे सभी 'भाखा' कही जाती हैं। यही नहीं, उन्होंने 'भाखा' का सम्बन्ध 'ब्रजभाषा' से जोड़ा है।[5] इधर कृष्ण कवि के दोहों के आधार पर लल्लूलाल जी ने अंग्रेजी में लिखित अपने 'ब्रजभाषा व्याकरण' में संस्कृत, प्राकृत और 'भाखा' का उल्लेख किया है।[6] कृष्ण कवि का दोहा इस प्रकार है—

> पौरष कविता त्रिविध है, कवि सब कहत बखानि।
> प्रथम देववाणी बहुरि, प्राकृत भाषा जानि।।[7]

वास्तव में यहाँ भाषा से उनका अभिप्राय ब्रजभाषा से है। पर 'भाखा' शब्द संस्कृत से भिन्न इतर भाषाओं का भी बोधक था।

'पिंगल' शब्द भी 'ब्रजभाषा' के पर्याय अर्थ में ग्रहण होता रहा[8]। पिंगल

---

१. (i) भाषा भनिति भोरि मति मोरी।—रामचरितमानस—काशिराज सं० पृ० ६
   (ii) का भाखा का संस्कृत भाव चाहिए सांच।—दोहावली, दो० सं० ५७२
२. ताही तें यह कथा यथामति भाषा कीनी।।१०।। रास पंचाध्यायी—टी० डा० रामशंकर शुक्ल रसाल, पृ० १०
३. भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
   भाषा कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास।।१७।।—कविप्रिय, टी० ला० भगवानदीन पृ० २३, प्र० सं०
४. जिती देव बानी प्रगट, है कविता की घात।
   ते भाषा में होय तो, सब समझैं रस बात।।—रस रहस्य, पृ० २
५. ग्रामर आफ द ब्रजभाखा—जियाउद्दीन, पृ० ७
६. जनरल प्रिंसिपल्स आफ इन्फ्लैक्शन एण्ड कन्जूगेशन इन द ब्रजभाखा, कलकत्ता, सन् १८११
७. बिहारी सतसई—कृष्ण कवि, दो० सं० ७०७
८. राजस्थान का पिंगल साहित्य—मोतीलाल मेनारिया, पृ० १४

के सम्बन्ध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन है कि 'अर्ध अपभ्रंश (सेमी अपभ्रंश) की स्थिति शुद्ध अपभ्रंश और भाषा की मध्यवर्ती स्थिति का स्पष्ट संकेत कर रही है। और जिसे हम पृथ्वीराज रासो, दूसरी रचनाओं एवं राजस्थान के पिंगल साहित्य में पाते हैं।[1] धीरे-धीरे पिंगल का प्रयोग ब्रजभाषा के रूप में बहुत अधिक होने लगा। सूरजंमल ने पिंगल की स्थिति ग्वालियर और दिल्ली के मध्य बतायी है।[2] इन कथनों से स्पष्ट है कि कालान्तर में 'पिंगल' ब्रजभाषा का पर्यायवाची बन गया।

'मध्यदेशी' नाम की स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं है। हाँ, 'कविप्रिया' में आचार्य केशवदास के कवित्त से इस सम्बन्ध में कुछ संकेत अवश्य मिलता है। कवित्त की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

गोपाचल ऐसे गढ़ राजा रामसिंह जू से,
देशन की मणि महि मध्य देश जानिये।[3]

वस्तुतः गोपाचल ग्वालियर का पर्याय है और महिमण्डल में सब देशों की मणि मध्य देश कहा गया था। अतः इस प्रसंग से लक्षित होता है कि ग्वालियर या 'गोपाचल' मध्यदेश में ही स्थित था, जहां राजा रामसिंह शासन करते थे। मध्यदेशी की स्थिति अब अधिक स्पष्ट हो जाती है अर्थात् ग्वालियर की भाषा को मध्यदेशी के नाम से अभिहित किया गया जो शनैः शनैः ब्रजभाषा या ग्वालियरी के रूप में प्रसिद्ध हुई। जिस प्रकार मध्यदेश को सब देशों की मणि कहा गया है, उसी प्रकार 'ब्रजभाषा' के सम्बन्ध में लोगों की ऐसी धारणा बन चुकी थी कि रागों की मणि भैरो हैं और ब्रजभाषा भाषा मणि है।[4]

इसी प्रकार 'अन्तर्वेदी' के सम्बन्ध में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने एक दोहा उद्धृत किया है—

---

१. The Apabhramsa tradition continued either in the form of pure Apabhramsa, or in the form of a strong colouring of the Vernaoular with Apabhramsa orthography and Apabhrmsa-Vocabulary and idiom, Apabhramsa cachets and atmosphere to give a sort of Semi-Apabhramsa, Semi-Nia Literary speech which we see in the Prithwi Raj Rasau and in other works, and in the Pingal dialect of Rajasthan- —Indo Aryan and Hindi — Page 99, S. K. Chatterjee.

२. ब्रज का इतिहास, द्वि० खं० सं० कृष्णदत्त वाजपेयी, पृ० १६३

३. प्रिया प्रकाश, टी० लाला भगवानदीन, सातवां प्रभांव, पृ० १२४

४. रागानमणि भैरो, भाषा मणि ब्रज की।—राग कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० २६४ सं० कृष्णानन्द

अन्तर्वेदी नागरी, गौड़ी पारस देस।
अरु जामे अरबी मिलै, मिश्रित भाषा भेस ॥[1]

इसमें प्रयुक्त अन्तर्वेदी शब्द से ब्रजभाषा का अनुमान लगाया गया है। स्वयं डा० ग्रियर्सन ने भी अन्तर्वेदी को 'ब्रजभाषा' माना है और अन्तर्वेद का विशेष परिचय देते हुए लिखा है कि यह यज्ञों की भूमि के अन्तर्गत स्थित एक पवित्र देश है।[2]

'ग्वालियरी' का सर्वप्रथम उल्लेख सं० १६८६ में 'कृष्ण रुक्मिणी री ब्रेलि' पर जयकीर्ति द्वारा लिखित टीका में किया गया था। उसमें ग्वालियरी के सम्बन्ध में एक दोहा भी उद्धृत किया हैं, जो इस प्रकार है—

ग्वालेरी भाषा गपिल, मन्द अरथ मति भाव।
बात बन्ध किय भाषवित्, समझत हिय समभाव ॥[3]

जयकीर्ति के अनुसार गोपाल नामक कवि ने ग्वालेरी भाषा में टीका लिखी है, जिसने इस भाषा को ब्रजभाषा माना है। महा पण्डित राहुल का भी विचार है कि ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा कभी पर्याय थी और पुनः ब्रजभाषा बुन्देलखंडी भाषा ग्वालेरी कही जाने लगी।[4] इसके अलावा बिहारी सतसई के प्रसिद्ध टीकाकार कृष्ण कवि ने लिखा है कि 'यों देश भेद के अनुसार तो बहुत सी भाषाएँ हैं, पर उनमें 'ग्वालेरी' भाषा ही 'रससार' कही जाती है।[5]

अपनी नवीनतम शोधों के आधार पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा का प्रथम प्रयोग भिखारीदास में बताया है।[6] किन्तु गोपाल कवि लाहौरी ने सं० १६४४ वि० में मीरजा खाँ के लिए लिखित अपने 'रसविलास' नामक ग्रन्थ में ब्रजभाषा की चर्चा की है—

मरु भाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषा चोज।
अब गोपाल यातैं लहैं, सरस अनोपम मौज ॥[7]

इसकी हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, राजस्थान में सुरक्षित है,

---

१. 'भारती', जून १९५४, पृ० ७
२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द ९, भाग १, पृ० ६९
३. 'भारती' मार्च १९५५ में श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा लिखित 'ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रन्थ' नामक लेख से
४. भारती, अगस्त १९५५, पृ० १६७
५. देशभेद से होत सो, भाषा बहुत प्रकार।
बरणत है तिन सबन में, ग्वारयरी रससार ॥ —बिहारी सतसई—कृष्ण कवि, दो० सं० ७०८ पृ० २६०
६. ब्रजभाषा व्याकरण—भूमिका भाग, पृ० १०
७. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति सं० १७४९ छं० सं० ४५

जिसकी चर्चा पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने की है।[१] इसके अनन्तर सं० १७५५ में समर्थकृत केशव की रसिक प्रिया की संस्कृत टीका के अन्तर्गत ब्रजभाषा का प्रसंग आया है—

सुर भाषा तें अधिक है, ब्रजभाषा को हेत।
ब्रजभूषन जाकों सदा, मुख भूषन करि लेत ।।[२]

पुस्तकारम्भ में संस्कृत के जिस अंश को उद्धृत किया गया है, वह इस प्रकार है—

प्रायशोब्रजभाषाया: केनापि न कृतापुरा।
सुसंस्कृतमयी टीका–पुरमार्थ–प्रबोधिनी ।।[३]

वस्तुत: ब्रजभाषा की समृद्धि और उसकी व्यापकता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण मिल सकता है, कि इसकी टीकाएँ संस्कृत जैसी भाषाओं में प्रस्तुत की गयी और इसे सुरवाणी (संस्कृत) के तुल्य महत्व प्रदान किया गया। इसके पश्चात् बिहारी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि ने जिन्होंने वह टीका सं० १७८५ और और १७९० के बीच लिखी, अपने कुछ दोहों में ब्रजभाषा का कथन इस प्रकार किया है—

ब्रजभाषा भाषत सकल, सुरवाणी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल ।। ७०९ ।।
ब्रज भाषा बरनी कविन, बहुविधि बुद्धि विलास।
सब को भूषण सतसई करी बिहारी दास ।। ७१० ।।[४]

अत: इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य दास के बहुत पूर्व ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग विभिन्न कवियों द्वारा किया जाता रहा है और अब केवल भिखारीदास के आधार पर ब्रजभाषा की व्याप्ति पर विचार नहीं किया जा सकता, तथा स्पष्ट है कि मान्यवर डा० धीरेन्द्र वर्मा के तर्क में अधिक बल नहीं रहा, क्योंकि दास से पूर्व इसके कई प्रयोग मिल गये हैं।

ब्रजभाषा का परिविस्तार

आचार्य दास ने अपने काव्य निर्णय में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि ब्रजभाषा काव्य में निष्णात होने के लिए ब्रज में रहना आवश्यक नहीं है। उन्होंने सूर,

१. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रन्थ कोश—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ७१
२. दान सागर भंडार, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति सं० १७६६, छं० सं १७
३. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र कोश—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी से उद्धृत, पृ० ८१
४. बिहारी सतसई, टी० कृष्ण कवि, पृ० २६०, नवां सं०

केशव मडन विहारी कालिदास [illegible] चिन्तामणि [illegible]
निपट, नवाज, निधि नीलकंठ, सुखदेव [illegible], देव, आलम, रहीम, रसखान और सुन्दर आदि अनेक कवियों की चर्चा करते हुए सप्रमाण बताया है कि ये [illegible] ब्रज से बाहर रहकर भी ब्रजभारती की अजस्र अर्चना में लगे रहे। फिर भी इनकी वाणी में ब्रज की वही मिठास विद्यमान है जो ब्रजदेश के कवियों में उपलब्ध है।[1] ब्रज के सहज लावण्य एवं माधुर्य के लिए इनकी वाणी ही सबसे बड़ा प्रमाण है अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। इसकी व्याप्ति और सीमा-विस्तार कितनी दूरी में था, इसका उल्लेख करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि ब्रजभाषा का मुख्य केन्द्र तो मथुरा है, किन्तु दक्षिण में यह आगरा तक, भरत पुर राज्य के बड़े भाग में धौलपुर तथा करौली तक बोली जाती है और ग्वालियर के पश्चिमी भागों में यही भाषा व्याप्त है उत्तर में गुड़गांव के पूर्वी भाग तक तथा उत्तर पूर्व में इसकी सीमाएं दोआब तक (बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा तथा [illegible]) है और बदायूँ, बरेली तथा नैनीताल के तराई परगनों तक यह भाषा छायी हुई है।[2] प्रसिद्ध भाषाविद् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी इसकी सीमा का संकेत करते हुए लिखा है—'धार्मिक दृष्टि से ब्रजमंडल की सीमा मथुरा जिले तक सीमित है। किन्तु ब्रज की बोली इस सीमित क्षेत्र के बाहर भी प्रयुक्त होती है। इसका प्रसार निम्नलिखित प्रदेशों में है :—उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायुं तथा बरेली के जिले, पंजाब के गुड़गाँव जिले की पूर्वी पट्टी, राजस्थान मे भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग, क्योंकि ग्रियर्सन का यह मत लेखक को मान्य नहीं है कि कन्नौजी स्वतन्त्र बोली है इसलिए उत्तर प्रदेश के पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रज प्रदेश में सम्मिलित कर लिए गए हैं।[3]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा की इयत्ता एवं सीमा ब्रजेतर प्रदेशों में दूर-दूर तक फैली हुई थी तथा अपने संवर्धन एवं पोषण के लिए वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मागधी में नाना प्रकार के शब्दों को निरन्तर ग्रहण करती रही। समृद्धि और विकास की दृष्टि से भी इस भाषा की तुलना संस्कृत से भिन्न किसी अन्य भाषा से नहीं की जा सकती।

साहित्यिक उत्कर्ष

साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से ब्रजभाषा का महत्व बहुत अधिक है। यों रीति पूर्व भक्ति-वाङ्मय में ब्रजभाषा के विकास एवं संवर्धन के अनेकविध प्रयत्न किए गये,

---

१. काव्य निर्णय—आचार्य भिखारीदास—प्रथम उल्लास
२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, जिल्द ९, पृ० ६९
३. ब्रजभाषा—फ्रेंच थीसिस का हिन्दी रूपान्तर—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३३

जिसकी चर्चा पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने की है।[1] इसके अनन्तर सं० १७५५ में समर्थकृत केशव की रसिक प्रिया की संस्कृत टीका के अन्तर्गत ब्रजभाषा का प्रसंग आया है—

सुर भाषा तें अधिक है, ब्रजभाषा को हेत।
ब्रजभूषन जाकों सदा, मुख भूषन करि लेत ॥[2]

पुस्तकारम्भ में संस्कृत के जिस अंश को उद्धृत किया गया है, वह इस प्रकार है—

प्रायशोब्रजभाषाया: केनापि न कृतापुरा।
सुसंस्कृतमयी टीका–पुरुषार्थ–प्रबोधिनी ॥[3]

वस्तुतः ब्रजभाषा की समृद्धि और उसकी व्यापकता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण मिल सकता है, कि इसकी टीकाएँ संस्कृत जैसी भाषाओं में प्रस्तुत की गयी और इसे सुरवाणी (संस्कृत) के तुल्य महत्व प्रदान किया गया। इसके पश्चात् बिहारी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि ने जिन्होंने यह टीका सं० १७८५ और और १७९० के बीच लिखी, अपने कुछ दोहों में ब्रजभाषा का कथन इस प्रकार किया है—

ब्रजभाषा भाषत सकल, सुरबाणी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल ॥ ७०९ ॥
ब्रज भाषा बरनी कविन, बहुविधि बुद्धि विलास।
सब को भूषण सतसई करी बिहारी दास ॥ ७१० ॥[4]

अतः इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य दास के बहुत पूर्व ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग विभिन्न कवियों द्वारा किया जाता रहा है और अब केवल भिखारीदास के आधार पर ब्रजभाषा की व्याप्ति पर विचार नहीं किया जा सकता, तथा स्पष्ट है कि मान्यवर डा० धीरेन्द्र वर्मा के तर्क में अधिक बल नहीं रहा, क्योंकि दास से पूर्व इसके कई प्रयोग मिल गये हैं।

ब्रजभाषा का परिविस्तार

आचार्य दास ने अपने काव्य निर्णय में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि ब्रजभाषा काव्य में निष्णात होने के लिए ब्रज में रहना आवश्यक नहीं है। उन्होंने सूर,

---

१. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रन्थ कोश—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, पृ० ७१
२. दान सागर भंडार, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति सं० १७९९, छं० सं १७
३. ब्रजभाषा रीतिशास्त्र कोश—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी से उद्धृत, पृ० ८१
४ बिहारी सतसई टी० कृष्ण कवि पृ० २६० नवा स०

केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि नीलकंठ, सुखदेव मिश्र, देव, आलम, रहीम, रसखान और सुन्दर आदि अनेक कवियों की चर्चा करते हुए सप्रमाण बताया है कि ये कविगण ब्रज से बाहर रहकर भी ब्रजभारती की अजस्र अर्चना में लगे रहे। फिर भी इनकी वाणी में ब्रज की वही मिठास विद्यमान है जो ब्रजदेश के कवियों में उपलब्ध है।[१] ब्रज के सहज लावण्य एवं माधुर्य के लिए इनकी वाणी ही सबसे बड़ा प्रमाण है अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। इसकी व्याप्ति और सीमा-विस्तार कितनी दूरी में था, इसका उल्लेख करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि ब्रजभाषा का मुख्य केन्द्र तो मथुरा है, किन्तु दक्षिण में यह आगरा तक, भरत पुर राज्य के बड़े भाग में धौलपुर तथा करौली तक बोली जाती है और ग्वालियर के पश्चिमी भागों में यही भाषा व्याप्त है उत्तर में गुड़गांव के पूर्वी भाग तक तथा उत्तर पूर्व में इसकी सीमाएं दोआब तक (बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा तथा मंगावार) हैं और बदायूँ, बरेली तथा नैनीताल के तराई परगनों तक यह भाषा छायी हुई है।[२] प्रसिद्ध भाषाविद् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी इसकी सीमा का संकेत करते हुए लिखा है— 'धार्मिक दृष्टि से ब्रजमंडल की सीमा मथुरा जिले तक सीमित हैं। किन्तु ब्रज की बोली इस सीमित क्षेत्र के बाहर भी प्रयुक्त होती हैं। इसका प्रसार निम्नलिखित प्रदेशों में हैं:—उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायु तथा बरेली के जिले, पंजाब के गुड़गाँव जिले की पूर्वी पट्टी, राजस्थान मे भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग, क्योंकि ग्रियर्सन का यह मत लेखक को मान्य नहीं है कि कन्नौजी स्वतन्त्र बोली है इसलिए उत्तर प्रदेश के पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रज प्रदेश में सम्मिलित कर लिए गए हैं।[३]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा की इयत्ता एवं सीमा ब्रजेतर प्रदेशों में दूर-दूर तक फैली हुई थी तथा अपने संवर्धन एवं पोषण के लिए वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मागधी में नाना प्रकार के शब्दों को निरन्तर ग्रहण करती रही। समृद्धि और विकास की दृष्टि से भी इस भाषा की तुलना संस्कृत से भिन्न किसी अन्य भाषा से नहीं की जा सकती।

साहित्यिक उत्कर्ष

साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से ब्रजभाषा का महत्व बहुत अधिक है। यों रीति पूर्व भक्ति-वाङ्मय में ब्रजभाषा के विकास एवं संवर्धन के अनेकविध प्रयत्न किए गये,

---

१. काव्य निर्णय—आचार्य भिखारीदास—प्रथम उल्लास
२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, जिल्द ९, पृ० ६९
३. ब्रजभाषा—फ्रेंच थीसिस का हिन्दी रूपान्तर—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २३

पर वे प्रयत्न ही थे। इसकी चरम उन्नति का सत् स्वरूप वस्तुत: रीति काव्य मे लक्षित होता है। भक्ति वाङ्०मय को यदि व्रजभाषा का प्रयोग काल कहा जाय तो रीति-वाङ्०मय को उसका साहित्यिक उत्कर्ष काल कहा जा सकता है, क्योंकि भक्ति काव्य में भाषा का अधिक लावण्य मय एवं माधुर्य संवलित रूप कलात्मक प्रौढ़ि के अभाव में प्राय: लक्षित नहीं होता, पर रीति काव्य भाषा के सहज प्रवाह, लोच, नाद-सौन्दर्य, लाक्षणिक प्रयोग, अपार शब्द भण्डार आदि सभी दृष्टियों से पूर्णतया सम्पन्न है, इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं किया जा सकता। रीति कवियों ने इसे काव्योचित बनाने में, इसके खुरदुरेपन को दूर करने में तथा इसे कलात्मक गरिमा से मण्डित करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। वस्तुत: रीति काव्य की भाषा की तुलना अंग्रेजी कवि टेनीसन की उस भाषा से की जा सकती है, जिसे सायास नाना प्रकार क मधुर, सुकोमल तथा कलात्मक शब्द लड़ियों से अलंकृत किया गया है। रीति कवियो ने काव्य-रचना के पूर्व भाषा को खूब मांजा था और उसके एक-एक शब्द को तुला पर रखकर माप की थी तथा उसके अनावश्यक वजन की काट-छांट की थी, इस तथ्य के सम्बन्ध में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। वास्तव में कोमल भाव-व्यंजना को तदनुरूप शब्दों में ढालने के लिए भाषा का मार्जन और उसके अनगढ़ स्वरूप का परि-शोधन कितना अनिवार्य है, इसे पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने शब्दों में इस प्रकार बताया है—'जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे मे ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गला पर कोमल, करुण, सरस, प्राजल कर लेना पड़ता है।'[१]

पुन: काव्य भाषा (पोयटिक डिक्शन) में अच्छे शब्दों का चयन और उनका कलात्मक विन्यास इस प्रकार होना चाहिए, जिससे सौन्दर्यमयी कल्पना का सहज रूप व्यक्त हो सके।[२] इसमें सन्देह नहीं कि जो रीति कवि काव्य भाषा की नाड़ी को ठीक-ठीक पहचान नहीं सके, उन्हें वास्तविक सफलता नहीं मिली और उनकी रचना भाषा के साहित्यिक उत्कर्ष के लाभ से प्राय: वंचित रह गई, पर जिनकी अंगुलियाँ भाषा के संगीतात्मक ध्वनि (मेलाडिअस टोन) को झंकृत करने में अधिक सधी हुई थीं, उन्हे निश्चय रूपेण अधिक सफलता प्राप्त हुई है। रीति कवियों में देव की यह रचना भाषा-

---

१. पल्लव-भूमिका भाग, पृ० ५१

२. When words are selected and arranged in such a way that their meaning either arouses, or is obviously intended to arouse, aesthetic imagination, the result may be described as Poetic diction —Own Barfeld Poetic diction Page 13

गत साहित्यिक उत्कर्ष और संगीतात्मक स्वरों (मेनाग्निअम टोन्स) का दृष्टि से नितान्त मालिक है

देव नन्दन कै नैननि अनन्द भई, नन्दजू के मन्दिरनि चन्द मई छै गई।
कंजनि कलिनमई कुंजनि अलिन मई गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई ॥[1]

ब्रजभाषा के संवर्द्धन और विकास में यों अनेकानेक रीति कवियों का योग रहा। पर लोच, प्रवाह, नादान्विति अर्थवत्ता और कसावट की दृष्टि से बिहारी, देव, पद्माकर और घनानन्द का विशेष उल्लेख किया जाता है। सत्य तो यह है कि भाषा के साहित्यिक उत्कर्ष एवं प्रकृत सौष्ठव की अभिवृद्धि में इन कवियों ने जैसी साधना की है, वह अन्यत्र कम ही लक्षित होती है। अब हम कुछ कवियों की रचनाओं द्वारा यह देखने की चेष्टा करेंगे कि रीति काव्य की भाषा अपने किस वैशिष्ट्य के कारण अन्यान्य भाषाओं की तुलना में बेजोड़ मानी जाती है। पहले रीतियुग के अंतिम कवि पद्माकर की भाषा की कुछ बानगी लें। वस्तुतः पद्माकर की भाषा में एक विशिष्ट उतार-चढ़ाव है जिसकी अनुकृति परवर्ती रीति कवियों द्वारा नहीं हो सकी। नीचे के छन्द में भाषागत कलात्मक लोच अर्थात् उतार-चढ़ाव की अभिव्यक्ति पद्माकर ने किस सफाई से की है, देखें—

आम को कहत अमिली है, अमिली को आम,
आक ही अनारन को आँकिबो करति है।
कहै 'पद्माकर, तमालन को ताल कहै,
तालनि तमाल कहि ताकिबो करति है ॥
'कान्है कान्ह' कहूं कहि कदली कदंबन को,
मेंटि परिरंभन में छाकिबो करति है।
सांवरे जू रावरे यों बिरह बिकानी बाल,
बन-बन बावरी लौं बाकिबो करति है ॥[2]

प्रायः पद्माकर की भाषा का स्मरण उसके नाद प्रभाव के कारण किया जाता है, किन्तु इस छन्द में नाद प्रभाव का कहीं नाम तक नहीं है। फिर भी अपनी सहज मस्ती और एक विशिष्ट शब्द-विन्यास के कारण इसकी प्रभाव क्षमता अपेक्षाकृत बढ़ गयी है। पद्माकर रीति काव्य की परम्परा के अन्तर्गत आने वाले ऐसे कवि है, जिनकी काव्यात्मक अभिव्यंजना एक लम्बे समय तक सहृदयों को प्रभावित करती रही। इसका मुख्य कारण इनकी भाषा थी, जिसकी प्रभविष्णुता के कारण उनके छन्द प्रायः लोगों को कंठाग्र हो जाया करते हैं। भाषा की प्रावाहिकता के विचार से यदि हम पद्माकर

---

१. रसविलास—देव, छं० सं० ४८, पृ० ७८
२. पद्माकर पंचामृत—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ६५६

की भाषा पर दृष्टि डालें तो सहज ही मालूम हो जायगा कि उनकी भाषा में प्रयुक्त शब्दों का विन्यास अत्यधिक कौशलपूर्ण है। प्रत्येक शब्द को कवि ने मौक्तिक लड़ियों की भांति गूंथा है और उसमें एक विशिष्ट दीप्ति पैदा की है। शब्दों के इस विशिष्ट ग्रन्थन के कारण कभी-कभी भाषा की स्फीत धारा किस प्रकार मोड़ लेती है, यह अधोलिखित छन्द में द्रष्टव्य है—

चंद की छटान जुत, पन्नग फटान जुत, मुकुट विराजै जटा जूटनि के जूरे को।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार, जहाँ पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को॥[1]

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने घनानन्द की नाद-व्यंजना की भूरिशः श्लाघा की है और एक कवित्त में उन्होंने मृदंग की ध्वनि की रमणीयता का उद्घाटन किया है।[2] कवित्त की कुछ पंक्तियाँ यों हैं—

जगत के प्रान ओछे बड़े को समान, घन आनंद निधान सुखदान दुखियान दै।

इसी प्रकार बिहारी और देव की भाषा अपने विशिष्ट शब्द प्रयोग और कलात्मक सौष्ठव के कारण पद्माकर और घनानन्द से सर्वथा पृथक् है। ग्रीव्ज महोदय ने बिहारी की भाषा को लक्ष्य करके यहाँ तक कह दिया है कि वे शब्दों के चतुर शिल्पी (क्लेवर मैनीप्यूलेटर आफ वर्ड्स) हैं।[3] देव ने भाषा में जैसी परिष्कृति लाने की चेष्टा की है और भाव-व्यंजना के अनुसार शब्दों की निर्मिति में जैसी मर्मज्ञता प्रदर्शित की है, वह दो-एक कवि को छोड़कर समस्त रीतिकाल में शायद ही मिले। इन्होंने तुकाग्रह के कारण जैसा भी शब्द-विन्यास चाहा, ठीक उसी प्रकार की शब्दावली उनकी रचना में स्वतः आ गयी है कहीं काव्यात्मक सौन्दर्य की गरिमा का स्तर गिरने न पाए, इस कारण देव ने ऐसे चक्करदार शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनसे किसी समय अर्थ को ठीक-ठीक ग्रहण करने में कठिनाई अवश्य होती है, पर देव के ऐसे प्रयोग भाषा की समृद्धि और उत्कर्ष की दृष्टि से श्लाघ्य है। वास्तव में ब्रजभाषा रीतिकाव्य मे तुकों की ऐसी टेढ़ी मेढ़ी बंदिश वही कवि कर सकता है, जिसके पास शब्दों का प्रचुर भण्डार हो और जो स्वयं शब्द-कोश हो। देव ने तुकों के प्रयोग में अपने जिस कौशल और साहस का परिचय दिया है, हमारे विचार से उस प्रकार का कौशल और साहस अन्यत्र कम ही देखने को मिला है। शब्दों को आवश्यकतानुसार नवीन रूप देने मे, उसे नई पालिश चढ़ाकर प्रस्तुत करने में इनका लोहा मानना पड़ता है। कुछ नमूने इस प्रकार हैं —

---

१. पद्माकर पंचामृत—सं०पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० १
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३४५
३ ए स्केच आफ हिन्दी लिटरेचर ग्रीव्ज प० ६६

क—वृन्दावन आली बनमाली बिन सूनो देव देखे दुख दूनो ऊनो मानै सब सहचर ।
कूदत न मृगज चनक मूंदे साखामृग आस दृग बूंद बरसत रोक्ष रहचर ॥
ऊँचे चढ़ि टेरि टेरि हारी हम हेरि हेरि मूढ़ भये डूढ़त अगूढ़ गूढ़ महचर
चरण सरोज छिति छूवै न फिरैयन के गैयन के खोजन चिरैयन के बहचर ॥[1]

ख—मदन के मोद भरी यौवन विनोद भरी,
मोदी की बहू की दुति देखि दिन दूनी सी ।
चाउर है चित में चितौत दारिदैन राखै,
चाल बोल मीठी खांड़ बिकते न ऊनी सी ॥
राज बाट बीच बाट पारत बटोहिन को,
बाट बिन तोलैं मन आंखिन मैं खूनी सी ।
चूनरि सुरंग अंग इंगुर के रङ्ग देव,
बैठी परचूनी की दूकान पर चूनी सी ॥[2]

'क' छन्द के अन्तर्गत आए हुए 'सहचर', 'रहचर', 'महचर' और 'बहचर शब्दों में केवल अधिक परिचित शब्द 'सहचर' ही है, किन्तु कवि ने 'सहचर' का जोड़ मिलाने के लिए उसी वजन का शब्द 'रहचर', 'महचर' और 'बहचर' प्रयुक्त किया है और इस प्रकार भाषा की समृद्धि में कवि ने अपना मौलिक योगदान किया है। यों 'महचर' देखने में गूढ़ लगता है और अर्थ की दृष्टि से अधिक सुग्राह्य नहीं मालम पड़ता, किन्तु ध्यान पूर्वक विचार करने से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने तुका-ग्रह के कारण महिचर' (भूगामी) को महचर बना दिया और पथिक या राहगीर के अर्थ में 'रहचर' का प्रयोग करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया। यद्यपि देव के ऐसे प्रयोगों से लाला भगवानदीन और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक अधिक संतुष्ट नहीं हैं, किन्तु ऐसे प्रयोगों से इस तथ्य का बोध तो अवश्य होता है कि कवि का भाषाधिकार अन्य रीति कवियों की तुलना में कहीं अधिक है और वह एक तुक के वजन पर समानान्तर तुकों की रचना करने में परम प्रवीण है। इसी प्रकार 'ख' छन्द के अन्तर्गत कवि ने 'परचूनी' के समान शब्द जोड़ने के लिए सप्तमी बिभक्ति पर' के साथ 'चूनी' (चुन्नी) को सम्बद्ध करके अपने अतिरिक्त कौशल को प्रकट किया है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं है तथा ऐसे प्रयोगों के ही कारण भाषा का साहित्यिक लावण्य निश्चयरूपेण बढ़ा है। यही नहीं, उसमें सन्निहित आभिजात्य संस्कारों का जैसा विकास रीतिकाल में हुआ, वह अन्य युगों में सम्भव न था। कारण यह है कि ब्रजभाषा की साहित्यिक परम्परा अपने क्रोड़ में ऐसे वैकासिक सूत्रों को समेटे हुए है,

---

१. सुख सागर तरंग—देव, छं० सं० ५६६, पृ० १६२
२. ,, ,, ,, २७०, पृ० ९३

जिनके मिल जाने पर इसके साहित्यिक उत्कर्ष और उन्मेष पर अपेक्षाकृत अधिक प्रकाश पड़ सकेगा, इसमें दो मत नहीं है।

शब्द भन्डार

रीति काव्य अपने अपार शब्दकोश के लिए पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य रचनाओं से अधिक विश्रुत है। वास्तव में भक्ति वाङ्मय अपनी काव्यात्मक अभिव्यंजना में इसीलिए अधिक प्रौढ़ नहीं है, क्योंकि इस युग में भाषा का कलेवर अधिक पुष्ट नहीं था और अभिव्यंजना के जितने भी सूक्ष्म से सूक्ष्म मार्ग हो सकते हैं, वे सभी उपयुक्त शब्दों के अभाव में प्रायः प्रच्छन्न ही रहे। हाँ, रीति काल तक आते-आते भाषा अपने विकास और अलंकरण के विभिन्न मार्ग खोज चुकी थी और अभिव्यंजना कौशल अपने विभिन्न अंगों से संगठित हो चुका था। रीति काव्य के शब्द भण्डार के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार—'इधर अपने सहज गुणों के कारण इसने भी स्वदेशी–विदेशी भिन्न-भिन्न भाषाओं से काव्योचित शब्दों को ग्रहण कर अपना समुचित विस्तार और विकास किया और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के अतिरिक्त अवधी, राजस्थानी तथा अन्य प्रान्तीय बोलियों के व्यंजक तथा अन्य कोमल ध्वननशील शब्दों से इसका भण्डार भर गया। उधर फारसी के अनेक शब्द व्रजभाषा के सांचे में ढलकर सर्वथा उसी के अंग बन गये।'[1] जो भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि व्रजभाषा के शब्द-भण्डार की समृद्धि में संस्कृतेतर भाषाओं में प्राकृत, अपभ्रंश और फारसी के साथ ही अवधी और राजस्थानी का भी महत्वपूर्ण योगदान है। अब हम प्रथमतः अरबी-फारसी के शब्द भण्डार एवं उसके प्रयोग-औचित्य के संबंध में विचार करेंगे।

अरबी—फारसी

रीति काव्य का प्रणयन एवं विकास जिस वातावरण में हुआ, उस पर फारसी भाषा एवं फारसी काव्य-परम्परा का पूर्ण प्रभाव है। यद्यपि मुसलमानों की धार्मिक भाषा अरबी थी, किन्तु भारत में वे जिस साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते थे और जो दरबार की भाषा (कोर्ट लैंग्वेज) के रूप में गृहीत होती थी, वह भाषा मुसलमानों के भारत में आने के पूर्व साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी और उसमें पर्याप्त

---

१. देव तथा उनकी कविता—डा० नगेन्द्र- पृ० २०३

कलात्मक विशेषताएं विद्यमान थीं।[1] अतः स्पष्ट है कि रीति कवियों की भाषा में फारसी भाषा की शब्दावलियों का आ जाना स्वभाविक है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रजभाषा रीति कवियों ने फारसी भाषा या फारसी शब्दावली का प्रयोग उसी रूप में किया, जैसा फारसी में होता था। इस कथन की पुष्टि के लिए हम अरबी और फारसी शब्दों की एक सूची प्रस्तुत कर रहे हैं—

पहले पद्माकर की कृतियों से कुछ शब्द लीजिए—फिराद (फा० फरियाद, गंगा लहरी, छं० सं० ३८) सिताब (फा० शिताब, जगद्विनोद, छं० सं० ५४८) ब्रज की प्रकृति के अनुसार फारसी शिताब (शीघ्र) के 'श' को 'स' कर दिया गया। फारसी गिलाम (मुलायम) को ब्रजभाषा में गिलमैं (जगद्विनोद, छं० सं० १७२) कर दिया गया। अरबी जल्लाद को उच्चारण सौन्दर्य के कारण जिलाद (जगद्विनोद, छं० सं० ७०४) बना लिया गया फारसी गुनहगार से ब्रज में गुनाहिन (गंगा० ल०, छं० सं० २०) कर दिया गया। फारसी 'सौसन' को आवश्यकतानुसार सौसनी रूप दे दिया गया (जगद्विनोद, छं० सं० २०९)। इसी प्रकार फारसी आहिस्तः को ब्रजभाषा के आसतैं (जगद्विनोद, छं० सं० १९६) जैसा रूप ढालने में किसी भी प्रकार की कठनाई नहीं हुई। 'हिलने' के अर्थ में प्रयुक्त फारसी शब्द 'लरजीदन' के सम्बन्ध में आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है 'लरजीदन' से लरजिबो ब्रजी में बन ही गया और ऐसा बना कि अब इस बात पर सहसा ध्यान नहीं जाता कि वह किसी विदेशी शब्द से बना है। ब्रजभाषा के अच्छे-अच्छे कवियों ने बेधड़क इसकाप्रयोग किया है।[2] 'कहीं कहीं संस्कृत और फारसी के मिश्रण से भी नये शब्द बनाने की चेष्टा की गयी है। यथा, गजमुक्तकों से गज गौहर' (जगद्वि० छं० २५८) बना डाला गया। फारसी और हिन्दी के मिश्रित वाक्यों से बनी हुई रचनाएँ भी रहीम, गंग और नरहरि के नाम से मिलती हैं।[3] रीति कवियों में आचार्य देव ने अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग में

---

१. Although the religious language of the Muhammadans was, Arabic, the literary language they used in India and the language of the Court was Persian. The language possessed a large literature, which had already developed a highly artistic character before the Muhammadan power was established in India.

—A History of Hindi literature.—F.E. Key, Page 34.

२. भूषण—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४०, द्वि० सं०

३. गर्क अज में शुद आलम, चन्द हजार।
बे दिलदार कै गीरद, दिलम करार ॥९४॥—रहीम रत्नावली—सं० पं० मयाशंकर याज्ञिक पृ० ७०, तृ० स०

→

पर्याप्त कुशलता दिखायी है। उन्होंने ब्रजभाषा के पेटे में उन शब्दों को इस ढंग से रखा है कि मालूम नहीं होता कि ये शब्द विदेशी भाषा के हैं। उनके शब्दों की सूची इस प्रकार है—

'फारखती' (फारसी फ़ारिग़ख़ती, देव सुधा छं० सं० २५५), फरसबंद (अ० फ़र्शबन्द,सुखसागर तरंग, २४) कजाकी (फा० कज्जाक), सरीकिनी (अ० शरीक सु० सा० तं० ४०७) जगाती (अ० ज़कात, दे० सु० छं०सं० २०) जबई (फा० जबर, भवानी वि० छं० सं० ५४, पृ० ११७) दरदावन (फा० दरदामन, रसवि० पृ० ४५) इनके अतिरिक्त डा० नगेन्द्र ने देव के कुछ और शब्दों की सूची प्रस्तुत की है, जिसमें स्पष्टतया उल्लेख किया गया है कि अरबी और फारसी के बहुत से शब्द ब्रज भाषा में इस प्रकार धुलमिल गये हैं कि उनका वास्तविक रूप बहुत खोजने पर ही मालूम होता है।[1] रीति कवियों ने अरबी और फारसी के बहुत से शब्दों को व्रजभाषा व्याकरण के सांचे में ऐसी चतुराई से ढाला है कि उसमें ब्रजभाषा की चाशनी आज भी विद्यमान है। इसके कुछ उदाहरण उद्धृत किये जा रहे हैं—

'निवाजिबे यह शब्द प्राचीन हिन्दी रीति काव्य में बराबर प्रयुक्त हुआ है, किन्तु मूलतः यह फारसी के 'नवाज (कृपा करने वाला) से बना है और ब्रजभाषा के 'बो' प्रत्यय से क्रियापद हो गया है। बिहारी सतसई में इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ है—'कौन गरीब निवाजिबौ, कित तूठयौ रति राज।[2]' इसी प्रकार 'कसीसस' फारसी के 'कशिश' का रूपान्तर है, जिसका अर्थ 'खींचना' होता है। घनानन्द ने इस शब्द के क्रिया रूप का व्यवहार अपने एक छन्द में किस प्रकार किया है, इसे देखें—'सांस हिये न समाय सकोचनि, हाय इते पर वान कसीसत'।[3] 'इस शब्द का प्रयोग भूषण ने अपने 'शिवराज भूषण' में भी किया है।[4] वेनी प्रवीन ने 'कोकिल बैनी' के लिए एक स्थान पर 'कोकिल' कलामिनी' प्रयुक्त किया है।[5] वस्तुतः 'कलाम' अरबी

→ (ख) प्रान पियारी मिलै जबहीं दरबाग़ वस्ल गुलेशब चीनम्।
सूरत मित्र की चित्तबसी कवि गंग कहै चु नकशे नगीनम्॥ छं० सं० ५
—हफीजुल्ला खां का हजारा, पृ० ६८०

(ग) इंसाफ़ बुरा गोयद खलक, कवि नरहरि गुफ्तन चुनी।
बाबर न बरोबर बादशाह, मन दिगर न दीदम दर दुनी॥
—असनी के हिन्दी कवि—डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ० ११

१. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० २०६
२. बिहारी रत्नाकर—टी० आ० जगन्नाथदास रत्नाकर, दौ० सं० ५८
३. घनानन्द कवित—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ११७
४. भूषण—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० १०४
५. नवरसरंग—वेनी प्रवीन, छं० सं० २१८, पृ० ३३

का शब्द है, जिसका अर्थ 'वाणी' होता है, पर कवि ने ब्रजभाषा व्याकरण के अनुसार 'बोलने वाला' (बैनी) को 'कलामिनी' बना दिया। यह 'कलाम' से निर्मित हुआ है। आचार्य भिखारीदास ने फारसी 'कबूल' से 'गो' प्रत्यय लगाकर 'कबूल गो' शब्द ब्रजभाषा के स्वभाव के ही अनुसार बनाया है।[1] इसी तरह फारसी 'कागज़' को ब्रजभाषा ध्वनि के अनुसार 'कागद' (सत दो० सं० ६०) कर दिया गया और 'शौक' का रूपान्तर ब्रजभाषा में उच्चारण की सुकरता से 'सौकु' (कवित रत्नाकर-३।२७) हो गया। सेनापति ने पाइपोस, बरदार, आसना, ज्यारी, इतबार 'रोसन जैसे अनेक फारसी-अरबी शब्दों के तदभव रूपों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है जो ब्रज की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है।[2] अरबी और फारसी के इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा रीति कवियों ने भाषा की समृद्धि और संवर्धन की दृष्टि से उनका किस वैदग्ध्य से पूर्ण रीति से उपयोग विनियोग किया और किस प्रकार ब्रजभाषा की प्रकृति एवं उसके सहज मार्दवपूर्ण कलेवर को सुस्थिर बनाये रखा।

—प्रादेशिक

फारसी के अतिरिक्त अन्य जिन भाषाओं के शब्द ब्रजभाषा रीति काव्य में मिलते हैं, उनमें अवधी और बुन्देलखंडी मुख्य हैं। पर कहीं-कहीं राजस्थानी का भी प्रयोग लक्षित होता है। ब्रजभाषा में अवधी का प्रभाव इस कारण अधिक है कि अधिकांश कवि अवध प्रान्त के ही थे इसकी साक्षी आचार्य दास ने स्वयं काव्य निर्णय के एक छन्द में दिया है। यही नहीं, अवधी के व्यापक प्रसार के कारण बिहारी जैसे कवि भी उससे पूर्ण प्रभावित हैं जो अवधी से बहुत अधिक सम्बद्ध न थे और जिनकी तरुणाई स्व ससुराल मथुरा में बीती थी। सतसई में 'केइ', 'कीन', 'दीन', 'अंधियार', 'फगुआ', 'सोनकिरवा' जैसे अवधी के शब्द मौजूद हैं।[3] स्वयं दास ने भी यथास्थल अवधी के गगरी, जेहि, तेहि, जियरा आदि शब्दों का प्रयोग किया है। सेनापति ने 'कवन', 'सन', 'कर' आदि अवधी (पूर्वी) के रूपों को आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र ग्रहण किया है।[4] आलम ने 'जौन' जैसे अवधी शब्दों के प्रयोग में किसी भी प्रकार संकोच नहीं किया तथा कालिदास ने अवधी के 'झरोखा' को निस्संकोच ग्रहण किया।[5]

अवधी के अनन्तर ब्रजभाषा में जिन शब्दों की बहुलता है, उनमें बुन्देली के

---

१. काव्य निर्णय—सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, २८।२४
२. कवित रत्नाकर—सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, भूमिका भाग, पृ० ५१
३. बुद्ध चरित की भूमिका—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३, प्र० सं०
४. कवि० र०—भूमिका भाग, पृ० ५१
५. बुद्ध चरित की भूमिका—आचार्य शुक्ल, पृ० ५२

शब्दों का प्रायः उल्लेख किया गया है। आचार्य केशवदास, बिहारी, आलम और ठाकुर का सम्बन्ध चूंकि बुन्देलखंड से बहुत अधिक रहा, इस कारण इनकी रचनाओं में बुन्देलखंड के ठेठ शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र अवश्य दृष्टिगत होता है। वास्तव में ब्रजभाषा रीति साहित्य के शब्द भण्डार के संवर्द्धन में बुन्देलखंड के मुहाविरे और वहाँ के ग्रामीण अंचलों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का बहुत बड़ा योग रहा। पहले हम आचार्य केशवदास द्वारा प्रयुक्त कुछ ठेठ बुन्देलखण्डी शब्दों की सूची दे रहे हैं—

पंचम (बुन्देला), खारक (छोहारा), मरूकर (मुश्किल से), चोली (पान रखने की पिटारी), छौवें (छुवें), छेड़ी (तंग गली), स्यो (सहित), उपदि (अपनी पसन्द से), वेगिदै (शीघ्र), घोरिला (खूंटी), बरंगा (कड़ी), दुगई (दालान), गेंडुआ (तकिया), गलसुई (गाल के नीचे रखने की तकिया), कुची (कुंजी), ग्यासि (ग्यारस), सुख (सहज ही)।[१]

आचार्य देव की रचनाओं में 'भरिबी', 'करिबी' और 'जरिबी'[२] जैसी बुन्देलखण्डी क्रियाओं के अतिरिक्त शीघ्रता के अर्थ में 'उलाहित' का प्रयोग मिला है[३], और बुन्देलखण्ड में 'नागा' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द 'अंझा' भी एक स्थान पर दृष्टिगत हुआ है।[४] 'अंझा' को इसी अर्थ में भूषण ने भी लिया है।[५] इसी प्रकार विष की लहर के अर्थ में देव ने 'मेरु' और निन्दा के अर्थ में 'घेरु' शब्द का भी यथास्थल प्रयोग किया है।[६] बिहारी ने 'लखिबी', 'देखिबी' जैसी भविष्यत काल की क्रियाओं के प्रयोग के साथ ही 'घेरु', 'स्यो', 'चाला', 'कोद', 'गीधे', 'बीधे' सद आदि शब्दों को ग्रहण किया है। ब्रजभाषा में बुन्देलखण्डी का सबसे अधिक प्रयोग ठाकुर कवि ने किया है। उनके ऐसे प्रयोगों को देखने से स्पष्टतया आभासित होता है कि उन्होंने बुन्देलखंड के ठेठ से ठेठ शब्दों के प्रयोग द्वारा ब्रजभाषा की अभिव्यंजना शक्ति (पावर आफ एक्सप्रेशन) को एक विशिष्ट सीमा तक बढ़ाया है। उनका इस प्रकार का प्रयास नितान्त मौलिक कहा जा सकता है। उनके कुछ बुन्देली शब्दों की सूची 'ठाकुर ठसक' से दी जा रही है—

सहिया (कीड़ा), सलोनो (रक्षा बन्धन या कजली का त्योहार), सटहै (निबहैगी), संजोवना (इकट्ठा करना), सइयत (सहते हैं), लोद (मुलायम

---

१. केशव पंचरत्न—सं० ला० भगवानदीन, भूमिका भाग, पृ० ६
२. सुख सागर तरंग—देव, छं० सं० ५३७, पृ० १८२
३. वही, छं० सं० ७७४, पृ० २५७
४. वही, छं० सं० ५१४
५. भूषण—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ३५३
६. सुख सागर तरंग—देव, छं० सं० ६१३, पृ० २०६

छठो) लाने (वास्ते) नटपट (नष्ट होना) राछरे (मंगल गीत) रगींच (रेखा), बादर (छड़ी), बेबहा (बहुत अधिक), बाइरे (बादी बढ़ाने वाले) बरावने (बचाना, बँधेज (इन्तजाम), फरिया (धोती), कुरई (उड़ेलना), कढि आना (अंकुरित होना), ऊमर (गूलर), उलाइत (शीघ्रता), पटैल (पटा चलाने वाली), निबेरना (विचारना), थिगरी (चकती), डेल (डेला), झुकामुकी (तड़के), छीवो (छूना), छियरा (टोर), चैतुवाभीत (स्वार्थी मित्र), चाहने (उचित), धींच (गर्दन), चक्करा (बरा) आदि।*

आलम के छन्दों में अन्य भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा बुन्देली के शब्द अधिक उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः उनका भी सम्बन्ध बुन्देलखण्ड से बहुत ज्यादा था। इस कारण उनकी रचनाओं में बुन्देली के शब्द इतने घुल मिल गये हैं, जिन्हें पृथक् करने मे कुछ कठिनाई अवश्य होगी। हम 'आलम केलि' से आलम के द्वारा प्रयुक्त कुछ बुन्देली शब्दों को प्रस्तुत कर रहे हैं—छगुनत (आ० के० छं० सं० १४३), मरूकै (आ० के० छं० सं० ९६), मौंगिरहै (आ० के० छं० सं० १०७), सुगाय (आ० के० छं सं० १५०), दुहागी (आ० के० छं० सं० १६२), रूँगे (आ० के० छं० सं० १९८), ओलै (आ० के० छं० सं० १९४), सापरे (सापरे (आ० के० छं० सं० २४७), पनहासु (आ० के० छं० सं० २९१), धँरु (आ० के० १५०) आदि।

ब्रजभाषा रीति कवियों ने अपनी रचनाओं में ब्रज के ऐसे ठेठ एवं ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो पूर्व मध्यकाल की रचनाओं में ढूंढने से ही मिल सकेंगे। उदाहरण के लिए 'ऊखिल' शब्द को ले लीजिये यह शब्द केवल देव[1] और घनानन्द में ही अभी तक मिला है। वस्तुतः 'अपरिचित' अर्थ में यह आज भी ब्रज प्रदेश में बोला जाता है। घनानन्द ने भाव व्यंजना के उत्कर्ष को दृष्टि में रखते हुए ऐसे-ऐसे ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रजभाषा का कलेवर अपनी विशिष्ट शब्दावलियों के कारण कितना सम्पुष्ट एवं सुदृढ़ था। घनानन्द के ग्रामीण शब्दों की एक संक्षिप्त सूची दी जा रही है। डा० मनोहर लाल गौड़ के कथनानुसार ये शब्द बुलन्द शहर के पूर्वी भाग में बोले जाते हैं—टेहले (विवाह, जन्मगांठ आदि पर किये जाने वाले आचार), गरेंठो (कान भरा मात्र)

* इन शब्दों के अर्थ समझने में हमें लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित 'ठाकुर ठसक' के शब्दार्थ कोश से विशेष सहायता मिली है।

१. भोर लौं ऊखिल भीर अथाइन द्वार न कोऊ किवार भिरैया।
—देव, छं० सं० ३, देव रसायन

२. ऊखिल ज्यों खरकै पुतरीन मैं, सूल की मूल सलाक भई है।
—घनानन्द ग्रन्थावली, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ३

बरहे (जंगल), सल (पता या ज्ञान), न्यार (चारा), पैछर (पैर का शब्द) झरा (समस्त) आदि।[१]

यद्यपि ब्रजभाषा रीति कवियों ने राजस्थानी का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया है, किन्तु 'बाथ' (अंकवार) जैसे दो एक अत्यन्त ठेठ प्रयोग यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। 'बाथ' का प्रयोग पूरे रीतिकाल में केवल बिहारी ने किया है।[२]

—प्राकृत और अपभ्रंश

ब्रजभाषा रीति कवियों ने प्राकृत और अपभ्रंश के उन शब्दों के प्रयोग में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं प्रकट किया, जिन्हें पूर्ववर्ती काव्य-रचनाओं में बराबर स्थान मिलता रहा। यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश के ऐसे शब्दों के कारण ब्रजभाषा के सहज लावण्य और नैसर्गिक माधुर्य की हानि भी हुई है, पर ब्रजभाषा के कुशल शब्द शिल्पी कवियों ने इन शब्दों को ऐसे काट-छांट के साथ ग्रहण किया है कि वे ब्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली में स्वभावतया घुल मिल गये हैं। ब्रजभाषा रीति कवियों के शब्द ग्रहण की ऐसी क्षमता और भाव-व्यंजना के अनुरूप शब्द-निर्माण का यह कौशल अन्य कवियों में प्राय: नहीं मिलता। अब हम ब्रजभाषा रीति काव्य में प्रयुक्त होने वाले कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों को उद्धृत कर रहे है— तूठे (तुष्ट, बि० बो०, दो० सं० २७१), लोइन (लोचन, सु० सा० त० देव, छं० सं० ६४४), चक्क (चक्र, शिवराज भूषण, छं० सं० १३), समथ्थ (समर्थ, शि० भू०, छं० सं० ४८), नाह (नाथ, देवसुधा, छं० सं० ६७), ईछन (ईक्षण—बि० बो०, दो० सं० ५७), लोय (लोग), दीठि (दृष्टि), नीठि (मुश्किल से घना० कवि छं० सं०) अनीठि (अनिष्ट) आदि। प्राकृत के सम्बन्ध में ब्रजभाषा के प्रसिद्ध विद्वान पं० कृष्ण विहारी मिश्र का कथन है कि प्राकृत की सुकुमारता और मधुरता ब्रजभाषा के बाटे पड़ी थी, बरन् इसमें उसका विकास उससे भी बढ़कर हुआ।[३]

निष्कर्षत: ब्रजभाषा रीति कवियों ने विभिन्न भाषाओं से गृहीत शब्दों का प्रयोग अपने ढंग से किया और यथावश्यक उन्हें कोमल एवं मसृण बनाने में उन्होंने जिस पैटर्न का निर्माण किया था, उसकी समता करने वाला अन्य पैटर्न नहीं बन सका। शब्दों के लोच, माधुर्य, नादान्विति आदि की दृष्टि से रीति कवियों की भाषा अपने आप में बेजोड़ है। कदाचित् इसी से कुछ आलोचकों ने इसके माधुर्य को फारसी और बंगला से भी बढ़ कर माना है और ब्रजभाषा के इन माधुर्य गुणों के समान

---

१. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा—डा० मनोहरलाल गौड़, पृ० १३
२. बिहारी बोधिनी—ला० भगवानदीन, दो० सं० ३५१
३. देव और बिहारी—पं० कृष्ण विहारी मिश्र- भूमिका भाग- पृ० २२ च० सं०

अंग्रेजी साहित्य में हैजलिट ने 'लैंग्वेज आफ म्युजिक' के महत्व को पूर्णतया स्वीकार किया है।

—मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ

शब्द शक्तियों का निरूपण करते समय संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों ने लक्षणा के मुख्यतया दो भेदों की चर्चा की है—(१) प्रयोजनवती लक्षणा, (२) रूढ़ि लक्षणा। प्रयोजनवती लक्षणा में जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लक्षणा प्रयुक्त की जाती है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा में रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को परित्यक्त करके तत्सम्बन्धित अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है। रूढ़ि के कारण परम्परा विहित सभी मुहावरे या खण्ड वाक्यों की गणना इसी लक्षणा में होती है।[1] मुहावरे किसी भी भाषा में उसकी अभिव्यंजना शक्ति के संवर्धन में पूर्ण योग देते हैं। मुहावरे की प्रचुरता की दृष्टि से फारसी और उर्दू की अत्यधिक श्लाघा की जाती हैं। वस्तुतः उर्दू और फारसी की अधिकांश रचनाओं का चाकचिक्य मुहावरों के ही कारण बना हुआ है। यही नही, उर्दू में जिस विशिष्ट भाव-व्यंजना पर लोग झूमने लगते हैं, वहाँ मुहावरे ही मूलतः इसके उत्कर्ष विधान में पूर्णतया सहयोग देते हैं तथा भावानुभूतियों की संप्रेषणीयता मे सम्यक् रूपेण सक्रियता प्रदर्शित करते हैं।

रीति काव्य के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि इसमें उर्दू की भांति मुहावरों का लालित्य नहीं है। यह कथन सर्वतोभावेन ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि हिन्दी के शृंगारिक कवियों ने ऐसे ऐसे देशी मुहावरों का विनियोग अपनी रचना मे किया है, जिनकी समता के मुहावरे उर्दू में भी नहीं मिलते। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी रीति काव्य मुहावरों की दृष्टि से फारसी और उर्दू काव्य परम्परा से पर्याप्त प्रभावित है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रीति काव्य में प्राप्त सभी मुहावरे फारसी और उर्दू की मात्र अनुकृति है। उदाहरणार्थ घनानन्द जी को ले लीजिए। यों घनानन्द की अधिकाँश रचनाएँ फारसी काव्य-परम्परा से प्रभावित अवश्य है, किन्तु घनानन्द जी 'भाषा प्रवीन' होने के साथ ही 'ब्रजभाषा प्रवीन' भी थे। इस कारण उनकी रचनाओं में प्रयुक्त मुहावरे प्रायः ब्रजभाषा के एक विशिष्ट सांचे में ढले हुए से हैं, ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि उन्होंने फारसी और उर्दू के मुहावरों को ज्यो का त्यो उठाकर रख लिया हो। इस कथन की पुष्टि के लिए घनानन्द के कुछ मुहावरे लीजिए—

(क) रावरे पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

---

१. काव्यालोक—द्वितीय उद्योत-पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ६५, प्र० सं०

(ख) देखिये दसा असाध अखियाँ निपेटनि की भसमी बिथा पै नित लंघनि करति हैं।

(ग) रस प्याय के प्यास बढ़ाय के आस बिसास में यों विष घोरिये जू।

'क' के अन्तर्गत 'पेट की बूझि' का तात्पर्य मन की गुह्य बात है और 'रीझि पचाय के डोलत भूखे' का तात्पर्य यह है कि तुम प्रेमियों की रीझि (अनुरक्ति) को अनुभव नहीं करते, तुम्हारे ऊपर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। तुम उनकी रीझि को ठुकरा कर नये प्रेमियों की खोज में लगे रहते हो, इसकी भूख मिटती नही। मुहावरों का यह अत्यन्त प्रचलित प्रयोग है, पर घनानन्द ने प्रेमभाव के गूढ़ व्यापारो की व्यंजना में इन सामान्य लगने वाले मुहावरों से अत्यधिक काम लिया है। इसी प्रकार 'ख' के अन्तर्गत 'निपेटनि' मुहावरा अत्यन्त व्यंग्य गर्भित है तथा अपनी भाषा का विशिष्ट वाग्योग है। देशी बोल-चाल में अत्यन्त पेटू व्यक्ति के लिए प्रायः निपेटू का प्रयोग होता है। इस मुहावरे के बल पर घनानन्द जी ने बड़ी मौलिक उक्ति की रचना की है। प्रायः देखा जाता है कि जिसे भस्मक रोग हो जाता है, वह नित्य कई गुना भोजन करता है। वैद्यगण इस रोग को ठीक करने के लिये लंघन के महत्व को स्वीकार नहीं करते, वरन् भोजन और औषधि दोनों ही बातें रोगी को बतायी जाती है। 'ग' में जिस मुहावरे का प्रयोग हुआ है, वह भी हिन्दी का मुहावरा है। घनानन्द जी ने प्रेमी की निष्ठुरता के सन्दर्भ में इस मुहावरे द्वारा जैसी भाव-व्यंजना करायी है, वह सर्वथा मौलिक है। भाव यह है कि पहले तो तुम रस पिला कर (आनन्द देकर) और अधिक प्यास बढ़ा देते हो (मिलन की आशा तीव्र कर देते हो) पुन विश्वास जम जाने पर तुम विष घोल देते हो (विश्वासघात) करने लगते हो। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र घनानन्द के मुहावरों के प्रयोग की मौलिकता का सकेत करते हुए लिखते हैं—"घनानन्द ने हिन्दी के मुहावरों का प्रयोग करके, उसके चलते मुहावरे का विनियोग करके, जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुंचाया है, वह स्थान-स्थान पर दर्शनीय है।[1]" वास्तव मे मुहावरे भाषा की रीढ़ होते हैं जो भाषा की नाड़ी को ठीक-ठीक पहचान लेते हैं, वे ही कवि मुहावरों के औचित्य पूर्ण प्रयोग में अधिक सफल भी होते हैं। कभी-कभी तो रीति युग के सामान्य लगने वाले छन्दों में मुहावरों के प्रयोग-वैशिष्ट्य के कारण भावों में ऐसी रमणीयता आ गयी है और अर्थाभिव्यक्ति का उत्कर्ष इतना बढ़ गया है कि मुहावरों के अभाव में ऐसा कथमपि सम्भव न होता। नमूने के लिये 'भुवनेश' कवि के कुछ छन्द इस प्रकार हैं—

(क) बूझतु हौ कहा वाकी दशा भुवनेश जू बात बृथा बहि जायगी।
सांची कहे पतियाहु नहीं नहिं काची कछू हम सों कहि जायगी।।

---

१ घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा भूमिका भाग पृ० १२

आश नहो बचिबे की अबै पर प्यारी जऊ रहते रहि जायगी ।
बीसबिसे बन फूले पलासन देखि अंगारन सों दहि जायगी ।।[1]

(ख) सुनरी सजनी करिहैं वे कहा अपनी सी सबै जुपै कै रहैंगी ।
भुवनेश जू साँची कहौं तुमसौं बतियाँ छतियां निज धै रहैंगी ।।
मिलिहैं हम जाय अबै उनसों तब तो अपनो मुख लै रहैंगी ।
अब बीस बिसै यही होनो अहै कर मीजि कपोलन दै रहैंगी ।।[2]

'क' छन्द के अन्तर्गत एक साथ कई मुहावरों की बंदिश बड़ी स्वाभाविक पद्धति से हुई है । प्रयुक्त मुहावरे इस प्रकार हैं—'अपनी सी सबै जुपै कै रहैंगी', बतिया छतियाँ निज धै रहैंगी', 'अपनो मुखलै रहैंगी', बीस बिसैं, 'करमीजि कपोलन दै रहैगी' । इन मुहावरों से स्पष्ट आभास मिलता है कि रीति कवि केवल फारसी और उर्दू के मुहावरों के बल पर ही नही उछलते थे, वरन् उन्हें देशी मुहावरों की गति विधि से पूर्ण परिचय था और उनके प्रयोग की नाना रीतियों से वे पूर्णतया अभिज्ञ थे । रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द के पश्चात् मुहावरों की स्वाभाविक एवं मौलिक बंदिश करने वालों में बोधा और द्विजदेव का नामोल्लेख होता है । बोधा ने यों तो 'इश्कनामा' की रचना फारसी काव्य-परम्परा से प्रभावित होकर की है, किन्तु उनके बहुत से ऐसे छन्द हैं, जिनमें बुन्देल खण्ड में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों की स्थान-स्थान पर प्रधानता है । प्रेम के प्रसंग में ये मुहावरे भावों की उत्कटता को कितना बढ़ा देत है और इनसे मानसिक भावभूमियों की प्रभविष्णुता कितनी बढ़ जाती है, यह तथ्य बोधा के कतिपय छन्दों में द्रष्टव्य है—

(क) कवि बोधा इते पै हितू न मिलैं मन की मन ही मैं पचै रहिये ।
गहिये मुख मौन भई सो भई अपनी करि काहू सों का कहिये ।।[3]

(ख) तुम ऐसेहि मोहि लटी करती मन मेरी कही नहि मानतु है ।[4]

(ग) कवि बोधा न चाउ सरी कबहूं नित ही हरवा सो हिरैबो करैं ।[5]

(घ) बोधा सोहाग औ सोभा सबै उड़ि जैबे के पंथ मैं पांउ न दीजै ।[6]

---

१. भुवनेश भूषण—त्रिलोकीनाथ सिंह, छं० सं० १४, पृ० १२–१३
—मुंशी नवलकिशोर प्रेस से अगस्त सन् १८८४ ई० में मुद्रित

२. ,, ,, ,, ,, ,, १५, पृ०–१३

३. इश्कनामा—बोधा, सं० नकछेदी तिवारी, छं० सं० २, पृ० २२

४. ,, ,, ,, ,, ,, ४ पृ० ३२

५. ,, ,, ,, ,, ,, १ पृ० २१

६. ,, ,, ,, ,, ,, ५ पृ० ३५

द्विजदेव की रचनाओं पर बोधा की अपेक्षा फारसी और उर्दू काव्य शैली का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। अतः उनकी रचनाओं में प्रयुक्त मुहावरे भी अधिकांशतः देशी ही हैं। इन मुहावरों के कारण द्विजदेव ने कहीं-कहीं ऐसी अनूठी भाव-व्यंजना का विधान किया है जो अन्यत्र लक्षित नहीं होता। द्विजदेव जी के ऐसे मौलिक वाग्योग के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

(क) अब मति देरी कान कान्ह की बसीठिनि पै
झूठैं झूंठै प्रेम के पतौवन को फेरि दे।
उरझि रही री जो अनेक पुरबातैं,
सोऊ नाते की गिरह मूंदि नैननि निवेरि दे॥
भरन चहत काहू छैल पै छबीली कोऊ,
हाथन उठाय ब्रजबीथिन मैं टेरि दे।
नेह री कहां को जरि खेह री भई सो,
अब देहरी उठाय याके देहरी पै गेरि दे॥[1]

(ख) एहो ब्रजनागर बराय ब्रजबालन अलज अखियाँ मैं निठुराई क्यों गहतु हौ।
हरे भरे बिमल सुधारे सरवर माहं संग मिशिरी के विषघोरि उमहतु हौ॥
हाय यदुराय कौने गांव की चलाई रीति कौने मुख कौनी जीह बातन कहत हौ।
कल न परत यक पल न बिलोके तब छलन छलाय अब चलन चहत हौ॥[2]

(ग) पीहैं पहिलेई सों हलाहल मंगाय या कलानिधि की एको कला चलन न पायहैं।[3]

यद्यपि यह सत्य है कि जहां मुहावरों का प्रयोग चमत्कारातिशयता की प्रवृत्ति से किया जाता है, वहां भावानुभूतियों के सहज प्रवाह में गत्यवरोध अवश्य होता है, पर जहाँ मुहावरे स्वाभाविक रूप से और भावों की आनुषांगिक व्यंजना में प्रयुक्त होते हैं, निश्चय ही उनके कारण समस्त छन्द विधान में एक अपूर्व लावण्य झलकने लगता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(क) लखि जैहै कोऊ तौ बजैहै गाल ग्वालन में,
आलिन में बैठिबो हमारो उठि जाय है।[4]—हरिजन कवि

(ख) 'नीलकंठ' रुचिर सोहाती चितवनि बाँकी,
थाती सी हसनि मेरी छाती पर धरिगे।[5]—नीलकंठ

---

१. श्रृंगार बत्तीसी—द्विजदेव, छं० सं० ३४, पृ० ११
२. ,, ,, ,, ३७ पृ० १२
३. ,, ,, ,, ३१ पृ० ११
४. श्रृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, छं० सं० १३, पृ० १४०, १४१
५. ,, ,, ,, १४. पृ० १४१

इन छन्दों में 'गाल बजाना', 'आलिन में बैठिबो हमारो —ठि जाय है (सखियों में हमारी प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी), 'थाता सी' छाती पर धरिगो' आदि के ललित प्रयोगों द्वारा अन्तर्हित भावों की प्रकृत व्यंजना कराई गयी है तथा इन मुहावरों के ही कारण पूरे छन्द में एक अनूठा स्वारस्य आ गया है।

रीति युग के प्रतिनिधि कवियों में बिहारी, देव, दास, पद्माकर और ग्वाल ने अपनी रचनाओं में मुहावरे के सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रयोगों के द्वारा भाषा की शक्तिमत्ता के संवर्द्धन में जैसा योग दिया है, वह अन्यत्र बहुत कम लक्षित होता है। उर्दू के मुहावरों की सफाई की दाद देने वाले आलोचक भी कभी-कभी इन कवियों की रससिक्त एवं कोमल भाव-व्यंजना से संवलित वाणी में मुहावरों के नूतन तथा विशिष्ट भंगिमा से दीप्त प्रयोगों को देखकर चौंक उठते हैं। वस्तुतः रीति काव्य के ऐसे प्रयोगों के ही कारण इसकी भाषागत मौलिकता अद्यावधि अक्षुण्ण बनी हुई है। यों आधुनिक काल में भी भाषा के न जाने कितने नूतन प्रयोग देखने को मिले हैं, पर रीति काव्य की भाषागत विशिष्टता अपनी है, उसकी अनुकृति परवर्ती खड़ी बोली काव्य में प्रायः नहीं हो सकी। अब हम इन कलाकारों की रचनाओं में प्रयुक्त कुछ मुहावरों का नमूना दे रहे हैं—

क—(i) खरी पातरी कानि की, कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै, अली, अली जिय जानि ॥[१]

(ii) दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरति चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई यह रीति ॥[२]

ख—(i) कीन्हीं अनाकनी यों मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यो।[३]

(ii) गोत गुमान उतै, इत प्रीति सुचादरि-सी अँखियान पै खैंची ॥[४]

(iii) साँचे हंकारि पुकारि पिकी कहै 'नाचे बनैगी' बसन्त की पाँचैं ॥[५]

(iiii) मीडत हाथ फिरै उमड़्यौ सो मड़्यौ ओहि बीच पर्‌यौ मड़रान्यौ ॥[६]

—देव

ग—(i) देत कहा हैं दहे पर दाहु गई करि जाहु दई के निहोरे।[७]

---

१. बिहारी रत्नाकर—दो० सं० १४
२. ,, ,, ३६३
३. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० १२८, पृ० ४४
४. देव सुधा—सं० मिश्र बन्धु, छं० सं० १८६
५. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ७६, पृ० २६
६. ,, ,, ६७, पृ० ३३
७. शृंगार निर्णय—भिखारीदास, छं सं० ३१८

(ii) बाहिर के घर के परोस नर नारिन के,
नैनन में काँटे सी सदा ही असकति हौं।
दास नाहि जानौं हौं बिगार्‌यौं कहा सब ही को,
याही पीर बीर पेट पेट ही पकति हौं।[1] —दास

घ—(i) प्रीति पयोनिधि में धंसि कै हंसी कै कढ़िबो हँसी खेल नहीं फिर।[2]
(ii) हौं तौ न लोटतो लोभ लपेट मैं पेट की जोपै चपेट न होती।।[3]
(iii) जैहैं न फेरि फिरे घर ऐहैं सुगाँव ते बाहर पाँव न दैहै।[4] —पद्माकर

ङ—(i) कवि ग्वाल यों जानी लिया जब तें, तब ते छतियाँ सियरानी फिरै।।
तन ही तन फूलि समानी फिरै, मन ही मन में मुसक्यानी फिरै।।[5]
(ii) है कोऊ ऐसिहूं गोकुल में, जिहि को पिय ह्वै रहै कंठ को हारै।।[6]
—ग्वाल

यद्यपि रीति काव्य में मुहावरों की तुलना में लोकोक्तियों का विधान कम ही हुआ है, किन्तु कुछ कवियों ने लोकोक्ति के विनियोग में अपनी असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है। रीतिकाल में लोकोक्तियों के विशिष्ट प्रयोग की दृष्टि से रीतिमुक्त ठाकुर का नाम लिया जाता है। वास्तव में ठाकुर जैसी लोकोक्तियों की रचना हिन्दी ही नहीं, संस्कृत आदि पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं में भी नहीं मिलती, अत: इस दिशा मे ठाकुर का यह सर्वथा मौलिक प्रयास था। उनकी अधिकांश लोकोक्तियां बुन्देलखन्ड के ग्रामीण अंचल से ग्रहण की गयी हैं और उनमें वहाँ के जीवन के सहज सौन्दर्य की मार्मिक झलक मिलती है।

ठाकुर से पूर्व शिवसहाय दास कवि ने 'लोकोक्ति रस कौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो प्रथमतः आगरा के मतवह इलाही प्रेस से सन् १८१० में मुद्रित हो चुकी है और बाद में इसका एक उत्तम संस्करण महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित होकर काशी के भारत जीवन प्रेस से सं० १६४७ में प्रकाशित हुआ था सम्प्रति दोनों ही संस्करण अप्राप्य हैं। ठाकुर की तुलना में इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें कहावतों को लेकर नायिका भेद का निरूपण हुआ है। रचना का स्तर प्रायः सामान्य होने के कारण ठाकुर जैसी सरसता इसमें नहीं मिलती।

---

१. शृंगार निर्णय—भिखारीदास, छं० सं० ६४
२. पद्माकर पंचामृत (जगद्विनोद) सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं ३५३
३. ,, (प्रबोध पचासा) सं० वि० प्र० मिश्र, छं० सं० ५०
४. ,, (रागद्विनोद) ,, ,, २५१
५. ग्वाल कवि—सं० प्रभुदयाल मीतल, छं० सं० १४२, पृ० १३४
६. ,, १५४ पृ० १३७

लोकोक्तियों का विधान प्रायः जीवन की गम्भीर और मार्मिक भावानुभूतियों के उद्घाटन में किया जाता है। जीवन की अनेकरूपता के निरूपण में उसके सम-विषम भाव भूमियों के प्रत्यक्षीकरण में समय-समय पर प्रयुक्त होने वाली लोकोक्तियाँ ऐसा यथातथ्य चित्र उपस्थित करती हैं जिसे उनके अभाव में नहीं में उपस्थित किया जा सकता। पुनः ब्रजभाषा का रीति काव्य स्त्रियों के कोमल एवं मधुर उद्‌गारों का अक्षय भण्डार है तथा उसमें प्रणयी हृदय की टीस, पीड़ा, खीझ, निराशा और उपालम्भ की नाना अनुभूतियों की अटूट शृंखला है। अतः लोकोक्तियां यथा समय उनकी उक्त भावानुभूतियों की रमणीय अभिव्यक्ति में परम सहायक सिद्ध होती हैं।

काव्य में लोकोक्तियों की उपादेयता इस कारण से भी स्वीकार की जाती है कि जिस प्रकार सामान्य जन कण्ठ में इनकी व्याप्ति किसी विशिष्ट वार्ता एवं कथन को अधिक रसग्राही एवं प्रभविष्णु बनाने में सहायक होती है, उसी प्रकार काव्य की किसी मार्मिक प्रसंगोद्भावना में इनका समावेश अधिक विशिष्टता एवं मर्मस्पर्शिता प्रदान करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि रीति कवियों ने शृंगारिक परिवेश में लोकोक्तियों के कलात्मक प्रयोग के द्वारा पूरे प्रसंग को अत्यन्त हृदयग्राही बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। यही नहीं, परम्परा से प्रचलित लोकोक्तियों को ग्रहण करने के साथ ही यथावश्यक प्रसंगानुकूल सर्वथा नवीन लोकोक्तियों की उद्‌भावना करने में भी रीति युग के सजग कलाकारों ने अपनी पूर्ण दक्षता प्रदर्शित की है। इस सम्बन्ध में पद्‌माकर का एक छन्द इस प्रकार है, जिसमें लोकोक्ति का सर्वथा नूतन विधान किया गया है—

> कौन सयान जो कान्ह सुजान सों ठानि गुमान रही मन माहीं।
> एक जु कंज कली न खिली तो कहा कहूं भौंर को ठौर है नाहीं॥[१]

अन्तिम पंक्ति में अधमा दूती ने मानिनी नायिका को लक्ष्य करते हुए बड़ी व्यंग्य गर्भित लोकोक्ति का प्रयोग किया है। उसके शब्दों में यदि एक कमल की कली विकसित न हुई हो तो क्या भ्रमर को अन्यत्र रसास्वादन हेतु स्थान न मिलेगा? अर्थात् यदि तुम अपनी हठवादिता के कारण नायक से प्रेम न करोगी तो क्या उसे अन्य नायिकाओं का प्रेम उपलब्ध न होगा? कभी-कभी लोक प्रचलित कहावतों को काव्य की रमणीयता बढ़ाने के उद्देश्य से यथा प्रसंग उनका सरस प्रयोग किया गया है। यथा, सोने में सुगन्ध की कहावत तो बहु प्रचलित है; किन्तु उसकी वास्तविक चरितार्थता प्रायः कम हो पाती। पद्‌माकर ने एक छन्द में अपनी उक्ति के बल से सोने और सुगन्ध को सत्य प्रमाणित करने का प्रयास किया है—

> सुबरन रूप जैसो तैसो सील सौरभ है, याही ते तिहारो तन धन्य लेखियतु है।
> सोने में सुगन्ध न सुगन्ध में सुन्यो री सोनो सोनो औ सुगन्ध तो में दोनो देखियतु है॥[२]

---

१. पद्‌माकर पंचामृत (जगद्विनोद), सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं०सं० २६७
२. ,, ,, ,, ,, १८

रीति काव्य की परम्परा के अन्तर्गत कुछ ऐसी लोकोक्तियों का दर्शन होता है, जिनका प्रचलन और प्रयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिला। ऐसा लगता है कि ये लोकोक्तियाँ रीतिकाल के कुछ कवियों तक ही सीमित रही तथा आगे की काव्य-परम्परा ने उसे ग्रहण नहीं किया। हमदेव कवि द्वारा प्रयुक्त ऐसी लोकोक्ति का एक नमूना प्रस्तुत कर रहे है—

बारि दिया अगिल्याइ दिखावत सो तुम सांचिये बात करी जू।
देव जु जानि अजान ह्वै पूछत जानौ न कौने घरी उधरी जू ॥[1]

वस्तुतः यह लोकोक्ति इतनी अप्रचलित हो गई है कि इसके वास्तविक अभिप्राय की गहराई तक पहुंचने में भी कठिनाई हुई हैं, किन्तु इसी लोकोक्ति का किंचित् परिवर्तन के साथ अन्य प्रयोग भी देखने को मिला है, वहां इसका अभिप्राय सुस्पष्ट है।

'एते पर कहत कि देखो तब कहौ एजू आगि लागी कोऊ का दिया लै देखियत है'।[2] जानकर भी किसी बात को अजान की भांति पूछने पर दूती ने नायक से व्यग्यगर्भित शैली में उत्तर दिया कि क्या आग की लपटों का परिचय दिया जलाकर दिया जाता है—अर्थात आग लगने पर क्या उसे कोई दीपक लेकर देखता है। व्यंग्यार्थ यह है कि वियोग वह्नि में जलती हुई नायिका को देखकर भी तुम्हारा अज्ञानी की भाति पूछना इसी कहावत को चारितार्थ करता है। वस्तुतः रीति काव्य का यह एक नवीन लोकोक्ति प्रयोग कहा जा सकता है।

रीति परम्परा के अन्तिम रीति कवि ग्वाल ने 'मध्या धीरा' के सन्दर्भ मे लोक प्रचलित एक लोकोक्ति द्वारा कथन-वैशिष्ट्य के संवर्धन में कितनी निपुणता दिखायी है, यह निम्न छन्द में द्रष्टव्य है—

ग्वाल कवि और न उपाय ब्रजराज अब, जाउ-जाऊ जहां चाउ, मैं तो यह जांची है।
घर की जो मीसरी सो फीकी सी लगन लागी, मीठो गुड़ चोरी कौ कहन यह सांची है ॥[3]

घर की मिश्री फीकी लगती है और चोरी का गुड़ मीठा लगता है, इस लोकोक्ति के प्रयोग द्वारा नायिका ने नायक को करारा व्यंग्य बाण मारा है। इसका व्यग्यार्थ यह है कि स्वकीया के अनाविल प्रेम का तिरस्कार करके तुम परकीया के क्षणिक प्रेम को शिरोधार्य कर रहे हो। इसी प्रकार एक अन्य लोकोक्ति में फटकार की तिक्तता का एक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सांची है मसल, सूप बोलै तो भलोई बोलै, चालनीहू बोलै, जो कि छेदन से भरो है।[4]

---

१. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ६०२, पृ० २०२
२. शृंगार सुधाकर—मन्नालाल द्विज, छं० सं० ५४, पृ० १६०
३. ग्वाल कवि—सं० प्रभुदयाल मीतल, छं० सं० १३७, पृ० १३२
४. ,, ,, ,, ५१ पृ० १०२

यह कहा जा चुका है कि पूरे रीतिकाल में ठाकुर ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने लोकोक्तियों के सुन्दर प्रयोग में अपनी पूर्ण मौलिकता प्रदर्शित की है। इनकी कहावतों के सम्बन्ध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के विचार द्रष्टव्य हैं—ठाकुर ने अपनी कारीगरी मुहावरों की बंदिश और कहावतों के जोड़ में दिखायी है। कहावतों का ऐसा प्रयोग हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। ठाकुर की कविता की पहचान ही मानी जाती है कि उसमें कहावत की वचन भंगिमा और कहावतों का जुगाड़ बेजोड़ हैं।[१]

ठाकुर की लोकोक्तियों की मौलिकता यह है कि छन्द में प्रयुक्त लोकोक्ति उसका ऐसा सहज अंग बन गयी है कि यह प्रतीत नहीं होता कि उसे अलग से जोड़ा गया है। और लोकोक्तियों द्वारा जिस विशिष्ट व्यंजना का बोध होता है, उससे गार्हस्थ जीवन का तथा लोक-व्यापार समष्टि का सौन्दर्य पूर्ण चित्र प्राप्त होता है। लोकगृहीत नाना प्रसंगों, परिस्थितियों और अवस्थाओं से सम्बद्ध उनकी लोकोक्तियां जीवन के ऐसे अनुभूत सत्य का उद्‌घाटन करती हैं, जो अपने आप में ठाकुर की काव्य मर्मज्ञता का स्पष्ट बोधक है। 'ठाकुर ठसक' में ठाकुर की कई महत्वपूर्ण लोकोक्तियां संगृहीत हैं। कुछ का नमूना नीचे दिया जा रहा है।

(क) यह चारहूं ओर उदौ मुखचन्द को चांदनी चारु निहारि लैरी।
बलि जो पै अधीन भयो पिय प्यारी तो एतौ विचार विचार लैरी॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गोपाल तौ तैं बिगरी को सम्हारि लैरी।
अब रैहै न रैहै यही समयौ बहती नदी पांव पखार लै री॥[२]

(ख) कहि ठाकुर क्यों उकलाव लला इतनी सुनि राखिय मों पहियां।
सब रैनिपरी न खिझावो हमें अबै सेर में पोनी कती नहियां॥[३]

(ग) कहा पाओगी हाथ पराये बिके कह ठाकुर लोग हंसाइबे में।
हमैं को गनै कासों परोजन है बुनिबे में न बीन बजाइबे में।

(घ) ठाकुर जो पै यही करने तौ कहा मन मोहिनी क्रोध करै है।
ह्वैहै नहीं मुरगा जेहि गांव भटू तिहि गांव का भोर न ह्वैहै॥[४]

(ङ) कवि ठाकुर राम के राज करौ दुख पावती जो समुझाइवे में।
हमें बात कहै कौ प्रयोजन का बुनिवे में न बीन बजाइवे में॥[५]

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वि० खं०—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६६५
२. ठाकुर ठसक—सं० ला० भगवानदीन, छं० सं० १५५, पृ० ३८
३. ,, ,, ,, १५८ पृ० ३६
४. ,, ,, ,, १६२ पृ० ४०
५. ,, ,, ,, १६७ पृ० ४०
६. ठाकुर ठसक, छं० सं० १८३, पृ० ४०

ठाकुर की इन लोकोक्तियों में निराशा, खीझ, उपालम्भ, उदासीनता, फटकार आदि भावों की जैसी व्यंग्यमूलक और हृदय पर चोट करने वाली व्यंजना का प्रकृष्ट रूप देखने को मिला है, वह हिन्दी ही नहीं, संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के समूचे शृंगारिक वाङ्मय को पलटने पर भी कहीं दृष्टिगत नहीं होता। वस्तुतः शृंगार काल के कवियों में ठाकुर की लोकोक्ति समन्वित रचनाएँ अप्रतिम हैं और परवर्ती रीति काव्य में ही नहीं रीतीतर काव्यों में भी उसकी अनुकृति प्रायः नहीं हो सकी। अतः ठाकुर कवि का यह मौलिक प्रयास था।

लाक्षणिक प्रयोग

किसी भी भाषा में लाक्षणिक प्रयोग उस भाषा की पूर्ण शक्तिमत्ता को प्रकट करता है, इस सम्बन्ध में किंचित सन्देह नहीं किया जा सकता। यद्यपि लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता की दृष्टि से आधुनिक काव्य की अधिक चर्चा की जाती है, पर मध्यकालीन काव्यों में लाक्षणिक प्रयोगों के ऐसे-ऐसे रूप देखने को मिले हैं, जिनकी आधुनिक काव्य-शैली के विधायक कल्पना भी नहीं कर सकते। लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से फारसी और उर्दू में भी अनेकानेक रचनाएं भरी पड़ी हैं, फिर भी अर्थाभि-व्यक्ति की गम्भीरता और गूढ़ भावों की रमणीय व्यंजना में हिन्दी की रीतिमुक्त तथा कियदंश में रीतिबद्ध रचनाएं अग्रिणी रही हैं। बिहारी, देव, पद्माकर और घनानन्द की अनेकशः उक्तियां हमारे कथन का ज्वलंत प्रमाण हैं। यह कथन अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि उर्दू के जिन लाक्षणिक प्रयोगों को इन रीति कवियों ने ग्रहण किया है, उनमें इनकी विशिष्टता की छाप लगी हुई है और इन प्रयोगों को जिन सन्दर्भों में विन्यस्त किया है, उनमें इनकी गहरी रागात्मकता की प्रवृति स्वतः प्रकट हैं। यथा, लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से ब्रजभाषा रीति कवि देव और उर्दू के एक कवि का एक-एक छन्द इस प्रकार है—

क—चाहत उठ्यौई उठि गई सो निगोड़ी नींद, सोय गये भाग मेरे जागि वा
जगन में।[1]

ख—वादे की रात नींद ने फुर्सत उन्हें न दी
अफसोस जागकर मेरी तकदीर सो गई।[2]

देव के प्रस्तुत छन्द में जागकर सो जाना तथा उर्दू शेर में 'जागकर मेरी तकदीर सो गई' में जहाँ लाक्षणिक प्रयोग का साम्य लक्षित होता है, वहीं निगोड़ी (बिना पैर

---

१. शृंगार सुधाकर—द्विज मन्नालाल, छं सं० ६८, पृ० २६७

२ शेर ओ शायरी—सं० प्रकाश पंडित पृ० ६०

वाली) नींद का उठ जाना निश्चय ही इस प्रयोग के प्रभाव और महत्व को उर्दू शेर की तुलना में बढ़ा देता है ।

यों हिन्दी में लक्षणा शक्ति का विनियोग उतना नहीं हो सका, जितना अपेक्षित था । पर घनानन्द जैसे थोड़े से शृंगारिक कवियों ने इस क्षेत्र में जितनी दौड़ लगायी है और जितना खुलकर इसके विस्तृत प्रयोग के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है, वह अन्यत्र देखने को नहीं मिली । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने घनानन्द के ऐसे प्रयोग-वैचित्र्य को ही लक्ष्य करके लिखा है—'लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर कम ही पैर बढ़ाया । एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए है जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगायी है । ।'[1]

यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी और संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में लक्षणा और व्यजना के उत्कर्ष और इनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों की भूरिशः चर्चा की गयी है और उनके शास्त्रीय विवेचन का गम्भीर प्रयास भी लक्षित होता है, पर सूक्ष्म भावानुभूतियों के निरूपण में जिन लाक्षणिक शक्तियों का उपयोग और विनियोग सम्भव है वहां उनका बहुत कुछ अभाव है । इस दृष्टि से देखने पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि इस दिशा में घनानन्द का प्रयास नितान्त मौलिक है, इनकी समता न संस्कृत के किसी कवि से की जा सकती है और न उर्दू और फारसी के ही कवि से । फारसी और उर्दू में लाक्षणिक एवं व्यंजना वलित बहुत कुछ प्रयोग मिले हैं, पर घनानन्द जैसे अन्तर्वृत्तियों के निरूपण में सक्षम लाक्षणिक प्रयोगों का वहाँ नितान्त अभाव है । घनानन्द जी की वाणी भावना के जिन मार्गों से चलकर अपने स्वरूप का निर्माण करती रही, वहाँ तक जाने का साहस शब्द और अर्थ के अपार वैभव से मंडित होने पर भी बहुत से कवि नहीं कर सके । इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम घनानन्द जी की कुछ रचनाएँ उदधृत कर रहे हैं—

क—मोसे अनपहचान को पहचाने हरि कौन ।
कृपा-कान मधि नैन ज्यों त्यों पुकार मधि मौन ।।

ख—अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि से आनि निहारत हे ।

ग—झूठ की सचाई छाक्यो त्यों हित की कचाई पाक्यो ।

घ—आनंद निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की सुधि सब भाँतिन सो बेसुधि करत है ।

ङ—उजरनि बसी है हमारी अंखियानि, देखौ, सुबस सुदेश जहाँ भावते बसत हैं ।

च—मौनहू सो देखि हौं कितेक पन पालिहौ जू, कूकभरी मूकता बुलाय आप बोलिये ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३३९

उर्दू में लक्षणा द्वारा जहाँ वैचित्र्य विधान की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, वहाँ हिन्दी की शृंगारिक रचनाओं में घनानन्द जैसे कवियों ने वैचित्र्य-विधान की अपेक्षा भावानुभूतियों से प्रेरित ऐसी वक्रता का उपयोग किया है, जो अन्यत्र लक्षित नहीं होता। इस कथन की पुष्टि के लिए हम घनानन्द जी का एक छन्द दे रहे हैं—

गतिनितिहारी देखि थकनि मैं चली जाति, थिर चर दसा कैसी ढकी उघरति है।
कल न परति कहुं कल जो परति होय, परनि परी हौं जानि परी न परति है।
हाय यह पीर प्यारे! कौन सुनै, कासौं कहौं, सहौं घन आनंद क्यों अंतर अरति है।
भूलनि चिन्हारि दोऊ हैं न हो हमारे, ताते बिसरनि रावरी हमें लै बिसरति है।[1]

छन्द का भाव यह है कि आपकी गति को देखकर रुकने की दिशा में भी चली जा रही हू। कैसी स्थिर और अस्थिर दशा है कि चलना और रुकना दोनों ही अवस्थाए अस्पष्ट हैं। चैन किसे कहते हैं, इसे मैं जानती भी नहीं। हां, कहीं यदि कल पडती हो तो पड़ती हो। मेरी तो ऐसी दशा हैं कि सुख और दुख का अनुभव मैं कर ही नही पाती। हाय प्रियतम, इस पीड़ा का निवेदन मैं किसे करूँ और कौन सुनने वाला भी है। पीड़ा को मैं कैसे सहूं, क्योंकि यह मेरे हृदय में कसकती रहती है। इतना ही नही, आपको भूलना और पहचानना ये दोनों चीजें हमारे पास अब नहीं हैं और जैसे-जैसे मैं आपको भूलने की चेष्टा करती हूं वैसे-वैसे आपका भूलना मुझे भी भुला देता है—मैं स्वयं ही अपनी सत्ता विस्मरण कर बैठती हूं। इसमें केवल लक्षणा के वैचित्र्य का ही प्रदर्शन नहीं है, वरन् हृदय प्रेरित वक्रता की मार्मिक व्यंजना का यह एक उत्तम निदर्शन है। जो लोग ऐसे प्रयोगों को देखकर भी यह अनुमान या अटकल पच्चियाँ लगाते हैं कि घनानन्द पर फारसी की लाक्षणिकता का अमिट प्रभाव है, वे स्वतः भ्रम मे है और इस भ्रम से दूसरों को भी भ्रम में डालने की चेष्टा करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने फारसी काव्य परम्परा का सम्यक् रूपेण अनुशीलन-परिशीलन किया था और उसके लाक्षणिक प्रयोगों से प्रभावित भी थे पर ऐसा नहीं है कि इनके सभी प्रयोग फारसी की अनुकृति मात्र हैं। ऊपर हमने जिस छन्द की चर्चा की है, उसमें 'परनिपरी' जैसे नये प्रयोगों का उल्लेख स्वतः पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने भी किया है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि घनानन्द जी हिन्दी की शृंगारिक भाव-व्यंजना के अनुकूल नये-नये लाक्षणिक प्रयोगों के गढ़ने में किसी भी प्रकार का सकोच नहीं करते थे।

वास्तव में वचन-भंगिमा के सौन्दर्य-निरूपण में इन शिल्प साधकों ने असंगति

---

१. घनानन्द कवित्त—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० १४४

२ घनानन्द कवित्त–सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ६१

एवं विरोधाभास जैसे अलंकारों के माध्यम से जैसी नवीनता एवं मौलिकता प्रदर्शित की है वह निश्चय ही सराहनीय है। पुनः घनानन्द तो अपनी विरोधमूलक प्रवृत्तियों के कारण हिन्दी की शृंगारिक काव्य धारा के अन्तर्गत एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। वचन-भंगिमा का यह वैशिष्ट्य रीतिबद्ध कवि बिहारी में भी विद्यमान है—

(क) या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥[1]

(ख) तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥[2]

रीतिकाल के अन्य प्रतिनिधि कलाकारों में देव और पद्माकर के लाक्षणिक प्रयोग घनानन्द और बिहारी से इस अर्थ में भिन्न अवश्य हैं कि जहाँ उनमें विरोध-वैचित्र्य की दृष्टि अधिक प्रधान है, वहाँ देव और पद्माकर में रसात्मक चेतना का प्रबल आग्रह है। देव और पद्माकर में ऐसे अनेकशः प्रयोग मिलेंगे जिनमें लाक्षणिकता उनकी रसग्राही दृष्टि में मिलकर एकात्म हो गयी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) फूल से फैलि परे सब अंग दुकूलन में दुति दौरि दुरी है।
आँसुन के जल पूर में पैरति सांसन सो सनि लाज लुरी है।
'देव' जू देखिये दौरि दसा ब्रज पौरि विथा की कथा बिथुरी है।
हेम की वेलि भई हिम राशि,घरीक में घाम सों जाति घुरी है।[3]

(ख) तौ लौं चलि चातुर सहेली आइ कोऊ कहूं,
नीके कै निचोरै ताहि करत मनै नहीं।
हौं तौ स्याम-रंग में चुराइ चित चोरा चोरी,
बोरत तो बोर्‌यौ पै निचोरत बनै नहीं।[4]

देव के उपर्युक्त छन्द में कान्ति का दौड़ कर दुकूलों में छिप जाना (विरह के कारण अंगदीप्ति का दुकूलों में व्याप्त हो जाना) सांसों में सन कर लज्जा का लुप्त हो जाना वियोग की दीर्घ निश्वासों के कारण लज्जा आदि की परवाह न करना तथा ब्रज की पौरि (ड्योढ़ी) पर व्यथा की कथा का फैलना (ब्रजवासियों के घर-घर

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० लाला भगवानदीन, दो० सं० १८३
२. ,, ,, ,, ,, ६१७
३. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ५६६, पृ० २०१
४. पद्माकर पंचामृत (जगद्विनोद)—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं०सं० ७८ पृ० १०१

राजशेखर की ही भाँति कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ में वक्रोक्ति को काव्य का मूल माना है। और काव्य में 'वैदग्ध-भंगी-भणिति' अर्थात् कथन की वैचित्रता को ही उन्होंने स्वीकार किया है। कुन्तक की वक्रता अत्यन्त व्यापक है। इसी से उन्होंने वक्रोक्ति की व्याप्ति वर्ण विन्यास से लेकर प्रबन्ध रचना तक मानी है।[1]

भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में उक्ति को शब्दालंकार का ही एक विशिष्ट प्रकार मानते हुए उसके छः भेदों का कथन किया है।[2] ये भेद इस प्रकार हैं—

विध्युक्ति, निषेधोक्ति, अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति और परिसंख्योक्ति। यही नहीं भोज उक्ति की दृष्टि से समस्त साहित्य को तीन कोटियों में विभाजित करते हैं[3]—

(१) **स्वभावोक्ति**—इसमें किसी वस्तु का वर्णन तथ्य रूप में और स्वाभाविक ढंग से होता है।

(२) **वक्रोक्ति**—इसमें आलंकारिक चमत्कार द्वारा वक्र उक्ति का विधान होता है।

(३) **रसोक्ति**—इसमें चमत्कार की अपेक्षा रसानुभूतियों का प्रकाशन होता है। भोज की उक्ति विषयक इस विभाजन को दृष्टि में रखते हुए हम मध्यकाल के समस्त हिन्दी वाङ्मय को तीन कोटियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) **भक्ति वाङ्मय**—इसमें काव्य के अन्तरंग तत्व (भाव पक्ष) का निरूपण जिस वैविध्य के साथ हुआ है तथा स्वभावोक्ति और रसानुक्ति की जैसी चारुता का दर्शन यहाँ होता है, वह अन्यत्र लक्षित नहीं होता। सूर, तुलसी तथा अन्य सन्तों की वाणी हमारे कथन का ज्वलन्त प्रमाण है।

---

१. (क) वर्णविन्यास वक्रत्वं पदपूर्वार्धे वक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥—वक्रोक्ति जीवितम्
—एस० के० डे० प्रथमोन्मेष, श्लोक संख्या १९

(ख) वाक्यस्यवक्र भावोऽन्यो भिद्यते यः सहैस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यतिः ॥ श्लोक सं० २०

(ग) वक्र भावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्य सौकुमार्य मनोहरः ॥ श्लोक सं० २१

२. सरस्वती कण्ठाभरण—भोज, २-४२

३. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासुग्राहिणी—तासु रसोक्ति प्रतिजानते ॥—सरस्वती कण्ठाभरण, भोज, ५-८

(२) **रीति वाङमय**—इसमें काव्य के अन्तरंग पक्ष के विवेचन का प्रयास प्रायः गौण है। यहाँ कवियों की दृष्टि काव्यात्मक उत्कर्ष की ओर जितनी बढ़ी है, उतनी रसानुभूति के विनियोग की ओर नहीं। वास्तव में इस काल के कवि काव्य की पूर्णता वचन भंगिमा के सौन्दर्य निरूपण और उसके प्रौढ़ कला-विमंडित होने में ही मानते थे। रीति ही उनकी दृष्टि में सर्वोपरि थी। वक्रता का विधान, अलंकार का सारा सभार और शब्दों का चारु संघटन इस काव्य का मुख्य लक्ष्य था। देव, पद्माकर, बिहारी, दास और ग्वाल आदि की अनेक उक्तियां रीति-साधना और काव्य कला के उत्कर्ष का सजीव प्रमाण हैं।

(३) **रीतिमुक्त वाङमय**—मध्यकाल की यह विशिष्ट काव्य-धारा वक्रोक्ति और रसोक्ति के सामंजस्य का पूर्ण प्रतिपादन करती है। सत्य तो यह है कि इस काव्य का लक्ष्य और साधन दोनों ही काव्यात्मक सूक्ष्मता का निरूपण करना है। उसका लक्ष्य कोरी चमत्कारिकता या भावानुभूतियां कथमपि नहीं हैं। काव्य की पूर्णता वक्रोक्ति और रसोक्ति द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये इस धारा के कवियों ने अपनी अन्तश्चेतना द्वारा जिस वक्रोक्ति का विधान किया है, उसमें एक विशिष्ट सौन्दर्य-भगिमा और लोकोत्तर दीप्ति है जो पूर्वोक्त अन्य दोनों वाङमयों में नहीं मिलती। यही इस वाङमय की उक्तिगत मौलिकता है, जो परम्परा की लीक पीटने वाले—मीन, मृग, खंजन, चिन्तामणि और कल्पतरु आदि काव्य रूढ़ियों को ग्रहण करने वाले—कवियों की तुलना में निश्चय ही श्लाध्य है। अस्तु,

समस्त रीति कालीन शृंगारिक वाङमय की उक्तियों की मौलिकता का परीक्षण करने के लिए हम उन्हें तीन मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) अनुभूति एवं संवेदना मूलक उक्ति वैचित्र्य।

(२) लाक्षणिक वक्रता मूलक उक्ति वैचित्र्य।

(३) अतिशयता मूलक उक्ति वैचित्र्य।

अनुभूति एवं संवेदना मूलक उक्ति वैचित्र्य के विधान में रीति मुक्त कवियो ने अपनी असामान्य प्रतिभा प्रदर्शित की है और कहीं-कहीं उक्तियों के विधान में इन कवियों ने सान्द्र अनुभूतियों और सम्वेदनाओं के ऐसे मर्मस्पर्शी रंगों का उपयोग किया है, जिनके कारण इनके ऐसे चित्र सहज ही प्रभावकारी और सर्वथा मौलिक हो गये है। इस सम्बन्ध में घनानन्द का एक छन्द द्रष्टव्य है—

मग हेरत दीठि हेराय गई जब तें तुम आवनि औधि बदी।
बरसौ कितहूं घन आनन्द प्यारे, पै बाढ़ति है इत सोच नदी॥
हियरा अति औटि उदेग की आंचनि, च्वावत आंसुन मैन मदी।
कब आइहौ औसर जानि सुजान, बहीर लौं बैस तो जाति लदी॥[1]

---

१. घनानन्द कवित्त—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० १६३, पृ० ६२

छन्द का भाव यह है कि जब से तुमने आने की अवधि दे दी, तुम्हें देखते-देखते मेरी दृष्टि खो गई। तुम कहीं बरसो, किन्तु तुम्हारे बरसने का प्रभाव तो इधर ही पड़ता है अर्थात् तुम्हारे बरसने के कारण मेरी सोच की नदी बढ़ जाती है। तुम्हारे वियोग में दूसरी परेशानी यह है कि काम हृदय की व्याकुलता की आँच में औंट कर आँसुओं के रूप में मदिरा टपका रहा है। हे सुजान, अवसर जानकर अब कब आइएगा, क्योंकि उम्र तो सेना के समान की ही भाँति समाप्त होती जा रही।

अन्तिम पंक्ति में कवि ने उम्र के ढलने की जैसी मार्मिक व्यंजना 'बहीर' के द्वारा की है, उससे निश्चय ही उक्ति-वैचित्र्य विधान में अत्यधिक मार्मिकता आ गयी है। इसी प्रकार कविवर देव ने अपने एक छन्द में 'सुरति कलारी' के रूपक द्वारा प्रेमानुभूति और हृदय की मार्मिक संवेदना का जैसा रूप खड़ा किया है, उसमें उनकी सहृदयता की सच्ची झलक मिलती है और जो यह कहते हुए संकोच नहीं करते कि रीति काव्य चूंकि वैभव और विलास की छाया में पला है और उसी में उसका विकास हुआ है, इस कारण उसमें मात्र विलासिता की रंगीनी और ऐन्द्रिकता की उष्ण गन्ध है, उनकी भ्रान्तियों का ऐसे छन्दों से निश्चय रूपेण सम्यक् निराकरण हो सकता है। वास्तव में प्रेम व्यंजना से सम्बद्ध कलार और मदिरा आदि का प्रसंग कबीर आदि सन्तों में तो बार-बार आया है। पर देव ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा का उपयोग करते हुए इसके कलेवर को जैसा नूतन आवरण पहनाया है, उससे बहुत कुछ नवीनता और भाव भंगिमा की प्रभविष्णुता प्रायः बढ़ गयी है—अधोलिखित छन्द द्रष्टव्य है—

> धुरते मधुर मधु रसहू बिधुर करैं, मधुरस बेधि उर गुर रस फूली है।
> ध्रुव प्रहलाद उर हुव अहलाद, जासो प्रभुता त्रिलोकहूं की तिल समतूली है।
> बेदम से बेद मतवारे मतवारे परे, मोहै मुनि देव देव सूली उर सूली है।
> प्यालो भरि देरी मेरी सुरति कलारी, तेरी प्रेम मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है।[1]

कभी-कभी इन रीति कवियों ने संस्कृत की मधुर एवं हृदयग्राहिणी उक्तियों को ग्रहण करते समय अपनी प्रतिभा का विनियोग ऐसी कुशलता से किया है कि लगता है कि रीति कवियों का अभिनिवेश इस दिशा में अपेक्षाकृत अधिक है और अपनी उक्तिगत मौलिकता में वे निश्चय ही अप्रतिम हैं। इस तथ्य की स्पष्टता के लिये हम संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' और 'भाव विलास' के एक-एक पद्य उद्धृत कर रहे हैं—

> (क) मांसं कार्श्यादभिगतमयां बिन्दवो बाष्पपातात्।
> तेजः कान्तापहरणवशा द्रायवः श्वासदैर्घ्यात्।
> इत्थं नष्टं विरह वपुषस्तन्मयत्वाच्च शून्यं।

---

१. देव और बिहारी—पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० १६३, च० सं०

जीवत्येवं कुलिशकठिना रामचन्द्रः कियेतत् ॥[1]

(ख) सांसनि ही सो समीर गयो अरु, आंसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ॥
देव जियैं मिलिवेई की ग्रास, कै आसहू पास अकास रह्यो भरि ।
जा दिन ते मुख फेरि हरैं हंसि, हेरि हियो जू लियो हरि जु हरि ॥[2]

इसमें सन्देह नहीं कि देव ने इस छन्द की रचना हनुमन्नाटक के उक्त पद्य के ही आधार पर की है, किन्तु जिस सन्दर्भ में रखकर देव ने इस छन्द में संशोधन एवं परिवर्धन किया है, उसके कारण वह निश्चय ही सर्वथा मौलिक हो गया है। अब दोनों पद्यांशों के कतिपय वैशिष्ट्य पर विचार कर लेना, उचित प्रतीत होता है।

डा० नगेन्द्र ने भी देव के उक्त छन्द का मूल्यांकन हनुमन्नाटक के इसी पद्यांश के परिप्रेक्ष्य में किया है किन्तु न जाने किस आधार पर उन्होंने इसे जयदेव कृत 'प्रसन्न राघव' का छन्द माना है? पुनः दोनों की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है कि "यहाँ भी देव ने थोड़ी वक्रता की वृद्धि अवश्य की है, परन्तु प्रसंग और भाव-गम्भीरता जो जयदेव के पद्य में है, वह देव के छन्द में नहीं है।[3]" डा० नगेन्द्र के इस कथन से हम सहमत नहीं हैं कि देव की अपेक्षा जयदेव के पद्यांश में अधिक भाव गम्भीरता है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि देव ने संस्कृत के जिस पद्यांश के आधार पर अपने छन्द की रचना की है, उससे वह अधिक मार्मिक होने के साथ ही स्वाभाविक भी है। संस्कृत पद्यांश में विरही राम जानकी के वियोग में स्वयं कह रहे हैं कि दुर्बल होने के कारण मांस गल गया—इस प्रकार भूमि तत्व निकल गया, निरन्तर आंसुओं की झड़ी लगी रहने के कारण जल तत्व भी सूख गया, प्रियतमा के अपहरण हो जाने से 'तेज तत्व' चला गया और इस प्रकार चित्त के तन्मय होने के कारण शून्य (आकाश) तत्व भी नष्ट हो गया। इन पाँचों तत्वों के चले जाने पर भी वज्र के समान कठोर राम मैं जी रहा हूँ।

देव के छन्द में प्रथम एवं द्वितीय चरण तो प्रायः संस्कृत श्लोक के समान ही है, किन्तु तीसरे चरण में देव ने श्लोक के प्रसंग-विधान में किंचित् परिवर्तन कर दिया है, जिसके कारण उक्ति का स्वारस्य एवं उसकी सहज सम्वेदनीयता प्रायः बढ़ गयी है। देव ने तृतीय पंक्ति में कल्पना की है कि यद्यपि चारों तत्वों के क्रमशः निकल जाने पर विरहिणी का आकाश तत्व उसके चारों तरफ व्याप्त है, फिर भी वह मिलने की आशा से अभी जीवित है, मरी नहीं है। विरहिणी की यह दशा उस दिन से हुई,

---

१. हनुमन्नाटक—५–२७, पृ० ३३
२. भाव विलास—देव, सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ८१ प्र० सं०
३ देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र पृ० २५५

जिस दिन से कृष्ण ने उसकी ओर देखकर और किंचित् मुस्करा कर उसके हृदय को हर लिया है। अब हनुमन्नाटक के उक्त पद्य से मिलाने पर स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है कि राम का अपने मुख से अपने सम्बन्ध में इस प्रकार का कथन कि कठोर राम मैं जी रहा हूँ' कहाँ तक स्वाभाविक है ? देव ने इसे 'पूर्वानुराग' के उदाहरण में रखा है और विरहिणी नायिका की ऐसी मार्मिक दशा का उल्लेख दूती के द्वारा कराया है। पुन विरहिणी के वियोग की मार्मिकता विरही के वियोग की तुलना में प्रायः अधिक मान्य भी है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस छन्द की मार्मिकता का उद्घाटन करते हुए लिखा है—"इस वर्णन में देव जी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया गया है। यमक अनुप्रासादि भी है। सारांश यह है कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है, पूरा चमत्कार है या अनूठापन है।[1] पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह वेदना स्पष्ट झलक रही है, इसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई। किसी भी उक्ति की अर्थगत वक्रता एव लाक्षणिकता उसके उत्कर्ष संवर्धन में प्रायः परम सहायक होती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"अर्थ की वक्रिमता को प्रकट करने वाली सूक्तियाँ मनुष्य के चित्त में गुदगुदी जरूर उत्पन्न करती है, साहित्य मे उनकी आवश्यकता होती है। इन सूक्तियों के सहारे कोमलीकृत चित्त में कवि सहज ही भावों को प्रवेश करा देता है। वृहत्तर मानव जीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सूक्तियाँ सहायक हैं, परन्तु उससे विच्छिन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती हैं।[2]"

इस दृष्टि से विचार करने पर यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि रीति कवियों ने अपने काव्य में उक्तिगत वक्रता एवं लाक्षणिकता का जैसा विधान किया है, वह सब के लिये सहज नही है, देव, घनानन्द, द्विजदेव, पद्माकर आदि कवियों की सधी हुई वाणी अर्थ की जिस विशिष्ट भंगिमा से दीप्त है, उसके कारण लाक्षणिक वक्रता का स्वरूप स्वभावतया झलकने लगा है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यो मे वाणी की यह वक्रता, अर्थ की यह भंगिमा विरल है। कुछ छन्दों के द्वारा हम रीति कवियों की लाक्षणिक वक्रता का निरूपण करते हुए यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि किस प्रकार ऐसी लाक्षणिक वक्रताओं के कारण उक्ति-वैचित्र्य विधान में अधिक प्रभावोत्पादकता आ गयी है। पहले द्विजदेव का एक छन्द लें—

आज सुभाइन ही गई बाग बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताही समै तंह आये गुपाल तिन्हैं लखि औरौं गयौ हियरो ठगि।

---

१. चिन्तामणि—प्रथम भाग, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७२
२ साहित्य का मर्म—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ४४

पै द्विजदेव न जानि पर्‌यौ धौं कहाँ तिहि काल परे अंसुवा जगि।
तू जो कहै सखि लौनों सरूप सो मों अंखियान मैं लोनी गई लगि ।।[१]

अन्तिम दो पंक्तियाँ अधिक मार्मिक और हृदयग्राहिणी हो गयी हैं। चतुर्थ पक्ति का समस्त उत्कर्ष 'लौनी गई लगि' शब्दावली के कारण स्वतः व्यंजित है। 'लोना' अपने विशिष्ट अर्थ के कारण अपूर्व चमत्कार के साथ ही भावातिरेक की अवस्था को भी द्योतित करने में पूर्ण सक्षम है। संस्कृत में 'लावण्य' सौन्दर्य अर्थ का बोधक है। हिन्दी में 'लोना लवण' के अतिरिक्त दीवाल में लगने वाले लोने के अर्थ मे भी गृहीत होता है। प्रायः देखा जाता है कि जिस दीवाल में लोना लग जाता है वह धीरे-धीरे कट-कट कर गिरने लगती है और लवण तत्व की अधिकता के कारण उसकी ईटे शनैः शनैः गल जाती हैं। इसी प्रकार कृष्ण के लोने अर्थात् लावण्य (लवण युक्त) स्वरूप आँखों में छा गया है, इस कारण निरन्तर अश्रुपात होता रहता है। समस्त छन्द में उक्ति की रमणीयता केवल 'आँखों में लोनी लगना' के कारण आ सकी है, जो स्पष्टतया लक्षणा के चमत्कार पर आश्रित है। अभिधेयार्थ का महत्व यहाँ गौण है। अब घनानन्द का एक प्रसिद्ध छन्द द्रष्टव्य है—

निस द्यौस खरी उर माझ खरी, छवि रंग भरी मुरि चाहन की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोर रहे, ढरि गौ हिय ढोरनि बाहनि की।
चट दै कटि पै बढ़ि प्रान गये, गति सों मति मैं अवगाहनि की।
घन आनन्द जान लखी जबतें जक लागिये मोहि कराहनि की।[२]

इस छन्द की द्वितीय और तृतीय पंक्ति की लाक्षणिक वक्रता विचारणीय है। कवि के कथनानुसार जब प्रियतम देखकर मुड़े तो नेत्र भी उनके पीछे लग गये और हृदय इनमें इस प्रकार ढलकर मिल गया जैसे नाली से पानी ढलकर बह जाता है। और कमर को शीघ्रता देकर अर्थात् कमर शीघ्रता से मोड़कर मति में डूबने की मुद्रा से प्राण निकल गये। कितनी सूक्ष्म एवं गम्भीर भावाभिव्यक्ति है?

कविवर देव ने अपनी अतिशय रागात्मकता की अभिव्यक्ति के लिये कहीं-कहीं ऐसे लाक्षणिक प्रयोग किये हैं, जिनसे उनकी स्पृहणीय भावव्यंजना का अतिरिक्त कौशल प्रकट होता है। यथा,

लै मखतूल गुह्यौ गहनो रसमूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
सांवरे लाल के सांवरे रूप को नैननि मैं कजरा करि राख्यौ ।।[३]

---

१. श्रृंगार लतिका सौरभ—द्विजदेव, सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, छं० सं० ९२, पृ० २५१
२. घनानन्द कवित्त, सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० ६६ पृ० ४०
३ भवानी विलास—देव छ० स० २९ पृ० ४५

इसी तरह और भी उक्तियां रीति साहित्य में भरी पड़ी हैं, जिनमें विशिष्ट लाक्षणिक वक्रता अर्थ-सौन्दर्य के प्रच्छन्न मार्ग का सफलता पूर्वक उद्‌घाटन करती है। कुछ नमूने इस भाँति हैं—

क—दरसौ परसौ बरसौ सरसौ मन लहू गये पै बसौ मन ही।[१]

ख—बचन पियूष भीजे बुधि के विलास गंग, रस भीजी आँखिन फूलेल भीजी अलकैं।[२]

ग—धन आनंद प्यारे सुजान सुनौं यहाँ एकतें दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥[३]

अतिशयता एवं अतिरंजना द्वारा उक्ति वैचित्र्य का विधान फारसी और संस्कृत आदि काव्य परम्पराओं में बराबर हुआ है। हिन्दी रीति काव्य की भी एक मुख्य प्रवृत्ति अतिशयता मूलक उक्तियों के विधान में लक्षित होती है। यद्यपि अतिशयता के मूल में चमत्कार का ही आग्रह अधिक होता है। पर कहीं-कहीं ऐसे चमत्कारों में भी नवीन दृष्टियों का निखरा हुआ रूप सहृदय समाज में सम्मानपूर्वक ग्रहण किया जाता रहा है। यही नहीं, रीति कवियों ने संस्कृत के जिन अनुरंजक उक्तियों को अधिक हृदय-ग्राहिणी समझा, उन्हें सर्वथा अपना बना लेनें में तनिक संकोच नहीं किया। हम इस कथन की अधिक स्पष्टता के लिए 'भोज प्रबन्ध' और 'शिवराज भूषण' का एक-एक छन्द प्रस्तुत कर रहे हैं—

क—महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोयं मृगयते॥
कपर्दी कैलाशं करिवरमभौमं कुलिशभृत्
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥[४]

ख—इन्द्र निज हेरत फिरत गज इन्द्र अरु इन्द्र को अनुज हेरै दुगध नदीस को।
भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरैं विधि हेरैं हंस को चकोर रजनीस कों॥
साहितनै सरजा यों करनी करी है तैं वै होतु है अचंभो देव कोटियौ तैंतीस को
पावत न हेरैंतेरे जस में हिराने निज गिरि को गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीस को।[५]

भोज प्रबन्ध का आशय यह है कि हेमहाराज, हे श्रीमन्! आपके यश से जगत श्वेत हो गया है, इस कारण परम पुरुष (विष्णु) क्षीर सागर को ढूढ़ रहे हैं। शंकर कैलाश पर्वत को ढूढ़ रहे हैं और इन्द्र ऐरावत हाथी को। राहु चन्द्रमा को ढूढ रहा है तथा

१ घनानन्द कवित्त—सं० आ० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं०सं० १३५, पृ० ७५
२. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण, छं० सं० ८७, पृ० २८
३. घनानन्द कवित्त—सं० आ० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं०सं० ८२, पृ० ४८
४. भोज प्रबन्ध—बल्लौल पण्डित, टी० पं० श्याम सुन्दर लाल त्रिपाठी, छं० सं० ८२, पृ० ५७
५. भूषण—सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० २७८, पृ० १८१

ब्रह्मा जी अपने हंस को, क्योंकि श्वेत यश में उक्त श्वेत वस्तुओं के मिल जाने से आज उनको ढूढ़ पाना भी कठिन हो गया है।

भूषण के छन्द को देखने से स्पष्ट आभास मिलता है कि उन्होंने अपने छन्द की रचना निश्चयपूर्वक 'भोज प्रबन्ध' के उक्त पद्य के आधार पर की है। पर उन्होंने जिस कलात्मकता के साथ अपने छन्द को संवारा है और उसमें आवश्यक परिवर्तन किया है, इससे पूर्व छन्द की अपेक्षा इनके छन्द का महत्व बहुत बढ़ गया है। उन्होंने 'भोज प्रबन्ध' के उस छन्द से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए, 'सुरसरिता को हंस हेरैं' 'चकोर रजनीस को' 'गिरिजा गिरीस को 'अंश और प्रक्षिप्त कर दिया है। इससे काव्यात्मक सौंदर्य तो अपेक्षाकृत बढ़ ही गया है और 'भोज प्रबन्ध' में शिल्प की दृष्टि से जो शिथिलता रह गई है, उसका भी इसमें बहुत कुछ परिहार हो गया है। वास्तव में चन्द्रमा के प्रसंग में 'राहु' की कल्पना अधिक उत्तम नहीं प्रतीत होती। क्योंकि राहु चन्द्र का शत्रु कहा गया है और चकोर चन्द्रमा का प्रेमी या उपासक। पूरे छन्द में जहाँ ढूढ़ने वाले अपनी प्रियवस्तु को ढूढ़ रहे हों वहां शत्रु के रूप में राहु चन्द्रमा को ढूढ़े, अधिक स्वाभाविक एवं प्रसंगोचित कल्पना नहीं प्रतीत होती। भूषण ने कवि प्रौढ़ोक्ति के आधार पर जिन वस्तुओं की उद्भावना की है, वे काव्य परम्परा और प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। अतः उक्ति विधायक तत्वों की दृष्टि से भूषण का यह छन्द निश्चय ही उत्तम है।

भोज प्रबन्ध में एक स्थल पर हाथियों के दान की महिमा का वर्णन करते समय एक अतिशयता मूलक उक्ति की बड़ी सटीक कल्पना की गयी है। भोजप्रबन्ध की उक्ति यों हैं—

> निजानपि गजान भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
> गजेन्द्र वदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः ॥[1]

इसका अर्थ यह है कि अब पार्वती राजा भोज को हाथियों का दान करते हुए देखकर अपने पुत्र गजानन (हस्ति मुख वाले) गणेश की बार-बार रक्षा करती हैं। इधर रीति कवियों में पद्माकर ने इस अतिशयता मूलक उक्ति का ग्रहण किस चतुराई से किया है, यह द्रष्टव्य है—

> गंज–गज बकस महीप रघुनाथ राव,
> याही गज धोखे कहूँ काहु देइ डारै ना।
> याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
> गिरि तैं, गरे तैं, निज गोदतैं उतारै न।[2]

---

१. भोज प्रबन्ध—बल्लाल पं०–टी० पं० श्यामसुन्दर लाल त्रिपाठी, छं०सं० १६६, पृ० ११०

२ की काव्य साधना श्री अखौरी सिंह पृ० २३

भोज प्रबन्ध के छन्द से अपने छन्द की उक्ति को अधिक सुग्राह्य बनाने के लिए पद्माकर ने 'गोइ रही, गिरितैं, गरे तैं निज गोद तैं' जैसे अंश को और जोड़कर एक ओर जहाँ अपनी आनुप्रासिक कला को प्रकट किया है, वहीं दूसरी ओर उक्ति के चमत्कार को भी प्रदर्शित किया है। अतः निस्संदेह यह छन्द भोजप्रबन्ध के उक्त छन्द की तुलना में मौलिक है।

जिस प्रकार वीर रसात्मक उक्तियों की अतिशयता के लिए रीतिकाल में भूषण का नामोल्लेख होता है, उसी प्रकार शृंगारिक उक्तियों की अतिशयता के संदर्भ में गंग का नाम विशेषरूप से लिया जाता है। गंग ने अतिशयतामूलक उक्तियों के विधान में कहीं-कहीं ऐसा कौशल दिखाया है, जिसे देखकर फारसी के मुबालगा की दाद देने वाले और 'रगेगुल से बुलबुल के पर बाँधता हूं' जैसी उक्तियों पर रीझने वाले भी गंग की उक्तियों को देखकर श्लाघा कर सकते हैं। उनके अतिशयतामूलक उक्ति वैचित्र्य का एक नमूना द्रष्टव्य है—

> कान्ह चले कहि आयो कछू न, कंपी कदली दल ज्यों थहरानी।
> सोचत ही सब द्यौस गयो पुनि, रात पुकारत राधिका रानी।।
> आई न बास को ज्यों नित आवति, आंखिन में परि पैरि परानी।
> गंग सुतौ फिरि फेरि फिरी नहिं, बूड़न के डर नींद डरानी।।[1]

वियोग में विरहिणी नायिका को प्रायः नींद नहीं आती। इसी प्रसंग को लेकर गंग ने बड़ी ऊंची कल्पना की है। कवि के अनुसार नींद नित्य की भाँति अपने स्थान को नहीं लौटी। एक बार आँखों के जल (साश्रु नेत्रों) को तैर कर तो वह किसी प्रकार निकल भागी। पुनः डूबने के डर से वह नहीं आयी। गंग की भांति कासीराम कवि ने नायिका के मुख-सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक बड़ी ही मौलिक उक्ति प्रस्तुत की है। कवि के कथनानुसार नायिका के मुख सौन्दर्य की दीप्ति को जिस समय आकाश स्थित सूर्य देखेगा, वह तत्क्षण सारथी समेत मुरझा कर गिर पड़ेगा और उसका खाली रथ आसमान में भटकता फिरेगा—

> रूप तिहू लोक को अकेली तैं अनूप पायौ गायौ जस बिधना अठारहूं पुरान में।
> स्यांम के निहारे प्यारी धांमहूं मैं आवै मति कहै कवि कासीराम काहू ऐक आन में।
> तेरे मुख हेरे ते घनेरो उतपात ह्वै है मान कह्यौ मेरौ सोर परैगो जहान में।
> सारथी समेत भाँन मुरझि गिरेगोएरी भटक्यौ फिरैगौ रथ खाली आसमान में।।[2]

रीतिकाल में कुछ ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भावाभिव्यंजना के लिए ये रीति कवि पुरानी य

---

१. गंग कवित्त—सं० बटे कृष्ण, छं० सं० २००, पृ० ६१
२. सुधासर—नवीन कवि, छं० सं० ८८०, प्रथम तरङ्ग—डा० भवानीशंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से।

उच्छिष्ट उक्तियों पर ही नूतनता का रङ्ग फेरने में कुशल नहीं थे, अपितु इनमें से कुछ ने तो सर्वथा मौलिक एवं अछूती उक्तियों के विन्यास द्वारा अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। कविवर रघुनाथ की उक्तिगत मौलिकता से सम्बन्धित एक रचना लीजिए—

> भोरहि आये कहूं ते सखी रति की सिगरी लगी अंग निसानी।
> प्यारी के आँसू चले दुखते लखि बूझी यों प्यारे कहा उर आनी।
> लाजते ऊतर आयो न और कही तब यों रघुनाथ सयानी।
> कीन्हों खटोमन मोसों सो देखि चल्यौ अंखिआन की जीझ ते पानी ॥[1]

अतिरंजना के संयमन का जहाँ किंचित् भी ध्यान दिया गया है, वहाँ उक्तिगत वैशिष्ट्य निश्चय ही बढ़ गया है। ऊपर अतिरंजना का वह रूप जो गंग और कासी-राम के छन्दों में दृष्टिगत हुआ है, यहाँ बिल्कुल नहीं है। कवि ने 'खट्टामन करना' जैसे मुहावरे के बल पर उक्ति को परम रमणीय बनाने की चेष्टा की है। अभी तक इस प्रकार की उक्ति संस्कृत या फारसी किसी भी काव्य-परम्परा में देखने को नहीं मिली। छन्द का भाव यह है कि कोई मध्याधीरा धीरा नायिका प्रियतम के अन्यत्र रमण करके लौटने पर जब उसके अंग पर लगे रति चिन्हों को देखती है तो दुःख से उसकी आँखों से अश्रुपात होने लगता है। इस पर जब नायक इसका कारण पूछता है सो वह लज्जा के कारण और उत्तर तो नहीं दे पाती केवल यही कहती है कि चूंकि आपने मुझे देख-कर अपना मन खट्टा कर लिया (अप्रसन्न हो गये या मन फेर लिया, उदासीन हो गये) इस कारण हमारी आँख रूपी जिह्वा से पानी निकलने लगा। अब उक्ति वैलक्षण्य पर विचार कीजिए। प्रायः देखा जाता है कि जब हम किसी को कोई खट्टी वस्तु—अचार या खटाई आदि—खाते हुए देखते हैं तो खट्टे के प्रभाव से हमारी जिह्वा में भी पानी (लार) आ जाता है इसी तथ्य का विनोयोग उक्त छन्द में हुआ है। व्यवहारिक जीवन की इस अनुभूति को दृष्टि में न रखने वाले लोग इस उक्तिगत स्वारस्य का वास्तविक आनन्द प्रायः नहीं ले सकते। इसमें कवि की अतिशयता की प्रवृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म हो गयी है। इसी से समस्त उक्ति में रसग्राहिता पूर्णरूपेण आ गयी है।

घ—अप्रस्तुत विधान

गत पृष्ठों में नख-शिख सौन्दर्य निरूपण करते समय हमने यथाप्रसंग अप्रस्तुत विधान की भी चर्चा की थी, किन्तु वहाँ लक्ष्यतः अप्रस्तुत विधान का विवेचन अभीष्ट न होने के कारण इस पर पूर्ण विचार नहीं किया जा सका था। अतः यहाँ हम इस विषय पर स्वतन्त्ररूपेण विचार कर लेना उचित समझते हैं।

---

१ रघुनाथ छ० स० ८९ पृ० ६०

काव्य में अप्रस्तुत विधान कवि या कलाकार की उन कलात्मक अनुभूतियों का परिणाम है, जिनसे प्रेरित होकर वह काव्य में अभिव्यक्ति पक्ष को सौन्दर्य मंडित करने एवं उसे अधिक प्रभविष्णु बनाने की सतत् चेष्टा करता है। काव्य-परम्परा में प्रस्तुत के लिए 'अप्रस्तुत' का विधान 'उपमान' रूप में अभिहित होता है और इन उपमानों का ग्रहण प्रायः रूप, धर्म और प्रभाव साम्य पर होता है, यह अवश्य है कि जो कवि उपमानों के प्रयोग में जितनी सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि का विनियोग करता है, उसकी शिल्पगत प्रौढ़ता की ही दृष्टि से नहीं, कल्पना और अनुभूतियों की सान्द्रता की दृष्टि से भी श्रेष्ठ मानी जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हिन्दी रीति कवियों का अभिव्यक्ति पक्ष नितान्त रमणीय है, क्योंकि इन कलाकारों ने जिन उपमानों का चयन किया है, उनमें इनकी गहरी पैठ और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टियों के साथ प्रगाढ़ रागात्मकता का भी दर्शन होता है। सर्वत्र केवल पुराने और रूढ़ उपमानों का ही प्रयोग नहीं हुआ, बल्कि कहीं-कहीं नितान्त नूतन और परम्परा अभुक्त उपमानों का उपयोग हुआ है। पर जहाँ पुराने उपमानों का ग्रहण हुआ भी है, वहाँ संग्रथन कौशल के कारण एक अपूर्व माधुरी और सौन्दर्य का एक अनूठा रूप खड़ा हो गया है। जिस प्रकार संस्कृत में कालिदास ने 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' द्वारा पुराने एवं रूढ़ उपमानों की भर्त्सना थी उसी प्रकार रीतिमुक्त कवि ठाकुर ने मीन, मृग, खंजना नेत्र और यश तथा प्रताप की बार-बार निरर्थक आवृतियों की कटु आलोचना की थी। फिर भी, जो कुशल कवि थे, इसकी परवाह न करते हुए इनका उपयोग ऐसे प्रसंगों में कर डालते थे, जिससे रूढ़ि का गलित अंश प्रायः प्रच्छन्न हो जाता था और कवि प्रतिभा का नवोन्मेष प्रत्यक्षतः प्रकट हो जाता था। प्रथमतः हम इस तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए कुछ सादृश्यमूलक रूढ़ अप्रस्तुत विधान की चर्चा करेंगे।

सादृश्यमूलक

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत विधान में कवि की सौन्दर्यानुभूति का बहुत कुछ योग होता है। कवि अपनी रूप-चेतना को मूर्तिमान करने के लिए नाना प्रकार के सादृश्य-मूलक बिम्ब या उपमानों का कुशल प्रयोग करता है। कभी-कभी संयोजन की ऐसी चातुरी भी वह प्रकट करता है जिससे परम्परा के बदनाम एवं उपेक्षित उपमान पूर्णतया सजीव हो जाते हैं। देव का एक उदाहरण लीजिए—

सीय के भाग के अक्षत अंकुर पुण्यनि के फल फूल कढ़ाये।
भूपन की मुख ओप मृगम्मद चन्दन मन्द हँसीन बढ़ाये॥
देव विधीश के जान के ईश मुनीसन आशिष मंत्र पढ़ाये।
श्री रघुनाथ के हाथन पै मृग नैननि नैन सरोज चढ़ाये॥[1]

---

१. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ५०, पृ० १७

प्रस्तुत छन्द में राम के विजयी हाथों की बड़ी ही सूक्ष्म और रमणीय अर्चना की गयी है। अर्चना के कुछ उपकारण अत्यन्त अमूर्त हो गये हैं। भाव यह है कि सीता के सौभाग्य के अक्षत (चावल), पुण्यों के फल-फूल, अभिमानी राजाओं की श्याम प्रभा (धनुष न तोड़ने के कारण मुख की मलीन द्युति) की कस्तूरी मन्द हास्य के चन्दन तथा मृगनेत्रियों के नेत्र कमल से राम के विजयी हाथों की पूजा की गयी है और ब्रह्मा और शंकर के भी ईश होने के कारण मुनियों द्वारा आशीर्वाद के मंत्र पढ़े गये हैं (पूजा के समय मंत्रोच्चारण भी विहित है) इसमें कुछ उपमानों का प्रयोग तो परम्परा के आग्रह का परिणाम है, जैसे मन्द हंसी में चन्दन का आरोप और श्यामप्रभा में कस्तूरी का, परन्तु कुछ में परम्परा का उतना मोह नहीं है जितना नवीन ढंग से उन्हें प्रस्तुत करने का, यद्यपि नेत्रों के लिए सरोज उपमान बहुत प्राचीन है और इसे रीति काव्य के अच्छे से अच्छे कवियों ने ग्रहण किया है, पर अर्चना रूपक के सन्दर्भ में मृगनेत्रियो द्वारा दृष्टिपात करने के स्थान पर नेत्र सरोज को चढ़ाये जाने की कल्पना अधिक प्रभावोत्पादक और कवि की मौलिक सूझ का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

कवि परम्परा में चपल नेत्रों के लिए एक अन्य उपमान मीन भी कहा गया है, पर बिहारी ने इसकी सर्वथा नवीन कल्पना की है। यथा,

> चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट मीन।
> मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन।।[1]

झीने वस्त्रों में चमचमाते हुए चंचल नेत्र गंगा में उछलते हुए मीन जैसे लगते हैं। वस्तुत: कवि-कौशल के कारण इस चित्र में नवीनता और प्रभविष्णुता दोनों ही गुण व्याप्त हैं।

सादृश्य के आधार पर बिम्ब की योजना करने के लिए रीति युग के कलाकारों ने तत्कालीन जीवन और वैभव विलास से सम्बद्ध ऐसे बिम्बात्मक उपमानों की उद्‌भावना की है, जो परम्परा से सर्वथा भिन्न और नवीन है। 'जल चादर' इसी प्रकार का उपमान है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

> सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
> जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-ज्योति।।[2]

सहज श्वेत पंचतोरिया वस्त्र के भीतर आलोकित तन ज्योति इस प्रकार प्रतीत हो रही है, जैसे जल चादर (फव्वारे से छूटती हुई पानी की चादर) के मध्य दीपक जगमगा रहा हो। कविवर मतिराम ने भी जलचादर का उल्लेख अपनी 'सतसई' में किया है। इसमें इनकी कल्पना बिहारी से भी सूक्ष्म और सौन्दर्य चित्र-

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदास 'दीन', दो० सं० ८२
२. ,, ,, ,, १२१

[प्र]धायिनी प्रमाणित हुई है। छन्द का भाव यह है कि नायिका की बरौनियों में उलझे [हु]ए अश्रु-कण जल-चादर की भाँति लगते हैं और उसपर पड़ने वाली कपोलों की आभा [ज]ल-चादर के दीप की भाँति लक्षित होती है—

अंसुवा बरुनी ह्वै चलत, चल चादर के रूप।
कमल कपोलनि की झलक, झलकति दीप अनूप ॥[१]

इसी प्रकार नायिका के अंगों के सौकुमार्य एवं मार्दव के बिम्ब-विधान के हेतु कविवर देव ने जिस प्रकार के अप्रस्तुत की कल्पना की है, वह नितान्त मौलिक है। और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कवि के व्यावहारिक जीवन की अनुभूति कितनी प्रखर थी। प्रायः देखा जाता है कि पीले पान को ज्यों-ज्यों शीतल पानी में पलटा जाता है, वे त्यों-त्यों सड़ने लगते हैं और वे ही पान यदि गरम पानी में पलटे जायं तो ठीक रहते हैं। ठीक यही दशा उस कोमलांगी नायिका की है, जिसके लिए जैसे-जैसे शीतल उपचार की व्यवस्था की जाती है, वह कृश होती जाती है—

वैसे ही सुभग सुकुमार अंग सुन्दरी के, लालन तिहारे या सनेह खरे लटियत।
देव तेब गोरी के बिलात गात बात लगे, ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत ॥[२]

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य की परम्परा में इस प्रकार का उपमान अभी तक नहीं मिला। यह देव का अपना उपमान है।

सादृश्यमूलक उपमानों के प्रयोग में रीति कवियों ने कल्पना-प्रसूत रम्य से रम्य चित्रों की सृष्टि की है। यद्यपि ऐसे चित्रों में बहुत से ऐसे चित्र भी मिलेंगे, जिनमें सहज रागात्मकता का बहुत कुछ अभाव है। पर जिन चित्रों में संवेदनीयता का रंग छूट नहीं सका है, वे निश्चय ही अत्यन्त मौलिक हैं। देव की रचनाएँ समस्त शृंगारिक काव्य के अन्तर्गत रूप साम्य की दृष्टि से ही महत्व नहीं रखती, अपितु उनमें संवेदनीयता का इतना जबर्दस्त उपयोग हुआ है, जिसके कारण रीति काव्य की परम्परा में उनकी रचनाएँ नितान्त मौलिक प्रमाणित हुई हैं। इस सम्बन्ध में एक चित्र द्रष्टव्य है—

'हेम की बेलि भई हिम राशि घरीक में घाम सौं जाति घुरी है।[३]

नायिका का स्वर्ण कलेवर विरह के कारण हिमराशि हो गया है—शरीर की कान्ति के नष्ट हो जाने पर वह बर्फ की भाँति श्वेत हो गया है और जल्दी-जल्दी धूप में (वियोग की उष्णता में) इस प्रकार गला जा रहा है—क्षीण होता जा रहा है, जैसे धूप में बर्फ शीघ्रता से गल जाती है। वियोग में शरीर के त्वरित गति से बदलने वाले

१. मतिराम ग्रन्थावली (मतिराम सतसई) सं०पं० कृष्णबिहारी मिश्र दो०सं०११६
२. देवसुधा—सं० मिश्रबन्धु, छं० सं० ६६, पृ० ७२
३. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ५६६, पृ० २०२

प्रस्तुत छन्द में राम के विजयी हाथों की बड़ी ही सूक्ष्म और रमणीय अर्चना की गयी है। अर्चना के कुछ उपकरण अत्यन्त अमूर्त हो गये हैं। भाव यह है कि सीता के सौभाग्य के अक्षत (चावल), पुण्यों के फल-फूल, अभिमानी राजाओं की श्याम प्रभा (धनुष न तोड़ने के कारण मुख की मलीन द्युति) की कस्तूरी मन्द हास्य के चन्दन तथा मृगनेत्रियों के नेत्र कमल से राम के विजयी हाथों की पूजा की गयी है और ब्रह्मा और शंकर के भी ईश होने के कारण मुनियों द्वारा आशीर्वाद के मंत्र पढ़े गये हैं (पूजा के समय मंत्रोच्चारण भी विहित है) इसमें कुछ उपमानों का प्रयोग तो परम्परा के आग्रह का परिणाम है, जैसे मन्द हंसी में चन्दन का आरोप और श्यामप्रभा में कस्तूरी का, परन्तु कुछ में परम्परा का उतना मोह नहीं है जितना नवीन ढंग से उन्हें प्रस्तुत करने का, यद्यपि नेत्रों के लिए सरोज उपमान बहुत प्राचीन है और इसे रीति काव्य के अच्छे से अच्छे कवियों ने ग्रहण किया है, पर अर्चना रूपक के सन्दर्भ में मृगनेत्रियों द्वारा दृष्टिपात करने के स्थान पर नेत्र सरोज को चढ़ाये जाने की कल्पना अधिक प्रभावोत्पादक और कवि की मौलिक सूझ का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

कवि परम्परा में चपल नेत्रों के लिए एक अन्य उपमान मीन भी कहा गया है, पर बिहारी ने इसकी सर्वथा नवीन कल्पना की है। यथा,

> चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट मीन।
> मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन ॥[1]

झीने वस्त्रों में चमचमाते हुए चंचल नेत्र गंगा में उछलते हुए मीन जैसे लगते हैं। वस्तुतः कवि-कौशल के कारण इस चित्र में नवीनता और प्रभविष्णुता दोनों ही गुण व्याप्त हैं।

सादृश्य के आधार पर बिम्ब की योजना करने के लिए रीति युग के कलाकारों ने तत्कालीन जीवन और वैभव विलास से सम्बद्ध ऐसे बिम्बात्मक उपमानों की उद्भावना की है, जो परम्परा से सर्वथा भिन्न और नवीन है। 'जल चादर' इसी प्रकार का उपमान है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

> सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
> जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-ज्योति ॥[2]

सहज श्वेत पंचतोरिया वस्त्र के भीतर आलोकित तन ज्योति इस प्रकार प्रतीत हो रही है, जैसे जल चादर (फव्वारे से छूटती हुई पानी की चादर) के मध्य दीपक जगमगा रहा हो। कविवर मतिराम ने भी जलचादर का उल्लेख अपनी 'सतसई' में किया है। इसमें इनकी कल्पना बिहारी से भी सूक्ष्म और सौन्दर्य चित्र-

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदास 'दीन', दो० सं० ८२
२. ,, ,, ,, १२१

विधायिनी प्रमाणित हुई है। छन्द का भाव यह है कि नायिका की बरौनियों में उलझे हुए अश्रु-कण जल-चादर की भांति लगते हैं और उसपर पड़ने वाली कपोलों की आभा जल-चादर के दीप की भांति लक्षित होती है—

अंसुवा बरुनी ह्वै चलत, चल चादर के रूप।
कमल कपोलनि की झलक, झलकति दीप अनूप ॥[1]

इसी प्रकार नायिका के अंगों के सौकुमार्य एवं मार्दव के बिम्ब-विधान के हेतु कविवर देव ने जिस प्रकार के अप्रस्तुत की कल्पना की है, वह नितान्त मौलिक है। और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कवि के व्यावहारिक जीवन की अनुभूति कितनी प्रखर थी। प्रायः देखा जाता है कि पीले पान को ज्यों-ज्यों शीतल पानी में पलटा जाता है, वे त्यों-त्यों सड़ने लगते हैं और वे ही पान यदि गरम पानी में पलटे जायं तो ठीक रहते हैं। ठीक यही दशा उस कोमलांगी नायिका की है, जिसके लिए जैसे-जैसे शीतल उपचार की व्यवस्था की जाती है, वह कृश होती जाती है—

वैसे ही सुभग सुकुमार अंग सुन्दरी के, लालन तिहारे या सनेह खरे लदियत।
देव तेब गोरी के बिलात गात बात लगे, ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत ॥[2]

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य की परम्परा में इस प्रकार का उपमान अभी तक नहीं मिला। यह देव का अपना उपमान है।

सादृश्यमूलक उपमानों के प्रयोग में रीति कवियों ने कल्पना-प्रसूत रम्य से रम्य चित्रों की सृष्टि की है। यद्यपि ऐसे चित्रों में बहुत से ऐसे चित्र भी मिलेंगे, जिनमें सहज रागात्मकता का बहुत कुछ अभाव है। पर जिन चित्रों में संवेदनीयता का रंग छूट नहीं सका है, वे निश्चय ही अत्यन्त मौलिक हैं। देव की रचनाएँ समस्त शृंगारिक काव्य के अन्तर्गत रूप साम्य की दृष्टि से ही महत्व नहीं रखती, अपितु उनमें संवेदनीयता का इतना जबर्दस्त उपयोग हुआ है, जिसके कारण रीति काव्य की परम्परा में उनकी रचनाएँ नितान्त मौलिक प्रमाणित हुई हैं। इस सम्बन्ध में एक चित्र द्रष्टव्य है—

'हेम की बेलि भई हिम राशि घरीक में घाम सौं जाति घुरी है।[3]

नायिका का स्वर्ण कलेवर विरह के कारण हिमराशि हो गया है—शरीर की कान्ति के नष्ट हो जाने पर वह बर्फ की भाँति श्वेत हो गया है और जल्दी-जल्दी धूप में (वियोग की उष्णता में) इस प्रकार गला जा रहा है—क्षीण होता जा रहा है, जैसे धूप में बर्फ शीघ्रता से गल जाती है। वियोग में शरीर के त्वरित गति से बदलने वाले

---

१. मतिराम ग्रन्थावली (मतिराम सतसई) सं०पं० कृष्णबिहारी मिश्र दो०सं० ११६
२. देवसुधा—सं० मिश्रबन्धु, छं० सं० ६६, पृ० ७२
३. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ५६६, पृ० २०२

प्रस्तुत छन्द में राम के विजयी हाथों की बड़ी ही सूक्ष्म और रमणीय अर्चना की गयी है। अर्चना के कुछ उपकरण अत्यन्त अमूर्त हो गये हैं। भाव यह है कि सीता के सौभाग्य के अक्षत (चावल), पुण्यों के फल-फूल, अभिमानी राजाओं की श्याम प्रभा (धनुष न तोड़ने के कारण मुख की मलीन द्युति) की कस्तूरी मन्द हास्य के चन्दन तथा मृगनेत्रियों के नेत्र कमल से राम के विजयी हाथों की पूजा की गयी है और ब्रह्मा और शंकर के भी ईश होने के कारण मुनियों द्वारा आशीर्वाद के मंत्र पढ़े गये हैं (पूजा के समय मंत्रोच्चारण भी विहित है) इसमें कुछ उपमानों का प्रयोग तो परम्परा के आग्रह का परिणाम है, जैसे मन्द हंसी में चन्दन का आरोप और श्यामप्रभा में कस्तूरी का, परन्तु कुछ में परम्परा का उतना मोह नहीं है जितना नवीन ढंग से उन्हें प्रस्तुत करने का, यद्यपि नेत्रों के लिए सरोज उपमान बहुत प्राचीन है और इसे रीति काव्य के अच्छे से अच्छे कवियों ने ग्रहण किया है, पर अर्चना रूपक के सन्दर्भ में मृगनेत्रियो द्वारा दृष्टिपात करने के स्थान पर नेत्र सरोज को चढ़ाये जाने की कल्पना अधिक प्रभावोत्पादक और कवि की मौलिक सूझ का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

कवि परम्परा में चपल नेत्रों के लिए एक अन्य उपमान मीन भी कहा गया है, पर बिहारी ने इसकी सर्वथा नवीन कल्पना की है। यथा,

> चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट मीन।
> मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन ॥[1]

झीने वस्त्रों में चमचमाते हुए चंचल नेत्र गंगा में उछलते हुए मीन जैसे लगते हैं। वस्तुतः कवि-कौशल के कारण इस चित्र में नवीनता और प्रभविष्णुता दोनो ही गुण व्याप्त हैं।

सादृश्य के आधार पर बिम्ब की योजना करने के लिए रीति युग के कलाकारों ने तत्कालीन जीवन और वैभव विलास से सम्बद्ध ऐसे बिम्बात्मक उपमानों की उद्भावना की है, जो परम्परा से सर्वथा भिन्न और नवीन है। 'जल चादर' इसी प्रकार का उपमान है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

> सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
> जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-ज्योति ॥[2]

सहज श्वेत पंचतोरिया वस्त्र के भीतर आलोकित तन ज्योति इस प्रकार प्रतीत हो रही है, जैसे जल चादर (फव्वारे से छूटती हुई पानी की चादर) के मध्य दीपक जगमगा रहा हो। कविवर मतिराम ने भी जलचादर का उल्लेख अपनी 'सतसई' में किया है। इसमें इनकी कल्पना बिहारी से भी सूक्ष्म और सौन्दर्य चित्र-

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदास 'दीन', दो० सं० ८२
२. ,, ,, ,, १२१

विधायिनी प्रमाणित हुई है। छन्द का भाव यह है कि नायिका की बरौनियों में उलझे हुए अश्रु-कण जल-चादर की भांति लगते हैं और उसपर पड़ने वाली कपोलों की आभा जल-चादर के दीप की भांति लक्षित होती है—

अंसुवा बरुनी ह्वै चलत, चल चादर के रूप।
कमल कपोलनि की झलक, झलकति दीप अनूप ॥[1]

इसी प्रकार नायिका के अंगों के सौकुमार्य एवं मार्दव के बिम्ब-विधान के हेतु कविवर देव ने जिस प्रकार के अप्रस्तुत की कल्पना की है, वह नितान्त मौलिक है। और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कवि के व्यावहारिक जीवन की अनुभूति कितनी प्रखर थी। प्राय: देखा जाता है कि पीले पान को ज्यों-ज्यों शीतल पानी में पलटा जाता है वे त्यों-त्यों सड़ने लगते हैं और वे ही पान यदि गरम पानी में पलटे जायं तो ठीक रहते हैं। ठीक यही दशा उस कोमलांगी नायिका की है, जिसके लिए जैसे-जैसे शीतल उपचार की व्यवस्था की जाती है, वह कृश होती जाती है—

वैसे ही सुभग सुकुमार अंग सुन्दरी के, लालन तिहारे या सनेह खरे लटियत।
देव तेव गोरी के विलात गात बात लगे, ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत ॥[2]

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य की परम्परा में इस प्रकार का उपमान अभी तक नहीं मिला। यह देव का अपना उपमान है।

सादृश्यमूलक उपमानों के प्रयोग में रीति कवियों ने कल्पना-प्रसूत रम्य से रम्य चित्रों की सृष्टि की है। यद्यपि ऐसे चित्रों में बहुत से ऐसे चित्र भी मिलेंगे, जिनमें सहज रागात्मकता का बहुत कुछ अभाव है। पर जिन चित्रों में संवेदनीयता का रंग छूट नहीं सका है, वे निश्चय ही अत्यन्त मौलिक हैं। देव की रचनाएँ समस्त शृंगारिक काव्य के अन्तर्गत रूप साम्य की दृष्टि से ही महत्व नहीं रखती, अपितु उनमें संवेदनीयता का इतना जबर्दस्त उपयोग हुआ है, जिसके कारण रीति काव्य की परम्परा में उनकी रचनाएँ नितान्त मौलिक प्रमाणित हुई हैं। इस सम्बन्ध में एक चित्र द्रष्टव्य है—

'हेम की बेलि भई हिम राशि धरीक में घाम सौं जाति घुरी है।[3]

नायिका का स्वर्ण कलेवर विरह के कारण हिमराशि हो गया है—शरीर की कान्त के नष्ट हो जाने पर वह बर्फ की भाँति श्वेत हो गया है और जल्दी-जल्दी धूप में (वियोग की उष्णता में) इस प्रकार गला जा रहा है—क्षीण होता जा रहा है, जैसे धूप में बर्फ शीघ्रता से गल जाती है। वियोग में शरीर के त्वरित गति से बदलने वाले

---

१. मतिराम ग्रन्थावली (मतिराम सतसई) सं०पं० कृष्णबिहारी मिश्र दो०सं०११६
२. देवसुधा—सं० मिश्रबन्धु, छं० सं० ६६, पृ० ७२
३. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ५६६, पृ० २०२

वर्ण और कृशता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिए कवि ने सादृश्य का जैसा रूप खड़ा किया है, उसके कारण चित्र में पर्याप्त मौलिकता आ गयी है और कवि की सहज संवेदनीयता का रूप छन्द में पूर्ण व्यक्त हो गया है।

—साधर्म्यमूलक

सादृश्यमूलक उपमानों की अपेक्षा साधर्म्यमूलक उपमानों का प्रयोग कवि की अन्तश्चेतना की गहराई और उसकी उत्कट कलात्मकता के स्वरूप का पूर्ण द्योतन करता है। रीति कवियों में जिनकी दृष्टि सादृश्यमूलक उपमानों के विधान के अतिरिक्त साधर्म्यमूलक उपमानों के ग्रहण करने में जितनी अधिक सजग थी, वे परम्परा के पोषक कलाकारों से अधिक मौलिकता के अधिकारी थे और उनकी काव्य कृतियां आज भी अपने पृथक् स्वरूप की स्पष्ट घोषणा कर रही हैं।

सादृश्य-विधान में कवि या कलाकार की दृष्टि प्रायः वस्तु या रूप को संप्रेषणीय बनाने की ओर होती है, किन्तु साधर्म्य विधान में अनुभूति या गुण को अधिकाधिक सहृदय संवेद्य बनाना होता हैं। साधर्म्यमूलक अप्रस्तुत विधान के लिए रीतिमुक्त काव्य-धारा के प्रमुख कवि घनानन्द का नाम उल्लेखनीय है, कारण यह है कि उनका समस्त काव्य स्वात्म्य वैशिष्ट्य (सब्जेक्टिविटी) निरूपण की दृष्टि से रचा गया है। अतः स्वाभाविक है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म भावानुभूति के अभिव्यंजन के लिए उन्होंने जिन उपमानों की उद्भावना की है, वे सादृश्य-विधान की अपेक्षा साधर्म्य विधान में अधिक सूक्ष्म हैं। वास्तव में घनानन्द जी अपने इन गुणों के कारण परम्परा के अन्य कवियों की तुलना में अधिक मौलिक हैं। इस सम्बन्ध में हम घनानन्द का एक छन्द उद्धृत कर रहे हैं, जिससे विदित हो जाय कि साधर्म्य मूलक उपमानों के ग्रहण में उनका कितना अभिनिवेश था—

> नेह सों मोय संजोय धरी हिय-दीप-दसा जु भरी अति आरति।
> रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन सौंहनि आवनि ओर निहारति॥
> रावरी आरति बावरी लौं घन आनंद भूलि वियोग निवारति।
> भावना-थार हुलास के हाथनि यों हित भूरति हेरि उतारति॥[1]

प्रस्तुत छन्द में हृदय में दीपक, आर्त में वर्तिका, भावना में थाल, उल्लास में हाथ और प्रेम में मूर्ति का आरोप सादृश्यविधान के कारण न होकर साधर्म्य विधान के कारण हुआ है। कवि अपनी अनुभूति को जितना सुग्राह्य बनाने की चेष्टा करता

---

१ घन आनन्द और आनंदघन—सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छं० सं० ७४, पृ० १७०२

है, उतना सादृश्य विधान द्वारा रूप चेतना को संवेदनीय बनाने का नहीं। पूरे छन्द में घनानन्द जी ने शुद्ध सारोपा लक्षणा का सफल प्रयोग किया है।

रीति युग के कतिपय कुशल कवियों ने साधर्म्य-विधान के अन्तर्गत ऐन्द्रिय संवेदना के निरूपण में अपनी अपूर्व काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। इन ऐन्द्रिय संवेदनाओं के कारण कहीं-कहीं ऐसे बिम्बात्मक अप्रस्तुतों की योजना गयी है, जिससे पूरा छन्द एक नवीन भंगिमा के सौन्दर्य से दीप्त हो उठा है। यथा, रीतिकाल में पद्माकर की प्रतिभा जहां चाक्षुष बिम्बों (विजुअल इमेजिरीज़) के प्रयोग में अद्वितीय एवं बेजोड़ प्रमाणित हुई है, वहां कविवर देव की प्रतिभा चाक्षुष बिम्बों, जिनमें दृश्यात्मक विधान की प्रधानता होती है—के निर्माण में उतनी नहीं टिकी है। हां, रसना-बिम्बों के विधान में देवकी सूक्ष्म कलात्मकता स्वतः व्यक्त है। इस सम्बन्ध में देव का छन्द इस प्रकार है—

उभगत आवत सुधा जल जलधि पल घरी उघरत मुख अमिय मयूख सों।
देव दुहूं बैस मिलि रूप अधिकायो मधु मेलि दधि दूधहि मिलायो रस ऊख सों।
छाई छबि छहरि लुनाई की लहरि लहरान्यों रसभूल ह्वै रसाल सुर रूख सों।
पीवत ही जात दिन रात तिन तोरि तोरि खिन-खिन सखिन की आंखिन पियूष सों॥[1]

प्रस्तुत छन्द में वयः संधि का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। कवि का कथन है कि नववधू के मुख से एक पल के लिए घूंघट के अनावृत होते ही (खुलते ही) उसके मुख-चन्द्र की किरणों से जल का समुद्र उमड़ने लगता है। और इसी समय दोनों अवस्थाओं-बाल्यावस्था और युवावस्था ने मिलकर उसके सौन्दर्य को पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ा दिया। उन दोनों अवस्थाओं की संधि के समय की आनन्दानुभूतियों की कल्पना करते हुए आगे कवि कहता है कि उनका चित्र स्वादेन्द्रिय की दृष्टि से यों लगता था मानो दधि में शहद मिला दिया गया हो और दूध में ऊख का रस। यहाँ कवि ने तारुण्य की सूक्ष्म व्यंजना मधु और ऊखरस से की है और युवावस्था के अनाविल-वासना रहित स्वरूप की व्यंजना दधि और दूध से की है। इस दृष्टि से यहां स्पष्ट ही जिह्वेन्द्रिय बिम्ब की बड़ी ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें रूप-साम्य की स्थिति सर्वथा गौण है। परम्परा में वयःसन्धि का निरूपण बहुत हुआ है, पर इस प्रकार की मौलिक चित्रोद्भावना कम ही हुई है। अतः देव का यह छन्द निश्चय ही अत्यन्त नवीन और मौलिक है। जिस प्रकार कविवर देव की काव्य-प्रतिभा रसनेन्द्रिय बिम्बों के निर्माण में कुशल प्रमाणित हुई है, उसी प्रकार शृंगार के मधुर एवं मादक परिवेश में उन्होंने स्पर्श बिम्बों की भी कोमल एवं सूक्ष्म अवतारणा की है। एक छन्द इस प्रकार है—

---

१. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ३६३, पृ० १२६

पारे परजंक पर परत न पी के कर थरहरे छुवत बिछौना पै छरति है।
नीकने चलेई जात अंग लगे अंगिरात गाढ़ै गहे ठहराति गूढ़ ह्वै ढरति है॥
बिमल विलास ललचावति लला को चितै रौंवत इतै को और उतही सरति है।
पारद के मोती कैधौं प्यारी के सिथिल गात ज्योंही ज्यौं बटोरियत त्यौं-त्यौं बिथरति है।[1]

इसमें देव ने मुग्धा नववधू की सुरति का बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित किया है। नायक ज्यों-ज्यों उसे पकड़ने की चेष्टा करता है वह नववधू होने के कारण नायक की बाहु पाशों से निकल भागती है। उसकी इस स्थिति का निरूपण करते हुए देव ने कल्पना की है कि यह मुग्धा का शिथिल शरीर है या पारे का मोती है, जिसे ज्यो-ज्यो इकट्ठा करने की चेष्टा की जाती है, वह त्यों-त्यों बिखर जाता है। स्पर्श की ऐसी बिम्बात्मक कल्पना अन्य मध्ययुगीन शृंगारिक कवियों के लिये विरल थी।

वस्तुतः शारीरिक शैथिल्य के लिए मध्य युग के कलाकारों ने जिस प्रकार पारे की तरलता का उल्लेख किया है, उसी प्रकार नायिका के मान के नष्ट होने की स्थिति का संकेत रांगे की द्रवणशीलता से किया है। गंग कवि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

मान को स्वांग न नेक रह्यो, सब आंग गयो ढरि रांग की नाईं।[2]

यद्यपि शृंगार में मरणावस्था का वर्णन करना वर्जित है, पर कुशल कवियों ने अपने विशिष्ट गुणों के कारण मरण का भी अत्यन्त काव्योचित वर्णन किया है। यही नहीं, साधर्म्यमूलक उपमानों के कारण कहीं-कहीं रस की विपरीत अवस्था में भी उत्कर्ष आ ही जाता है। इसके लिये विहारी का एक दोहा लीजिए—

गनती गनिबे तें रहे छतहू अछत समान।
अब अलि ये तिथि औम लौं परै रहौं तन प्रान।[3]

पत्रा के अनुसार अवम तिथि की गणना नहीं होती, यद्यपि वह पत्रा में लिखी अवश्य जाती है। इसी प्रकार नायिका का प्राण शरीर में होते हुए भी अवम तिथि की भाति नही के समान है (उसकी गणना नहीं की जाती)। बिहारी ने यहाँ बहुत कुशलता पूर्वक अवम तिथि जैसे नवीन उपमान का उपयोग करके परम्परा अभुक्त दृष्टि का परिचय दिया है।

यों काव्य परम्परा में मन की मलीनता के लिए तो कई उपमान प्रस्तुत किये गये हैं। पर देव ने परम्परा विहित उपमानों को छोड़कर सर्वथा एक नवीन उपमान की कल्पना की है, अधोलिखित छन्द द्रष्टव्य है—

---

१. अष्टयाम—देव, छं० सं० ५, पृ० ३६
२. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण, छं० सं० २६६, पृ० ८०
३ विहारी बोधिनी टी० लाला भगवानदीन दो० सं० ५३१

साझ भोर को सा नभ सखिय मलीन मन
साझ भोर चकवा चकोर की सी हित हानि ।[१]

प्रायः सन्ध्या समय और प्रातःकाल का आकाश मलीन होता है। देव ने इसकी उपमा ग्रहण करके मन की मलीनता की बड़ी सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है।

कुछ प्रसंगों में व्यावहारिक जीवन के भी उपमानों को ग्रहण किया गया है और ऐसे सामान्य उपमान जहाँ जीवन के अनुभूति सत्य के अधिक निकट रहने के कारण पूर्ण परिचित होते हैं, वहीं गूढ़ भाव-व्यंजना के प्रकाशन में उनकी महत्ता और चारुता प्रायः सुग्राह्य होती है।

बिहारी ने 'सूरन' (एक प्रकार का कन्द) जैसे व्यावहारिक जीवन के उपमान द्वारा प्रेम के प्रसंग में एक बड़ी मधुर व्यंजना की है। 'सूरन' के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि तेल से भूनने और नमक डालने पर भी यदि उसमें कुछ कच्चापन रह जाता है तो मुँह काट देता है। इस तथ्य को बिहारी ने खंडिता प्रकरण में रख कर निश्चय ही बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है—

लाल सलोने अरु रहे, अति सनेह सो पागि।
तनक कचाई देत दुख, सूरन लौं मुँह लागि ॥[२]

देव ने विरह के प्रसंग में एक प्रोषितपतिका नायिका की मानसिक स्थिति का निरूपण करते हुए लिखा है कि वह विरहिणी प्रियतम की अवधि ज्यों-ज्यों समाप्त होने लगती है क्षण-क्षण मलीन होती जाती है। उसे निकट रहने वाली सखियाँ समझाती अवश्य हैं, पर उनसे उसे चैन नहीं मिलता। सखियाँ प्रियतम की चर्चा करके उसे सान्त्वना भी देती हैं पर उससे उसका दुख और बढ़ जाता है तथा वास्तविक तृप्ति नहीं हो पाती। इस स्थिति का वास्तविक चित्र देते हुए देव ने लिखा है—

औधि अधीन छिनैछिन छीन ह्वै दीन मलीन महा मुख रूखै।
प्यौ चरचानि परै नहिं चैन, भरै नहिं भीख दुभीख की भूखै ॥[३]

प्रायः देखा जाता है कि दुर्भिक्ष के समय प्राप्त भिक्षा से, क्योंकि वह भिक्षा बहुत थोड़ी होती है, पेट नहीं भर पाता। ठीक यही दशा उस विरहिणी की है, जिसे सखियों के मौखिक प्रेमालाप से सुख नहीं मिलता। साधर्म्य विधान की यह कितनी सूक्ष्म दृष्टि है।

—प्रभाव साम्य मूलक

प्रभाव साम्य की स्थिति साधर्म्य से अधिक सूक्ष्म मानी जाती है। इसमें

१. देवसुधा—सं० मिश्रबन्धु, पृ० १०६
२. बि० बो०, दो० सं० ४०६
३. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० ६८६, पृ० २२६

सादृश्य और साधर्म्य का विधान उतना महत्व नहीं रखता, जितना प्रभाव की अनुभूति। रीति काव्य में प्रभावान्विति की दृष्टि से अप्रस्तुत की योजना करने वाले कवियों में बिहारी, देव और रीतिमुक्त कवि घनानन्द की विशेष चर्चा की जाती है। इन कलाकारों ने मन पर पड़े सूक्ष्म प्रभावों के निरूपण में जैसी तन्मयता और निष्ठा व्यक्त की है, वह अन्यत्र कम ही लक्षित होती है। वास्तव में कुछ ऐसे स्थल भी मिलते हैं, जिनकी प्रभाव साम्य मूलक अप्रस्तुत योजना नितान्त अप्रतिम और बेजाड सिद्ध हुई है। हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में ऐसी अप्रस्तुत योजना का दर्शन नहीं होता। वास्तव में इस दृष्टि से रीति कवियों का काव्य निश्चय ही मौलिकता की श्रेणी में रखा जा सकता है, इसमें दो मत नहीं है। हम प्रभाव मूलक अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से कुछ छन्द उद्धृत कर रहे हैं। पहले बिहारी का एक दोहा द्रष्टव्य है—

कीनेहू कोटिक जतन अब कहि काढ़ै कौन।
भो मनमोहन रूप मिलि, पानी में को लौन॥[1]

इसमें नायिका की मनः स्थिति का सूक्ष्म निरूपण हुआ है। और कहा गया है कि कृष्ण के सौन्दर्य में मिलकर उसका मन पानी का नमक हो गया। वास्तव म पानी के नमक और कृष्ण प्रेम में तन्मय मन में न तो सादृश्य ही है और न साधर्म्य ही। अतः प्रभाव की दृष्टि से कृष्ण प्रेम में निमज्जित मन की स्थिति का निरूपण केवल पानी में धीरे-धीरे गल कर मिल जाने वाले नमक से किया जा सकता है। दोनो मे अपार्थक्य की स्थिति पूर्ण स्पष्ट है। और दोनों के डूब कर मिल जाने में अन्तिम प्रभाव साम्य तो लक्षित होता ही है। प्रभाव साम्य की दृष्टि से बिहारी का यह अप्रस्तुत विधान नितान्त मौलिक है। इसी प्रकार कविवर देव ने भी प्रभाव साम्य की दृष्टि से अधोलिखित छन्द में बड़ी सूक्ष्म व्यंजना की है—

अंगन में उर मैं मदन ज्वर सिन्दूर मैं झलकै जिमि पारो।
देव सरोजमुखी के उरोजन ओज मनोज बजायो नगारो॥[2]

सिन्दूर में पारे की सूक्ष्म व्याप्ति का निदर्शन इस बात का द्योतक है कि काम की उष्मा की झलक अभी स्पष्ट नहीं है, शरीर द्वारा उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति मात्र हो रही है। यहाँ यौवन काल में उत्पन्न काम की सूक्ष्म अनुभूति का निरूपण न तो सादृश्य विधान द्वारा सम्भव है और न साधर्म्य द्वारा। केवल मन में और शरीर मे व्याप्त काम-चेतना की स्थिति सिन्दूर में झलकने वाले पारे जैसी ही हो सकती है। काम-चेतना की अस्पष्टता का संकेत जिस कुशलता के साथ देव ने सिन्दूर में झलकने वाले पारे द्वारा किया है, उसमें प्रभाव साम्य ही अधिक स्पष्ट है।

---

१. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, दो० सं० १७७
२. सुखसागर तरंग—देव, छं० सं० २९८, पृ० १३७

कवीन्द्र के एक छन्द में प्रभाव साम्य की दृष्टि से बड़ी सूक्ष्म और मधुर कल्पना का दर्शन होता है। प्रसंग यह है कि नायिका रति चिह्नों से युक्त होकर सखियों के समाज में बैठी है। सखियाँ मजाक के लिए आरसी दिखा रही हैं, उसे दिखाने पर नायिका लज्जित होकर मुसकराने लगती है और उसके सुहाग की लहरियाँ बिखर पड़ती हैं। इसमें लहर और सुहाग में न तो सादृश्य है और न साधर्म्य का ही रूप लक्षित होता है। हाँ, नायिका के अन्तर के अनुराग के झलकने की क्रिया चारों ओर बिखरने वाली लहरियों की क्रिया से अवश्य साम्य रखती है—

आरसी दिखावत लजाति मुसकाति वाल छहर छहर उठे लहर सुहाग की।[१]

रीति काव्य में इस प्रकार का सूक्ष्म भावाभिव्यंजन निश्चय ही मौलिक है।

ङ—कवि प्रसिद्धियाँ

बहुत प्राचीन काल से कविगण अपनी काव्यात्मक सरसता के संवर्धन के लिए कुछ प्राचीन विश्वासों, प्रसिद्धियों और रूढ़ियों को ग्रहण करते रहे हैं। यद्यपि पुराकाल की इन मान्यताओं पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। पर काव्य में इनकी चर्चा इनके सत्य पक्ष का समर्थन सहृदय समाज सदैव से करता रहा है। राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में ऐसी मान्यताओं और विश्वासों को कवि समय के नाम से अभिहित किया है।[२] हिन्दी में 'कवि समय' के अर्थ में आचार्य केशवदास ने 'कविमत' शब्द प्रयुक्त किया है।[३]

लक्षण ग्रन्थों में कवि समय के अन्तर्गत आने वाली कवि प्रसिद्धियों में प्रायः परिवर्तन और संवर्धन हुआ करता है। हिन्दी काव्य-परम्परा में भी बहुत सी कवि प्रसिद्धियाँ लुप्त हो गयीं, उनका प्रयोग अब कविगण नहीं करते और बहुत सी कवि प्रसिद्धियाँ ऐसी हैं, जिन्हें परम्परा में ढूढ़ना कठिन है। आचार्य केशवदास ने 'कवि प्रिया' में कुछ ऐसी अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ परम्पराओं का उल्लेख किया है, जिनकी चर्चा संस्कृत काव्यों में नहीं हुई है।

हिन्दी रीति कवियों ने काव्य रूढ़ियों पर आधारित कुछ ऐसी बातों का उल्लेख किया है, जिनसे उनकी मौलिक दृष्टि का स्पष्ट आभास मिलता है। इस सम्बन्ध में हम बिहारी का एक दोहा उद्धृत कर रहे हैं—

---

१. कवित्त—उदयनाथ कवीन्द्र, छं० सं० ६७—सम्मेलन के पाण्डुलिपि विभाग से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से वेष्टन एवं ग्रन्थ संख्या १५८०।३०४०।

२. काव्य मीमांसा—राजशेखर अध्याय १४

३. कवि प्रिया, प्रभाव ४

वाही दिन तें ना मिट्यो मानु, कलह कौ मूलु ।
भले पधारे, पाहुने ह्वै गुड़हर कौ फूलु ।।[1]

इसमें प्रौढ़ाधीरा नायिका के मान का वर्णन हुआ है और व्यंग्य द्वारा नायक को गुड़हर का फूल कहा गया है। गुड़हर के फूल के सम्बन्ध में ऐसी लोक प्रसिद्धि है कि यह जहाँ जाता है, वहाँ सदैव कलह हुआ करता है। लोक की इस प्रसिद्धि ने काव्य रूढ़ि का स्थान कब ग्रहण किया, स्पष्ट नहीं है। संस्कृत कोशों में 'गुड़हर' को 'जपा' के नाम से उल्लिखित किया गया है और वी० एस० आप्टे ने अपने संस्कृत अंग्रेजी कोश में इसे चीन का गुलाब (चाइना रोज) माना है।[2] स्वयं कालिदास ने 'मेघदूत' में इस पुष्प की चर्चा की है।[3] पर गुड़हर वाली ऐसी रूढ़ि का वहां बिल्कुल संकेत नहीं है। 'आइने अकबरी' में अबुल फजल ने जहां अनेकशः पुष्पों का उल्लेख किया है, वहाँ गुड़हर का भी कथन किया है। उसमें गुड़हर को वर्षाकालीन पुष्प माना गया है और उसे लाल, पीला, नारंगी, सफेद और विभिन्न रंगो वाला पुष्प बताया गया है।[4] अबुल फजल ने इस पुष्प के सम्बन्ध में उसी ग्रन्थ में पुनः लिखा है कि यह जुगासू फूल की तरह होता है और इसमें अनेक पंखड़ियां होती हैं। इसका पौधा दो गज और उससे ऊंचा होता हैं। और इसकी पत्तियां तूत की तरह होती हैं। यह दो साल में फूलता है।[5] पर ग्रन्थ में गुड़हर विषयक उक्त रूढ़ि का कहीं उल्लेख नहीं है। अभी तक गुड़हर पुष्प विषयक यह रूढ़ि केवल 'बिहारी सतसई' में ही मिली हैं, अन्यत्र देखने को नहीं मिली।

संस्कृत और हिन्दी काव्य परम्परा में हंस के नीर क्षीर विवेक का अत्यधिक वर्णन हुआ है। संस्कृत के सुभाषितों—भक्ति काव्यों और संतों के नीति परक वाक्यों मे हंस के नीर क्षीर विवेक का वर्णन बहुत चारुता के साथ अवश्य हुआ है, पर रीति साहित्य के शृंगारिक परिवेश में यही कवि प्रसिद्धि कितनी मार्मिक और हृदय स्पर्शी हो गयी है, यह इस छन्द में द्रष्टव्य है—

---

१. बिहारी रत्नाकर—टी० वी० जगन्नाथदास रत्नाकर, दो० सं० ५६५, प्र० ख०
२. संस्कृत अंग्रेजी कोश—वी० एस० आप्टे, पृ० २१६
३. पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनःसान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।।
—मेघदूत पूर्वार्द्धम्, श्लोक सं० ३८
४. आइने अकबरी, प्रथम भाग, अनु०—एच० ब्लाचमैन, पृ० ८२
५. The Gudhal resembles the Jughasu tulip, and has a great number of petals, Its stem reaches a height of two yards and upwards, the leaves look like mulberry leaves. It flowers in two years —Aini Akbari— Part I Page 91—H. Blochman

पिय मो अस मन मिलया जस पय पानि
हंसिनि भइल सवतिया, लइ बिलगानि ।।[१]

इसी तथ्य का वर्णन गोस्वामी जी के शब्दों में इस प्रकार हुआ है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहि पय परिहरि बारि बिकार ।।[२]

गोस्वामी जी के दोहे में नीति का आग्रह इतना अधिक है कि पूर्वोक्त शृंगारिक बरवै की भांति इसमें मार्मिकता नहीं आ सकी। बरवै का काव्यात्मक सौन्दर्य निस्संदेह श्लाघ्य है। छन्द का भाव यह है कि नायिका का मन अपने प्रियतम मे इस तरह मिल गया था जैसे दूध और पानी, पर सौत ने हंसिनी की भांति दूध और पानी को अलग-अलग कर दिया। इस बरवै को ठाकुर शिवसिंह सरोज ने यशोदानन्दन कृत माना है, पर 'रहिमन विलास' के सं० बाबू ब्रजरत्न दास ने इसे रहीम कृत स्वीकार किया है। जो भी हो, अब यह बरवै 'रहीम के प्राप्त हस्तलेखों मे नहीं मिलता। इसका संकेत स्वयं 'रहीम रत्नावली' के सं० पं० मयाशंकर याज्ञिक ने भी किया है।[४] अतः इसे बहुत प्रामाणिकता के साथ रहीम कृत नहीं कहा जा सकता।

'हंस के नीर क्षीर विवेक' की भाँति कवि-परम्परा में सर्प का मणि प्रेम भूरिशः उल्लिखित है। सूर तुलसी के अतिरिक्त संस्कृत के नीति एवं सुभाषित ग्रन्थों मे इसकी बहुविध चर्चा हुई है।

सर्प के मणि विषयक इस प्रेम को शृंगार के सन्दर्भ में विन्यस्त करके कविवर देव ने किस प्रकार मौलिकता प्रदर्शित की है, यह अधोलिखित छन्द में द्रष्टव्य है—

पूतना को पय पान करो मनु पूत नाते बिसवास बगाहत।
देव कहा कहौं मातु-पिता-हित बन्धुन सों हितु नीके निबाहत।
कारे हो कान्ह निकारे हो कीलि रहे गुन लीलि पै औगुन थाहत।
पन्नग की मनि कीन्है तुम्हें, तुम पन्नग की किचुली कियो चाहत ।।[५]

नायिका का उपालम्भ व्यंग्य से कितना तीक्ष्ण हो गया है। द्वितीय पंक्ति का समस्त स्वारस्य अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि पर टिका हुआ है। छन्द की अन्तिम पंक्ति में उसके हृदय की वेदना का रससिक्त स्वरूप कितनी मार्मिकता के साथ व्यक्त

---

१. शिवसिंह सरोज—पृ० ११६ सन् १६२६ का संस्करण।
२. रामचरितमानस काशिराज संस्करण बा० का०, दोहा सं० ३६६
३. रहिमन विलास—सं० ब्रजरत्नदास, ग्रं० सं० २७, पृ० ४४
४. रहीम रत्नावली—सं० मायाशंकर याज्ञिक—भूमिका भाग, पृ० २५
५. देवसुधा—सं० मिश्र बन्धु, पृ० १३८

हुआ है। नायिका का यह कथन कि मैंने तुम्हें पन्नग (सर्प) की मणि की भाँति रखा और तुम अब हमें पन्नग की केंचुल करना चाहते हो, अपने आप में प्राचीन कवि प्रसिद्धियों का यह नितान्त नूतन प्रयोग और मौलिक उक्ति विधान है। प्राय: सर्प का मणि के प्रति गहरा मोह होता है और केंचुल के प्रति सहज उदासीनता। यहाँ नायिका का उपालम्भ है कि हे कृष्ण, हमने तुम्हें ग्रहण करने में सर्प की मणि की भाँति मोह एवं आसक्ति प्रदर्शित की पर तुमने हमें छोड़ने में सर्प की केंचुल की भाँति अपनी सहज निष्ठुरता प्रकट की है।

च—रंगों का प्रयोग

रीति काव्य रंगों की प्रचुरता की दृष्टि से अन्य युगों की रचनाओं से पर्याप्त समृद्ध है। रंगों के प्रयोग का यह वैचित्र्य कहीं मीलित, कहीं तद्‌गुण और कहीं विरोधाभास जैसे अलंकारों द्वारा प्रकट किया गया है। जिस प्रकार हिन्दी का शृंगार काव्य कल्पना और उक्तियों के वैभव और सौन्दर्य से पूर्णतया मंडित है, उसी प्रकार उसमें नाना प्रकार के वर्णों की दीप्ति और विविधता का भी अभाव नहीं है। आपको ऐसे-ऐसे चित्रों की उपलब्धि होगी जो अपने वर्णों के अनूठे सौन्दर्य और कौशल के कारण परम प्रसिद्ध हैं। रीतिकाव्य के रंगों में कुछ तो सूक्ष्मभावाभिव्यक्ति में सहायक हैं और कुछ अनुभूतियों की व्यंजना में अन्यतम कहे जाते हैं।

जिस प्रकार किसी चित्र की पूर्णता उन रेखाओं से व्यक्त होती है, जो चित्र की वास्तविक संवेदना को मुखरित करने में परम सहायक होती है। ठीक यही स्थिति काव्य में वर्णों (Colours) की होती है। वर्ण वस्तुत: अनुभूतियों और कल्पना के क्षीण कलेवर को पूर्ण स्फीतता प्रदान करते हैं। कभी-कभी इन रंगों के सहयोग से कवि भावनाओं की ऐसी प्रतिमा खड़ी कर देता है जो उनके अभाव में कथमपि संभव नहीं है। हम इस कथन की पुष्टि के लिए रीतिमुक्त कवि ठाकुर का एक छन्द प्रस्तुत कर रहे हैं—

> अपने अपने निज गेहन में, चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
> अंगनान में भीजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जांव पैरी।
> कह ठाकुर दोउन की रुचि सों रंग ह्वै उमड़े दोउ ठांव पैरी।
> सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नंद गांव पैरी।[1]

इस चित्र में राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की तन्मयता की एक झांकी प्रस्तुत है। राधा कृष्ण की मन:स्थिति को प्राप्त है और कृष्ण राधा की मन:स्थिति को। कवि ने इस भाव की प्रकृत व्यंजना काली-गोरी घटा द्वारा की है। यहाँ काली घटा से तात्पर्य कृष्ण से है और गोरी घटा राधा की ओर संकेत कर रही है। बरसाने

---

१. ठाकुर ठसक—सं० ला० भगवानदीन, छं० सं० ४१, पृ० १२

में जहाँ राधा रहती हैं कृष्ण के प्रेम का घ[illegible] बरस [illegible] हो [illegible] कृष्ण प्रेम का [illegible] सघन छाया हुआ है इधर [illegible] में जहाँ कृष्ण रहते हैं—गोरी घटा का प्रभाव है—राधा के प्रेम की बरसा हो रही है—पूरा वातावरण राधा के प्रेम से प्रभावित है।

कभी रंगों का प्रयोग हमारी भावनाओं और मानसिक धरातल का निरूपण करने के लिए ही होता है। जो चतुर कलाकार है और जिन्हें रंगों के प्रयोग की सूक्ष्मताओं का पूर्ण ज्ञान है, वे ऐसे चित्रों का निर्माण कर देते हैं, जिनसे हमारी अनुभूतियाँ और तन्मयता मूलक भावनाएँ स्वतः मांसल हो जाती हैं। यथा,

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमगि आयो, तामैं तीनौं लोक बूड़ि गये एक संग में।
कारे कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर ज्यों, न्यारे कर बाँचै कौन राचे चित भंग मैं।
नैननि में तिमिर अमावस की रैनि अरु जम्बू रस बिन्दु जमुना जल तरंग मैं।
यों ही मन मेरौ मेरे काम कौ न रह्यौ माई स्याम रंग ह्वै करि समानो स्याम रंग मैं।[1]

कृष्ण के उमड़ते प्रेम को स्याही के अगाध समुद्र से उपमित करना अत्यन्त सूक्ष्म कल्पना है। अन्तर की भावनाओं के साथ ही बाह्य जगत किस प्रकार स्याम के गाढ़े रंग से रंजित हो जाता है, यह प्रस्तुत चित्र से स्पष्ट है। श्याम रंग में समाये हुए मन के कारण नायिका की आँखों में अमावस्या जैसा अन्धाकार छा गया है और वह अपनी पृथकता का भावन उसी प्रकार नहीं कर सकती, जिस प्रकार यमुना की जल तरंगों में जम्बुफल का रसबिन्दु। कवि ने मानस की ऐसी गूढ़ और गम्भीर भावों की विवेचना केवल श्यामवर्ण बोधक वस्तुओं के आधार पर की है। रंगों के ऐसे प्रयोगों में निष्णात रीति कवि वास्तव में मौलिकता की कोटि में रखे जा सकते हैं।

रीति काव्य के जिन चित्रों में रंगों का विनियोग भावोन्मेष के वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करने के लिए किया गया हैं, निस्संदेह उनमें कवि कौशल और उसकी शैल्पिक चेष्टा का रूप अत्यन्त निखरा हुआ है और उसका सौन्दर्य-बोध युगों के सौन्दर्य-बोध से कहीं अधिक प्रभावशाली है। पर जिन काव्यों में अन्तःस्पर्श की दीप्ति न्यून है, उनमें अपेक्षाकृत मौलिकता कम आ पायी है। प्रायः अतिरंजना और अतिशयोक्ति के वैचित्र्य का विधान करते समय रीति कवियों ने बाह्य सौन्दर्य की दीप्ति पर अधिक बल दिया है। इसी से अतिरंजना मूलक चित्रों में बाहर से रंग जितना उभरा हुआ और गाढ़ा है, भीतर से उसकी आभा उतनी ही क्षीण है, किन्तु चतुर कवियों ने कभी-कभी अधिक सजग होकर रंगों के कुछ अच्छे प्रयोग भी किए हैं, उन प्रयोगों में कल्पना और चमत्कार का आग्रह द्रष्टव्य है—

---

१. रसविलास—देव, छं० सं० २३, पृ० ४१

कालिहहि मूंदि बलाकि सौं में गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुषराग की, संग गई जमुना तट वाला।
न्हात उतारी मैं 'बेनी प्रवीन' हंसी सुनि बैननि नैन बिसाला।
जानति न अंग की बदली सब सौं बदली बदली कहै माला ॥[1]

बेनी प्रवीन का यह छन्द अज्ञात यौवना नायिका से सम्बन्धित है। इसमे शरीर के वर्ण परिवर्तन के कारण अज्ञात यौवना को गजमोतियों की माला पुखराज जैसी लग रही है। ऐसे छन्दों में वर्ण-परिवर्तन का जो चमत्कार प्रदर्शित किया गया पै, वह बहुत कुछ सामन्तीय युग की उस काव्य-चेतना का परिणाम है, जिसमें मणि, माणिक्य, मोती, पन्ना, पोखराज की विभिन्न वर्णी दीप्ति की प्रधानता थी और जिससे एक अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की जाती थी। पर किसी मार्मिक प्रसंग के अन्तर्गत वर्ण परिवर्तन के वर्णन में जो लावण्य लक्षित हुआ है, वह बाह्य दीप्ति मूलक वर्णो मे नही। इस सम्बन्ध में मतिराम का एक छन्द दिया जा रहा है—

सोचति सेज परी यों नवेली, सहेली सों जाति न बात सुनाई।
चन्द चढ़्यो उदियाचल पै, मुखचन्द पै आनि चढ़ी पियराई ॥[2]

यह मुग्धा उत्कंठिता नायिका का वर्णन है। मुग्धा विचारी रात भर प्रियतम की प्रतीक्षा करती रही, किन्तु वह नहीं लौटा। उसकी चिन्ता में नायिका सेज पर पड़ी हुई है और लज्जा के कारण इस बात को अपनी सहेली से भी नहीं कहती। परिणाम यह होता है कि उधर प्रातः होने पर चन्द्रमा उदयाचल की ओर प्रस्थान करता है (अस्त होने लगता है) और इधर नायिका के मुखचन्द्र पर पीलापन झलकने लगता है (उसका चेहरा दुख से विवर्ण हो जाता है) यहां चन्द्र जैसे श्वेत बदन पर पीलापन का छा जाना जहां एक ओर मनःस्थिति के परिवर्तन की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है, वहीं दूसरी ओर मुख कान्ति के सहसा पीले रंग में परिणत हो जाने मे वर्ण-परिवर्तन का भी स्पष्ट आभास मिलता है। निश्चय ही मतिराम ने नायिका-भेद के इस पुराने चित्र में भावात्मकता का जो रङ्ग भरा है, उससे पर्याप्त ताजगी और नवीनता आ गयी है।

रङ्गों के प्रयोग में नायिका के आभूषणों, वस्त्रों, एवं अन्य बाह्य शृंगारिक प्रसाधनों का अधिक प्रश्रय लिया गया है। इस दृष्टि से रंगों का यह प्रयोग कवि की अलंकरण प्रवृत्ति का स्पष्ट बोधक है। किन्तु कुछ ऐसे भी चित्र मिले हैं जिनमें नायिका के सहज सौन्दर्य का निरूपण उसकी कोमलता और सुकुमारता को लेकर किया गया है। ऐसे चित्रों में कवि ने जिन रंगों को भरा है, निश्चय ही वे अधिक मर्मस्पर्शी हैं और उसकी

---

१. नवरस तरंग—बेनी प्रवीन, छं० सं० १६, पृ० ५
२. मतिराम ग्रन्थावली (रसराज) सं० पं० कृष्णविहारी मिश्र, छं० सं० १५७

रूप–चेतना की उदात्तता का पूर्ण द्योतन करते हैं। बिहारी देव मतिराम और घनानन्द आदि कवियों का अनेकश. उक्तियाँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं, कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

(क) पाँय धरै ढरै ईंगुर सो तिन मैं मनि पायल की घनी जोति है।
हाथ द्वै तीनि लौं चारिहुं ओर ते चाँदनी चूनरी के रंग होति है।[१]—नृप शंभु

(ख) ललित लिलार-श्रम झलक, अलकभार,
मग मैं धरत पग, जावक ढर्यौ परै।
'देव' मनि-नुपूर, पदुम-पद ऊपर ह्वै,
भू पर अनूप रूप रंग निचुर्यौ परै॥[२]—देव

(ग) अरुन बरन तरुनी चरन अंगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरङ्ग रंग सो मनो चपि बिछुअन के भार॥[३]—बिहारी

(घ) अंग-अंग तरङ्ग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।[४]—घनानंद

(ङ) आनंद की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग–रङ्ग ढुरि मुरि जानि मैं।[५]—घनानंद

यत्र-तत्र विरोधी और मिश्रित रंगों द्वारा भी चित्र बनाए गये हैं। पर उनमें अधिकांश सिवा वैचित्र्य विधान के और कुछ नहीं है। हाँ बिहारी और पद्माकर आदि कवियों के बहुत से ऐसे छन्द अवश्य उपलब्ध हैं जिनसे उनकी वर्णप्रियता और तद्विषयक सूक्ष्म अनुभूतियों का पूर्ण परिचय मिलता है। कहीं-कहीं तो इन कवियों ने ऐसी कुशलता दिखायी है, जिससे इनके सूक्ष्म वर्ण-परिज्ञान विषयक मौलिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

छ—छन्द योजना

रीति कवियों ने छन्दशास्त्र का निरूपण करते समय भले ही संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्द शास्त्रीय ग्रन्थों को देखा हो, पर अपनी काव्य रचना में उन्होंने मुख्यतया जिन छन्दों का प्रयोग किया है, उनमें दोहा, कवित्त और सवैया ही की गणना होती है।

---

१. सुन्दरी तिलक—सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, छं० सं० ७, पृ० ४
२. शब्द रसायन—देव, सं० डा० मनोज, पृ० ७७
३. बिहारी बोधिनी—टी० ला० भगवानदीन, दो० सं० १५८
४. घनानन्द कवित्त—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० सं० २, पृ० २
५, " " " १, पृ० २

रीतिकाव्य में प्रयुक्त तीनों छन्दों में दोहा का प्रचलन तो संस्कृत ग्रन्थों में खोजा गया है,[1] पर कवित्त और सवैया ब्रजभाषा के ही छन्द हैं, यह हिन्दी की शोधों द्वारा पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है। अभी तक की खोजों के आधार पर यह बताने का प्रयास किया गया है कि दोहे का प्रयोग हिन्दी के नीति एवं शृंगारिक मुक्तकों में बराबर होता रहा है। पर ऐसा अभी तक नहीं मालूम हुआ कि अवधी भाषा में भी कवित्त और सवैयों का व्यवहार होता रहा है। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रजभाषा में तो कवित्त और सवैयों का प्रयोग किया है किन्तु अवधी में जायसी वाली दोहे और चौपाई पद्धति ही गृहीत हुई है।

दोहे की तुलना में रीति कवियों ने कवित्त और सवैयों का प्रचुर प्रयोग किया है। वस्तुत: ये छन्द अपने नाद सौन्दर्य और कोमल भावानुभूतियों की व्यंजना के कारण अधिक लोकप्रिय हो चुके हैं। यों कवित्तों में शृंगारिक भावों का अभिव्यंजना कौशल पूर्ण हुआ है, किन्तु परुष वृत्तों में ढले हुए वीर रसात्मक काव्यों को वहन करने की क्षमता भी इन कवित्तों में बराबर पायी जाती है। भूषण के वीर रसात्मक छन्द कवित्तों में ही रचे गये हैं। इस प्रकार कवित्त युगपत् शृंगार और वीर दोनों भावों को समान रूपेण वहन करता रहा। पर सवैयों का प्रयोग केवल शृंगारिक एवं कारुणिक भावों की व्यंजना में ही होता रहा। किसी कवि ने अभी तक सवैयों में वीर रसात्मक काव्यों का प्रणयन नहीं किया तथा अभी तक की खोजों से यह पता नहीं चलता कि सवैयों का प्रयोग ओजस्विता और मन्द्ररव में उन्मुक्त वीरोचित भावों के अभिव्यक्त करने में कभी हुआ हो। हाँ, इसके संगीतात्मक माधुर्य की श्लाघा आज भी होती है। कवित्त की अपेक्षा सवैयों में गेयता का गुण अपेक्षाकृत अधिक है। अब हम इन दोनों छन्दों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार कर लेना उचित समझते हैं।

कवित्त

हिन्दी की प्राचीन रचनाओं में प्रयुक्त 'कवित्त' शब्द प्राय: कविता के अर्थ में ग्रहण किया जाता रहा है। तुलसी, गंग और दास आदि की रचनाओं में प्रयुक्त 'कवित्त' शब्द हमारे कथन का ज्वलन्त प्रमाण है।[2] 'कवित्त' शब्द हिन्दी के घनाक्षरी छन्द के पर्याय रूप में सर्वप्रथम सेनापति ने ग्रहण किया।[3] रीति काव्य में कवित्तों का प्रयोग

१. प्राचीन ग्रन्थों में दोहे का मूलोत्स कालिदास के विक्रमोर्वशीय में मिलता है।
२. (क) निज कवित्त केहि लाग न नीका—तुलसी
(ख) दास कवितन की चर्चा बुधवन्तन को सुख दे सब ठाईं।—दास
३. वित्त की सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं—सेनापति

अकबर के समय मे स्पष्टरूप से होने लगा था इसे हिन्दी म जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई है, कदाचित् सवैया के पश्चात् अन्य छन्द को नहीं। गंग, तुलसी, बलभद्र, केशव, सेनापति और नरोत्तमदास आदि की रचनाओं में इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। अतः निश्चित है कि इसे सोलहवीं शताब्दी में ही पूर्ण गौरव और गरिमा प्राप्त हुई। वैसे इसके विकास की सम्भावना करते हुए डा० जानकीनाथ सिंह का विचार है कि इसका उद्भव कम से कम १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अवश्य हो चुका था।[1]

'प्राकृत पैंगलम' और वाणीभूषण' में घनाक्षरी का प्रयोग नहीं मिलता। कहा जाता है कि घनाक्षरी छन्द ध्रुपद ताल पर आसानी से गाया जाता रहा है और मध्ययुगीन काव्य-परम्परा में प्रथम घनक्षरी सेन कवि के नाम पर मिलती है। श्री अनूप शर्मा का अनुमान है कि सेन कवि कोई संगीतज्ञ रहे होंगे अथवा मार्दंगिक[2]। कृष्ण भक्त कवियों में सूर और नन्ददास के मुक्तक पदों में कुछ ऐसे भी पद मिले हैं जिनमें घनाक्षरी का नाद और लय पूर्णतया विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि घनाक्षरी किस प्रकार गीतिकारों और संगीतज्ञों के कंठ से फिसलते हुए शनैः शनैः भाटों और चारणों की जिह्वा पर विराजमान हुआ।

घनाक्षरी के उद्भव के सम्बन्ध में पं० सुमित्रानन्दन पन्त का विचार है कि—

'कवित्त छन्द मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्यपुत्र है, न जाने, यह हिन्दी में कैसे आया और कहाँ से आ गया, अक्षर मात्रिक छन्द बंगला मे मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण संगीत की ये रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम सलापोचित (कलोकियल) छन्द कह सकते हैं, सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छन्द में राजा-महाराजाओं की प्रशंसा करते हो, और इसमें रचना सौकर्य पाकर, तत्तकालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो[3]।'

कवित्त और सवैयों के उद्भवस्थल की भी खोज की गयी है। आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का अनुमान है कि गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी के मध्य या पश्चिम मे इनका उद्भव हुआ होगा और घनाक्षरी और पंचाली की शैली में अधिक मेल होने के कारण वे कवित्त को इसी प्रदेश में उदभूत मानते हैं[4]। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि कवित्त का परिष्करण एवं इसके नाद और लय का वास्तविक उन्मेष रीति कवियों द्वारा ही हुआ। इस दिशा में रीति कलाकारों का यह अत्यन्त मौलिक प्रयास था

---

१. द काण्ट्रीब्युशन आफ हिन्दी पोयट्स टू प्रासडी—डा० जानकी नाथ सिंह मनोज, पृ० २०१
२. शर्वाणी—भूमिका भाग, अनूप शर्मा, पृ० ३
३. पल्लव—(भूमिका भाग)—पं० सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ३८, सातवाँ सं०
४. गंग कवित्त—सं० बटेकृष्ण (भूमिका भाग), पृ० ६।

रीति म म भी घना ाग ा प्रयोग सभी कवि सफलतापूर्वक नही कर सके जो छन्द की गति और लय से पूर्ण अभिज्ञ थे, उनके कवित्तों में ऐसा उतार-चढ़ाव मिलता है, जिससे शब्द स्वतः जिह्वा पर फिसलते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। वस्तुतः छन्द में— विशेषतया कवित्त में जब तक घटन जन्य सौन्दर्य की, पंक्ति पंक्ति की एक दूसरे की सन्निधि और उस सन्निध में सन्निहित संगीत की व्याप्ति नहीं होती वह अधिक समयो तक सहृदयों के जिह्वा पर टिक नहीं पाता।[1] इसमें सन्देह नहीं कि रीति कवियो मे पद्माकर, पजनेश और किशोरादि कवि अपनी विशिष्ट छन्दगत लय और गति के कारण अप्रतिम हैं। अंग्रेजी काव्य में भी गति और लय के सामंजस्य के महत्व को स्वीकार किया गया है। प्राचीन ग्रीस में संगीत और कविता से प्रगाढ़ सम्बन्ध हो गया था। इस सम्बन्ध में प्रो० टाम्सन के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।[2] इस दृष्टि से विचार करने पर हिन्दी में नाद-सौन्दर्य के प्रबल पोषक कविवर देव ने ही सर्वप्रथम कवित्त छन्दों में विशिष्ट गति, लय, लोच और झंकृति का समावेश करते हुए उसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। यों कवित्त के दो भेदों की विशेष चर्चा की जाती है–१–मनहर, २–रूपघनाक्षरी। इनमें मनहर ३१ वर्णों का होता है और रूप घनाक्षरी में ३२ वर्ण माने गये हैं। वैसे रीतिकाल में ज्यादातर मनहर का ही प्रयोग हुआ हैं, पर यथास्थल रूपघनाक्षरी का भी प्रयोग मिलता है। आचार्य देव ने इन दोनों कवित्त छन्दो के अतिरिक्त एक ३३ वर्ण वाले देव घनाक्षरी की भी कल्पना की है। यह देव द्वारा आविष्कृत होने के कारण निश्चय ही मौलिक कहा जा सकता है।

प्रायः ३१ अक्षर वाले घनाक्षरी छन्द के अन्त में एक गुरु रख कर इसके स्वरो के सन्तुलन की पूर्ण रक्षा की जाती थी, यथा—

बैठी सीस मन्दिर मैं सुन्दरि सिंगारि तन मुंदि के किवार देव छबि सों छकति है।
पीतपट लकुट मुकुट बन माल धरें वेष कै पिया को प्रतिबिम्ब मैं तकति है।

३२ वर्ण वाले कवितों के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है कि इसमें अन्त में लघु होना चाहिए' पर पदमाकर जैसे कुशल एवं साधक कलाकारों ने बड़ी सफाई से इन छन्दों के अन्त में गुरु रखकर भी छन्द के प्रवाह एवं स्वर-लय की स्थिति भग नहीं होने दी—

---

१. हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० २६

२. One of the most striking differences between Greck and English Poetry is that in ancient Greece Poetry was wedded to music. There was no Purely instrumental music--music withou twords; and a great deal of the finest Poetry was composed for musical accompaniment.—Marxism and Poetry, page 1, George Thompson.

चालै क्यों न चन्द मुखी चित मैं सुचैन करि, नित बन बागन घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै पद्माकर मयूर मंजु नाचत है चाय सो चकोरिनि चकोर चूमि चूमि रहे॥

कवित्तों में यति के प्रयोग के सम्बन्ध में बहुविध विचार कियागया है और यह कहा गया है कि मनहर घनाक्षरी के एक चरण में १६ और १५ अक्षर और रूपघनाक्षरी में १६-१६ अक्षर होने चाहिए।[1] पर जगन्नाथदास रत्नाकर ने अपनी 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' पुस्तक में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि 'सोलह पर यति होने के नियम को भी बहुधा सुकवियों ने अपने कवित्तों में भंग कर डाला है और उनका यह नियम तोड़ना छन्द के अपकारी होने के स्थान पर किसी कवित्त मे उसके विषयानुकूल होने के कारण उपकारी हो गया है।[2] इसकी पुष्टि उन्होंने देव के अधोलिखित छन्द द्वारा की है—

सखिन संकोच गुरु-सोच मृगलोचनि रिसानी पिय सों जो उन नेकु हंसि छियो गात।
मृदु मुसिक्याइ के सहजि उठि गये इन सिसकि सिसकि रात खोई पायो परभात॥

यह कहना असंगत न होगा कि समस्त रीति काल में देव और पद्माकर के छन्द विधान में जैसी कलात्मक प्रौढ़ि है, कि वह अन्यत्र लक्षित नहीं होती। देव के कवित्तो की छन्द शैली को दृष्टि में रखकर ही डा० नगेन्द्र ने उन्हें प्राचीन भाटों वाली लुढ़कन्त शैली की संज्ञा दी है। प्राचीन काल में कवित्त पढ़ने की दो शैलियां प्रचलित थीं—१—लुढ़कन्त शैली, २—पद्माकरी शैली में नादों का प्रवाह परस्पर इतना सिमिट जाता है कि उसका व्यापक प्रसार नहीं हो पाता। डा० नगेन्द्र ने उसे पहाड पर झरझर बहने वाले झरने से उपमित किया है। अतः रुनझुन बजने वाली किंकिणी और कोमल ध्वनियों के जैसा संकुल नाद सौन्दर्य देव के छन्दों में सर्वत्र व्याप्त है। हा, पद्माकर के छन्दों में निश्चय ही सरपट वेग से ढाल पर बहने वाले नद-प्रवाह की मस्ती है जो ढूंढने पर भी रीतिकाल के अन्य बड़े से बड़े कवियों में नहीं मिलेगी। पद्माकर की छन्दशैली का अनुकरण बहुत समयों तक नहीं हो सका। केवल आधुनिक काल के प्रसिद्ध ब्रजभाषा कवि रत्नाकर जी में ही उनके छन्दों की शैली के चरम विकास की परिणति हुई। देव और पद्माकर से भी पूर्व गंग भट्ट के कवित्तों की चर्चा इस अर्थ में अवश्य की जाती है कि उनके कवित्तों में एक विशिष्ट सन्तुलन है और पदन्यास की योजना अत्यन्त श्लाघ्य हैं।[3] निष्कर्षतः हिन्दी रीति काव्य की

---

१. छन्द प्रभाकर—भानु, पृ० २६४, २६८ तृतीय सं० सन् १९१५ में जगन्नाथ प्रेस, विलासपुर में मुद्रित
२. घनाक्षरी नियम रत्नाकर—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० १०, प्र० सं० १८९७ ई० में भारत जीवन प्रेस, काशी में मुद्रित।
३. गंग कवित्त—(भूमिका भाग) आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ७

परम्परा में कवित्त के विकास का यही संक्षिप्त इतिहास है और इसमें सन्देह नहीं कि देव, मतिराम और पद्माकर ने इस छन्द में रचना करके उसके उस ढांचे की उपादेयता स्वीकार कर ली है जिसमें रीति युग की कलात्मक युक्तियां आसानी से ढाली जा सकती हैं।

सवैया

कवित्त की भांति सवैया छन्द भी हिन्दी का अपना विशिष्ट छन्द है। संस्कृत में सवैया के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की सूचना नहीं मिलती। इस शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का विचार है कि 'सवैया स्पष्टत: ही संस्कृत शब्द नहीं है—पंडितों में इसकी व्याप्ति के सम्बन्ध में काफी मतभेद है—परन्तु हमारी धारणा है कि यह संपादिका का ही अपभ्रंश रूप है। पहले भाट लोग सवैया का अन्तिम पंक्ति को दो बार सबसे पूर्व और चौथे चरण के बाद पढ़ते थे। इस प्रकार उसमें चार के स्थान पर पांच पंक्तियाँ नियमपूर्वक पढ़ी जाती थीं।[1] यह छन्द कवित्त से प्राचीन माना जाता है, पर आल्हा खण्ड के जिस छन्द के आधार पर इसे प्राचीन कहने का दावा किया गया है, उसकी प्रमाणिकता बहुत संदिग्ध है। यद्यपि प्राकृत में इस छन्द के प्रयोग को तो स्वीकार नहीं किया गया पर प्राकृत पैंगलम् के साक्ष्य पर विश्वास किया गया है। प्राकृत पैंगलम् का रचना-काल १३ वीं शताब्दी माना जाता है। इस आधार पर इस छन्द का आविर्भाव काल १३ वीं शताब्दी स्वीकार किया गया है। इधर डा० नामवर सिंह ने सवैया को दो त्रोटक छन्दों का विकसित रूप माना जाता है।[2] सम्भवत: डा० नामवर सिंह ने इस तथ्य का विवेचन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उस संकेत के आधार पर किया है, जिसमें उन्होंने सवैया का विकास संस्कृत वृत्तों के आधार पर माना है।[3] आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसास मिश्र ने संस्कृत वृत्तों के आधार पर सवैया का संधान ठीक नहीं माना और दो त्रोटकों के आधार पर सवैया (दुर्मिल सवैया) के निर्माण की कल्पना भी नितान्त हास्यास्पद बतायी है। उनका कथन है कि त्रोटक और दुर्मिल की स्वर लहरी में युतियों की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है।[4]

जो भी हो, हिन्दी काव्य परम्परा के अन्तर्गत सवैयों का संधान और अनुसंधान बराबर हुआ पर अभी तक उसके उद्भव की कथा अधूरी ही है। जहां तक सवैयों के

---

१. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र, पृ० २३६।
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डा० नामवर सिंह, पृ० ३०४
३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११०
४. गंग कबित—संपादकीय—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ६

भेद की बात है इसे २३ और २४ वर्णों के आधार पर दो मुख्य नामों में बांटा गया है वैसे आचार्य दास ने अपने छंदार्णव पिंगल ग्रन्थ में २५ वर्णों वाले माधवी सवैया और २६ वर्णों वाले मालती सवैया की भी चर्चा की है।[1] पर उपर्युक्त मुख्य दो भेदों के आधार पर सवैयों की गणना इस प्रकार की जाती है—

१—**२३ वर्णों वाले सवैया**—सुन्दरी, चकोर, मत्तगयंद, सुमुखी

२—**२४ वर्णों वाले सवैया**—किरीट, दुर्मिल, मुक्तहरा, भुजंग, गंगोदक, आभारा, वाम, अरसात।[2]

यद्यपि यह सत्य है कि समास बहुला होने के कारण संस्कृत भाषा ने छन्दों की दृष्टि से वर्णिक छन्दों को ही चुना क्योंकि उसमें मात्रिक छन्दों का प्रायः अभाव है। पर हिन्दी में संस्कृत भाषा की समास-बहुला प्रकृति स्वीकार नहीं की गयी। अतः इस प्रकृति विपर्यय के कारण हिन्दी में प्रायः मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। हाँ, वर्णिक छन्दों में मध्ययुगीन शृंगारिक काव्य ने निश्चय ही कवियों को अधिक महत्व दिया। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि हिन्दी भक्ति साहित्य में जहां मात्रिक और गेय पदों की प्रचुरता है, वहीं रीतिकाल का विपुलांश साहित्य कवित्त और सवैया में रचना गया। शृंगार साहित्य में इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि स्वयं संस्कृत के कई कवियों ने हिन्दी के इन (शृंगार साहित्य के) छन्दों को सहर्ष ग्रहण किया। पहले कहा जा चुका है कि कवित्तों की अपेक्षा सवैयों में मार्दव और लोच के साथ ही संगीतात्मकता अधिक पायी जाती है। आश्चर्य नहीं कि अपने इन्हीं गुणों के कारण संभवतः इनका विकास लोक-साहित्य की परम्परा से हुआ हो। हिन्दी रीति काव्य में सवैयों के सफल प्रयोग कर्त्ताओं में मतिराम, देव, पद्माकर, रसखान, घनानन्द और ठाकुर का नाम अधिक उल्लेखनीय है। इनके काव्यों में सवैया के विशिष्ट स्वर और लय का समावेश इनकी असाधारण कलात्मकता और नैपुण्य को प्रगट करता है। यही नहीं, भावों की सुकुमारता के साथ ही संगीत के सहज मार्दव के कारण इसकी महत्ता अत्यधिक स्वीकार की गई है। यह मार्दव हमें संस्कृत के अन्य वृत्तों में लक्षित नहीं होता। इसके माधुर्य की सच्ची झलक तो उस समय मिलती है जब सधे हुए स्वर में से कलकण्ठों पर चढ़ाया जाता है अर्थात् जब भावों की सुकुमार मुक्तावलियों को संगीत के कौशेय तंतु में अनुस्यूत किया जाता है। अस्तु, भाषा में ही इसके स्वारस्य और उत्कर्ष का रूप अधिक निखरा है। यों तुलसी

---

१. छंदोर्णवपिंगल,—आचार्यदास, ग्यारहवां तरंग, पृ० ६७, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में सन् १६२८ में नवीं बार प्रकाशित प्रति से।

२. प्राकृत पैंगलम्, भाग २, सं० डा० भोलाशंकर व्यास, पृ० ५६५

आदि रीति पूर्व काल के कवियों द्वारा सवैयों की अधिक रचना की गयी है, पर उसका परिष्करण और सम्यक् विकास रीतिकाल में ही हुआ और शृंगार और करुण-रस के कोमल भावों को जिस कलात्मकता के साथ इस छन्द ने वहन किया है, कदाचित् अन्य छन्दों में वह गुण देखने को नहीं मिला। इस दृष्टि से रीति कवितों की यह सब से बड़ी देन थी कि उन्होंने संस्कृत के छन्दों को न ग्रहण करके अपने छन्दों में एक दीर्घकाल तक अनेकानेक काव्य कृतियों का सृजन करते रहे। अपने इन्हीं गुणों के कारण इनकी मौलिकता स्वीकार्य है।

उपसंहार

उपसंहार

कृपाराम से लेकर गुलाब कवि तक—सोलहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से लेकर १६०० वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तक—रचे जाने वाले हिन्दी के शृंगारिक मुक्तकों का एक विशिष्ट महत्व है। इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिकाल काव्यात्मक उत्कर्ष और गरिमा की दृष्टि से समस्त हिन्दी साहित्य में अधिक आदर के साथ देखा जाता रहा है, पर रीति काव्य अपने सौन्दर्य बोध और विशिष्ट शिल्प-विधान के कारण हिन्दी ही नहीं संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य की शृंगारिक रचनाओं की परम्परा में श्रेष्ठतम प्रमाणित हुआ है। यों रीति काव्य में जीवन के शाश्वत एवं चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति तो नहीं हुई, किन्तु ऐहिक जीवन की सरस एवं हृदयग्राहिणी अनुभूतियों का जैसा उन्मेष तथा विकास इसमें हुआ हैं, वह निश्चय ही अपनी दिशा में एक मौलिक प्रयास था।

समस्त रीति वाङ्मय की नव उपलब्धियों का आकलन और समाहार तीन दृष्टियों से किया गया है—(१) शास्त्रगत नव उपलब्धियाँ, (२) शृंगारगत नव उपलब्धियाँ, (३) कला एवं अलंकरणगत नव उपलब्धियाँ।

शास्त्रगत नव उपलब्धियों की दृष्टि से रीति युग के आचार्यों ने संस्कृत की समृद्ध एवं सुविकसित परम्परा से अधिक आगे बढ़ने का प्रयास तो नहीं किया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस दिशा में उनका प्रयास सर्वथा नगण्य है। हमने शास्त्रीय विवेचन के सन्दर्भ में यथास्थल संस्कृत काव्य शास्त्रीय तुलना में रीति आचार्यों की मौलिक देन की सम्यक् विवेचना की है।

रीति निरूपण या शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से समस्त रीति काव्य को तीन कोटियों में विभाजित किया गया है—(१) सर्वाङ्ग या विविधांग निरूपक, (२) रस और नायक नायिका भेद निरूपक, (३) अलंकार निरूपक। सर्वाङ्ग या विविधांग निरूपण की नव उपलब्धियों का विचार अधोलिखित उप-शीर्षकों में किया गया है—(क) काव्यांग, काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु, (ख) शब्द शक्ति विवेचन, (ग) ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य विवेचन, (घ) गुण एवं रीति विवेचन, (ङ) दोष निरूपण।

काव्यांग काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु की दृष्टि से रीति आचार्यों ने सर्वत्र मम्मट अथवा विश्वनाथ के मार्ग का ही अनुसरण नहीं किया, अपितु दोनों आचार्यों के कथित सिद्धान्तों और मान्यताओं के औचित्य पर पूर्ण विचार करने के उपरान्त यथा-

स्वरा परिवर्तन और परिवर्धन भी किया है। इस कथन की पुष्टि के लिए आचार्य चिन्तामणि, कुलपति, दास, श्रीपति आदि आचार्यों के विवेचित सिद्धान्त और उक्त विषय से सम्बन्धित मान्यताओं को पूर्णतया देखा जा सकता है।

शब्द शक्ति विवेचन की दिशा में आचार्य प्रतापसाहि की मौलिकता श्लाघ्य है। इन्होंने सर्वप्रथम शब्द शक्ति विवेचन के सन्दर्भ में युगपत् नायिका भेद और अलंकारों का सफलतापूर्वक निरूपण किया है। निरूपण की यह पद्धति संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा में अभी तक लक्षित नहीं हुई है। प्रतापसाहि का अनुसरण करने वाले गुलाब कवि का भी इसी प्रकार का प्रयास है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने गद्य का प्रश्रय न ग्रहण करते हुए भी अलंकार, शब्द शक्ति और नायिका भेद का पद्यबद्ध शैली में जिस स्पष्टता और प्रांजलता के साथ विवेचन किया है, वह अपनी इयत्ता में सर्वथा मौलिक है। शब्द शक्ति का विवेचन एक ओर जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इस विषय का उपबृंहण लक्ष्य ग्रन्थों के अन्तर्गत भी हुआ है। लक्ष्य ग्रन्थों में इस विषय को विस्तार देने वाले कवियों में बिहारी, देव, घनानन्द, पद्माकर आदि का नाम अग्रगण्य है। उनकी लाक्षणिकता संस्कृत आदि पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्यों में नहीं मिलती। अतः निःसन्देह यह एक नव उपलब्धि है। ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य की दिशा में अधिक मौलिक प्रयास तो नहीं हुआ, किन्तु आचार्य मम्मट द्वारा विवेचित विषय को अधिक स्पष्टता प्रदान करने के उद्देश्य से आचार्य दास और कुमारमणि आदि रीति आचार्यों ने यथास्थल उदाहरणों में परिवर्तन अवश्य किया है और कहीं-कहीं मम्मट द्वारा उद्धृत उदाहरणों की तुलना में इनके उदाहरण अधिक सरस, सुबोध एवं प्रांजल प्रमाणित हुए हैं। इस तथ्य की वास्तविकता का ज्ञान मम्मट कृत काव्य प्रकाश से इन आचार्यों के उदाहरण अंशों की तुलना द्वारा आसानी से हो सकता है।

गुण एवं रीति विवेचन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने माधुर्य गुण को कविता का तत्व बताया है और 'उदारता' में अर्थ चारुता और अर्थ व्यक्ति मे अलंक्रियता के समावेश किये जाने का संकेत किया है। इसे आचार्य चिन्तामणि की एक नव उपलब्धि रूप में प्रमाणित किया जाता है। आचार्य देव ने रीति गुण को समानार्थक माना है। संस्कृत में इस प्रकार का संकेत कहीं नहीं मिलता। इसके अलावा दास ने रस को काव्य का अंग माना और गुण की स्थिति का स्वरूप और रंग रूप में कथित किया है। दस गुणों के वर्गीकरण में भी आचार्य दास की नव उपलब्धि मान्य है।

दोष निरूपण के सम्बन्ध में जिन आचार्यों की नव उपलब्धि की चर्चा की जाती है, उनमें आचार्य केशवदास, सूरति मिश्र, कुमार मणि, आचार्य श्रीपति, सोमनाथ आचार्य दास रसिक गोविन्द और ग्वाल मुख्य हैं आचार्य केशव ने यों तो

ई दोषों का संकेत किया है। पर नग्न दोष उनकी नव उपलब्धि के अन्तर्गत आता
। सूरति मिश्र ने सम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के अतिरिक्त जिन नवीन काव्य दोषों
ा उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—दुस्सन्धान, हीनरस, पंगु, मृतक, कर्म-
ीन और विरोध।

यद्यपि कुमारमणि ने अपने 'रसिक रसाल' की रचना मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के आधार पर अवश्य की है, पर उदाहरणों के देने में इनकी नव उपलब्धि स्वीकार्य है। इन्होंने हिन्दी के जगदीश, केशव, बेनी, गंग, सविता, ब्रह्म और मुरलीधर आदि कवियों की रचनाएँ दोषों के उदाहरण में समाविष्ट की है। आचार्य श्रीपति ने भी दोषों के उदाहरण में हिन्दी के सेनापति, केशवदास, ब्रह्म और केहरि आदि की रचनाएँ प्रस्तुत की है। सोमनाथ ने तीन प्रकार के अश्लील दोषों के परिहार की नितान्त मौलिक कल्पना की है। आचार्य दास ने संस्कृत की तुलना में कुछ दोषों की परिभाषा अपने ढंग से की है। यथा, च्युतसंस्कृति, प्रक्रमभंग, अनवीकृत, प्रकृति विपर्यय और पुनः पुनः दीप्ति की परिभाषा नितान्त भिन्न है। रसिक गोविन्द ने भी कुमारमणि और आचार्य श्रीपति की भाँति केशव, सेनापति, कुलपति और सोमनाथ की रचनाएँ दोषों के सन्दर्भ में उद्धृत की है।

दोष निरूपण के सम्बन्ध में रीति काल के अन्तिम आचार्य ग्वाल ने अपेक्षाकृत अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। इन्होंने अपने 'दूषण दर्पण' नामक ग्रन्थ में इस विषय का पर्याप्त विस्तार किया है और परम्परा से मान्य आचार्य केशव और शृंगार शिरोमणि कविवर बिहारी के कतिपय शब्दों के प्रयोग औचित्य पर सन्देह प्रकट किया है। इन्होंने केशव कृत 'रसिक प्रिया' में प्रयुक्त 'उरमाई' शब्द को इसलिए असंगत बताया है, क्योंकि यह ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द है। और बिहारी के एक दोहे में प्रयुक्त 'नाक' शब्द ग्वाल ने ग्राम्यत्व दोष माना है। इस दृष्टि से ग्वाल की दोष विषयक ऐसी सूक्ष्म विवेचना निश्चय ही हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा में एक मौलिक देन कही जा सकती है।

समग्र रीति साहित्य में मौलिकता की दृष्टि से रस और नायक-नायिका भेद की विशेष चर्चा की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि रस निरूपण और नायक-नायिका भेद विवेचन परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से अन्य प्रान्तीय साहित्य की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। रस विशेषकर शृंगार रस और उसके आलम्बन विभाव के रूप में वर्णित हिन्दी का नायक-नायिका भेद संस्कृत में निरूपित नायक-नायिका भेद की समता में अधिक व्यवस्थित और प्रौढ़ है। यों कृपाराम, सुन्दर, मतिराम और पद्माकर आदि कवियों ने भानु की 'रस मंजरी' का पूर्ण अवलम्ब ग्रहण किया है, परन्तु इन शृंगारिक कवियों की दृष्टि उनसे सर्वथा भिन्न थी। यथा, भानु ने जहाँ 'र मंजरी' में शृंगारेतर रसों की भी चर्चा की है, वहाँ सुन्दर और मतिराम जैसे कवि

स्थल परिवर्तन और परिवर्धन भी किया है। इस कथन की पुष्टि के लिए आचार्य चिन्तामणि, कुलपति, दास, श्रीपति आदि आचार्यों के विवेचित सिद्धान्त और उक्त विषय से सम्बन्धित मान्यताओं को पूर्णतया देखा जा सकता है।

शब्द शक्ति विवेचन की दिशा में आचार्य प्रतापसाहि की मौलिकता श्लाघ्य है। इन्होंने सर्वप्रथम शब्द शक्ति विवेचन के सन्दर्भ में युगपत् नायिका भेद और अलंकारों का सफलतापूर्वक निरूपण किया है। निरूपण की यह पद्धति संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा में अभी तक लक्षित नहीं हुई है। प्रतापसाहि का अनुसरण करने वाले गुलाब कवि का भी इसी प्रकार का प्रयास है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने गद्य का आश्रय न ग्रहण करते हुए भी अलंकार, शब्द शक्ति और नायिका भेद का पद्यबद्ध शैली में जिस स्पष्टता और प्रांजलता के साथ विवेचन किया है, वह अपनी इयत्ता में सर्वथा मौलिक है। शब्द शक्ति का विवेचन एक ओर जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इस विषय का उपबृंहण लक्ष्य ग्रन्थों के अन्तर्गत भी हुआ है। लक्ष्य ग्रन्थों में इस विषय को विस्तार देने वाले कवियों में बिहारी, देव, घनानन्द, पद्माकर आदि का नाम अग्रगण्य है। उनकी लाक्षणिकता संस्कृत आदि पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्यों में नहीं मिलती। अतः निःसन्देह यह एक नव उपलब्धि है। ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य की दिशा में अधिक मौलिक प्रयास तो नहीं हुआ, किन्तु आचार्य मम्मट द्वारा विवेचित विषय को अधिक स्पष्टता प्रदान करने के उद्देश्य से आचार्य दास और कुमारमणि आदि रीति आचार्यों ने यथास्थल उदाहरणों में परिवर्तन अवश्य किया है और कहीं-कहीं मम्मट द्वारा उद्धृत उदाहरणों की तुलना में इनके उदाहरण अधिक सरस, सुबोध एवं प्रांजल प्रमाणित हुए हैं। इस तथ्य की वास्तविकता का ज्ञान मम्मट कृत काव्य प्रकाश से इन आचार्यों के उदाहरण अंशों की तुलना द्वारा आसानी से हो सकता है।

गुण एवं रीति विवेचन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने माधुर्य गुण को कविता का तत्व बताया है और 'उदारता' में अर्थ चारुता और अर्थ व्यक्ति में अलंक्रियता के समावेश किये जाने का संकेत किया है। इसे आचार्य चिन्तामणि की एक नव उपलब्धि रूप में प्रमाणित किया जाता है। आचार्य देव ने रीति गुण को समानार्थक माना है। संस्कृत में इस प्रकार का संकेत कहीं नहीं मिलता। इसके अलावा दास ने रस को काव्य का अंग माना और गुण की स्थिति का स्वरूप और रग रूप में कथित किया है। दस गुणों के वर्गीकरण में भी आचार्य दास की नव उपलब्धि मान्य है।

दोष निरूपण के सम्बन्ध में जिन आचार्यों की नव उपलब्धि की चर्चा की जाती है, उनमें आचार्य केशवदास, सूरति मिश्र, कुमार मणि, आचार्य श्रीपति, सोमनाथ दास रसिक गोविन्द और ग्वाल मुख्य हैं आचार्य केशव ने यों तो

कई दोषो का सकेत किया है पर नग्न दाष उनकी नव उपलब्धि के अन्तगत आता है। सूरति मिश्र ने मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के अतिरिक्त जिन नवीन काव्य दोषो का उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—दुस्सन्धान, हीनरस, पंगु, मृतक, कर्म-हीन और विरोध।

यद्यपि कुमारमणि ने अपने 'रसिक रसाल' की रचना मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के आधार पर अवश्य की है, पर उदाहरणों के देने में इनकी नव उपलब्धि स्वीकार्य है। इन्होंने हिन्दी के जगदीश, केशव, बेनी, गंग, सविता, ब्रह्म और मुरलीधर आदि कवियों की रचनाएँ दोषों के उदाहरण में समाविष्ट की है। आचार्य श्रीपति ने भी दोषों के उदाहरण में हिन्दी के सेनापति, केशवदास, ब्रह्म और केहरि आदि की रचनाएँ प्रस्तुत की है। सोमनाथ ने तीन प्रकार के अश्लील दोषों के परिहार की नितान्त मौलिक कल्पना की है। आचार्य दास ने संस्कृत की तुलना में कुछ दोषों की परिभाषा अपने ढंग से की है। यथा, च्युतसंस्कृति, प्रक्रमभंग, अनबीकृत, प्रकृति विप-र्यय और पुनः पुनः दीप्ति की परिभाषा नितान्त भिन्न है। रसिक गोविन्द ने भी कुमारमणि और आचार्य श्रीपति की भाँति केशव, सेनापति, कुलपति और सोमनाथ की रचनाएँ दोषों के सन्दर्भ में उद्धृत की है।

दोष निरूपण के सम्बन्ध में रीति काल के अन्तिम आचार्य ग्वाल ने अपेक्षा-कृत अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। इन्होंने अपने 'दूषण दर्पण' नामक ग्रन्थ में इस विषय का पर्याप्त विस्तार किया है और परम्परा से मान्य आचार्य केशव और शृंगार शिरोमणि कविवर बिहारी के कतिपय शब्दों के प्रयोग औचित्य पर सन्देह प्रकट किया है। इन्होंने केशव कृत 'रसिक प्रिया' में प्रयुक्त 'उरमाई' शब्द को इसलिए असंगत बताया है, क्योंकि यह ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द है। और बिहारी के एक दोहे में प्रयुक्त 'नाक' शब्द ग्वाल ने ग्राम्यत्व दोष माना है। इस दृष्टि से ग्वाल की दोष विषयक ऐसी सूक्ष्म विवेचना निश्चय ही हिन्दी काव्य शास्त्रीय परम्परा में एक मौलिक देन कही जा सकती है।

समग्र रीति साहित्य में मौलिकता की दृष्टि से रस और नायक-नायिका भेद की विशेष चर्चा की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि रस निरूपण और नायक-नायिका भेद विवेचन परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से अन्य प्रान्तीय साहित्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। रस विशेषकर शृंगार रस और उसके आलम्बन विभाव के रूप मे वर्णित हिन्दी का नायक-नायिका भेद संस्कृत में निरूपित नायक-नायिका भेद की समता में अधिक व्यवस्थित और प्रौढ़ है। यों कृपाराम, सुन्दर, मतिराम और पद्मा-कर आदि कवियों ने भानु की 'रस मंजरी' का पूर्ण अवलम्ब ग्रहण किया है, परन्तु इन शृंगारिक कवियों की दृष्टि उनसे सर्वथा भिन्न थी। यथा, भानु ने जहाँ 'रस मंजरी' में शृंगारेतर रसों की भी चर्चा की है, वहाँ सुन्दर और मतिराम जैसे कवियो

। [illegible] अन्य ग्रन्थ का आश्रय लेते हुए भी क्रमशः सुन्दर श्रृंगार और रसराज में मात्र शृंगार और तदन्तर्गत नायक-नायिका भेद विषय का पर्याप्त उपबृंहण किया है। यह [illegible] इन रीतिकारों की नव उपलब्धि की द्योतक है।

शृंगारेतर रसों का विवेचन अधिक विस्तारपूर्वक तो नहीं हुआ, किन्तु यत्र-तत्र नवोपलब्धि की झलक अवश्य मिलती है। यथा, देव ने करुण रस के पाँच भेदो का निरूपण किया है—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण। इसी प्रकार इन्होंने शान्तरस के भी दो भेदों की नवीन कल्पना की है—भक्ति मूलक शान्त और शुद्ध शान्त।

जहाँ तक संचारी भावों का सम्बन्ध है, आचार्य केशव ने 'विवाद' और 'आधि' नामक सर्वथा नवीन भेदों की परिकल्पना की है। इसी प्रकार ग्वाल ने आठ सात्विक भावों का उल्लेख किया है—और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर इनकी चालीस संख्याएँ मानी हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रीति कवियों की मौलिकता का सच्चा और प्रकृत दर्शन उनके द्वारा विवेचित नायक-नायिका भेद में होता है। इस सम्बन्ध मे रीति कवियों का नायक-नायिका भेद और भानु कृत रस मंजरी को सामने रखकर अनुशीलन करने पर स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकती है। यथा, प्रायः यह कहा जाता है कि कृपाराम की 'हित तरंगिनी' की रचना भानु कृत 'रस मंजरी' के आधार पर हुई है। पर दोनों के देखने से पूर्ण पता चलता है कि कृपाराम ने स्थल-स्थल पर अपनी मौलिक दृष्टि का भी विनियोग किया है। ऐसा नहीं है कि 'हित तरंगिनी' की समस्त सामग्री 'रस मंजरी' से ही ग्रहण की गयी है। उदाहरण के लिए कृपाराम ने मुग्धा नवोढ़ा के ललिता वयःसन्धि उदित यौवना जैसे नवीन भेदों की कल्पना की है। इन्होंने स्वकीया के 'सम स्नेहिका' नामक भेद की सर्वथा नूतन अवतारणा की हे। 'रस मंजरी' में यह भेद नहीं मिलता। भानु ने परकीया के षट् भेदों की चर्चा की ह। पर कृपाराम ने 'स्वयं दूती' नामक एक नवीन भेद और अभिहित किया है।

नायिका भेद के सन्दर्भ में आचार्य देव की नव उपलब्धियाँ विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। इन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी नायिका भेद की परम्परा में मान्य परिपाटी से भिन्न नायक-नायिका भेद का वर्गीकरण प्रस्तुत करने के साथ ही 'भवानी विलास' मे नायिका भेद के वर्गीकरण की नूतन संगतियाँ भी बैठाने का सफल प्रयास किया है। ये नूतन संगतियाँ दो प्रकार की हैं—प्रथम संगति के अन्तर्गत पूर्वानुराग, प्रथम संयोग और सुख भोग आता है, जिसमें क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के विभिन्न भेदो को अन्तर्भूत किया गया है और द्वितीय के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के क्रमश काम की दस दशाएँ, दस अवस्थाएँ एवं दस हावों का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त इन्हने नायिका भद के काव्य शास्त्र वैद्यक और काम शास्त्रीय बातो

का सुंदर समन्वय किया है और वियोग की दस दशाओं का [illegible] [illegible] विवेचन किया है।

देव के पश्चात् आचार्य भिखारीदास की नायक-नायिका भेद विवेचनगत तत्व उपलब्धियों की विशेष चर्चा होती है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य दास ने इस विषय में कतिपय मौलिक तथ्यों का प्रतिपादन किया है। यथा, सर्वप्रथम इन्होंने खंडिता को भी स्वकीया के अन्तर्गत रखकर अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। इसी प्रकार इन्होंने 'त्रपा' (लज्जा) और हास्य रस के संयोग से परकीया के गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता और मुदिता को स्वकीया में अन्तर्भूत किये जाने की सम्भावना व्यक्त की है और परकीया में स्वकीया के मुग्धादिक के कर्म की व्याप्ति पर पूर्ण विचार किया है।

रसलीन ने नायिका भेद के सम्बन्ध में परकीया के ऊढ़ा एवं अनूढ़ा भेदों के अन्तर्गत 'अद्भुता' नामक दो नवीन भेदों की कल्पना की है। इनके अतिरिक्त उन्होंने पतिदुःखिता विषयक कुछ नवीन भेदों का उल्लेख किया है। रसलीन के अनुसार पतिदुःखिताएं तीन प्रकार की होती हैं—१—मूढ़पति दुःखिता, २—बालपति दुःखिता एवं ३— वृद्धपति दुःखिता।

आचार्य दास और कविवर तोष ने विभिन्न जातियों को दूती के रूप में प्रस्तुत किया है। यह इन आचार्यों की मौलिक धारणा मानी जाती है। कविवर रघुनाथ ने नायिकाभेद की भांति नायक भेद का भी विवेचन किया है। यह विवेचन निश्चय ही एक मौलिक प्रयास है। रीति परम्परा के अन्तिम आचार्य सेवक ने नायकभेद का अधिक विस्तार किया है। नायक का यह विस्तार पूर्ववर्ती परम्परा की तुलना में एक मौलिक प्रयास माना जाता है।

अलंकार निरूपण के सन्दर्भ में आचार्य केशवदास, देव और भिखारीदास की मौलिकता का अधिक उल्लेख किया जाता है। आचार्य केशवदास ने संस्कृत अलंकार शास्त्र की समृद्ध एवं पुष्ट परम्परा की तुलना में कुछ नवीन अलंकारों की चर्चा की है। उदाहरणार्थ, अमित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत और अन्योक्ति नामक अलंकार निश्चय ही नूतन हैं। इनकी सूचना पूर्ववती संस्कृत अलंकार ग्रन्थों में नहीं मिलती। निस्संदेह आचार्य केशव में अलंकारशास्त्र का एक प्रौढ़ पाण्डित्य था, जिसका दर्शन परवर्ती आचार्यों में बहुत कम होता है। आचार्य देव ने शब्द रसायन में कुछ नवीन अलंकारों की चर्चा की है, जिनमें गुणवत्, लेख, संकीर्ण और सिंहावलोकन की गणना होती है।

आचार्य दास ने अलंकारों के निरूपण में पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। इन्होंने ४४ अलंकारों को ११ वर्गों में प्रस्तुत किया है। इन्होंने जिन नवीन अलंकारों की उद्भावना की है, उनमें वीप्सा, स्वगुण, रसनोपमा, देहरीदीपक, सिंहावलोकन

आदि मुख्य हैं। कुछ अलंकारों को दास ने समानता के आधार पर भी निरूपित करने की चेष्टा की है। यथा, लुप्तोत्प्रेक्षा की समानता काका व्यंलिग में प्रदर्शित की गयी है तथा भेदकातिशयोक्ति को अनन्वय का व्यंग्य कहकर दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है। इस प्रकार का प्रयास इसके पूर्व नहीं किया गया। अतः आचार्य दास की यह मौलिख देन है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुवलयान्द के ८ प्रमाण भेदों में उल्लिलिखित 'ऐतिह्य' नामक भेद को ग्रहण न करके इन्होंने 'आत्मतुष्टि' नामक भेद की कल्पना कर ली। आचार्य दास की मौलिकता का सबसे प्रकृष्ट रूप 'तुक निर्णय' में लक्षित होता है। तुक का इतना विस्तृत और विशद विवेचन न तो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में ही हुआ है और न हिन्दी के ही किसी आचार्य ने इस विषय पर किसी प्रकार का प्रयत्न किया है। इन्होंने उर्दु के 'रदीफ' की भांति अन्य तुक के अन्तर्गत वीप्स, यामकी और लाटी नामक तुक मानी है।

संक्षिप्त शैली के आचार्यों में जसवन्त सिंह ने यमक को अनुप्रास के अन्तर्गत रखकर निश्चय ही परम्परा से भिन्नता प्रकट की है। इसी प्रकार गोविन्द कवि ने श्लेष के सम्बन्ध में कुछ मौलिक तथ्य प्रस्तुत किए हैं, जो संस्कृत में नहीं मिलते। यथा, इन्होंने श्लेष के तीन भेद किए हैं—प्रकृतप्रकृत, प्रकृताप्रकृत, अप्रकृत। निष्कर्षतः संस्कृत अलंकार शास्त्र की तुलना में हिन्दी अलंकर शास्त्र के आचार्यो ने कम से कम २० नवीन अलंकारों को जन्म दिया और ईश्वर कवि जैसे आलंकारिकों ने 'यमक' सतसई जैसे ग्रन्थ लिखकर इस दिशा में एक नवीन कड़ी जोड़ी इसे सर्वतोभावेन स्वीकार किया जा सकता है। पुनः चित्रकाव्य की दृष्टि से संस्कृत की विशाल काव्यशास्त्रीय परम्परा में काशिराजकृत चित्रचन्द्रिका जैसे ग्रन्थ प्रायः नहीं मिलते। अतः ऐसे ग्रन्थ नितान्त मौलिक कहे जा सकते हैं।

शृंगारिक विवेचन के अन्तर्गत रीति कवियों ने रूप चित्रण से सम्बद्ध जिस प्रकार की नव उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे परम्परा की देन नहीं कही जा सकती, अपितु ऐसे वर्णन और ऐसी कल्पनाएँ दोनों ही कवि की मौलिक प्रतिभा के परिणाम हैं। रूपचित्रण के अन्तर्गत नखशिख काव्य इस अर्थ में अवश्य भिन्न है कि जहां संस्कृत के कवियों ने नायक के विशेषकर देवता के अंगों के सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से अद्भुत काव्यात्मक स्वारस्य प्रदर्शित किया है। वहां रीति कवियों ने संस्कृत की वही पद्धति नहीं अपनाई बल्कि उनपर कुछ प्रभाव तो फारसी के 'सरापा' का लक्षित होता है और कुछ प्रभाव संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में वर्णित नखशिख का। पर यह स्मरणीय है कि रीति कवियों ने जिस प्रकार के स्वतन्त्र नखशिख विषयक वर्णन का संकेत किया है, वैसा नखशिख विषयक प्रचुर साहित्य अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। अतः निश्चय ही हिन्दी रीति काव्य की परम्परा में नखशिख साहित्य पर्याप्त महत्व रखता है।

श्रृंगार विवेचन के अन्तर्गत श्रृंगारिक प्रसाधन का विशिष्ट महत्व है। कुछ श्रृंगारिक प्रसाधन ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग केवल रीतिकाव्य में ही हुआ है। गोदना और तिल इसी प्रकार के श्रृंगारिक प्रसाधन हैं, जिनकी चर्चा संस्कृत, प्राकृत आदि श्रृंगारिक काव्य-परम्पराओं में नहीं की गयी। रीति काव्य के विशिष्ट वस्त्रों में 'दाराई', 'ताफता', 'डोरिया' और पंचतोरिया' आदि वस्त्र ऐसे हैं, जिनका उल्लेख रीतिकाल के देव, बिहारी और रसलीन आदि कवियों ने ही किया है, अन्यत्र इन वस्त्रों का वर्णन विरल है।

रीतिकाव्य के आभूषणों में कुछ ऐसे भी आभूषण मिलेंगे, जिनसे स्पष्ट पता चलता है कि पूर्ववर्ती परम्परा में श्रृंगार के सन्दर्भ में इन आभूषणों के वर्णन का प्रचलन नहीं हुआ था, यथा लौंग और सींक जैसे नाक के आभूषणों की चर्चा केवल बिहारी, रहीम और सेवक की रचनाओं में हुई है।

विलास और उपयोग के चित्रण में रीतिकाल के कवियों ने अपनी प्रगाढ़ तन्मयता प्रदर्शित की है। इसमें सन्देह नहीं कि दम्पति रति की यथार्थ और मधुर कल्पना की अभिव्यक्ति में इन रीति कवियों ने अपनी असामान्य प्रतिभा और रुचि प्रकट की है और जैसा कि कहा जा चुका है कि इन कलाकारों ने आदर्शवाद के पर्दे मे यथार्थ को प्रवंचित करने की अनधिकार चेष्टा कथमपि नहीं की।

गूढ़ श्रृंगारिक प्रसंगोदभावना में बिहारी और प्रतापसाहि की नव उपलब्धियां मान्य हैं। वस्तुत: श्रृंगारिक परिवेश में श्रृंगार के ऐसे गूढ़ एवं मार्मिक स्थलों का निरूपण मुक्त क श्रृंगारिक काव्यों में प्रायः नहीं हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि रूढ़ियों पर टिकी हुई ऊहाओ के कारण कभी-कभी प्रसंग-विधान की सहज सरसता प्रायः नष्ट हो जाया करती है, किन्तु प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में ऐसे-ऐसे छन्द मिलेंगे जिनकी सरसता एवं मार्मिक प्रसंगोद्भावना के जोड़ में संस्कृत और प्राकृत आदि श्रृंगारिक मुक्तकों के छन्द प्रायः पीछे रह गये हैं।

रीतिकाव्य में उपलब्ध नायिका भेद जहां एक ओर शास्त्रीय विवेचन को आधार बनाकर चला है, वहीं दूसरी ओर उसमें साहित्यिक सौष्ठव और श्रृंगार की कोमल एवं सूक्ष्म अनुभूतियों को अनेकानेक शैलियों में अभिव्यंजित करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। अतः साहित्यक सर्जन और शास्त्रीय आलोचना दोनों के समन्वय की दृष्टि से रीतिकाव्य का विपुलांश निश्चय ही विश्व वाङ्मय में अपना अन्यतम स्थान रखता है।

वस्तुत: रीतिकाल के समस्त नायिकाभेद का विवेचन लोकतात्विक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि रीतिकाव्य से पूर्व संस्कृत और अपभ्रंश के श्रृंगारिक मुक्तकों में लोकतात्विक दृष्टियों का अभाव नहीं है, किन्तु हिन्दी नायिका भेद जैसी विशदता और विविधता का दर्शन वहाँ नहीं होता नायिका भेद के अन्तर्गत जिन प्रसंगों मे मौलिक तत्वों की प्रधानता है, उनमें वैवाहिक जीवन, नैहर और ससुराल स्वकीय

आदि मुख्य हैं। कुछ अलंकारों को दास ने समानता के आधार पर भी निरूपित करने की चेष्टा की है। यथा, लुप्तोत्प्रेक्षा की समानता काका व्यलिंग में प्रदर्शित की गयी है तथा भेदकातिशयोक्ति को अनन्वय का व्यंग्य कहकर दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है। इस प्रकार का प्रयास इसके पूर्व नहीं किया गया। अत: आचार्य दास की यह मौलिख देन है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुबलयान्द के ८ प्रमाण भेदों में उल्लिलिखित 'ऐतिह्य' नामक भेद को ग्रहण न करके इन्होंने 'आत्मतुष्टि' नामक भेद की कल्पना कर ली। आचार्य दास की मौलिकता का सबसे प्रकृष्ट रूप 'तुक निर्णय' में लक्षित होता है। तुक का इतना विस्तृत और विशद विवेचन न तो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में ही हुआ है और न हिन्दी के ही किसी आचार्य ने इस विषय पर किसी प्रकार का प्रयत्न किया है। इन्होंने उर्दु के 'रदीफ' की भांति अन्य तुक के अन्तर्गत वोप्स, यामको और लाटी नामक तुक मानी है।

संक्षिप्त शैली के आचार्यों में जसवन्त सिंह ने यमक को अनुप्रास के अन्तर्गत रखकर निश्चय ही परम्परा से भिन्नता प्रकट की है। इसी प्रकार गोविन्द कवि ने श्लेष के सम्बन्ध में कुछ मौलिक तथ्य प्रस्तुत किए हैं, जो संस्कृत में नहीं मिलते। यथा, इन्होंने श्लेष के तीन भेद किए हैं—प्रकृतप्रकृत, प्रकृताप्रकृत, अप्रकृत। निष्कर्षत: संस्कृत अलंकार शास्त्र की तुलना में हिन्दी अलंकर शास्त्र के आचार्यो ने कम से कम २० नवीन अलंकारों को जन्म दिया और ईश्वर कवि जैसे आलंकारिकों ने 'यमक' सतसई जैसे ग्रन्थ लिखकर इस दिशा में एक नवीन कड़ी जोड़ी इसे सर्वतोभावेन स्वीकार किया जा सकता है। पुन: चित्रकाव्य की दृष्टि से संस्कृत की विशाल काव्यशास्त्रीय परम्परा में काशिराजकृत चित्रचन्द्रिका जैसे ग्रन्थ प्राय: नहीं मिलते। अत: ऐसे ग्रन्थ नितान्त मौलिक कहे जा सकते हैं।

शृंगारिक विवेचन के अन्तर्गत रीति कवियों ने रूप चित्रण से सम्बद्ध जिस प्रकार की नव उद्‌भावनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे परम्परा की देन नहीं कही जा सकती, अपितु ऐसे वर्णन और ऐसी कल्पनाएँ दोनों ही कवि की मौलिक प्रतिभा के परिणाम हैं। रूपचित्रण के अन्तर्गत नखशिख काव्य इस अर्थ में अवश्य भिन्न है कि जहां संस्कृत के कवियों ने नायक के विशेषकर देवता के अंगों के सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से अद्‌भुत काव्यात्मक स्वारस्य प्रदर्शित किया है। वहां रीति कवियों ने संस्कृत की वही पद्धति नहीं अपनाई बल्कि उनपर कुछ प्रभाव तो फारसी के 'सरापा' का लक्षित होता है और कुछ प्रभाव संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में वर्णित नखशिख का। पर यह स्मरणीय है कि रीति कवियों ने जिस प्रकार के स्वतन्त्र नखशिख विषयक वर्णन का संकेत किया है, वैसा नखशिख विषयक प्रचुर साहित्य अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। अत: निश्चय ही हिन्दी रीति काव्य की परम्परा में नखशिख साहित्य पर्याप्त महत्व रखता है।

श्रृंगार विवेचन के अन्तर्गत श्रृंगारिक प्रसाधन का विशिष्ट महत्व है। कुछ श्रृंगारिक प्रसाधन ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग केवल रीतिकाव्य में ही हुआ है। गोदना और तिल इसी प्रकार के श्रृंगारिक प्रसाधन हैं, जिनकी चर्चा संस्कृत, प्राकृत आदि श्रृंगारिक काव्य-परम्पराओं में नहीं की गयी। रीति काव्य के विशिष्ट वस्त्रों में 'दाराई', 'ताफ़ता', 'डोरिया' और पंचतोरिया' आदि वस्त्र ऐसे हैं, जिनका उल्लेख रीतिकाल के देव, बिहारी और रसलीन आदि कवियों ने ही किया है, अत्यत्र इन वस्त्रों का वर्णन विरल है।

रीतिकाव्य के आभूषणों में कुछ ऐसे भी आभूषण मिलेंगे, जिनसे स्पष्ट पता चलता है कि पूर्ववर्ती परम्परा में श्रृंगार के सन्दर्भ में इन आभूषणों के वर्णन का प्रचलन नहीं हुआ था, यथा लौंग और सींक जैसे नाक के आभूषणों की चर्चा केवल बिहारी, रहीम और सेवक की रचनाओं में हुई है।

विलास और उपयोग के चित्रण में रीतिकाल के कवियों ने अपनी प्रगाढ़ तन्मयता प्रदर्शित की है। इसमें सन्देह नहीं कि दम्पति रति की यथार्थ और मधुर कल्पना की अभिव्यक्ति में इन रीति कवियों ने अपनी असामान्य प्रतिभा और रुचि प्रकट की है और जैसा कि कहा जा चुका है कि इन कलाकारों ने आदर्शवाद के पर्दे में यथार्थ को प्रवंचित करने की अनधिकार चेष्टा कथमपि नहीं की।

गूढ़ श्रृंगारिक प्रसंगोदभावना में बिहारी और प्रतापसाहि की नव उपलब्धियां मान्य हैं। वस्तुतः श्रृंगारिक परिवेश में श्रृंगार के ऐसे गूढ़ एवं मार्मिक स्थलों का निरूपण मुक्त क श्रृंगारिक काव्यों में प्रायः नहीं हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि रूढ़ियों पर टिकी हुई ऊहाओ के कारण कभी-कभी प्रसंग-विधान की सहज सरसता प्रायः नष्ट हो जाया करती है, किन्तु प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में ऐसे-ऐसे छन्द मिलेंगे जिनकी सरसता एवं मार्मिक प्रसंगोद्भावना के जोड़ में संस्कृत और प्राकृत आदि श्रृंगारिक मुक्तकों के छन्द प्रायः पीछे रह गये हैं।

रीतिकाव्य में उपलब्ध नायिका भेद जहां एक ओर शास्त्रीय विवेचन को आधार बनाकर चला है, वहीं दूसरी ओर उसमें साहित्यिक सौष्ठव और श्रृंगार की कोमल एवं सूक्ष्म अनुभूतियों को अनेकानेक शैलियों में अभिव्यंजित करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। अतः साहित्यक सर्जन और शास्त्रीय आलोचना दोनों के समन्वय की दृष्टि से रीतिकाव्य का विपुलांश निश्चय ही विश्व वाङ्मय में अपना अन्यतम स्थान रखता है।

वस्तुतः रीतिकाल के समस्त नायिकाभेद का विवेचन लोकतात्विक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि रीतिकाव्य से पूर्व संस्कृत और अपभ्रंश के श्रृंगारिक मुक्तकों में लोकतात्विक दृष्टियों का अभाव नहीं है, किन्तु हिन्दी नायिका भेद जैसी विशदता और विविधता का दर्शन वहाँ नहीं होता नायिका भेद के अन्तर्गत जिन प्रसंगों में मौलिक तत्वों की प्रधानता है, उनमें वैवाहिक जीवन, नैहर और ससुराल स्वकीय

का आदर्श, ननंदऔर भाभी, देवर और भाभी, सास और वधू, सपत्नी, नववधू सामाजिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वास, भूत-प्रेत पर विश्वास, जादू-टोना, ज्योतिष शुकुन एवं अपशकुन के प्रतीक आदि मुख्य हैं।

रीतिकाव्य में षड्ऋतुओं के वर्णन की परम्परा के साथ बारहमासा की भी परम्परा मिलती है, यह कहा जा चुका है कि जहां षड्ऋतुओं की परम्परा का उत्स संस्कृत साहित्य है, वहां बारहमासा की परम्परा लोकसाहित्य से चली है, क्योंकि संस्कृत में बारहमासा की परम्परा का संधान अभी तक नहीं हो सका। षड्ऋतुओं में बसन्त और ग्रीष्म वर्णन कालिदास के 'ऋतुसंहार' में वर्णित ग्रीष्म से अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित हुआ है। बसन्त के वर्णन में देव, बिहारी, पद्माकर और ग्वाल जैसे कवियों ने जैसी रमणीयता और भावात्मकता व्यक्त की हैं, वह अन्यत्र नहीं लक्षित होती पावस के वर्णन में सेनापति और ग्वाल की दृष्टियाँ नितान्त मौलिक हैं।

पर्वोत्सवों में मानवीय हृदय के उल्लास एवं उमंग की भव्यता का सत्स्वरूप परिलक्षित होता है। इसमें सन्देह नहीं कि रीति कवियों ने बसन्तान्तर्गत होली के वर्णन में प्रकृत उल्लास की छटा प्रदर्शित की है। इस प्रकार का वर्णन समस्त संस्कृत काव्य में ढूढ़ने से भी उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार बुन्देल-खन्ड के जन जीवन में व्याप्त कतिपय विशिष्ट त्योहारों का जैसी रमणीयता रीतिमुक्त कवि ठाकुर आदि में देखने को मिली है, वह पूर्ववर्ती शृंगारिक परम्परा में विरल है। उदाहरण के लिए अरवती, बरसाइत, गनगोर, सलोनों आदि पर्वों के वर्णन में लगता है, इन कवियों का हृदय भी लिपटा हुआ है। क्योंकि इनके पर्वोत्स विषयक चित्रों में अधिक सहृदय संवेद्यता एवं संप्रेषणीयता विद्यमान है।

विप्रलम्भ शृंगार की उपादेयता और महत्ता विश्व के प्रत्येक वाङ्मय में स्वीकार की गयी है। हिन्दी रीतिकाव्य का विपुलांश वियोग शृंगार के ललित उद्‌गारों से भरा पड़ा है। मौलिकता की दृष्टि से वियोग के सन्दर्भ में मानसिक अवस्थाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति में रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा रीतिमुक्त कवियों—घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर, और द्विजदेव आदि ने अधिक सफलता प्राप्त की है। वियोग के अन्तर्गत नायिका की कृशता और ताप निरूपण में भी रीति कवियों ने संस्कृत, प्राकृत और फारसी परम्परा के कवियों से कई स्थलों पर पूर्ण मौलिकता प्रकट की है ऐसा नहीं है कि इन रीति कवियों ने समस्त वर्णन प्रणाली और उक्तियां परम्परा से ही ग्रहण की है, अपितु कहीं इनकी बड़ी मौलिक एवं नवीन सूझ का भी दर्शन होता है

वियोग शृंगार के अन्तर्गत षड्ऋतुओं के वर्णन में रूढ़ियों का अधिक आग्रः होने पर भी इनकी विशिष्ट मानसिक तन्मयता प्रच्छन्न नहीं है। रीतिकाव्य के अनुद्घाटित मौलिक तथ्यों का निरूपण यदि शुद्ध सौन्दर्य एवं कलापरक दृष्टियों से किय जाय तो निस्सदेह निरूपण की यह पद्धति अधिक उपादय हो सकती है रीति कविय

की ८ एव सौंदय परक दृष्टियो को सर्वोपरि स्थान देते हुए पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का भी यही विचार है कि ब्रजभाषा के कवियो ने सौन्दर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद कोई सौन्दर्य उनसे छूटा हो। सत्य तो यह है कि रीतिकाव्य का वास्तविक रूप रीति कवियों के ललित एवं कलात्मक उद्‌गारों में ही व्यक्त हुआ है और कला और सौन्दर्य ही उनका साध्य था और कला और सौन्दर्य के चरमोत्कर्ष में वे निरन्तर लगे रहे।

यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रीति कवियों में मतिराम, पद्‌माकर जैसे कलाकारों के काव्यपक्षीय तत्वों के मार्मिक विश्लेषण करने में कुछ भी कोर-कसर नही रखी तथा रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द, ठाकुर और द्विजदेव के सहज एव ऋजु प्रेम तत्वों की श्लाघा करते वे अघाते नहीं थे, परन्तु रीतिकाव्य के ललित उदगारों एवं उसके सौन्दर्य-बोध का व्यापक उद्‌घाटन उन्होंने नहीं किया, जो परमापेक्षित था। इस कारण रीतिकाव्य के सौन्दर्य का आयाम एक विशिष्ट सीमा और इयत्ता से आगे न बढ़ सका। हां, इधर शुद्ध साहित्यिक दृष्टि को आधार बनाकर भी कुछ अनुसंधान हुआ है पर समग्रता की दृष्टि से यह अधिक महत्व नहीं रखता शैलीगत वैविध्य और अभिव्यंजना के नाना प्रकार के रूपों की दृष्टि से रीति वाङ्मय कितना समृद्ध एवं विशाल प्रमाणित हो सकता है, यह पुनर्विचारणीय है।

रीतिकवियों के शिल्पगत उत्कर्ष की प्रकृत व्यंजना उनकी शब्दगत साधना मे परिलक्षित होती है। वास्तव में वर्णमैत्री, शब्द मैत्री और अर्थ लावण्य की दृष्टि से रीतियुग का सजग कलाकार पूर्ववर्ती काव्य परम्पराओं में अग्रणी रहा है। रीतिकाल मे शब्द-चयन और ध्वनि संतुलन के संदर्भ में प्रायः पद्‌माकर और पजनेश का प्रयास मौलिक कहा जा सकता है। यही नहीं, वीप्सा और श्लेष की चारुता की दृष्टि से उस युग के साहित्य में नूतनता का स्पष्ट आभास मिलता है और केशव की अपेक्षा सेनापति का श्लेष वर्णन हिन्दी काव्य की प्रकृति के अधिक मेल में हैं। केशव ने जहाँ श्लेष के प्रयोगों में संस्कृत के अपार शब्द भण्डार से लाभ उठाया है, वहाँ सेनापति ने हिन्दी के शब्द भण्डार विशेषकर हिन्दी के ठेठ शब्दों को अधिक ग्रहण किया है।

साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से रीतियुग की भाषा का अधिक महत्व है। यों रीतिपूर्ण भक्ति वाङ्मय में ब्रजभाषा के विकास और संवर्धन का प्रयास अवश्य लक्षित होता है, पर साहित्यिक प्रौढ़ता एवं गरिमा रीतिकाल में ही आ सकी। शब्द भण्डार की दृष्टि से रीति वाङ्मय पर्याप्त समृद्ध एवं सुसम्पन्न है। इस भाषा के कलेवर को संपुष्ट करने में अरबी, फारसी, प्रादेशिक तथा संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का अत्यधिक योग रहा। रीतिकाव्य में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं की शब्दावली इसका ज्वलन्त प्रमाण है। अतः भाषा विषयक यह उपलब्धियाँ मान्य हैं।

रीतिकाव्य में मुहावरे और लोकोक्तियों का अभाव नहीं है, जैसा कि कतिपय मान्य आलोचकों ने बताया है। यद्यपि रीतिकाव्य मुहावरे की दृष्टि से उर्दू और फारसी काव्य से प्रभावित अवश्य है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें मौलिक मुहावरों का नितान्त अभाव है। निस्संदेह बिहारी, देव, दास और पद्माकर ने अपनी रचनाओं में मुहावरों के सूक्ष्म प्रयोग द्वारा भाषा के संवर्धन में पूर्ण योग दिया है। मुहावरे की भाँति लोकोक्तियों के विधान में ठाकुर, पद्माकर औ भुवनेश जैसे कवियों ने पर्याप्त मौलिकता प्रकट की है।

पूरे रीतिकाल में लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से घनानन्द का नाम अग्रगण्य है। हाँ, बिहारी, देव और पद्माकर के काव्यों में भी यत्र-तत्र लाक्षणिक प्रयोगों की नवीन झलक अवश्य मिलती।

उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से रीतिकाव्य अत्यन्त समृद्ध है। बिहारी, देव और पद्माकर की उक्तियाँ परम्परा से बहुत भिन्न हैं। घनानन्द की रचनाएं लाक्षणिक वक्रता मूलक उक्ति वैचित्र्य की दृष्टि से नितान्त मौलिक है। उन्होंने लाक्षणिक वक्रता के अन्तर्गत ऐसे-ऐसे उक्ति-वैचित्र्य के प्रयोग किए हैं, जिनके जोड़ के उदाहरण अन्यत्र नही मिलते।

अप्रस्तुत विधान के द्वारा रीतिकवियों ने काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष के सौन्दर्य विधान में पूर्ण योग दिया है। कहीं-कहीं परम्परा से भिन्न अप्रस्तुत योजना द्वारा अपनी मौलिक दृष्टि का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत किया है। यथा, रूपचित्रण के अन्तर्गत कुही पक्षी, चीता, किवलनुमा और जल चादर आदि अप्रस्तुत विधान सर्वथा नवीन हैं।

बहुत प्राचीन काल से कविगण अपनी काव्यात्मक सरसता के निमित्त कुछ विशिष्ट काव्य रूढ़ियों को ग्रहण करते रहे हैं। इन काव्य रूढ़ियों में कुछ ऐसी भी है, जो परम्परा में नहीं मिलती, यथा, गुड़हर का फूल। प्राचीन काव्य रूढ़ियों में सर्प का मणिप्रेम, हंस का नीर क्षीर विवेक आदि को सर्वथा नवीन संदर्भ में रख कर देखा गया है।

रंगों के सूक्ष्म एवं कोमल प्रयोग में रीतिकवियों की काव्य-प्रतिभा संस्कृत आदि कवियों से अग्रणी रही है। पूरे रीतिकाल में बिहारी, देव, मतिराम, भूषण, और पद्माकर आदि कलाकारों ने वर्णों के प्रयोग द्वारा जैसी मार्मिक रस संवेदना उत्पन्न की है, वह अन्यत्र कम देखने को मिली है।

छन्द योजना की दृष्टि से रीति कवियों ने कवित्त और सवैयों के प्रयोग में विशेष सफलता प्राप्त की है। कवित्तों में देव घनाक्षरी छन्द देव कवि द्वारा आविष्कृत होने के कारण मौलिक कहा जाता है।

निष्कषत अभी तक दरबारों से सम्बद्ध विशिष्ट साहित्यिक सजना ही हमारी

समीक्षा का आधार बनती रहीं और दरबारों से असम्बद्ध स्वतंत्र रीतिकाव्य की कृतियों का मूल्यांकन प्रायः उपेक्षित रहा। पर रीति काव्य के ठीक और वास्तविक मूल्यांकन के लिए दरबारों से असम्बद्ध एवं अनुपलब्ध सामग्री का भी उपयोग और विनियोग परमापेक्षित है। यदि रीति काव्य विषयक अनुपलब्ध सामग्री का संधान कर लिया जाता है तो निस्संदेह उसकी न जाने और कितनी अभिव्यंजना की सरणियाँ दृष्टिगत होगी।

यद्यपि काव्य की तुलनात्मक समीक्षा ने बिहारी, देव और मतिराम के काव्य-गत सौष्ठव को परखने की एक दृष्टि अवश्य दी है, परन्तु भावुकता के अतिरेक के कारण हमने उनके काव्य के सूक्ष्म गुणों को सन्तुलित मानस की कसौटी पर कम परखा है। अतः पद्म सिंह शर्मा और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र की मौलिकता निरूपण की दृष्टियाँ तथा संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी आदि कवियों की तुलना में प्रस्तुत उनकी भावुकतामूलक समीक्षा पद्धतियाँ आज पुरानी (आउट आफ डेट) हो गयी हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अभी तक हिन्दी रीतिकाव्य का शास्त्रीय विवेचन प्रायः संस्कृत के आधार पर होता रहा है पर रीति काव्य का शास्त्रीय विवेचन स्वतंत्र रूपेण होने की अपेक्षा है, क्योंकि उसके शास्त्रीय विवेचन की दृष्टियां संस्कृत की शास्त्रीय विवेचन पद्धति से इस अर्थ में अवश्यक भिन्न है कि जहाँ संस्कृत में शुद्ध आलोचनात्मक दृष्टियाँ प्रधान हैं, वहां हिन्दी रीति कवियों की दृष्टियां साहित्यिक सर्जना पर भी बराबर बल देती रही हैं।

प्रायः रीतिकाव्य के साथ अश्लीलता का भी सम्बन्ध जोड़ा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाल में कुछ ऐसी भी रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनमें कुरुचिपूर्ण भावों की प्रधानता है और वे शृंगार का ऐसा अनावृत स्वरूप व्यंजित करती हैं, जिससे निश्चय ही रीतिकाव्य की रस संवेदना की हानि हुई है। पर जहां दाम्पत्य जीवन का वैविध्यपूर्ण निरूपण के सन्दर्भ में कल्पना वैभव से मंडित अनेकशः चित्रों की आवृत्तियाँ हुई हैं, वहां रीतिकाव्य बेजोड़ है और उसका भाव एवं सौन्दर्य दोनों ही पक्ष अगर्हित है।

रीतिकाव्य की मौलिक उपलब्धियाँ बहुत कुछ परम्परा-सापेक्ष्य है और संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में रीतिकाव्य के शिल्पगत वैशिष्ट्य और उसकी कलात्मक प्रौढ़ि की दृष्टि से किया गया अनुशीलन निश्चय ही रीति काव्य के एक उपेक्षित एवं प्रछन्न मार्ग का उद्घाटन कर सकता है, इसमें दो मत नहीं हैं कारण यह है कि रीति परम्परा का जन्म और विकास पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य परम्पराओं के क्रोड़ में हुआ। इसीलिए रीतिकाव्य में परम्परा का जितना आग्रह है, शायद ही किसी काव्य में मिले। फिर भी, रीतिकाल में रीतिबद्ध काव्य के समानान्तर एक ऐसी काव्य धारा प्रवाहित होती रही, जिसके स्वच्छन्द एवं परम्परा विच्छिन्न गुणों के कारण

रीतिकाव्य के आलोचकों ने इसे रीति मुक्त काव्य की अभिधा दी है। चूँकि वह काव्य परम्परा की मान्यताओं को उसी रूप में ग्रहण करना नहीं चाहता। अतः इसने काव्य की पुरानी रूढ़ियों को एक सर्वथा नवीन सन्दर्भ में रखकर देखा है। अभी तक रीति-मुक्त परम्परा के जोड़ का काव्य न तो संस्कृत में मिला और न फारसी काव्य परम्परा में ही। अतः यह काव्य अपनी भाव-भंगिमा की नूतनता और सौन्दर्य की विभिन्न चित्रावलियों के निर्माण की क्षमता में अद्वितीय सिद्ध हुआ है। उदाहरणार्थ रीति स्वच्छन्द काव्य धारा के उन्नायक घनानन्द की काव्य चेतना सौन्दर्य के जिस उदात्त एवं भव्य धरातल का प्रणयन करती है, वहां तक जाने का न तो हिन्दी के किसी शृंगारिक कवि में साहस था और न संस्कृत काव्य कर्त्ताओं में ही वहां तक पहुंचने की ऐसी सामर्थ्य दृष्टिगत हुई है। हाँ, देव और पद्‌माकर की दृष्टियाँ रीतिबद्धता और रीति-मुक्तता के मध्य की स्थिति अवश्य प्रकट करती है, क्योंकि उनकी सी कल्पना समन्वित रम्य चित्रावलियों के निर्माण का कौशल कम दिखायी पड़ता है।

भक्तिकाव्य अपनी पूत एवं अनाविल भाव राशियों का भण्डार अवश्य है, किन्तु उसमें वचन-भंगिमा के सौन्दर्य निरूपण करने वाले प्रकृष्ट चित्रों का बहुत कुछ अभाव है, इन रंगीन एवं विविधवर्णी चित्रों की प्रदर्शनी आपको रीतिकाव्य में ही मिलेगी, अन्यत्र नहीं। रीतिकाव्य वस्तुतः शृंगारिक मुक्तकों की एक ऐसी अटूट एवं अविच्छिन्न माला है, जिसमें भाव, कल्पना और अनुभूतियों के साथ ही कवि कौशल के अनेकशः नव्य एवं मौलिक कुसुम अनुस्यूत तथा संग्रथित हैं। भारत की किसी भी भाषा में इतना विशाल एवं समृद्ध शृंगारिक वाङ्मय नहीं मिलता, अतः इस दृष्टि से इसका महत्व निश्चय ही अप्रतिम एवं बेजोड़ है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

सहायक ग्रंथ-सूची

(क) संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थ

क्रम	ग्रन्थ का नाम	लेखक
१	अलंकार शेखर	केशव मिश्र
२	अमरु शतक	अमरु (टी० ऋषीश्वरनाथ भट्ट)
३	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
४	आर्यासप्तशती	गोवर्धनाचार्य (टी० रमाकान्त त्रिपाठी)
५	अथर्ववेद	—
६	औचित्य विमर्श	आचार्य क्षेमेन्द्र (टी० डा० राममूर्ति त्रिपाठी)
७	कुमार सम्भव	कालिदास (सं० टी० मल्लिनाथ)
८	काव्य मीमांसा	राजशेखर (टी० गंगासागर राय)
९	काव्य प्रकाश	आचार्य मम्मट (टी० हरिमंगल मिश्र)
१०	काव्यालंकार	भामह (टी० देवेन्द्रनाथ शर्मा)
११	काव्यालंकार	रुद्रट
१२	काव्यादर्श	दण्डी
१३	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
१४	गाथा सप्तशती	हाल (टी० परमानन्द शास्त्री)
१५	गीत गोविन्दादर्श	जयदेव (टी० रायचन्द नागर)
१६	चित्र मीमांसा	अप्पय दीक्षित
१७	दशरूपक	धनंजय (टी० भोलाशंकर व्यास)
१८	ध्वन्यालोकलोचन	अभिनव गुप्त (टी० जगन्नाथ पाठक)
१९	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन (टी० आचार्य विश्वेश्वर)
२०	नाट्य शास्त्रम्	भरत मुनि
२१	प्रतापरुद्रय शोभूषण	विद्यानाथ
२२	प्रस्थानिकत्रयी	टी० आर० सी० विद्यार्थी
२३	प्राकृत व्याकरणम	हेमचन्द्राचार्य (सं० डा० पी० एल० वैद्य)

२४—प्राकृत पैंगलम् — सं० डा० भोलाशंकर व्यास
२५—भोज प्रबन्ध — बल्लाल पंडित (टी० श्यामसुन्दर त्रिपाठी)
२६—भामिनी विलास — पंडितराज जगन्नाथ (टी० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी)
२७—मेघदूत — कालिदास (संस्कृत टी० मल्लिनाथ)
२८—रस मंजरी — भानु (टी० जगन्नाथ पाठक)
२९—रस तरंगिणी — भानु
३०—रस गंगाधर — पण्डितराज जगन्नाथ
३१—रसार्णव सुधाकर — शिंगभूपाल
३२—ऋतु संहार — कालिदास
३३—वृहत्संगिता — वराहमिहिर
३४—वक्रोक्ति जीवितम् — कुन्तक (सं० एस के० डे)
३५—शृंगार तिलक — कालिदास
३६—शृंगार शतक — भर्तृहरि
३७—श्रीमद्भागवत — —
३८—शृंगार तिलक — रुद्रभट्ट
३९—सुभाषित सुधारत्न भाण्डागारम् — शिवदत्त कविरत्न (सम्पादक)
४०—संदेश रसिक — अब्दुल रहमान (टी० विश्वनाथ त्रिपाठी)
४१—साहित्य दर्पण — विश्वनाथ (टी० शालिग्राम शास्त्री)
४२—सरस्वती कण्ठाभरण — भोज
४३—हिन्दी कामसूत्रम् — टी० देवदत्त शास्त्री
४४—हनुमन्नाटक — टी० मन्नालाल अभिमन्यु

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

१—असनी के हिन्दी कवि — डा० विपिन विहारी त्रिवेदी
२—अलक शतक — मुबारक
३—अलंकार दर्पण — रामसिंह
४—अलंकार मंजरी — ऋषिनाथ
५—अलंकार पंचाशिका — मतिराम
६—अलंकार पीयूष पूर्वार्द्ध — डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
७—अलंकार मंजरी — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
८—अष्टयाम — देव
९ — डा० नारा   खन्ना

१० केलि	आलम (सं० लाला भगवानदीन)
११—आँख और कविगण	सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी
१२—आँसू	जयशंकर प्रसाद
१३—अंग्रेजी हिन्दी कोश	डा० हरदेव बाहरी
१४—अंग दर्पण	रसलीन
१५—इश्कनामा	बोधा कवि (सं० नकछेदी तिवारी)
१६—कवि हृदय विनोद	ग्वाल कवि
१७—कविकुल कल्पतरु	चिन्तामणि
१८—काव्य कलाधर	रघुनाथ
१९—कवित्त रत्नाकर	सेनापति (सं० पं० उमाशंकर शुक्ल)
२०—केशव ग्रन्थावली खंड १	सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२१—काव्य प्रभाकर	जगन्नाथ प्रसाद भानु
२२—काव्य निर्णय	आचार्य भिखारीदास (सं० पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी
२३—कवितावली	तुलसीदास (टी० लाला भगवानदीन)
२४—केशव पंचरत्न	सं० लाला भगवानदीन
२५—काव्यालोक द्वितीय उद्योत	पं० रामदहिन मिश्र
२६—कविवर बिहारी	सं० रामकृष्ण
२७—कला, कल्पना और साहित्य	डा० सत्येन्द्र
२८—केशव की काव्य कला	पं० कृष्णशंकर शुक्ल
२९—केशवदास	आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय
३०—कविकुल कण्ठाभरण	दूलह कवि (सं०डा० शुकदेवबिहारीमिश्र)
३१—कला, साहित्य और समीक्षा	डा० भगीरथ मिश्र
३२—काव्य कल्पद्रुम	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
३३—कर्णाभरण	गोविन्द कवि
३४—गंग कवित्त	सं० बटेकृष्ण
३५—ग्वाल कवि	प्रभुदयाल मीतल
३६—घनानन्द ग्रन्थावली	सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३७—घनानन्द कवित्त	सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३८—घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा	डा० मनोहरलाल गौड़
३९—घन आनन्द और आनन्दघन	सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४०—घनाक्षरी नियम रत्नाकर	बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर
४१—चिन्तामणि प्रथम भाग	आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

४२—चित्र चन्द्रिका काशिराज
४३—छन्द प्रभाकर जगन्नाथप्रसाद भानु
४४—छन्दोर्णव पिंगल आचार्य भिखारीदास
४५—जायसी ग्रन्थावली सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
४६—जगद्विनोद पद्माकर (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)
४७—जमुना लहरी ग्वाल कवि
४८—ठाकुर ठसक सं० लाला भगवानदीन
४९—ठाकुर शतक बाबू काशीप्रसाद
५०—तिल शतक मुबारक
५१—देवसुधा सं० मिश्रबन्धु
५२—दिग्विजय भूषण आचार्य गोकुल (सं० डा० भगवती प्रसाद सिंह)
५३—दोहावली टी० हनुमानप्रसाद पोद्दार
५४—दीप प्रकाश ब्रह्मदत्त कवि
५५—देव और बिहारी पं० कृष्णबिहारी मिश्र
५६—द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ सं० डा० श्यामसुन्दरदास
५७—दूषणोल्लास रसिक गोविन्द
५८—ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत डा० भोलाशंकर व्यास
५९—नखशिख बलभद्र मिश्र
६०—नवरस तरंग बेनी प्रवीन (स० कृष्णबिहारी मिश्र)
६१—नन्ददास ग्रन्थावली सं० ब्रजरत्नदास
६२—पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ पं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
६३ – पद्माकर पंचामृत सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
६४—प्रयागनारायण विलास सं० बन्दीदीन दीक्षित
६५—प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६६—पद्मावत जायसी (सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)
६७—पद्माकर ग्रन्थावली सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
६८—प्रेम लतिका रंगपाल
६९—पावस कवित्त रत्नाकर सं० परमानन्द सुहाने
७०—प्रिय प्रवास पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
७१—पजनेश प्रकाश पजनेश कवि (सं० श्रीकृष्ण वर्मा)
७२—पल्लव पं० सुमित्रानन्दन पन्त
७३—पद्माकर की काव्य साधना अखौरी गंगाप्रसाद सिंह

७४ प्रिया प्रकाश — केशवदास टी० ला० भगवानदीन)
७५—बिहारी सतसई — टी० कृष्ण कवि
७६—बिहारी रत्नाकर — टी० बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर
७७—बिहारी बोधिनी — टी० लाला भगवानदीन
७८—बिहारी — आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७९—बुद्ध चरित — आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
८०—ब्रज साहित्य का ऋतु सौन्दर्य — सं० प्रभुदयाल मीतल
८१—बरवै नखशिख — सेवक कवि
८२—ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद — प्रभुदयाल मीतल
८३—ब्रजभाषा रीति ग्रन्थ का कोश — सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी
८४—ब्रज का इतिहास — कृष्णदत्त वाजपेयी
८५—ब्रजभाषा का व्याकरण — डा० धीरेन्द्र वर्मा
८६—ब्रजभाषा — डा० धीरेन्द्र वर्मा
८७—ब्रजभाषा व्याकरण — आचार्य किशोरीदास वाजपेयी
८८—बिहारी का नया मूल्यांकन — डा० बच्चन सिंह
८९—बिहारी की सतसई — पं० पद्मसिंह शर्मा
९०—भिखारीदास ग्रन्थावली खंड १ — सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
९१—भाव विलास — देव (सं० पं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी)
९२—भवानी विलास — देव
९३—भिखारीदास ग्रन्थावली खंड २ — सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
९४—भूषण — सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
९५—भुवनेश भूषण — त्रिलोकीनारायण सिंह
९६—भाषा भूषण — जसवन्त सिंह
९७—भारती भूषण — गिरधरदास
९८—भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका — डा० नगेन्द्र
९९—भारतीय साहित्य शास्त्र, खंड १ — आचार्य बलदेव उपाध्याय
१००—मनोज मंजरी चतुर्थ कलिका — सं० पं० नकछेदी तिवारी
१०१—मतिराम ग्रन्थावली — सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र
१०२—मनरंजन संग्रह — सं० पं० गौरीशंकर भट्ट
१०३—मतिराम सतसई — मतिराम
१०४—मुनीश्वर कल्पतरु — लछिराम
१०५—मुक्तककाव्य परम्परा और बिहारी — डा० रामसागर त्रिपाठी
१०६—मिश्रबन्धु विनोद भाग १, २, ३ — मिश्रबन्धु

१०७—मध्यदेश — डा० धीरेन्द्र वर्मा
१०८—महेश्वर विलास — लछिराम
१०९—यौन मनोविज्ञान — हेवलाक एलिस (हिन्दी अनु० मन्मथ नाथ गुप्त)
११०—रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता — डा० नगेन्द्र
१११—रस चन्द्रोदय और रसवृष्टि — उदयनाथ कवीन्द्र
११२—रसिक मोहन — रघुनाथ
११३—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना — डा० बच्चन सिंह
११४—रस रत्नाकर — हरिशंकर शर्मा
११५—रस विलास — देव
११६—रसखान रत्नावली — सं० डा० भवानीशंकर याज्ञिक
११७—रामचन्द्र चन्द्रिका — केशवदास (टी० लाला भगवानदीन)
११८—रसराज — मतिराम (टी० रामजी मिश्र)
११९—रहीम रत्नावली — सं० पं० मयाशंकर याज्ञिक
१२०—रस कुसुमाकर — प्रताप नारायण सिंह (ददुआ साहब)
१२१—रस सिद्धान्त — डा० नगेन्द्र
१२२—रस मीमांसा — आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल (सं० आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१२३—रासपंचाध्यायी — नन्ददास (टी० डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल')
१२४—रामचरितमानस (काशिराज सं०) — सं० आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१२५—राजस्थान का पिंगल साहित्य — मोतीलाल मेनारिया
१२६—राग कल्पद्रुम, प्रथम भाग — सं० कृष्णानन्द व्यास
१२७—रहिमन विलास — सं० ब्रजरत्नदास
१२८—रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य — डा० सत्यदेव चौधरी
१२९—रावणेश्वर कल्पतरु — लछिराम
१३०—रस रहस्य — कुलपति मिश्र (सं० प० बलदेव प्रसाद मिश्र)
१३१—रसिक रसाल — कुमारमणि (सं० कंठमणि शास्त्री)
१३२—रसिक प्रिया — केशवदास (टी० आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१३३—रस प्रबोध — रसलीन
१३४—रसिक विनोद — चन्द्रशेखर (सं० बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर)
१३५—रस कलस — पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
१३६—रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन — डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
१३७—रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — डा० ओमप्रकाश शर्मा
१३८—रीति श्रृंगार — डा० नगेन्द्र
१३९—राधाकृष्ण ग्रन्थावली — सं० डा० श्यामसुन्दर दास
१४०—रस सारांश — आचार्य भिखारीदास
१४१—वाङ्मय विमर्श — आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१४२—विद्यापति — टी० कुंवर सूर्यबली सिंह
१४३—वृहद् व्यंग्यार्थ चन्द्रिका — गुलाब कवि
१४४—व्यंग्यार्थ मंजूषा — लाला भगवानदीन
१४५—व्यंग्यार्थ कौमुदी — प्रतापसाहि
१४६—विरहवारीश — बोधा कवि (सं० गणेश प्रसाद)
१४७—विद्यापति पदावली — सं० रामवृक्ष बेनीपुरी
१४८—शेर ओ शायरी — सं० प्रकाश पंडित
१४९—श्रृंगार सुधाकर — सं० मन्नालाल द्विज
१५०—श्रृंगार लतिका सौरभ — द्विजदेव (सं० पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी)
१५१—श्रृंगार संग्रह — सं० सरदार कवि
१५२—श्रृंगार निर्णय — आचार्य भिखारीदास
१५३—शब्द रसायन — देव (सं० डा० जानकीनाथ सिंह 'मनोज')
१५४—श्रृंगार सतसई — राम सहाय
१५५—श्रृंगार दर्पण — नन्दराम
१५६—श्रृंगार बत्तीसी — द्विजदेव (सं० त्रिलोकीनारायण सिंह)
१५७—शिवसिंह सरोज — ठाकुर शिवसिंह (सं०पं० रूपनारायण पांडेय)
१५८—श्रृंगार मंजरी — चिन्तामणि (सं० डा० भगीरथ मिश्र)
१५९—षट् ऋतु काव्य संग्रह — सं० हफीजुल्ला खां
१६०—षट् ऋतु हजारा — परमानन्द सुहाने
१६१—सुखसागर तरंग — देव (सं० पं० बालदत्त मिश्र)
१६२—सुधानिधि — तोष कवि
१६३—सुन्दरी सर्वस्व — सं० मन्नालाल द्विज

१६४—सुन्दरी तिलक	सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१६५—साहित्य लहरी	सूरदास (सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)
१६६—सूरसागर	सूरदास (सं० आचार्य पं० रामदुलारे बाजपेई)
१६७—संक्षिप्त शब्द सागर	सं० आचार्य रामचन्द्र वर्मा
१६८—साहित्य प्रभाकर	सं० रामशंकर त्रिपाठी
१६९—साहित्य का मर्म	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१७०—साहित्य प्रकाश	डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१७१—सुन्दर शृंगार	सुन्दर कविराय
१७२—संस्कृत साहित्य का इतिहास	कीथ (हिन्दी रूपान्तर)
१७३—हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१७४—हिन्दी साहित्य का अतीत द्वितीय भाग।	आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१७५—हिन्दी साहित्य का उद्भव एवं विकास	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१७६—हफीजुल्लाखां का हजारा	हफीजुल्लाखां (सं० पं० रूपनारायण पांडेय)
१७७—हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और विहारी।	डा० गणपति चन्द्र गुप्त
१७८—हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
१७९—हिन्दी काव्यधारा	राहुल सांकृत्यायन
१८०—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	आचार्य पं० नन्ददुलारे बाजपेयी
१८१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१८२—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	डा० नामवर सिंह
१८३—हिन्दी रीति साहित्य	डा० भगीरथ मिश्र
१८४—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र
१८५—हिन्दी नवरत्न	मिश्रबन्धु
१८६—हिन्दी अलंकार साहित्य	डा० ओमप्रकाश
१८७—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग	सं० डा० नगेन्द्र
१८८—हिततरंगिणी	कृपाराम (सं० बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर)
१८९—हिन्दी साहित्य	डा० श्यामसुन्दर दास
१९०—हिन्दी साहित्य का इतिहास	गार्सां द तासी (हिन्दी अनु० डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय)
१९१ में	डा० चौधरी

(ग) हस्तलिखित ग्रन्थ

१—आलम के कवित्त	आलम
२—कवित्त	उदयनाथ कवीन्द्र
३—काव्य सरोज	आचार्य श्रीपति
४—काव्य विलास	प्रताप साहि
५—प्रबोध सुधाकर	नवीन कवि
६—भाषाभरण	बैरीसाल
७—रसविलास	गोपाल कवि लाहौरी
८—रसिक प्रिया	केशवदास (संस्कृत टी० समर्थ कवि)
९—रसपीयूषनिधि	सोमनाथ
१०—रसरंग	ग्वाल कवि
११—वाग्विलास	सेवक कवि
१२—व्यंग्यार्थ कौमुदी	प्रताप साहि
१३—शब्द रसायन	देव

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

सम्मेलन पत्रिका
भारती
वीणा
साहित्य समालोचक
ब्रजभारती
हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)
इण्डियन हिस्टारिकल
जनरल आफ बनारस यूनीवर्सिटी पार्ट २
खोज रिपोर्ट्स

THE LIST OF ENGLISH BOOKS.

Book	Author
Bhoja's Smringar Prakash	Dr. V. Raghavan
History of Sankit Poetics	Dr. S. K. De
A History of Hindi Literature	F. E. Key
A Sketch of Hindi Literature	Edwin Greaves
An Outline of English Literature	Hudson
The Modern Vernacular Literature of Hindusthan	Dr. A. G. Grierson
Evolution of Hindi Poetics (Typed Thesis)	Dr. R. S. Rasal
Selections from Hindi Literature B. V.	Lala Sitaram
The Contribution of Hindi Poets to Prosody	Dr. Janki Nath Singh Manoj
Selected Essays	T. S. Eliot.
On Wardsworth	James Russel Lowell
Hindi Literature	Dr. Ram Awadh Dwivedi
A. History of Hindi Literature	K. B. Zindal
Ancient Indian erotics and Erotic Literature	S. K. De
Women in the Vadic Age	S. R. Shastri
Treatment of Love	S. K. De
Psychological Studies in Rasa	Dr. Chhail Bihari Rakesh
What is Art	Talstoy
Making of Literature	R. A. Scott James
Indo Aryan and Hindi	Dr. S. K. Chatterji
General Principles of Inflection and Conjugation in the Braj Bhasha	Lallu Lal ji
Grammar of the Braj Bhasha	Jiauddin
Linguistic Survey of India Vol. IX Pt. I	Dr. A. G. Grierson

Poetic Diction	O n Ba ne d
The Position of Women n H ndu Civilization	A. S. Altaker
Studies in the Psychology of Sex Vol. I Part III	H. Ellis
Bihar Peasants life	Dr, A. G. Grierson
Aini Akbari	H. S. Jarret
Aini Akbari	H. Blochman
Journal of Indian Art and Industry Vol. 12	T. H. Hundle
What a Young husband ought to know	Sylvanus Stall
Imperial Gazetter of India Vol. II	
The Golden Treasury Book I	Palgrave
Marxism and Poetry	George Thompson
New International dictonery Pt. II	Webster
Sanskrit English Dictionary	V. S. Apte
Sanskrit English Dictionary	Monier Williams
Concise Oxford Dictionary	
Vaishnvism and Shaivism and Minor Systems	R. G. Bhandarkar